# अद्वैत वेदान्त का ऐतिहासिक विवेचन

प्रो० हृदय नारायण मिश्र

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

# अद्वैत वेदान्त का ऐतिहासिक विवेचन

**प्रो. हृदय नारायण मिश्र**
पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
दर्शनशास्त्र विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (मध्य प्रदेश)
एवं
नागार्जुन विश्वविद्यालय, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
**मानव संसाधन विकास मंत्रालय**
(माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार
**उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ**

प्रकाशक :
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
लखनऊ

ग्रन्थमाला संख्या : ३३०

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय (माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित।

© उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

ISBN : 978-81-89989-75-0

प्रथम संस्करण : २०११

प्रतियाँ : ५००

मूल्य : ₹ ४०५=०० (चार सौ पाँच)

मुद्रक
**रोहिताश्व प्रिण्टर्स**
२६८, ऐशबाग रोड, लखनऊ
फोन : २६६२६७३, २६६२२८६

# प्रकाशकीय

भारतीय संस्कृति और परम्परा में चिंतन और तर्क को जितना प्रधानता मिली है, शायद ही विश्व की किसी अन्य संस्कृति में मिली हो। इसीलिए भारतीय संस्कृति को 'सत्य की तलाश' के रूप में भी व्याख्यायित किया गया है और विभिन्न मत-मतान्तरों को, कई बार परस्पर विरोधी भी, बराबर का सम्मान दिया गया है। इस चिंतन प्रक्रिया में ईश्वर व उसके स्वरूप को अत्यन्त प्रमुखता मिली और अद्वैत दर्शन इसी का एक प्रमुख सोपान है। यों तो इसे आदि शंकराचार्य ने परिमार्जित किया, असाधारण सम्मान दिलाया, पर इसके संकेत वेदों से ही मिलते हैं, जिन्हें प्राचीनतम विश्व ग्रन्थ के रूप में भी मान्यता प्राप्त है। 'एकं सद् विप्रः 'बहुधा वदन्ति' और 'एकोहं द्वितीयो नास्ति' जैसी बहुश्रुत उक्तियाँ संक्षेप में अद्वैत दर्शन की ही अभिव्यक्ति हैं, जिनके आधार पर कालान्तर में उस व्यावहारिक सिद्धान्त की नींव पड़ी, जिसे हम आज 'अनेकता में एकता' के रूप में जानते हैं और जो आज भारतीयता की मूलभूत पहचान है।

इसी अद्वैत दर्शन पर अत्यन्त सारगर्भित, विवेचनात्मक और शोधपरक जानकारी उपलब्ध कराती है यह पुस्तक - 'अद्वैत वेदान्त का ऐतिहासिक विवेचन।' यह पुस्तक १४ अध्यायों एवं परिशिष्ट में विभक्त है और यह इस प्रकार हैं - वैदिक साहित्य में अद्वैत वेदांत के तत्व, शंकरपूर्व अद्वैत वेदांत के विचारक, शंकराचार्य का अद्वैत वेदांत, अध्यास, प्रमाण मीमांसा एवं भ्रम सिद्धान्त, प्रामाण्यवाद, सत सम्बन्धी विचार एवं जीव निरूपण, शंकर वेदांत में जगत निरूपण और माया, आचार मीमांसा, अशुभ की समस्या, समाज दर्शन, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत वेदान्त, शंकरोत्तर अद्वैत वेदांत व्याख्यापरक मतभेद। परिशिष्ट के अन्तर्गत अद्वैत वेदान्त की तर्कना पद्धति का सविस्तार विवरण है। साथ ही सहायक ग्रंथों की सूची भी दी गयी है, जो इस पुस्तक को इस क्षेत्र की श्रेष्ठतम कृतियों में स्थान दिलाती है।

इनके माध्यम से सिर्फ अद्वैत दर्शन की परम्परा ही नहीं, मानो समस्त भारतीय दर्शन और चिंतन भी व्याख्यायित होता है। 'समाज दर्शन' जैसे अध्याय भारतीयता पर इसके प्रभाव को भी शब्द देते हैं। अत्यन्त विस्तृत और जटिल चिंतन परम्परा को जिस तरह व्यवस्थित और सरल ढंग से विद्वान लेखक डॉ. एच.एन. मिश्रा ने पुस्तकाकार दिया है, उसकी जितनी भी प्रशंसा की जाय, कम होगी। वह भारतीय परम्परा और संस्कृति के निष्णांत विद्वान है और उनके इस लेखकीय सहयोग के लिए आदरभाव व्यक्त करना मेरे लिए मात्र औपचारिक आभार-प्रदर्शन नहीं है।

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान विश्वविद्यालय स्तरीय पाठ्य पुस्तक ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत इस ग्रंथ का प्रकाश कर गौरवान्वित है। भारतीय संस्कृति सागर सरीखी है और उसके अनन्त विस्तार से अद्वैत दर्शन सम्बन्धी मोतियों का चुनना और पिरोना विद्वान लेखक की इस क्षेत्र में गहरी पैठ का प्रमाण है। इसके चलते यह पुस्तक हर वर्ग के पाठक को आनन्दित करेगी, भारतीय संस्कृति की विस्तृत संरचना और विशेष रूप से अद्वैत दर्शन से सफलतापूर्वक साक्षात्कार करायेगी, ऐसी आशा है।

**निदेशक**
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

# प्राक्कथन

हमारे देश को स्वतंत्रता प्राप्त किये लगभग तिरसठ वर्ष हो चुके हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय ही हमने हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया। सरकारी कामकाज में हिन्दी को स्थान देने एवं उसके समुचित विकास के लिये यह आवश्यक समझा गया कि विश्वविद्यालयीन शिक्षा भी हिन्दी के माध्यम से दी जानी चाहिये। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व विभिन्न विषयों से संबंधित विश्वविद्यालयीन शिक्षा के स्तर की पाठ्य पुस्तकें उपलब्ध नहीं थी। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने हिन्दी में उच्चस्तरीय पुस्तकें लिखने के लिये लेखकों को आर्थिक अनुदान देना स्वीकार किया, जिसके परिणाम स्वरूप विभिन्न विषयों से संबंधित हिन्दी में कुछ ग्रन्थ प्रकाशित भी हुये, किन्तु उच्चस्तरीय शिक्षा के लिये हिन्दी भाषा में ग्रन्थों की कमी को पूरा नहीं किया जा सका। हिन्दी भाषा के माध्यम से प्राकृतिक विज्ञानों का पठन-पाठन आज भी दुष्कर बना हुआ है, किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि सामाजिक विज्ञान एवं दर्शनशास्त्र जैसे विषयों से संबंधित हिन्दी भाषा में उच्च स्तर के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं।

विश्व के विभिन्न दार्शनिकों ने अपने विचार अपने देश की भाषा में ही व्यक्त किये हैं, किन्तु पश्चिमी देशों का अधिकतर दार्शनिक चिन्तन इंगलिश भाषा में उपलब्ध हो गया है। कतिपय समकालीन विचारकों के अतिरिक्त भारत का समस्त दार्शनिक चिन्तन संस्कृत भाषा के माध्यम से ही हुआ है, किन्तु आज तक यह चिन्तन अपनी पूर्णता में न इंगलिश और न ही हिन्दी भाषा में उपलब्ध हो सका है। इसका मुख्य कारण संस्कृत भाषा से हमारी दूरी है।

भारतीय दर्शन की मुख्य विधाओं में अद्वैतवेदान्त को प्रमुख स्थान प्राप्त है। भारत के लगभग सभी विश्वविद्यालयों में इसका पठन-पाठन होता है। दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी ही नहीं वरन् सामान्य व्यक्ति भी इससे परिचित हैं। यह सुविदित है कि अद्वैत-वेदान्त के कतिपय मौलिक ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद अवश्य हुआ है किन्तु इस दार्शनिक विधा से संबंधित हिन्दी में अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। हमारा प्रस्तुत ग्रन्थ इसी कमी को पूरा करने का एक लघु प्रयास है।

इस ग्रन्थ की समस्त विषयवस्तु चौदह अध्यायों एवं परिशिष्ट में विभाजित है। प्रथम अध्याय में वैदिक साहित्य में अद्वैतवेदान्त के तत्त्व देखने का प्रयास किया गया है। इस संबंध में कतिपय संहिताओं, उपनिषदों, भगवद्गीता एवं योगवशिष्ठ में अद्वैतवेदान्त संबंधी जो विचार उपलब्ध है, उनको संक्षेप में रखने का प्रयास किया गया है। दूसरे अध्याय में शंकरपूर्व अद्वैतवेदान्त के कतिपय विचारकों के विचारों का उल्लेख है। इसमें गौड़पादाचार्य भर्तृहरि का शब्दाद्वैत एवं मंडन मिश्र के अद्वैतवादी विचारों की चर्चा की गयी है। कतिपय विद्वान मंडन मिश्र को शंकर का अनुयायी

मानते हैं, किन्तु प्रस्तुत लेखक इस विचार से सहमत नहीं हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि मंडन ने अपनी रचनाओं में कहीं पर भी शंकर के विचारों का उल्लेख नहीं किया है। आचार्य मंडन शंकराचार्य से पहले पैदा हुये थे और उनके बाद तक रहे हैं। पुस्तक के तीसरे अध्याय से लेकर ग्यारहवें अध्याय तक शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन के विभिन्न पक्षों को सविस्तार प्रस्तुत किया गया है। इसके दो मुख्य कारण हैं - प्रथम बात यह है कि शंकराचार्य को ही अद्वैतवेदान्त का प्रमुख विचारक माना गया है और दूसरा कारण यह भी है कि देश एवं विदेश के विश्वविद्यालयों में अद्वैतवेदान्त के विचारक के रूप में शंकर को ही पढ़ाया जाता है। पुस्तक के बारहवें अध्याय में शंकर के अद्वैतवेदान्ती विचारों की रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत से तुलना की गयी है। इस तुलना को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक को पूर्ण बनाने के लिये यह भी आवश्यक प्रतीत हुआ कि शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्त के प्रमुख सम्प्रदायों का उल्लेख किया जाय। इसी कारण पुस्तक का तेरहवाँ अध्याय शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्त में विकसित भामती संप्रदाय एवं विवरण संप्रदाय का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करता है। इसी अध्याय के अन्त में उपर्युक्त दोनों सम्प्रदायों के मुख्य भेदों का भी उल्लेख है। इन दोनों सम्प्रदायों के मुख्य विचारकों के बाद में आने वाले जैसे मधुसूदन सरस्वती एवं श्री हर्ष इत्यादि जैसे अद्वैतवेदान्तिओं का उल्लेख इस ग्रन्थ में नहीं किया गया है क्योंकि ये मुख्य रूप से तर्कशास्त्री हैं। यदि ईश्वर ने चाहा और संभव हुआ तो अगले संस्करण में इन वेदान्तिओं का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया जायेगा। पुस्तक का चौदहवाँ अध्याय परिशिष्ट के रूप में पाठकों के सामने है। परिशिष्टि में अद्वैतवेदान्तिओं द्वारा प्रयुक्त तर्कनापद्धति की सविस्तर विवेचना की गयी है।

इस ग्रन्थ की अपनी कुछ विशेषतायें हैं। अपनी राष्ट्रभाषा में ऋग्वेद से लेकर भामती एवं विवरण प्रस्थान तक मुख्य-मुख्य उन सभी ग्रन्थों और व्यक्तिओं का उल्लेख हुआ है, जिनमें या जिनके विचारों में अद्वैतवेदान्त का प्रतिपादन हुआ है। हिन्दी भाषा में, संभवतः यह इस प्रकार का पहला ग्रन्थ है। उपर्युक्त पंक्तियों में हमने कहा है कि शंकर का अद्वैतवेदान्त प्रायः सभी भारतीय विश्वविद्यालयों में दर्शनशास्त्र के पाठ्यक्रम में सम्मिलित है। अतः हमने शंकराचार्य के दार्शनिक विचारों को सविस्तार प्रस्तुत किया है। पुस्तक के ग्यारहवें अध्याय में यह भी देखने का प्रयास किया गया है कि किस प्रकार का समाजदर्शन अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों के अनुकूल हो सकता है। समाज दर्शन के क्षेत्र में यह पहला प्रयास है। आज तक इस विधा के विचारकों को तत्वमीमांसक के रूप में ही देखा जाता रहा है। इसी प्रकार हमने परिशिष्ट में अद्वैतवेदान्तिओं द्वारा प्रयुक्त तर्कना पद्धति को भी पाठकों के सामने प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। अन्त में यह कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ को दर्शनशास्त्र के विद्यार्थिओं, शोध-छात्रों एवं सामान्य जिज्ञासु के लिये अत्यन्त उपयोगी एवं लाभदायक बनाने का भरसक प्रयास किया गया है। हम अपने इस प्रयास में कहाँ तक सफल हुये हैं, इसका निर्णय तो पाठकगण ही करेंगे।

इस ग्रन्थ की सामग्री को एकत्र करने के लिये विषय-वस्तु से संबंधित मौलिक ग्रन्थों को ही आधार बनाया है। हम उन सभी शिक्षकों, लेखकों एवं आचार्यों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं, जिनके विचारों से हमें परोक्ष एवं अपरोक्ष रूप से इस ग्रन्थ को तैयार करने में सहायता प्राप्त हुई है। इस संबंध में हम अपने प्रकाशकों के भी आभारी हैं, जिनकी सहायता के बिना हमारा यह शैक्षणिक प्रयास अधूरा रहता।

**हृदय नारायण मिश्र**

# समर्पण

अपनी धर्मपत्नी

**स्व. शान्ती मिश्रा**

को जिनकी प्रेरणा एवं त्याग ने मुझे
नया जीवन दिया।

– लेखक

# विषय सूची


## अध्याय-एक

**वैदिक साहित्य में अद्वैतवेदान्त के तत्त्व** — १

(अ) संहिताओं में अद्वैत-वेदान्त
(ब) उपनिषदों में अद्वैत-वेदान्त
(स) भगवद्गीता में अद्वैतवेदान्त संबंधी विचार
(द) योगवशिष्ठ एवं अद्वैतवेदान्त
(ह) संदर्भ-सूची

## अध्याय-दो

**शंकर-पूर्व अद्वैतवेदान्त के विचारक** — २८

(अ) गौडपादाचार्य
(ब) भर्तृहरि का शब्दाद्वैत
(स) मंडन मिश्र
(द) संदर्भ-सूची

## अध्याय-तीन

**शंकराचार्य का अद्वैत-वेदान्त** — ६६

(शंकर द्वारा विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की आलोचना)

(अ) सांख्यदर्शन की आलोचना
(ब) जैन दर्शन की आलोचना
    (क) सप्तमंगीनय अथवा स्यादवाद का खंडन
    (ख) आत्मा संबंधी विचारों का खंडन
(स) वैशेषिक-दर्शन की आलोचना
(द) बौद्ध-दर्शन की आलोचना
(ह) मीमांसा दर्शन की आलोचना
    (क) ईश्वर निमितकारणवाद का खंडन
    (ख) भागवत्दर्शन की आलोचना
    (ग) संदर्भ-सूची

## अध्याय-चार

**अध्यास** — १०३

(अ) सामान्य परिचय
(ब) अध्यास का कारण
(स) अध्यास का अर्थ और लक्षण

(द) अध्यास का विस्तार
(ह) अध्यास की विशेषतायें
(क) शंकर वेदान्त में अध्यास का महत्त्व
(ख) संदर्भ-सूची

## अध्याय-पाँच

प्रमाण-मीमांसा एवं भ्रम सिद्धान्त १२०

१. प्रमाण मीमांसा
(अ) शंकर-पूर्व अद्वैत-वेदान्त में प्रमाण मीमांसा
(ब) प्रत्यक्ष प्रमाण
(स) अनुमान प्रमाण
(द) उपमान प्रमाण
(ह) शब्द प्रमाण
(क) अर्थापति
(ख) अनुपलब्धि
(ग) संदर्भ-सूची

२. भ्रम-सिद्धान्त
(अ) अख्यातिवाद
(ब) विपरीतख्यातिवाद
(स) असत्ख्यातिवाद
(द) आत्मख्यातिवाद
(ह) अन्यथाख्यातिवाद
(क) सद्सत ख्यातिवाद
(ख) सत्ख्यातिवाद
(ग) अनिर्वचनीयख्यातिवाद
(घ) संदर्भ-सूची

## अध्याय-छः

प्रामाण्यवाद १६६
(अ) सामान्य परिचय
(ब) नैयायिकों का परतः प्रामाण्यवाद
(स) वेदान्तिओं का स्वतः प्रामाण्यवाद
(द) संदर्भ-सूची

## अध्याय-सात

१. सत् संबंधी विचार १८४
(अ) परमतत्त्व का स्वरूप
(ब) सत् एवं असत्

(स) निर्गुण ब्रह्म
(द) ईश्वर
(ह) विभिन्न आचार्यों के विचार
(क) संदर्भ-सूची
२. जीव निरूपण
(अ) जीवन का स्वरूप
(ब) साक्षी
(स) एक जीव अथवा अनेक जीव
(द) संदर्भ-सूची

## अध्याय-आठ

१. शंकर-वेदान्त में जगत निरूपण २३१
(अ) उपनिषदों में जगत निरूपण
(ब) शंकर के अनुसार जगत का स्वरूप
(स) संसार का स्वरूप
(द) जगत् की उत्पत्ति
(ह) परिणामवाद एवं असत्‌कार्यवाद का खंडन
(क) जगत की अनिर्वचनीयता
(ख) संदर्भ-सूची
२. माया
(अ) शंकर पूर्व दर्शनों में माया का स्वरूप
(ब) शंकर की माया सम्बन्धी अवधारणा
(स) माया एवं अविद्या
(द) शंकर के माया सिद्धान्त की वैष्णव सन्तों द्वारा आलोचना
(ह) संदर्भ-सूची

## अध्याय-नौ

आचार-मीमांसा २६५
(अ) सामान्य परिचय
(ब) कर्म का स्थान
(स) साधन चतुष्ट्य
(द) ज्ञानकर्मसमुच्चय एवं शंकर द्वारा उसका खंडन
(ह) व्यावहारिक जीवन
(क) शंकर वेदान्त में आचारशास्त्र का स्थान
(ख) संदर्भ-सूची

## अध्याय-दस

अशुभ की समस्या २६६

(अ) कतिपय पश्चिमी दार्शनिकों के अशुभ संबंधी विचार
(ब) शंकर-पूर्व भारतीय दर्शनों में अशुभ
(स) शंकर की अशुभ संबंधी अवधारणा
(द) मूल्यांकन
(ह) संदर्भ-सूची

## अध्याय-ग्यारह

समाज दर्शन ३१३

(अ) वेदों और उपनिषदों में समाज-संरचना के सिद्धान्त
(ब) अद्वैत-वेदान्त में विवेचित समाज व्यवस्था
(स) संदर्भ-सूची

## अध्याय-बारह

अद्वैत और विशिष्टाद्वैत वेदान्त ३३१

(अ) तुलना
(ब) संदर्भ-सूची

## अध्याय-तेरह

शंकरोत्तर अद्वैत-वेदान्त व्याख्यापरक मतभेद ३४३

(अ) सुरेश्वराचार्य का आभासवाद
(ब) वाचस्पति एवं अमलानन्द का भामती प्रस्थान
(स) पदमूपादाचार्य एवं प्रकाशत्मयति का विवरण-प्रस्थान
(द) विवरण प्रस्थान एवं भामती प्रस्थान के मुख्य भेद
(ह) संदर्भ-सूची

## अध्याय-चौदह

परिशिष्ट ३६०

अद्वैत-वेदान्त की तर्कना पद्धति

(अ) पृष्ठभूमि
(ब) गौडपादाचार्य की तर्कना पद्धति
(स) शंकर का द्वन्द्वन्याय
(द) मण्डन मिश्र
(ह) श्रीहर्ष
(क) चित्सुख
(ख) मधुसूदन सरस्वती
(ग) संदर्भ-सूची

सहायक ग्रन्थों की सूची ४१७

## अध्याय-१

# वैदिक साहित्य में अद्वैत वेदान्त के तत्व

अद्वैतवेदान्त वैदिक परम्परा के अन्तर्गत विकसित सोच है। अतः इसके तत्व वैदिक साहित्य अर्थात् संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों इत्यादि में विद्यमान हैं। इसलिए गौडपाद एवं शंकराचार्य जैसे अद्वैतवेदान्तियों ने अपने सिद्धान्तों के विकास के लिए इसी साहित्य को आधार बनाया है। गौडपादाचार्य ने मांडूक्योपनिषद् के भाष्य के रूप में मांडूक्यकारिका की रचना करके अपने अद्वैतवेदान्ती सोच को प्रतिष्ठित किया। शंकराचार्य ने उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं भगवद्गीता पर भाष्य करके अद्वैतवाद को सुसंबद्धरूप प्रदान किया। यह निर्विवाद है कि वैदिक साहित्य में अद्वैतवाद अपने सुव्यवस्थित रूप में उपलब्ध नहीं है। इस सिद्धान्त को सुव्यवस्थित रूप देने में गौडपादाचार्य एवं उनके शिष्य के शिष्य शंकराचार्य का ही योगदान है। यही दो विचारक अद्वैतवेदान्त के कर्णधार माने जाते हैं। शंकराचार्य के बाद में आने वाले अद्वैतवेदान्ती इन्हीं के विचारों की व्याख्या एवं पुनर्व्याख्या करते प्रतीत होते हैं। अतः अद्वैतवेदान्त को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने के लिए यह आवश्यक है कि हम वैदिक साहित्य के कतिपय उन ग्रन्थों को देखें, जिनमें अद्वैतवेदान्त के तत्व उपलब्ध हैं।

वैदिक साहित्य में संहिताओं को सबसे प्राचीन ग्रन्थों के रूप में स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद संहिता तो संभवतः विश्व साहित्य का सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना गया है। बाकी तीन संहितायें अर्थात् यजुर्वेदसंहिता, अथर्ववेद संहिता एवं सामवेद संहिता ऋग्वेद संहिता के बाद की स्वीकार की गयी हैं। अतः सर्वप्रथम हम ऋग्वेद संहिता में अद्वैतवेदान्त के तत्वों को खोजने का प्रयास करेंगे। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हम परमतत्व की एकता, माया, विश्व का मिथ्यात्व एवं ज्ञानमार्ग को ही अद्वैतवेदान्त की मुख्य मान्यताओं के रूप में देखते हैं। यद्यपि अद्वैतवेदान्त के उपर्युक्त दो कर्णधारों में से किसी ने संहिताओं पर भाष्य नहीं लिखे हैं और उन्होंने अपने अद्वैतवादी विचार के प्रतिपादन के लिए उपनिषदों को ही मुख्य आधार बनाया है, किन्तु हमारे अनुसार अद्वैतवेदान्त के ऐतिहासिक विवेचन के लिए इन संहिताओं का निरीक्षण आवश्यक है।

ऋग्वेद के प्रथम भाग में बहुदेववाद का प्रतिपादन प्रतीत होता है। इस संहिता के प्रथम भाग के प्रथम सूक्त में अग्निदेवता को प्रार्थना की गयी है। यहाँ अग्नि को

देवता के रूप में स्वीकार किया गया है। कहा गया है कि हे अग्निदेवता, आप पिता की भाँति हम सबको शुभ गुण एवं शुभ कर्मों से युक्त कीजिए।[१] इसी प्रकार दूसरे सूक्त में वायु को देवता मान कर स्तुति की गयी है।[२] दूसरे सूक्त के बाद के सूक्तों में सूर्य, वरुण एवं इन्द्र इत्यादि देवताओं की स्तुति उपलब्ध होती है। इन सभी देवताओं की स्तुति, उनकी कृपा एवं सहयोग प्राप्त करने के लिए ही है। यह सब बतलाने से हमारा उद्देश्य यह है कि ऋग्वेद के प्रारम्भ में बहुदेववाद की मान्यता प्राप्त होती है, किन्तु ऋग्वेद का समुचित अध्ययन हमें बतलाता है कि बहुदेववाद ही ऋग्वेद की अन्तिम शिक्षा नहीं है। कलान्तर में ऋग्वेद के ऋषियों ने विभिन्न देवताओं के एक प्रधान देवता की कल्पना की। प्रो. मैक्समूलर संभवतः इसी विचार को एकैकाधिदेववाद कहते हैं।[३] इस एकैकाधिदेववाद की परिणति एकेश्वरवाद से होती है। यह भी कहा गया है कि एक ही को लोग विभिन्न नामों से पुकारते हैं।[४] ऋग्वेद के दसवें मंडल में इस एक को एक विराट पुरुष के रूप में देखा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पुरुष सूक्त का विषय वही एक सत् है। वह सत् पुरुषाकार रूप में स्थित है। पृथ्वी से द्विलोक और अन्तरिक्ष तक वही विस्तीर्ण है। सूर्य-चन्द्र इत्यादि उसके नेत्रादि हैं। वह अगणित हाथ-पैर और उदर वाला है। किन्तु यह रूप उस सत् का एकांश मात्र है, इससे कहीं अधिक वह अमृतस्वरूप है। तात्पर्य यह है कि सत् ही अपने चतुर्थाशं में सृष्टिरूप में व्यक्त हो रहा है और शेष तीन अंश अचल, ध्रुव और निर्विकार रूप में विद्यमान हैं।[५] ऐसा प्रतीत होता है कि पुरुष का प्रतीक उस सत् की एकता भी सिद्ध करता है। जैसे हम अपने अंगों में एकता का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार वह परम् सत् जगत रूप पुरुष में अपने एकत्व को नष्ट नहीं करता। तीन अंश रूप सत् को 'अमृत दिवि' कहा गया है। एक अंश रूप विराट सृष्टि को 'मृतं' मानने का संकेत किया गया है। सृष्टि में जो नाना प्रकार के आकार दिखाई देते हैं, वे उत्पन्न एवं लय होने वाले हैं। यही उनका मृतत्व है। आधार रूपी सत् यहाँ भी अविनाशी है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि एकेश्वरवाद की धारणा पुरुष सूक्त में एकतत्ववाद में बदल जाती है। वह अकेला पुरुष ही सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। वही प्राचीन काल में उत्पन्न हुआ। वही भविष्य में भी उत्पन्न होगा।[६]

नासदीय सूक्त में अद्वैतवाद के तत्व स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। उसमें कहा गया है कि 'तब वहाँ न सत् था और न असत् था . . . तब केवल वहाँ एक था जो बिना श्वास के श्वास लेता था।'[७] वह एक सत् और असत् से विलक्षण है। उसे केवल 'एक' कहा जाता है। उसमें सत् एवं असत् की सापेक्षता नहीं है। वह सत् एवं असत् के परे ही नहीं है वरन् उनमें अन्तः व्याप्त और आश्रय स्थित भी है।

नासदीय सूक्त में यह भी प्रश्न उठाया गया है कि उसे कौन जानता है? कौन उसका प्रतिपादन करता है? यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई? सृष्टि के उपरांत देवों की

उत्पत्ति हुई, अतः कौन जानता है कि यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई है। इसका अर्थ यह नहीं कि कोई उसे जानता ही नहीं। शायद वह एक अपनी सृष्टि को जानता होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वेद के पुरुष सूक्त एवं नासदीय सूक्त इस तथ्य के साक्ष्य हैं कि ऋग्वेद संहिता के ऋषि इस समस्त विश्व के आधार पर एक तत्व को स्वीकार करते हैं। हमारा विचार है कि ऋग्वेद का यही विचार ब्राह्मण ग्रन्थों एवं आरण्यक ग्रन्थों से होता हुआ उपनिषदों में एक ब्रह्म का रूप धारण करता है।

अद्वैतवेदान्त का दूसरा महत्वपूर्ण विचार माया की स्वीकृति है। ऋग्वेद संहिता में माया शब्द का उल्लेख प्रचुर मात्रा में हुआ है। ऋग्वेद के मन्त्र दृष्टा इस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में करते पाये जाते हैं। यदि हम ऋग्वेद के छठे मंडल के सैंतालिसवें सूक्त के अट्ठारवें मन्त्र को देखें तो हमें मिलता है कि इन्द्र अपनी माया के द्वारा विभिन्न रूप धारण करता है। इसका तात्पर्य यह है कि ऋग्वेद के इस स्थल पर माया को इन्द्र की एक शक्ति के रूप में देखा गया है। इसे मायावी शक्ति भी कह सकते हैं। वहाँ कहा गया है कि इन्द्र विभिन्न प्रकार के रूप धारण करके यजमानों के पास उपस्थित होते हैं।[८]

ऋग्वेद के दसवें मंडल में भी माया शब्द का प्रयोग हुआ है। इस मंडल के एक सौ सतहतरवें सूत्र में माया का वर्णन किया गया है। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में बतलाया गया है कि विद्वानों ने मानसिक चक्षु से एक पतंग को देखा। यह माया से पीड़ित है।[९] यहाँ पर माया का अर्थ किसी को आक्रान्त करने वाली शक्ति के रूप में किया गया है। इसी मंडल चौअनवें सूक्त के द्वितीय मन्त्र में एक पुनः इन्द्र को मायावी शक्ति से युक्त दिखलाया गया है। यहाँ ऋषि कहता है कि हे इन्द्र, तुमने कार्यों को सम्पन्न किया है, वह सब माया के कारण ही संभव हुआ है। तुम्हारा समस्त युद्ध माया से पूर्ण है।[१०] कहने का तात्पर्य यह है कि ऋग्वेद में एक से अधिक स्थानों पर माया को इन्द्र की शक्ति माना गया है।

ऋग्वेद के ही आठवें मंडल के इकतालिसवें सूक्त के तीसरे मन्त्र में इन्द्र को वरुण की शक्ति कहा गया है। वहाँ ऋषि कहता है कि वरुण अपनी माया शक्ति द्वारा ही समस्त संसार को धारण करते हैं।

इन्द्र एवं वरुण की शक्ति के अतिरिक्त ऋग्वेद में माया शब्द का प्रयोग प्रज्ञा के अर्थ में भी हुआ है। यदि हम ऋग्वेद के पाँचवें मंडल के पच्चासिवें सूक्त और उसके पाँचवें मन्त्र को देखें तो पाते हैं कि इस मन्त्र में माया को वरुण की प्रज्ञा के रूप में स्वीकार किया गया है। इस स्थल पर कहा गया है कि वरुण अन्तरिक्ष में रहते हुए अपनी प्रज्ञा द्वारा अन्तरिक्ष को परिच्छिन्न करते हैं।[११] इसी वेद के नवम मंडल के तिरासिवें सूक्त के तीसरे मन्त्र में मायावी शब्द को प्रज्ञावान अर्थ में लिया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वेद में माया शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग किया

गया है। उपर्युक्त उद्धरणों के अतिरिक्त अन्य उद्धरण भी दिये जा सकते हैं किन्तु उपर्युक्त उद्धरण ही हमारे इस मन्तव्य में विद्यमान है। जैसा कि हमने देखा है कि ऋग्वेद में माया को इन्द्र एवं वरुण की शक्ति रूप में भी स्वीकार किया गया। अद्वैतवेदान्त में भी माया को ईश्वर की शक्ति रूप में माना है। इसी शक्ति के द्वारा ही इस विश्व की रचना करता है। अतः यह कहना अतिश्योक्ति नहीं है कि अद्वैतवेदान्त का माया सम्बन्धी विचार ऋग्वेद के अनुरूप ही है।

यजुर्वेद संहिता में परमसत् का उल्लेख प्रचुरता से उपलब्ध होता है। वहाँ कहा गया है कि वह सत् समस्त भूतों का अधिपति तथा समस्त लोकों का अधिष्ठान है।[१२] उसे सभी का अधिष्ठान ही नहीं माना गया वरन् सबका नियंत्रक भी स्वीकार किया गया है। इस संहिता में ब्रह्म शब्द का प्रयोग भी कई स्थानों पर प्राप्त होता है। यहाँ ब्रह्म शब्द का प्रयोग ब्रह्मा, प्रजापति एवं ब्राह्मण के लिए भी हुआ है किन्तु इन सभी शब्दों का निहितार्थ एक सत् अथवा परम सत् ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यजुर्वेद में उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म शब्द भी उपलब्ध है। यह कहा जा सकता है कि इस संहिता के ऋषि ब्रह्म के स्वरूप इत्यादि की अधिक चर्चा करते नहीं पाये जाते।

यजुर्वेद में माया शब्द का प्रयोग भी उपलब्ध होता है। इस संहिता के तेरहवें अध्याय के यदि हम चवालिसवें मन्त्र को देखें तो उसमें माया शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। इस मन्त्र में माया को अनिवर्चनीय एवं त्रिगुणात्मिका इत्यादि न कह कर 'महमि' और 'साहस्रमि' इत्यादि विशेषणों से युक्त कहा गया है।[१३] इस संहिता में 'माया' शब्द असुरों की रहस्यमय युक्तिओं के लिए भी प्रयोग किया गया है। उनके कार्य अचिन्तय और विचित्र होने के कारण माया कहे गये हैं।[१४] इस संहिता में माया शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि इसमें ऋषिओं ने माया को इस विश्व की जननी के रूप में स्थापित करने का अधिक प्रयास नहीं किया है। यहाँ माया शब्द का प्रयोग प्रज्ञा के अर्थ में ही अधिक प्राप्त होता है।

अथर्ववेद-संहिता में भी ब्रह्म एवं माया का उल्लेख हुआ है। सायण भाष्य के अनुसार इस वेद के कुछ मन्त्र अद्वैत वेदान्त का प्रतिपादन करते हैं। सायण के अनुसार 'जिस अधिष्ठान रूप ब्रह्म में आरोपित वस्तु अधिष्ठान से अलग नहीं होती,[१५] विश्व पर ब्रह्म में लीन होकर' रहता है। भौतिक जगत से अभिन्न सर्वशक्ति युक्त इस ब्रह्म को सूर्य नाम से प्रकट किया गया है तब से प्रजायें सूर्य को जानती हैं और पूजती हैं। आराधकों के हृदय में स्थित उस ब्रह्म को सूर्य कहा गया है। ब्रह्म के तीन पाद दृष्टि से ओझल हैं। सत्योपदेश से ही ब्रह्मज्ञान हो सकता है। सूर्यात्मक ब्रह्म हमारा पिता है, वही कर्मफल ज्ञाता है। वह इन्द्र अग्नि नाम से लोक में प्रकट है। जैसे ब्रह्म संसार को व्याप्त करके स्थित है, वैसे आत्मा भी स्थित है। इन्द्रादि देवता

भी ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। वृत्तिओं द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर इन्द्रियाँ भी ब्रह्म में लीन हो जाती है।[१६]

अथर्ववेद के उपर्युक्त विचारों के आधार पर कहा जा सकता है कि इस वेद के ऋषि एक तत्व के विचार को ब्रह्मरूप में ही साकार करते हैं। जिस एक तत्व की अवधारणा ऋग्वेद से प्रारम्भ हुई थी, उसी ने अथर्ववेद तक पहुँच कर ब्रह्म नाम धारण कर लिया। इस आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि ऋग्वेद एवं अथर्ववेद के बीच एक लम्बा अन्तराल रहा है। यदि वैदिक संहिताओं की यात्रा ऋग्वेद से प्रारम्भ होती है तो अथर्ववेद को उसका अन्तिम पड़ाव माना जा सकता है क्योंकि उपनिषदों को वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग स्वीकार करने में किसी विद्वान को आपत्ति नहीं है। यह भी देखा जा सकता है कि अथर्ववेद के ब्रह्म को उपनिषदों में एकमात्र सत् के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

अथर्ववेद माया और उसके कार्यों से भली-भाँति परिचित प्रतीत होता है। विशेषकर इस वेद का बीसवाँ खण्ड माया को एक शक्ति के रूप में देखता है। एक स्थान पर इन्द्र की प्रार्थना करते हुए कतिपय जन कहते हैं कि हे इन्द्र, आप तो अपनी माया से दस्युओं का नाश कर देते हैं।[१७] इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि इस वेद में भी ऋग्वेद की भाँति माया को इन्द्र की शक्ति के रूप में देखा गया है। इस बीसवें खंड में ही माया को असुरों की शक्ति भी कहा गया है। एक स्थल पर इन्द्र के उपासक कहते हैं कि हे इन्द्र, आप आसुरी मायाओं को अवरुद्ध कीजिए।[१८] यह वेद माया को ब्रह्म की शक्ति रूप में भी देखता है। वहाँ कहा गया है कि परब्रह्म अपनी माया से आदित्य का रूप धारण करता है। वह ब्रह्मा, शिव, हरि, इन्द्र व अग्नि इत्यादि रूपों में माया शक्ति से प्रकट होता है।

उपर्युक्त पृष्ठों में हमने यह देखने का प्रयास किया है कि ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता एवं अथर्ववेद संहिता में अद्वैत-वेदान्त के दो मुख्य विचार विद्यमान हैं। ये विचार ब्रह्म एवं माया हैं। सामवेद संहिता में भी परमसत् सम्बन्धी विचार खोजे जा सकते हैं, किन्तु हम अपने मन्तव्य के लिये इस खोज को आवश्यक नहीं समझते। प्रथम तो सामवेद वैदिक मन्त्रों की उच्चारण विधि से मुख्य रूप सम्बन्धित है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त तीन संहिताओं का सूक्ष्म विवेचन यह सिद्ध कर देता है कि अद्वैतवेदान्त के मुख्य तत्व संहिताओं में उपलब्ध हैं। विश्व के मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिये इन संहिताओं में कहीं पर साक्षात रूप से प्रयास नहीं किया गया। प्रयास करने पर भी इन संहिताओं में विश्व के मिथ्यात्व को परोक्षरूप से ही देखा जा सकता है, अपरोक्षरूप से नहीं। उदाहरण के लिये कतिपय स्थानों पर, जैसा कि हम देख चुके हैं, माया को इस विश्व की जननी भी कहा गया है। यदि माया और उसके उत्पाद को हम मिथ्या समझें, तभी संहिताओं में विश्व का मिथ्यात्व देखा जा सकता है किन्तु

माया एवं उसके उत्पाद को सत् न समझना संहिताओं के बाद की समझ है। संहिताओं के उपासक तो इस विश्व के सम्बन्ध में सत् एवं असत् का प्रश्न ही नहीं उठाते। ऐसा प्रतीत होता है कि वे तो इसे सत् ही समझते हैं, तभी तो विभिन्न देवों की उपासना करके वे देवों से भौतिक वस्तुओं को ही माँगते हैं। लम्बी आयु, आर्थिक लाभ, पशुधन अथवा पृथ्वी-धन ही उन उपासकों की कामना के विषय है। इनके अतिरिक्त अपने दुश्मनों अर्थात् असुरों से छुटकारा पाने की कामना भी वे व्यक्त करते हैं। यही बात ज्ञान एवं उससे प्राप्त होने वाले मोक्ष के सम्बन्धों में भी कही जा सकती है। ये विचार भी संहिताओं के बाद ही समुचित रूप से विकसित हुये हैं। संहिताओं के अध्ययन के आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि वैदिक परम्परा में मान्य मानव जीवन के चार पुरुषार्थों में से संहिताकाल में तीन की मान्यता ही उपलब्ध होती है - धर्म, अर्थ एवं काम। चौथा पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष बाद का विकास है।

इस प्रकार संहिताओं में विद्यमान अद्वैतवेदान्त के तत्व उपनिषदों में आकर पूर्ण रूप से विकसित होते हैं। संहिताओं और उपनिषदों के मध्य ब्राह्मण ग्रन्थ एवं आरण्यक ग्रन्थ आते हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या इन ग्रन्थों में अद्वैतवेदान्त के तत्व विद्यमान हैं या नहीं। इस प्रश्न के उत्तर में हम कह सकते हैं कि किसी अद्वैतवेदान्ती ने इन ग्रन्थों का सहारा लेकर इस वेदान्त का प्रतिपादन नहीं किया है। मंडन मिश्र, गौडपाद एवं शंकर जैसे अद्वैतवेदान्तिओं ने भी इन ग्रन्थों का उल्लेख अपने विचारों के आधार के रूप में नहीं किया है। इन विद्वानों ने मुख्य रूप में उपनिषद, ब्रह्मसूक्त एवं भगवद्गीता को ही अद्वैतवेदान्त के आधार रूप में प्रस्तुत किया है। यह भी कहा जा सकता है कि डॉ. एस.एन. दासगुप्त,[१९] डॉ. संगमलाल पाण्डेय[२०] इत्यादि अद्वैत वेदान्त के आधुनिक विद्वानों ने भी ब्राह्मण ग्रन्थों और आरण्यक ग्रन्थों का इस संदर्भ में उल्लेख नहीं किया है। प्रस्तुत लेखक के विचार से शायद कोई ही देशी या विदेशी विद्वान हो, जो अद्वैतवेदान्त के अध्ययन के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों एवं आरण्यक ग्रन्थों के आवश्यक समझता हो। इसका एक अन्य कारण यह भी हो सकता है कि कतिपय ब्राह्मण ग्रन्थ तो यत्र-तत्र उपलब्ध हो सकते हैं किन्तु आरण्यक ग्रन्थ तो उपलब्ध भी नहीं है और फिर ब्राह्मण ग्रन्थों की विषय-वस्तु मुख्यतयः कर्मकाण्ड ही है। अतः प्रस्तुत लेखक भी संहिताओं के बाद उपनिषदों में ही अद्वैतवेदान्त के तत्वों को खोजने का प्रयास करेगा।

## संदर्भ-सूची

१. स नः पितवे सेनवेऽग्ने सूपयानो भव। सचस्वां न स्वस्तये।। (ऋग्वेद, सूक्त १.९)
२. वायूवायाहि दर्शतेमे सोमां, अरंकृता। तेषं पाहि शुधी हवम्।। (ऋग्वेद सूक्त २.१)

३. सिक्स सिस्टम ऑफ इण्डियन फिलासफी (पृष्ठ ५१-५७)
४. एकं सद्विप्रावहुधा वदन्ति
५. पुरुषसूक्त (ऋग्वेद १०.६०.१)
६. पुरुष यवेदं सर्वं यद भूतं यच्च भव्यम् (मन्त्र २)
७. नासदासीन्तो सदासीत तदानीमृ, नासदीय (सूक्त १)
८. इन्द्रो मायाभिः पुरूरुपईयते युक्ताह्यस्य हरयः शतादश (ऋग्वेद, ६.४७.१८)
६. पतंगभक्तमसुरस्य मायाया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः (वहीं, १०.१७७.१)
१०. मायेतृ सा ते यानि युद्धान्याहुनधि शत्रु ननुपुरा विवित्से (वहीं १०.५४.२)
११. देखिये। (वहीं, ५.८५.५)
१२. यो भूतानामधिपतिर्यस्मिंलोका अधिश्रिताः (यजुर्वेद, २०.३२)
१३. मही सहास्रीमसुरस्य मायामग्ने माहि सीः परमेन्योमन् (यजुर्वेद, १३.४४)
१४. देखिये (वहीं, ११.६६)
१५. अथर्ववेद-सायणभाष्य (२.१.१)
१६. वही २.१, हिन्दी अनुवाद डॉ. राजबहादुर पाण्डेय।
१७. देखिए अथर्ववेद। (२०.११.६)
१८. वहीं। (२०.३६.६)
१६. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी (वालूम १ एवं २)
२०. देखिये प्री शंकर अद्वैत फिलासफी, डॉ. संगमलाल पाण्डेय

❑❑❑

## उपनिषदों में अद्वैतवेदान्त के तत्त्व

कतिपय विद्वान यह मानते हैं कि अद्वैतवेदान्त के सर्वश्रेष्ठ आचार्य शंकराचार्य ने बौद्ध दार्शनिकों के प्रभाव में आकर अद्वैतवेदान्त का प्रतिपादन किया। वे माध्यमिक दार्शनिक नागार्जुन की शून्यता को शंकर के ब्रह्मरूप में स्वीकार करते हैं, किन्तु मैं इस मत को स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पाता हूँ। मेरे अनुसार शंकर का अद्वैतवेदान्त उस महान आचार्य की अन्तर्दृष्टि एवं तर्कना-शक्ति की देन है, किन्तु उन्होंने अपने इस दर्शन को उपनिषदों को मुख्य आधार बना कर विकसित किया है। इस अर्थ में उपनिषदों में अद्वैतवेदान्त के तत्व खोजना अप्रासांगिक नहीं है।

उपनिषदों की संख्या लगभग १०८ मानी जाती है। इन सभी उपनिषदों का निरीक्षण न संभव है और न आवश्यक। अतः हम उन्हीं उपनिषदों को देखने का प्रयास करेंगे, जिन पर शंकराचार्य ने भाष्य लिख कर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। शंकर के अनुसार उपनिषदों में एकमात्र अद्वैत तत्व का ही प्रतिपादन, उसके जानने का साधन और उसे जान कर प्राप्त होने वाली तृप्ति का विस्तृत उल्लेख है।

उपनिषद् को वेदों का अन्तिम भाग माना जाता है। उपनिषद शब्द का अर्थ है 'जो मनुष्य को ईश्वर के निकट ले जाय' या 'जो किसी को उसके गुरु के समीप बैठाये।' सब उपनिषदों की रचना एक साथ नहीं हुई है। गद्य में लिखे गये उपनिषद जैसे एतरेय, तैत्तरीय, बृहदारण्यक और छान्दोग्य प्राचीनतम हैं और गद्य एवं पद्य दोनों में लिखे गये अपेक्षाकृत बाद के माने जाते हैं। केवल पद्य में लिखे गये उपनिषद जैसे मुण्डक, कैवल्य आदि सबसे बाद के हैं। नये-पुराने सभी उपनिषदों में से कुछ ऐसे हैं, जिन्हें आचार्यों ने सर्वस्वीकृत माना है और उन पर भाष्य लिखे हैं। इन्हें मुख्य उपनिषद कहते हैं। इन मुख्य उपनिषदों के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि इन सबमें एक ही परम सत् का प्रतिपादन है। उनमें वर्णित कहानियों के पात्र सत् को एक मान कर ही प्रश्न करते हैं और उसके प्रतिपादक एक ही कह कर उसका निरूपण करते हैं।'

उपनिषदों में हम देखते हैं कि वे नानात्व का निषेध ही नहीं करते, वरन् एक परम् सत् का प्रतिपादन भी करते हैं। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि परमसत् एक ही है। उसे ब्रह्म या आत्मा कहते हैं। उसी से यह नानात्वपूर्ण जगत् व्यक्त हुआ है, उसी में स्थित है और उसी में लीन हो जाता है। यह जगत नामरूप मात्र है। उदाहरण के लिये बृहदारण्यकोपनिषद में उशस्त याज्ञवल्क से पूछते हैं कि जो साक्षात् ब्रह्म है और सर्वान्तर आत्मा है, उसको मुझे बतलाओ।[१] याज्ञवल्क उत्तर देते हैं कि तेरी आत्मा ही सर्वान्तर है। उशस्त के इस प्रश्न एवं याज्ञवल्क के उत्तर से इस मनोभाव का ज्ञान होता है कि वे एक ही परम सत् में विश्वास करते हैं, उसे ब्रह्म कहते हैं और वही

सबकी आत्मा है। इसी उपनिषद के चौथे खंड में कहा है कि अनेकता है ही नहीं, जो अनेकता देखता है, वह जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति नहीं पाता।[२] इस कथन का तात्पर्य यही है कि परम सत् एक ही है। उसे सत्य का सत्य घोषित किया गया है।[३] उस सत्य के लक्षण बतलाते हुये श्रुति कहती है कि 'महानज आत्मा विज्ञानमयः'[४] अर्थात् वह ब्रह्म आत्मास्वरूप है, चेतन है, और महान है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है 'इदं महद्भूतं अनन्तं अपारं विज्ञान धन एव।'[५] अर्थात् वह महान, अनन्त अपार और चेतन स्वरूप है। इसी उपनिषद के दूसरे अध्याय के पाँचवें ब्राह्मण के उन्नीसवें सूत्र में कहा गया है कि 'इन्द्रोमायाभिः पुरुरुपईयते' अर्थात् इन्द्र अपनी माया के द्वारा अनेक रूप धारण करता है। इस वाक्याँश में प्रयुक्त हुये 'इन्द्र' का अर्थ परमेश्वर किया गया। अतः इसका अर्थ यही हुआ कि वही एक परमेश्वर माया के द्वारा अनेक रूप धारण करता है। बृहदारण्यक उपनिषद का यह मन्त्र यद्यपि ऋग्वेद के कथन की पुनरावृत्ति है,[६] तथापि यह इस उपनिषद में माया की स्वीकृति को दर्शाता है। इसी प्रकार इस उपनिषद के दूसरे खंड के चौथे ब्राह्मण के चौदहवें मन्त्र में कहा गया है कि जहाँ जिसके लिये सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ किसके द्वारा किसे सूघें, किसके द्वारा किसे देखें, किसके द्वारा किसे सुनें, किसके द्वारा किसका अभिवादन करें, किसके द्वारा किसका मनन करें और किसके द्वारा किसे जाने? जिनके द्वारा सबको जानता है, उसको किसके द्वारा जानें।[७] इस मन्त्र का भावार्थ यह भी है कि आत्मज्ञान द्वारा सबका ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यही ज्ञान मुक्ति का द्वार है। वृहदारण्यक उपनिषद का ऋषि यह स्वीकार करता है कि एक आत्मतत्त्व के ज्ञान द्वारा अखिल द्वैत प्रपंच का निराकरण अपने आप हो जाता है, उस आत्मतत्त्व अर्थात् ब्रह्म का। इसी उपनिषद् के याज्ञवल्क-मैत्रेयी संवाद में भी एकमात्र आत्मतत्त्व के ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। उसी को जानने से व्यक्ति को अमृत्व प्राप्त हो सकता है इसीलिये याज्ञवल्क अपनी पत्नी मैत्रेयी को उपदेश देते हैं कि एक आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, माननीय एवं ध्यान करने योग्य है। इस आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञान से इस सबका ज्ञान हो जाता है।[८] यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि मैत्रेयी के प्रश्न 'जिसको जान कर मैं अमरत्व को प्राप्त हो जाऊँ, उसी का ज्ञान देने की कृपा करें' के उत्तर में ही याज्ञवल्क ने आत्मतत्त्व के जानने की अनुशंसा की है।[९] याज्ञवल्क मैत्रेयी के उपर्युक्त संवाद से यह अर्थ निकलता है कि इस विश्व में एक आत्मतत्व ही जानने योग्य है और उसी के ज्ञान से अमरत्व संभव है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बृहदारण्यक उपनिषद् में अद्वैत-वेदान्त के सभी तत्त्वों का उल्लेख उपलब्ध होता है। परम तत्त्व की एकता, माया, विश्व को प्रपंच्च रूप में देखना एवं ज्ञान द्वारा ही मुक्ति जैसे सभी विचार इस उपनिषद की शिक्षाओं में निहित हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद की भाँति ही छान्दोग्य उपनिषद में भी अद्वैतवेदान्त के विभिन्न सूत्र उपलब्ध होते हैं। छठे अध्याय के दूसरे खंड का प्रथम सूत्र कहता है कि 'आरम्भ में यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था'[१०] यह अद्वैत का स्पष्ट कथन है और अद्वैत ही सत् है। इसी मन्त्र में इस बात का भी खंडन किया गया है कि प्रारम्भ में एकमात्र असत् ही था। इसी अध्याय के दूसरे मन्त्र में कहा गया है कि असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है। अतः आरम्भ में एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। छठे अध्याय के पहले खंड के चौथे मन्त्र में यह कहा गया है कि जिस प्रकार एक मिट्टी के पिंड को जान लेने पर उस पिंड से बने सभी पात्रों का ज्ञान हो जाता है क्योंकि सभी पात्र तो केवल नामरूप हैं, मिट्टी ही उन सबका आधार है, सत्य तो एकमात्र मृतिका है, उसी प्रकार उस एक अद्वैत का ज्ञान हो जाने से सब कुछ जाना हुआ हो जाता है।[११] इसके अगले मन्त्र में ही सुवर्ण का उदाहरण लिया गया है। जिस प्रकार सुवर्ण के एक पिंड के ज्ञान से उससे बने कटक, मुकुट इत्यादि सभी पदार्थ जान लिये जाते हैं, उसी प्रकार उस एक अद्वैत तत्त्व के ज्ञान से सभी कुछ जाना हुआ हो जाता है क्योंकि वह अद्वैत तत्त्व ही सबका आधार है और विश्व के सभी पदार्थ 'तस्याद्वाचारम्मणं विकारो नामधेयं' हैं।

छान्दोग्य उपनिषद यह भी धारणा व्यक्त करता है कि उस एक सत् के ईक्षण से पहले तेज उत्पन्न हुआ और जब तेज ने ईक्षण किया कि मैं बहुत हो जाऊँ तो जल का उत्पत्ति हुई और जल के ईक्षण से अन्न उत्पन्न हुआ।[१२] इस प्रकार यह उपनिषद उस एक से ही इस नाम-रूप वाले जगत अर्थात् प्रतीत होने वाले जगत की उत्पत्ति स्वीकार करता है। यह नामरूप जगत स्वतंत्र रूप से कुछ भी नहीं है। एक अन्य स्थान पर यही उपनिषद समस्त विश्व को ब्रह्म ही कह देता है। सब कुछ इसी से उत्पन्न होता है, इसी में स्थित है और इसी में लीन हो जाता है।[१३] तत्त्वदृष्टि से ब्रह्म के अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं है। जड़ पदार्थों का ही वह आधार नहीं है, वह तो जीवों की चेतना का भी आधार है।[१४]

उपर्युक्त वर्णन यह सिद्ध करता है कि छान्दोग्य उपनिषद् में सत् को एक अद्वैत माना गया है और यह समस्त विश्व नामरूप वाला होने के कारण प्रपंच्च ही है। आत्मा के अतिरिक्त समस्त प्रपंच्च मिथ्या है। उपर्युक्त श्रुति वाक्यों में हमने देखा है कि घट, कमण्डल इत्यादि मिट्टी के विकार हैं। यह वाणी पर आश्रित होने के कारण केवल नाममात्र के ही हैं। केवल मिट्टी ही सत्य है, उसी प्रकार केवल आत्मा ही सत्य है, इसके अतिरिक्त जगत प्रपंच्चरूप मिथ्या है। माया के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि उसे परोक्षरूप से विश्व की जननी नहीं कहा गया है। माया को अविद्या अर्थात् अज्ञान के रूप में चित्रित करके इस उपनिषद में यह कहा गया है कि इस अविद्या के कारण ही व्यक्ति सत्य से अलग रहता है। अविद्या सत्य का आवरण है। जिस

प्रकार एक अज्ञानी व्यक्ति पृथ्वी में गड़े हुये धन को बार-बार खोदने पर भी नहीं प्राप्त कर पाता, उसी प्रकार संसारी जीव भी अपने में आत्मा को नहीं प्राप्त कर पाते। ये अज्ञानी अविद्या के चक्र में भ्रमित रहते हैं। यहाँ पर माया को अनृत एवं असत्य के द्वारा बतलाया गया है।[१५] इस सम्बन्ध में यह समझना आवश्यक है कि शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्तिओं द्वारा किये गये माया और अविद्या के भेद की उपनिषदों में अधिक चर्चा नहीं है। शंकराचार्य स्वयं ने भी इस समस्या का समाधान प्रस्तुत नहीं किया, उनके कथनों में इस भेद की ओर इशारा अवश्य है। अन्य उपनिषदों की भाँति श्वेताश्वतरोपनिषद में भी अद्वैत वेदान्त के तत्वों को ढूंढ़ा जा सकता है। इस उपनिषद में भी ब्रह्म अथवा आत्मा को ही परम सत् के रूप में स्वीकार किया गया है। ब्रह्म को प्रपंच्च से प्रथक माना गया है। उसी ब्रह्म में भोक्ता, भोग्य एवं नियन्ता तीनों को स्थित बतलाया गया है। वह ब्रह्म सर्वोत्कृष्ट है, वह अविनाशी है। यह भी कहा गया है कि ब्रह्मवेत्ता व्यक्ति ब्रह्म में लीन हो जाता है और जन्ममरण के चक्र से मुक्ति पा जाता है।[१६] यह उपनिषद उस एकमात्र ब्रह्म अथवा सत् को जीवन और जगत में उसी प्रकार व्याप्त मानता है, जिस प्रकार दूध में घी व्याप्त रहता है।[१७]

श्वेताश्वतोपनिषद में माया का स्पष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। माया को ही ईश्वर की उपाधि माना गया है। उस परब्रह्म परमेश्वर को मायावी कह कर भी संबोधित किया गया है। इस प्रकृति को माया की संज्ञा दी गयी है।[१८] अर्थात् इस प्रकृति को ईश्वर अपनी शक्ति माया के द्वारा रचता है। यह उपनिषद घोषित करता है कि 'वेद, यज्ञ, क्रतु, व्रत, भूत, भविष्य और वर्तमान तथा और जो कुछ वेद बतलाते हैं, वह सब मायावी ईश्वर इस अक्षर से ही उत्पन्न करता है, और उस (प्रपंच्च) में ही माया से अन्य सा होकर बंधा है।'[१९]

जैसाकि उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि यह उपनिषद ब्रह्म को परमसत् एवं विश्व को प्रपंच्चरूप में स्वीकार करता है। यह प्रपंच्च उस परम् सत् पर ही आधारित है और उसी में लीन हो जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि इस उपनिषद का ऋषि इस विश्व को सत् नहीं मानता क्योंकि जो सत् है, वह लीन नहीं होता। अतः विश्व मिथ्या है। इसके अतिरिक्त यह भी स्वीकार किया गया है कि ब्रह्मविद अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति पाता है। अतः इस प्रकार के कथनों से यह भी ज्ञात होता है कि श्वेताश्वतरोपनिषद ज्ञान से मुक्ति संभव मानता है। अद्वैतवेदान्त की भी यही मान्यता है। अब मेरे इस कथन के प्रति आपत्ति नहीं होनी चाहिये कि इस उपनिषद में अद्वैत-वेदान्त के तत्त्व विद्यमान हैं।

ईशावास्योपनिषद आकार में छोटा है। इसमें केवल १८ मन्त्र हैं, किन्तु इसका महत्व कम नहीं है क्योंकि शंकराचार्य जैसे ब्रह्मविदों ने इस पर भाष्य लिखा है। यह

उपनिषद आदि से अन्त तक एक परम् सत् का प्रतिपादन करता है और उसके ज्ञान को ही मोक्ष का द्वार मानता है। प्रारम्भ में ही हमें सर्वत्र भगवद्‌दृष्टि का उपदेश दिया गया है। ऋषि कहता है कि यह जो स्थावर-जंगम विश्व है, वह एक ईश से ही व्याप्त है।[२०] इस उपनिषद का चौथा मन्त्र यह घोषणा करता है कि 'वह आत्मतत्त्व अपने स्वरूप से विचलित न होने वाला, एक तथा मन से भी तीव्र गति वाला है।'[२१] इसे इन्द्रियाँ नहीं प्राप्त कर सकती क्योंकि वह उन सबसे पहले विद्यमान है। इसी श्लोक में उस परम् सत् का वर्णन इस प्रकार किया गया है, जिससे उसकी अनन्तता एवं आत्मरूपता का भाव प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस उपनिषद में विश्व का स्वतंत्र अस्तित्व भी स्वीकार नहीं किया गया है। इस सम्बन्ध में उपनिषद का छठा मन्त्र कहता है कि जो सभी को आत्मा में ही देखता है और सब भूतों में आत्मा को ही देखता है, वह किसी से घृणा नहीं करता। इस मन्त्र का निहितार्थ यही है कि एक आत्मा ही सर्वत्र व्याप्त है। उस आत्मा का वर्णन करते हुये कहा गया है कि वह सर्वगत, शुद्ध अशरीरी, अक्षत, स्नायु से रहित, निर्मल, अपापहत, सर्वदृष्टा, सर्वोत्कृष्ट और स्वयंभू है।[२२]

यद्यपि यह उपनिषद उस एक आत्मतत्व का वर्णन तो भली भाँति करता है, किन्तु माया संबंधित कथन किसी भी मन्त्र में उपलब्ध नहीं होता। सभी श्लोकों में जगत को ब्रह्मरूप मानते हुये, उसकी स्वतंत्र सत्ता को नकारा गया है। यहाँ न तो माया को ईश्वर की शक्ति के रूप में दिखलाया गया है और न उसे विश्व की जननी के रूप में ही प्रतिष्ठित किया है। एक-दो मन्त्रों में अविद्या शब्द का प्रयोग अवश्य मिलता है,[२३] परन्तु यह प्रयोग मनुष्य के अज्ञान अथवा अविद्या को ही इंगित करता है। इस अविद्या को विश्व रचना की प्रक्रिया से संबंधित नहीं दिखलाया गया है। ईशावास्योपनिषद का उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन यह तो सिद्ध ही करता है कि इसका मुख्य प्रतिपाद्य अद्वैत ही है।

कठोपनिषद में अद्वैतवेदान्त के अधिकतर विचार उपलब्ध हैं। ब्रह्म के स्वरूप से संबंधित विभिन्न मन्त्र उपलब्ध हैं। ब्रह्म का वर्णन करते हुये ऋषि कहता है कि 'यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही क्षर है। इस अक्षर को जान कर जो जिसकी इच्छा करता है, वही उसका हो जाता है।'[२४] इस मन्त्र में केवल ब्रह्म को अक्षर अथवा नित्य कहा है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है, वह क्षर अर्थात् अनित्य है। अगले मन्त्र में कहा गया है कि यह अक्षर ब्रह्म ही श्रेष्ठ आलम्बन है। जो व्यक्ति इस आलम्बन को जान लेता है, वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है।[२५] वह ब्रह्म आत्मा रूप से जीवों की हृदय गुहा में छिपा हुआ है।[२६] वह महान्तं विभमात्मानां अर्थात् वह सर्वश्रेष्ठ सर्वव्यापी सबकी आत्मा है।[२७] इस आत्मा के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि वह न उत्पन्न होता है, न मरता है, न किसी अन्य कारण से उत्पन्न होता है,

और न स्वतः। वह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नष्ट होने पर भी नहीं मरता।[२८] इस उपनिषद का ऋषि फिर कहता है कि 'जहाँ से सूर्य उगता है और जहाँ वह अस्त हो जाता है, उस प्राणात्मों में सम्पूर्ण देवता अर्पित हैं। उसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता, वही ब्रह्म है।[२९] उपनिषद स्पष्ट रूप से कहता है जो तत्व इस देह-इन्द्रिओं में है वही, देहादि से परे है और जो देहादि से परे है, वही देहादि में है। जो इस एकता में अनेकता देखता है, वह जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़ता है।[३०] कठोपनिषद में प्रतिपादित विचारों का उपर्युक्त विवरण यह सिद्ध करता है कि वहाँ अद्वैत का प्रतिपादन हुआ है। वह अद्वैत तत्व ब्रह्म ही सत् है और यह नानत्वपूर्ण विश्व को असत् अथवा मिथ्या समझने का संकेत है।

उपनिषद का ऋषि यह भी स्वीकार करता है कि वह एक ही है, किन्तु अनेक रूपों को धारण करता है। जिस प्रकार सम्पूर्ण विश्व में प्रविष्ट हुआ अग्नि वस्तु के आकार का रूप धारण कर लेती है, उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा उनके रूप के अनुरूप रूप धारण करता है और उनसे बाहर भी रहता है।[३१] ब्रह्म के स्वरूप का निर्धारण करते हुये यह भी कहा गया है कि वह ऐसा वृक्ष है, जिसका मूल ऊपर है और शाखायें नीचे हैं। वह विशुद्ध ज्योति स्वरूप एवं अमृत है। यह सम्पूर्ण विश्व उसी पर आश्रित है और कोई भी उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता।[३२] वह नित्यों का भी नित्य और चेतनों का भी चेतन है। कठोपनिषद के उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि इस उपनिषद में केवल एक ब्रह्म अर्थात् आत्मा को परम् सत् के रूप में स्वीकार किया गया है। यद्यपि तर्कों की सहायता से विश्व का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं किया गया है, परन्तु उसकी ओर संकेत अवश्य किया गया है। उपरोक्त विवेचन में कहा गया है कि मूल एक ही है, शाखायें अनेक हैं। यह समस्त विश्व उसी पर आधारित है, जो नानात्व देखता है, वह जन्म-मृत्यु के चक्र में फंसता है। वह एक ही अनेक रूपों में व्यक्त होता है। ये कुछ ऐसे शब्द एवं वाक्य हैं जो विश्व के मिथ्यात्व की ओर इंगित करते हैं।

मुडंक उपनिषद तो अद्वैत की सिद्धि करने में सर्वाधिक रूप से अग्रणी है। इस कथन से हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि अन्य उपनिषद अद्वैत की सिद्धि नहीं करते। मेरे अनुसार सभी उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है। भेद केवल शब्दावली एवं उपमाओं का है। मुडंक उपनिषद के प्रथम अध्याय के प्रथम खंड का छठा मन्त्र कहता है कि वह ब्रह्म अदृश्य, अग्राहय, अगोत्र, अवर्ण एवं चक्षु श्रोत्राविहीन है। वह नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्य और अव्यय है। वही सभी भूतों का कारण है।[३३] इसके अगले मन्त्र में ही ऋषि कहता है कि जिस प्रकार मकड़ी जाले को बनाती है और निगल जाती है, जैसे पृथ्वी में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं, और जैसे जीवित मनुष्य से नाखून एवं केश आदि उत्पन्न होते है, उसी प्रकार उस ब्रह्म से यह विश्व उत्पन्न होता

है।[३४] उपनिषद कहता है कि जो ब्रह्मसर्वज्ञ है, विशेषज्ञ है और जिसका ज्ञानमय तप है, उस ब्रह्म से ही नाम, रूप एवं अन्न उत्पन्न होता है।[३५] इस ब्रह्म एवं आत्मा के ज्ञान को ही मोक्ष का साधन कहा गया है। उपनिषद कहता है कि जिस ब्रह्म में द्रुलोक, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और प्राणों सहित मन ओत-प्रोत हैं, उस आत्मा को जानो, यही मोक्ष प्राप्ति अमृत का सेतु है। उपनिषद का ऋषि ब्रह्म ज्ञान के महत्व का पुनः वर्णन करता है। उनके अनुसार 'जो कोई उस परब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। उनके कुल में कोई अब्रह्मवित् नहीं होता है। वह शोक एवं पाप को पार कर लेता है। वह हृदय ग्रन्थि से मुक्त होकर अमरत्व प्राप्त कर लेता है।[३६] इस उपनिषद में अन्यत्र भी अविद्या ग्रन्थि का उल्लेख हुआ है। ब्रह्म के ज्ञान से ही यह ग्रन्थि खुली है।[३७] इस वर्णन का निहितार्थ यही है कि अज्ञान के कारण ही हम नानात्व में सत् को देखते हैं। जब ग्रन्थि खुल जाती है, तब हम एक ब्रह्म को सर्वत्र व्याप्त देखते हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। यह उपनिषद् इस बात से सहमत है कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी सत् नहीं है। यह नामरूपात्मक विश्व प्रपंच्च मात्र ही है। यह मिथ्या है। उस ब्रह्म से इस विश्व की उत्पत्ति उपमाओं द्वारा समझाई गयी है विश्व की रचना के सम्बन्ध माया का उल्लेख न के बराबर ही है। यह कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त की भाँति ही यह उपनिषद ब्रह्म को परम् सत्, विश्व को मिथ्या एवं ज्ञान के द्वारा मुक्ति को संभव मानता है। ब्रह्म से ही इस समस्त जीवन-जगत की उत्पत्ति हुई है।

ईश उपनिषद की भाँति केन उपनिषद भी छोटा है। इसके चार भाग हैं। प्रथम खंड के आठ मन्त्र हैं, द्वितीय खंड में पाँच, तृतीय खंड में बारह और चौथे खंड में नौ मन्त्र हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण उपनिषद में चौंतीस मन्त्र हैं। इस उपनिषद का मुख्य प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस उपनिषद का एकमात्र प्रयोजन परम सत् का ज्ञान कराना है, यह माया जगत एवं जीव के वर्णन की उपेक्षा करता है। जगत के नानात्व पर भी इस उपनिषद में कोई सम्यक दृष्टि नहीं मिलती।

यह उपनिषद परमतत्व से संबंधित प्रश्न से ही प्रारम्भ होता है। प्रथम खंड का प्रथम मन्त्र कहता है कि यह मन किसके द्वारा प्रेरित होता है, प्राण किससे प्रेरित होकर चलता है, आँख और कान किस देवता से प्रेरित होकर कार्य करते हैं। प्रश्न इस प्रकार से किया गया है मानो सबको प्रेरित करने वाली कोई एक ही शक्ति है। इस प्रश्न का उत्तर भी एक तत्व की दृष्टि से दिया गया है। अतः प्रथम खंड के दूसरे मन्त्र में कहा है कि 'जो श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन और वाणी का भी वाणी है, वही प्राण का प्राण और चक्षु का चक्षु है'[३८] इस कथन का तात्पर्य यही है कि सभी को नियंत्रित करने वाली कोई एक शक्ति ही है। अगले ही मन्त्र में उस तत्व के स्वरूप को बतलाते हुये कहा है कि उस तत्व तक न आँख जाती है, न वाणी, न मन और

न विद्या ही पहुँचती है।[३९] यह वर्णन उस आत्मा अथवा ब्रह्म के अज्ञेयत्व और अनिर्वचनीयत्व की ओर इशारा करता है। ऋषि कहता है कि वाणी उस पर प्रकाश नहीं डाल सकती, वह वाणी को प्रकाशित करता है, वही ब्रह्म है। जिस वस्तु की लोक में उपासना की जाती है, वह ब्रह्म नहीं है।[४०] जिसका मन से मनन नहीं कर सकते किन्तु जिसके द्वारा मन मनन करता है, उसी को तू ब्रह्म जान।[४१] छठा मन्त्र कहता है कि चक्षु जिसे नहीं देख सकता, जिसके कारण कान सुनता है, जो प्राण का विषय नहीं है वरन् जिसके द्वारा प्राण अपने विषयों तक जाता है, उसे ही तू ब्रह्म जान।[४२] उपर्युक्त कथनों से यह स्पष्ट है कि वह एकमात्र सत् अर्थात् ब्रह्म ही हमारी सभी इन्द्रियों, मन एवं प्राण का अधिष्ठाता है। वह इन सबको संचालित करता है। इस प्रकार यह उपनिषद भी निसन्देह रूप से अद्वैत का ही प्रतिपादन करता है। दूसरे खंड के तीसरे मन्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि कोई भी व्यक्ति विषय रूप में नहीं जान सकता। आत्मानुभव या बौद्ध प्रतीति ही उसकी झलक देती है। उस ज्ञान से हमें अमृतत्व की प्राप्ति होती है और अमृतत्व अपने से ही प्राप्त हो सकता है। विद्या तो अज्ञान रूपी अन्धकार से मुक्ति दिलवाती है।

प्रश्नोपनिषद भी अद्वैत का प्रतिपादन करता प्रतीत होता है। इस उपनिषद में छः ऋषि महाऋषि पिप्लादि के पास जाकर अपनी जिज्ञासा शान्त करना चाहते हैं। ये ऋषि अपर ब्रह्म के ज्ञान में निष्णात थे, किन्तु परब्रह्म तक वे अभी नहीं पहुँचे थे। वह परब्रह्म क्या है? इसी ज्ञान को प्राप्त करने सभी छः ऋषि पिप्लादि मुनि के पास पहुँचे। ये छः ऋषि सुकेश, सत्यकाम्, गार्ग्य, कौसल्य, वैदर्भि एवं कबन्धी थे। मुनि पिप्लादि ने उन सभी को ब्रह्मचर्य रह कर श्रद्धायुक्त हो एक वर्ष और तप करने का आदेश दिया। उन सभी ने श्रद्धापूर्वक गुरू के आदेश का पालन किया, तत्पश्चात् एक-एक करके उन सभी ने पिप्लादि मुनि से प्रश्न पूछे।

सर्वप्रथम कात्यायन कबन्धी ने गुरू से पूछा कि भगवन, मुझे यह बतलाइये कि यह प्रजा किससे उत्पन्न होती है?[४३] इस प्रश्न का निहितार्थ यही है कि यह सब किसी एक से ही उत्पन्न होता है। इस प्रश्न के उत्तर में गुरू केवल एक को ही सबका मूलाधार मानता है और वह है प्रजापति। इसी से सब प्रजा उत्पन्न होती है।[४४] द्वितीय प्रश्न भार्गव का है। भार्गव ने गुरू से पूछा कि इस प्रजा को कितने देवता धारण करते हैं, उन देवताओं में सर्वश्रेष्ठ कौन है?[४५] इस प्रश्न के उत्तर में गुरू पिप्लादि प्राण के ही आधीन सबको मानते हैं और प्राण को सर्वश्रेष्ठ देवता स्वीकार करते हैं।[४६] आगे के मन्त्र में गुरु प्राण को ही प्रजापति स्वीकार करता हैं।[४७] इन दो प्रश्नों के अतिरिक्त तीसरा प्रश्न कौसल्य ने पूछा 'यह प्राण कहाँ से उत्पन्न करता है और किस प्रकार बाह्य एवं अभ्यान्तर शरीर को धारण करता है?[४८] इस प्रश्न के उत्तर में ऋषि ने कहा कि आत्मा से प्राण की उत्पत्ति होती है।[४९] चतुर्थ प्रश्न गार्ग्य का है। उसने पूछा

कि वह कौन सा तत्व है, जिसमें सभी इन्द्रियाँ आदि प्रतिष्ठित हैं।[५०] इस प्रश्न के उत्तर में ऋषि पिप्लादि कहते हैं कि एक पुरुष ही है, जिसके कारण हम देखते हैं, स्पर्श करते हैं, सुनते हैं, सूँघते हैं और बोध करते हैं और यह पुरुष सम्यक रूप से आत्मा में स्थित हो जाता है।[५१] इसी प्रश्न के उत्तर में ऋषि पिप्लादि अक्षर ब्रह्म को सभी का आधार घोषित करते हैं और कहते हैं कि इस अक्षर ब्रह्म के ज्ञान से ही व्यक्ति सर्वज्ञ एवं सर्वरूप हो जाता है।[५२] पाँचवें प्रश्न में शिवि पुत्र सत्यकाम अपने गुरू पिप्लादि मुनि से पूछता है कि 'ओंकारोपासक को किस लोक की प्राप्ति होती है? इस प्रश्न के उत्तर में गुरू ने कहा कि ओंकार ही ब्रह्म है, अतः ओंकार की उपासना करने वाला ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।[५३] छठे और अन्तिम प्रश्न में सुकेश ने गुरू से पूछा कि वह सोलह कलाओं वाला पुरुष मुझको बतलाइये? वह सोलह कलाओं वाला पुरुष शरीर के अन्दर ही है।[५४] अपने उत्तर का उपसंहार करते हुये गुरू ने कहा कि उस ब्रह्म को मैं इतना ही जानता हूँ, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं जानता।[५५] इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने सभी शिष्यों के प्रश्नों का उत्तर देकर पिप्लादि मुनि अंत में उपसंहार रूप ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। ब्रह्म ही मूलाधार है। यह समस्त जीवन-जगत उसी पर आधारित है। उपनिषद यह भी शिक्षा देता है कि व्यक्ति की मुक्ति का मार्ग उस ब्रह्म का ज्ञान ही है।

कतिपय उपनिषदों का उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि उपनिषदों में अद्वैतवेदान्त के तत्व विद्यमान हैं। अद्वैत तत्व का प्रतिपादन, माया, विश्व का मिथ्यात्व एवं ज्ञानमार्ग इत्यादि सभी का मूल इन ग्रन्थों में खोजा जा सकता है। इतना होते हुये भी उपनिषदों को अद्वैत-वेदान्त सम्बन्धी ग्रन्थ नहीं कहा जा सका। इसका मुख्य कारण यह है कि अद्वैत-वेदान्त के तत्वों के अतिरिक्त भी इनमें अद्वैत-वेदान्त से भिन्न सिद्धान्तों के बीज खोजे जा सकते हैं। यही कारण है कि इनको आधार बना कर अन्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी किया गया है। इस संबंध में यह भी कहा जा सकता है कि किसी भी उपनिषद ने अपने प्रतिपाद्य को तर्क प्रतिष्ठित बनाने का प्रयास नहीं किया। ऐसा प्रतीत होता है कि इन उपनिषदों में विभिन्न ऋषिओं की दिव्य-दृष्टि को रखने का ही प्रयास किया गया है। दिव्यदृष्टि को किसी तर्क की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। यह तो उस दिव्यदृष्टि को समझने वाले की क्षमता पर निर्भर करता है कि वह उसको किस रूप में और कितना देख सकता है। संभवतः यही बात उपनिषदों और उनके व्याख्याकारों के संदर्भ में कही जा सकती है। उपनिषदों के ऋषियों ने अपनी दिव्यदृष्टि को अभिव्यक्ति प्रदान की और उपनिषदों के व्याख्याकारों ने अपनी क्षमता के अनुसार उनके कथनों की व्याख्या करके अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर मेरा यह निष्कर्ष सही प्रतीत होता है कि उपनिषदों में अद्वैत-वेदान्त के बीज यत्र-तत्र बिखरे हुये हैं। अब हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि क्या कतिपय अन्य विद्वान भी उपनिषदों को अद्वैत-वेदान्त के आधारों में मान्यता देते हैं अथवा नहीं। सर्वप्रथम मैं पाल डायसन के विचारों का उल्लेख करना चाहूँगा। वे लिखते हैं कि 'भारतीय ज्ञान रूपी वृक्ष पर उपनिषदों से अधिक अच्छा कोई फूल नहीं है और उस उपनिषद रूपी फूल पर वेदान्त से उत्तम कोई फल नहीं। यह सिद्धान्त उपनिषदों की शिक्षाओं के आधार पर विकसित हुआ है और शंकर ने उसे चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया।[५६] जर्मनी के विद्वान मेक्समूलर का भी मानना है कि उपनिषदों में शंकर के दर्शन के सभी बीज निहित हैं।[५७] वे आगे लिखते हैं कि यद्यपि वेदान्त दर्शन एक स्वतंत्र दर्शन पद्धति लगती है, लेकिन वह पूर्णरूप से उपनिषदों पर आधारित है। उपनिषद दर्शन के ख्यातिप्राप्त भारतीय विद्वान प्रो. राना डे भी स्वीकार करते हैं कि ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता एवं उपनिषद ही समस्त वेदान्त दर्शन के मूलाधार हैं।[५८] डॉ. राधाकृष्णन भी मानते हैं कि उपनिषद वे आधार हैं, जिन पर बाद में आने वाले अधिकतर धर्म एवं दर्शन आधारित हैं।[५९] उपर्युक्त विद्वानों के कथनों से सहमत होते हुये मेरा भी मानना है कि ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर संहितायें और उपनिषदों को अद्वैत वेदान्त का आधार माना जा सकता है।'

इस सम्बन्ध में यह भी विचारणीय है कि जिन दार्शनिकों की रचनाओं में अद्वैतवेदान्त का सुव्यवस्थित रूप से प्रतिपादन हुआ है, वे भी स्वयं को उपनिषदों का ऋणी मानते हैं। उदाहरण के लिये गौड़पादाचार्य प्रथम सुव्यवस्थित अद्वैतवेदान्ती माने जा सकते हैं। यह सर्वविदित है कि उन्होंने एक उपनिषद अर्थात् माण्डक्योपनिषद पर भाष्य लिख कर ही अद्वैत वेदान्त का तर्कनिष्ठ प्रतिपादन किया। उनकी रचना माण्डूक्यकारिक भारतीय दर्शन के इतिहास का प्रथम ग्रन्थ माना जा सकता है। इस ग्रन्थ की अद्वैतवादी मान्यताओं के कारण ही शंकराचार्य ने, जिनको अद्वैतदर्शन का सर्वोच्च स्तम्भ स्वीकार किया जाता है, गौड़पादाचार्य की उपर्युक्त रचना पर भाष्य लिखा।

शंकराचार्य ने स्वयं उपनिषदों को अपने अद्वैत दर्शन के आधार के रूप में स्वीकार किया है। उनका यह निश्चित मत है कि परम् सत् अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान उपनिषदों द्वारा ही हो सकता है। अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य के परिचय में वे लिखते हैं कि ब्रह्म का ज्ञान वेदान्त अर्थात उपनिषदों से ही संभव है।[६०] वे उपनिषदों में प्रतिपादित ज्ञान को पूर्ण मानते हैं। वे अपने मन्तव्य को सिद्ध करने के लिये अपने ब्रह्मसूत्रों एवं भगवद्गीता के भाष्य में उपनिषदों को अनेक बार उद्धृत करते हैं। उपनिषद ही शंकरवेदान्त के मुख्य स्रोत हैं, इसका सबसे प्रबल साक्ष्य तो यही है कि उन्होंने लगभग सभी मुख्य उपनिषदों पर भाष्य लिखा है।

## संदर्भ-सूची

१. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, वाल्यूम १ एवं २
२. देखिए, प्री शंकर अद्वैत फिलासफी, डॉ. संगमलाल पाण्डेय
३. यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्मय आत्मा सर्वान्तरस्तं में व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः बृहदारण्यक उपनिषद, ४.१।
४. मनसैवानुदृष्टवयं नेह नानास्ति किंच्चन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।। वहीं ४.४ १९
५. नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नाम धेशं सत्यस्य सत्यमिति, ब्रहदारण्यकोपनिषद, २.३.६।
६. बृहदारण्यक उपनिषद् २.३.६।
७. वहीं, ४.४ २२।
८. देखिये, ऋग्वेद ६.४७.१८।
९. देखिये ब्रहदारण्यक उपनिषद २.४.१४।
१०. आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोताव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेरूयात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदे सर्वं विदितम्। बृहदारण्यक उपनिषद, २.४.५।
११. सा होवाच मैत्रेयी, येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्, यदेव भगवन्वेद तदेव में ब्रहीति। वही, २.४.३।
१२. सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवद्वितीयम्, छान्दोग्योपनिषद, ६.२.१।
१३. देखिये, छान्दोग्योपनिषद, ६.१.४।
१४. देखिये, वही, ८, ३, १-३।
१५. उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च। श्वेताश्वतरोपनिषद १.१.७ विदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः।।
१६. देखिये, वहीं, १.१.१६।
१७. मायांतु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् वहीं ४.४.१०।
१८. वहीं, ४.४.६।
१९. ईशावास्योपनिषद।
२०. अनेजदेकं मनसो जवीयो वहीं ४।
२१. देखिये वहीं, ८।
२२. देखिये वहीं, ३-६।
२३. एतद्ध्येयवाक्षरं ब्रह्म एतद्धयेवाक्षरं परम। कठोपनिषद १.२.१६।
एतद्ध्देवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत।
२४. देखिये वहीं, १.२.१७।
२५. वहीं, १.२.२०।
२६. वहीं, २.१.४।
२७. न जायते म्रियते वा विश्चितन्नायं कुताच्चिवभव कश्चित।
अजो नित्यः शाश्वतो ऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। कठोपनिषद १.२.१८।
२८. वहीं २.१.६।

२९. वहीं २.१.१०।
३०. वहीं २.२.९।
३१. वहीं २.२.१।
३२. देखिये मुडंक उपनिषद, १.१.६।
३३. वहीं, १.१.७।
३४. यह सर्वज्ञ सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। वहीं १.१.९।
३५. स यो ह वै तत्परम ब्रह्म वेद, ब्राहैव भवति, नास्या ब्रह्मवित्कुले भवति। मुडंक उपनिषद ३.२.९ तरतिशोकं तरति पाप्मानं गुहग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति।।
३६. पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृत्म। एतद्यो वेद निहितं गुहायाम् सो ऽविद्याग्रन्थि विकारतीह सोम्य।। वहीं, २.१.१०।
३७. श्रेत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचोह काचं स उ प्राणस्य केन उपनिषद १.२ प्राणश्चक्षुषशच्क्षुकतिमुच्यथीरा प्रेत्या स्माल्लोकादमृता भवान्ते।।
३८. न तत्रचक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्यो, केन उपनिषद १.३।
३९. वहीं १.४।
४०. वहीं १.५।
४१. वहीं १.६, ७, ८।
४२. भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रजा प्रजायन्त इति। प्रश्नोपनिषद १.१।
४३. अन्नं वै प्रजापतिस्ततोह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति। प्रश्नोपनिषद् १.१.१४।
४४. भगवत्कयेव देवाः प्रजा विधारयन्ते कतर एतत्प्रकाशयन्ते कः पुरेषां वरिष्ठ इति, वहीं २.१।
४५. देखिये वहीं, २.२.६।
४६. वहीं, २.२.७।
४७. वहीं, ३.१।
४८. वहीं, ३.३।
४९. कस्मिन सर्वे सप्रतिष्ठिता भवन्तीति, ४.१ वहीं।
५०. देखिये वहीं, ४.९।
५१. वहीं, ४.१०।
५२. वहीं, ५.१-२।
५३. देखिये वहीं, ५.१-२।
५४. वहीं, ६.७।
५५. आउट लाइन्स ऑफ दि वेदान्त सिस्टम ऑफ फिलासफी, प्रीफेस।
५६. देखिये श्री लेक्चरस ऑन दि वेदान्त फिलासफी, पृष्ठ १३५-३६।
५७. देखिये वहीं, पृष्ठ ३१।
५८. एकान्सट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलासफी, पृष्ठ २०५।
५९. दि फिलासफी ऑफ उपनिषद्, पृष्ठ १४।
६०. देखिये शंकरभाष्य ब्रह्मसूत्र इन्ट्रोडक्शन।

❑❑❑

# भगवद्गीता में अद्वैत वेदान्त के तत्त्व

कपितय विचारक वेद एवं उपनिषद को एक ही मान कर उसे श्रुति कहते हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं, अद्वैत वेदान्त के विकास में श्रुति का सर्वाधिक योगदान है। श्रुति के बाद महाकाव्य आते हैं। महाकाव्यों में भी अद्वैतवेदान्त के तत्व यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं। महाभारत का एक छोटा सा अंश भगवद्गीता है। भगवद्गीता में अद्वैत दर्शन के लगभग सभी प्रमुख विचार उपलब्ध हैं। श्रुति के बाद भगवद्गीता को स्मृति के रूप में स्वीकार किया है, इसलिये यह ग्रन्थ स्मृति प्रस्थान के नाम से भी जाना जाता है। विशेषकर अद्वैतदर्शन का यह स्मृति प्रस्थान है। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति एवं पराशरस्मृति इत्यादि के होते हुये भी अद्वैतवेदान्तिओं द्वारा भगवद्गीता को स्मृति प्रस्थान स्वीकार करने का एक कारण यह हो सकता है कि शंकर अद्वैतवेदान्ती ने उपर्युक्त अन्य स्मृतिओं को छोड़ कर भगवद्गीता पर ही भाष्य लिखा है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि भगवद्गीता की मुख्य शिक्षायें श्रुतिओं के अनुरूप हैं। इसीलिये, संभवतः भगवद्गीता को उपनिषदों की शिक्षाओं का सार माना जाता है। ब्रह्मसूत्र वेदान्त का तीसरा प्रस्थान स्वीकार किया जाता है। यह ग्रन्थ श्रुतिओं की शिक्षाओं को सूत्ररूप में प्रस्तुत करता है। उपनिषद्, भगवदगीता एवं ब्रह्मसूत्रों को साथ देख कर 'प्रस्थानत्रय' की संज्ञा दी गयी है। अद्वैतवेदान्त के मुख्य प्रवर्तक शंकराचार्य ने 'प्रस्थानत्रय' पर भाष्य लिख कर अद्वैत दर्शन को ही प्रतिष्ठित किया है।

भगवद्गीता में परमसत् को अद्वैत ही स्वीकार किया गया है। आठवें अध्याय में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि इस व्यक्त के आधार पर एक शाश्वत, अव्यक्त दैवी तत्त्व है, जो व्यक्त के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। आगे कृष्ण फिर कहते हैं कि वह अव्यक्त अविनाशी है, वही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है, उसको प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति का पुनर्जन्म नहीं होता।[१] बारहवें अध्याय में परम् सत् का विवेचन करते हुये कहा गया है कि वह अव्यक्त, अपरिभाषेय, अविनाशी, विभु एवं विचार से परे है। वह अपरिवर्तनशील, गतिरहित एवं एकरूप है।[२] पन्द्रहवें अध्याय में कृष्ण फिर कहते हैं कि मैं यह जो नाशवान है, उससे परे हूँ और अविनाशी से भी परे हूँ। इस विश्व एवं वेदों में मुझी को परम पुरुष समझना चाहिये।[३] उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि भगवद्गीता में परमसत् को अपरिवर्तनशील, अविनाशी एवं इस परिवर्तनशील विश्व से परे स्वीकार किया गया है। वह अपरिवर्तनशील अविनाशी तत्व विभु एवं चेतन है। वह इस संपूर्ण विश्व में व्याप्त है, परन्तु उसमें कुछ व्याप्त नहीं है। समत्व प्राप्त व्यक्ति सब भूतों में एक ही आत्मा देखता है और एक ही आत्मा में सभी भूतों को देखता है।[४] इस श्लोक की व्याख्या शंकर और रामानुजाचार्य ने भिन्न-भिन्न रूप से की है। रामानुजाचार्य एक आत्मा एवं दूसरी आत्मा में समानता देखते हैं और इस समानता के आधार पर ही यह कहते हैं कि जो एक आत्मा को

जानता है, वह दूसरों को भी जानता है।[५] परन्तु इसी श्लोक पर भाष्य लिखते हुये शंकर एक आत्मा और दूसरी आत्माओं में एकता स्थापित करते हैं।[६] यहाँ पर यह कह देना पर्याप्त है कि इस श्लोक में ऐसा कोई शब्द नहीं है जो विभिन्न आत्माओं में समानता का सूचक है। अतः इस सम्बन्ध में शंकर की व्याख्या ही उचित जान पड़ती है। छठे अध्याय का तीसवाँ श्लोक भी उस एक परम सत् को विभु स्वीकार करता है। कृष्ण कहते हैं कि जो सर्वत्र मुझे ही देखता है और सबको मेरे में देखता है, वह मुझसे अलग नहीं है।[७] इस प्रकार भगवद्गीता में अद्वैतवेदान्त की भाँति एक ही परम सत् स्वीकार किया गया है।

भगवद्गीता में माया का विचार भी उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में माया शब्द केवल चार श्लोकों में ही प्रयुक्त हुआ है। चौथे अध्याय के छठे श्लोक में और सातवें अध्याय के चौदहवें, पन्द्रहवें और पच्चीसवें श्लोक में माया शब्द आया है। चौथे अध्याय में कृष्ण कहते हैं कि यद्यपि मैं अजन्मा, अव्ययात्मा, अक्षीण ज्ञानशक्ति स्वभाव वाला और सभी भूतों का नियमन करने वाला ईश्वर भी हूँ, तो भी, अपनी त्रिगुणात्मिका वैष्णवी माया को अपने वश में रख कर केवल अपनी लीला से ही जन्म लिया सा प्रतीत होता हूँ। वास्तव में मैं जन्म नहीं लेता।[८] सातवें अध्याय के चौदहवें श्लोक में भी कृष्ण माया को अपनी शक्ति बतलाते हैं। वे कहते हैं कि इस देवी माया अर्थात् मेरी त्रिगुणमयी माया से पार पाना अति कठिन है। इसको वही पार कर सकते हैं जो मेरी शरण में आ जाते हैं।[९] सातवें अध्याय के पन्द्रहवें श्लोक में भी माया का उपयोग मनुष्य के अज्ञान के अर्थ में किया गया है। कृष्ण कहते हैं माया द्वारा जिनका ज्ञान हर लिया गया है, वे ईश्वर की शरण में नहीं आ पाते।[१०]

उपर्युक्त विवरण से यह सिद्ध होता है कि भगवद्गीता में माया को कोई स्वतंत्र शक्ति नहीं माना गया। इस ग्रन्थ में माया को ईश्वर की शक्ति के रूप में देखा गया है। माया द्वारा ही ईश्वर इस विश्व में विभिन्न रूप धारण करता है, किन्तु उस माया से प्रभावित नहीं होता। सारांश में हम कह सकते हैं कि भगवत्गीता में माया का प्रयोग तीन अर्थों में हुआ है। माया ईश्वर की रहस्यात्मक शक्ति है। इस विश्व के विभिन्न उत्पादों की जननी के रूप में एवं व्यक्ति की अविद्या, अर्थात् अज्ञान के रूप में भी माया शब्द का उपयोग मिलता है। यह सर्वविदित है कि शंकर भी माया को ईश्वर की शक्ति स्वीकार करते हैं और इस विश्व के पदार्थों को माया की उत्पत्ति मानते हैं।

भगवद्गीता इस विश्व के मिथ्यात्व को स्वीकार करता है। परम् सत् एक ब्रह्म या ईश्वर है। गीता इस विश्व को ईश्वर की उत्पत्ति स्वीकार करता है। जिस प्रकार माया को त्रिगुणात्मिका कहा है, उसी प्रकार इस विश्व के पदार्थ भी तीनों गुणों से पूर्ण हैं। कारण के कुछ गुण कार्य में अवश्य आते हैं। माया सत् नहीं है, अतः विश्व को सत् नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार माया न सत् है और न असत्, उसी प्रकार यह विश्व न सत् है, न असत् वरन मिथ्या है।

अद्वैतवेदान्तिओं की भाँति भगवद्गीता में ज्ञान को मुक्ति का साधन भी माना गया है। हमारे इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि गीता में भक्ति एवं कर्ममार्ग की उपेक्षा की गयी है। यह ग्रन्थ भक्ति, कर्म एवं ज्ञान तीनों को मानव जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन मानता है। इसीलिये अद्वैतवेदान्तिओं ने उपलब्ध ज्ञानमार्ग पर बल दिया, वैष्णव सन्तों को भक्ति मार्ग पसन्द आया और कतिपय अन्य विचारकों ने कर्म मार्ग की स्वीकृति दी। कहने का तात्पर्य यह है कि गीता में ज्ञान के तत्व विद्यमान हैं। उदाहरण के लिये गीता के सातवें अध्याय का उन्तालिसवाँ श्लोक कहता है कि 'यह ज्ञान, संसार के हेतु जो शोक-मोह आदि दोष हैं, उनकी निवृत्रि का साक्षात कारण है।'[११] इसी अध्याय के अगले श्लोक में कृष्ण कहते हैं कि 'समत्व-बुद्धियुक्त पुरुष, उस कर्मफल को छोड़ कर मनीषी अर्थात् ज्ञानी होकर इस जीवन में ही जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है।[१२] भगवद्गीता के विचारों का यह संक्षिप्त विवरण इस निष्कर्ष पर ले जाने में समर्थ है कि अद्वैतवेदान्त के इतिहास में गीता का महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि इस दार्शनिक संप्रदाय की मुख्य-मुख्य सभी मान्यतायें गीता में खोजी जा सकती हैं, फिर भी गीता को अद्वैतवेदान्त का ग्रन्थ इसलिये नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें निसन्देह अन्य सिद्धान्तों के बीज भी विद्यमान हैं। इसीलिये लगभग सभी वैष्णव संतों ने गीता पर भाष्य लिख कर अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। उदाहरण के लिये यदि रामानुजाचार्य गीता पर भाष्य लिख कर विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन करते हैं तो बल्लभाचार्य इसमें शुद्धाद्वैत देखते हैं।'

## संदर्भ-सूची

१. देखिये, भगवद्गीता ८, २०-२१।
२. दि गीता, १२.३।
३. वहीं १५.१८।
४. वहीं ६.२६।
५. वहीं ६.२६ रामानुज भाष्य।
६. वहीं ६.२६ शंकरभाष्य।
७. वहीं ६.३०।
८. देखिये गीता ४.६।
९. वहीं ७.१४।
१०. वहीं ७.१५।
११. देखिये भगवद्गीता ७.३९।
१२. देखिये वहीं ७.५१।

# योगवसिष्ठ में अद्वैत वेदान्त के तत्त्व

योगवसिष्ठ एक बहुत बड़ा ग्रन्थ है। परम्परा में यह माना जाता है कि मूल ग्रन्थ में ३२००० श्लोक हैं। प्रस्तुत लेखक को यह मूल योगवासिष्ठ देखने को नहीं मिला है, किन्तु इस महान ग्रन्थ के सार को कतिपय विद्वानों ने बहुत कम श्लोकों में रखने का प्रयास किया है। इन अनेक प्रयासों में प्राचीन विचारक अभिनन्द गौड़ ने सन् १०० ईसवी में इसको लघुयोगवासिष्ठ के नाम से प्रकाशित कराया। डॉ. बी.एल. अत्रेय द्वारा प्रस्तुत श्री योगवासिष्ठ सार सबसे बाद का है। यह १९६२ में प्रकाशित हुआ है। डॉ. आत्रेय ने इस महान ग्रन्थ का सार केवल १६७ श्लोकों में रखने का प्रयास किया है।[1]

योगवासिष्ठ के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद हैं। आधुनिक विद्वानों में डॉ. एस.एन. दास गुप्त और डॉ. बी.एल. आत्रेय यह मानते हैं कि 'योगवासिष्ठ' गोडपाद से पहले का ग्रन्थ है। डॉ. दासगुप्त योगवासिष्ठ को ८०० ई. की रचना मानते हैं।[2] डॉ. बी.एल. आत्रेय तो कतिपय तर्क देकर यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि योगवासिष्ठ गौडपाद से पहले का है। डॉ. आत्रेय कहते हैं कि योगवासिष्ठ और आगमशास्त्र में बहुत से कथन एक जैसे हैं और बहुत से विचार भी समान हैं। इसका अर्थ यह है कि गौडपाद ने बहुत से कथन एवं विचार योगवासिष्ठ से लिये हैं। डॉ. आत्रेय यह भी कहते हैं कि आगमशास्त्र माडूक्योपनिषद का भाष्य मात्र है। यह एक स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं, जबकि योगवासिष्ठ एक स्वतंत्र ग्रन्थ है। गौडपाद की रचना में कतिपय ऐसे अन्य सिद्धान्तों का उल्लेख है जो योगवासिष्ठ में उपलब्ध हैं। तीसरा तर्क डॉ. आत्रेय यह भी देते हैं कि योगवासिष्ठ में निहित ज्ञान वासिष्ठ जी को ब्रह्मा से प्राप्त हुआ कहा गया है। योगवासिष्ठ में वे सभी विचार निहित हैं, जिनका प्रतिपादन आगमशास्त्र में हुआ है। यह बाद का इसलिये भी है क्योंकि इसमें अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों की आलोचना की गयी है। योगवासिष्ठ पहले का इसलिये है क्योंकि इसमें दूसरे सिद्धान्तों की आलोचना नहीं है, इसमें केवल विचारों का प्रतिपादन है।[3]

डॉ. टी.एम.पी. महादेवन योगवासिष्ठ को गौडपाद से पहले की रचना होने में सन्देह करते हैं, इसीलिये वे अपने ग्रन्थ 'गौडपाद' में डॉ. आत्रेय के उपर्युक्त तर्कों का खंडन करते हैं। सर्वप्रथम डॉ. महादेवन का कहना है कि आगमशास्त्र माडक्योपनिषद पर केवल भाष्य ही नहीं है, यह एक प्रकरण ग्रन्थ है अर्थात् एक स्वतंत्र ग्रन्थ है। गौडपाद द्वारा अन्य वेदान्तिओं का उल्लेख किये जाने का यह तात्पर्य नहीं है कि उन अन्य वेदान्तिओं में योगवासिष्ठ भी हो। इसके अतिरिक्त यह कहना कि योगवासिष्ठ का ज्ञान वासिष्ठ जी को ब्रह्मा से प्राप्त हुआ है, कोरी कल्पना लगता

है। इसके अतिरिक्त डॉ. महादेवन यह भी कहते हैं कि गौडपाद द्वारा कतिपय सिद्धान्तों के विरोधी हैं। गौडपाद तो यह घोषणा करते हैं कि वे किसी दार्शनिक सम्प्रदाय के विरोधी नहीं हैं। कतिपय कथनों एवं विचारों का दोनों ग्रन्थों में समान होने का तात्पर्य यह नहीं है कि योगवासिष्ठ गौडपाद से पहले की रचना है।[४]

एक अन्य भारतीय विद्वान डॉ. संगमलाल पाण्डेय भी योगवासिष्ठ को गौडपाद से पहले की रचना नहीं मानते।[५] डॉ. पाण्डेय तो यहाँ तक कहते हैं कि योगवासिष्ठ में अद्वैत दर्शन तो अवश्य है, पर यह उस प्रकार का अद्वैत दर्शन नहीं है, जिस प्रकार का शंकर एवं उनके अनुयायिओं का है।[६] डॉ. पाण्डेय का कहना है कि यद्यपि शंकर ने अपने विचारों के प्रतिपादन में श्रुति, स्मृति, पुराणों एवं इतिहास का सहारा लिया है किन्तु उन्होंने योगवासिष्ठ का कहीं पर भी उल्लेख नहीं किया है।[७]

योगवासिष्ठ के रचना काल सम्बन्धी उपर्युक्त वाद-विवाद की उपेक्षा करके हम यह जानना चाहेंगे कि क्या इस ग्रन्थ में अद्वैतवेदान्त के तत्व उपलब्ध हैं या नहीं। डॉ. भगवानदास तो योगवासिष्ठ को सिद्धावस्था का ग्रन्थ मानते हैं जबकि उपनिषद्, भगवत्गीता और ब्रह्म सूत्र साधना-अवस्था के ग्रन्थ हैं, अर्थात् ये ग्रन्थ उन लोगों के लिये हैं, जिन्हें अभी ब्रह्म ज्ञान नहीं हुआ है।[८] लाला बैजनाथ, जिन्होंने योगवासिष्ठ का हिन्दी अनुवाद करवाया है, का कहना है कि 'वेदान्त में कोई ग्रन्थ ऐसा विस्तृत और अद्वैत सिद्धान्त को इतने आख्यानों, दृष्टान्तों और युक्तिओं से प्रतिपादित करने वाला आज तक नहीं लिखा गया।'[९] इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन यह है कि अभी तक यह निश्चयात्मक ढंग से सिद्ध नहीं हो सका है कि यह ग्रन्थ गौडपाद के बाद का है। दूसरी ओर, प्रायः सभी विद्वान इस बात से सहमत हैं कि इस ग्रन्थ में अद्वैतवेदान्त के विचारों की पर्याप्त चर्चा है। डॉ. संगमलाल पाण्डे, जो इसे गौडपाद के बाद की रचना मानते हैं, भी यह स्वीकार करते हैं कि योगवासिष्ठ में एक प्रकार से अद्वैत का ही प्रतिपादन हुआ है।[१०] अतः इस स्थान पर योगवासिष्ठ में उपलब्ध अद्वैतवेदान्त सम्बन्धी विचारों का उल्लेख करना अनुचित नहीं है।

योगवासिष्ठ में परम तत्व को उसी प्रकार समझा गया है, जैसा अद्वैतवेदान्ती समझते हैं। वह अव्यक्त एवं अनिर्वचनीय होते हुये भी शत पदार्थ है। वह अपरिवर्तनशील है, अविकारी है। इस अधिकारी तत्व को ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म वह परम तत्व है, जिसमें सब कुछ है, जो सब ओर है, जो पूर्ण रूप से सब कुछ है, जोकि सदा और सब जगह पूर्ण रूप से स्थित है।[१६] ब्रह्म वह निर्विकार, चिदाकाश है, जिससे दृष्टा, दर्शन एवं दृश्य तीनों का उदय होता है और जिसमें इनका अस्त भी होता है।[१२] वह ब्रह्म ही इस सम्पूर्ण संसार का आधार है, जिस प्रकार बादल से जल की बूँदें गिरती हैं, उसी प्रकार उस अक्षय एवं पूर्ण अमृत से नाना प्रकार के असार संसारों

की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म की वर्धन शक्ति ही जगत है और जगत ब्रह्म का बृहण है। इस जगत की उत्पत्ति और प्रलय सब उसी परम सत् अर्थात् ब्रह्म में ही होता है, किन्तु जगत की उत्पत्ति और प्रलय का ब्रह्म पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। 'जैसे जल में लहरों के उत्थान और पतन से, जल से, अन्य कोई रूप परिवर्तन नहीं होता, उसी प्रकार सृष्टि और प्रलयों के होने से ब्रह्म का अपना रूप प्रभावित नहीं होता।[१३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि योगवासिष्ठ में परम सत् को अद्वैत रूप में देखा गया है। वह कूटस्थ नित्य, अविकारी, अविनाशी, अपरिवर्तनशील तथा इस विश्व में व्याप्त रह कर भी इससे परे है। उस अद्वैत तत्व में नानात्व इस प्रकार विद्यमान रहता है, जिस प्रकार मोर के अंडे में मोर की पूंछ के सभी रंग। जैसे जड़ एवं तने एवं फल-फूल वाला वृक्ष अपने बीज में विधान रहता है, उसी प्रकार यह विश्व ब्रह्म में विद्यमान रहता है। वेदान्त में उपलब्ध अजातिवाद का सिद्धान्त भी योगवासिष्ठ में देखा जा सकता है। इस संबंध में यह कहा गया है कि जगत का ज्ञान होते हुये भी वास्तव में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ है।[१४]

परमसत् के अतिरिक्त और कुछ भी सत्य नहीं है। यह जगत मृगतृष्णा के समान मिथ्या है। योगवासिष्ठ में इस विश्व को मिथ्या सिद्ध किया गया है। वासिष्ठ जी कहते हैं कि 'मृगतृष्णा' के जल के समान अनुभव में आये हुये कल्पना जगत के समान, यह विश्व सत्य के समान प्रतीत होता हुआ भी अवास्तविक और असत्य है।[१५] अद्वैतवेदान्त में मान्य जीव और ब्रह्म का तादात्म्य भी योगवासिष्ठ में उपलब्ध है। इस सम्बन्ध में वासिष्ठ जी का कथन है कि 'पाताल व पृथ्वी पर, स्वर्ग में, प्राणियों में और आकाश में जो कुछ दिखलाई देता है, वह चित्तरूप परमब्रह्म ही है और कुछ भी नहीं है।'[१६]

योगवासिष्ठ के उपर्युक्त विचारों की संक्षिप्त प्रस्तुति यह सिद्ध करती है कि अद्वैतवेदान्त के सभी महत्वपूर्ण विचार योगवासिष्ठ में उपलब्ध हैं। यद्यपि गौडपाद एवं शंकराचार्य ने इस रचना को कहीं पर भी उद्धृत नहीं किया है, फिर भी, यह विश्वास करना कठिन है कि अद्वैतवेदान्त के आचार्यों ने इस रचना को नहीं देखा और इससे प्रभावित नहीं हुये। यद्यपि प्रो. टी.एम.पी. महादेवन, डॉ. संगमलाल पाण्डेय इत्यादि कुछ विद्वान योगवासिष्ठ को गौडपाद से पहले का नहीं मानते, तो डॉ. एस.एन. दासगुप्त और डॉ. बी.एल. आत्रे योगवासिष्ठ को निश्चित रूप से गौडपाद से पहले का घोषित करते हैं। मेरी मान्यता है कि कोई भी पक्ष ऐसे तर्क अभी तक प्रस्तुत नहीं कर सका है, जिनके आधार पर किसी निश्चित मत की स्थापना की जा सके। वैदिक परम्परा के सम्बन्ध में एक बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि इसमें सत्य की अनुभूति की अभिव्यक्ति पहले हुई है, किन्तु सत्य की इस अभिव्यक्ति को सत्यापित

या असत्यापित करने की परम्परा बाद में प्रारम्भ हुई है। योगवासिष्ठ, गौडपाद और शंकर की रचनाओं में उपलब्ध आन्तिरक साक्ष्य के आधार पर यह कहना कठिन नहीं है कि योगवासिष्ठ में सत्य की अभिव्यक्ति का प्रयास मुख्य है जबकि गौडपाद एवं शंकर की रचनाओं में इस अभिव्यक्ति के सत्यापन का अधिक प्रयास हुआ है। सत्य की अभिव्यक्ति के बाद ही उसके सत्यापन का प्रयास होता है। अतः योगवासिष्ठ की चर्चा गौडपाद और शंकर के पहले करना अप्रासंगिक नहीं कहा जा सकता।

अन्त में मैं एक तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक समझता हूँ और वह यह है कि योगवासिष्ठ में अद्वैत वेदान्त के तत्व उपलब्ध होने का तात्पर्य यह नहीं है कि इस ग्रन्थ में निहित विचारों और अद्वैतवेदान्त की मान्यताओं में एकत्व स्थापित किया जा सकता है। योगवासिष्ठ एक बहुत बड़ा ग्रन्थ है, उसमें अद्वैतवेदान्त द्वारा अमान्य विचार भी उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिये शंकराचार्य द्वारा अमान्य ज्ञानकर्म समुच्चय का सिद्धान्त योगवासिष्ठ में उपलब्ध होता है। वहाँ यह कहा गया है कि जिस प्रकार एक पक्षी के उड़ने में उसके दोनों पंख सहायक होते हैं, उसी प्रकार एक साधक ज्ञान एवं कर्म दोनों की सहायता से परमसिद्धि को प्राप्त करता है।[१७] इसके अतिरिक्त शंकराचार्य की अमान्य दृष्टि व सृष्टिवाद का विचार भी योगवासिष्ठ में उपलब्ध होता है। इस सम्बन्ध में डॉ. दास गुप्त का कथन है कि 'सृष्टि दृष्टि है' - का सिद्धान्त योगवासिष्ठ का सिद्धान्त है . . .।'[१८] इस सम्बन्ध में मेरा यही निवेदन है कि जिस प्रकार उपनिषदों में अद्वैतवेदान्तिओं को अमान्य अनेक सिद्धान्तों के बीज विद्यमान है, फिर भी, उसमें विद्यमान अद्वैत-वेदान्त के तत्वों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यही बात योगवासिष्ठ के विषय में भी स्वीकार की जा सकती है। इस ग्रन्थ में भी अद्वैतवेदान्त के तत्वों के साथ कतिपय अन्य सिद्धान्तों के तत्व भी खोजे जा सकते हैं।

## संदर्भ-सूची

१. देखिये, श्रीयोगवासिष्ठसार डॉ. बी.एल. आत्रेय दर्शन प्रिन्टर्स, मुरादाबाद, १९६२
२. देखिये, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृष्ठ २३१
३. देखिये फिलासफी ऑफ योगवासिष्ठ, १७-१८
४. 'गौडपाद' टी.एम.पी. महादेवन, पृष्ठ २३
५. देखिये, प्री. शंकर अद्वैत फिलास्फी, पृष्ठ ५०-५७
६. वहीं, पृष्ठ ५०
७. वहीं
८. देखिये, योगवासिष्ठ सार, पृष्ठ ३ (भूमिका)

९. वहीं

१०. देखिये, प्री. शंकर अद्वैत फिलासफी, पृष्ठ ५०

११. यस्मिन सर्व यतः सर्व यत सर्व सर्वतश्च यत। योगावासिष्ठासार, डॉ. वी.एल. आत्रेय, ८०।
सर्व सर्वतया सर्व तत्सर्व सर्वदा स्थितम्।।

१२. दृश्ट्टदर्शन दृश्यानां त्रयाणामुदयो यतः।
यत्र वास्तमयश्चित्खं तद्विद्धि विगतमयम्।। वहीं, ८३।

१३. वहीं, ६२।

१४. जगत्संविदि जातायामपिं जातं न किच्चन। योगवासिष्ठसार, डॉ. आत्रेय, १००।
परमाकाशमाशून्यमूच्छेमेव व्यवस्थितम्।।

१५. मृतृष्णोम्बिवासत्यं सत्यवत्प्रत्ययप्रदम। वहीं, ६६।
अनुभूतं मनोराज्यमिवासत्यमं वास्तवम्।।

१६. घाताले भूतले स्वर्गे तृणे प्राण्यम्बरेडिप च। वहीं, ६४।
दृष्यते तत्परं ब्रह्म चिद्रूपं नान्यदस्ति हि।।

१७. योगवासिष्ठ, १.१, ७-८।

१८. देखिये, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृष्ठ २५६, हिन्दी अनुवाद।

❑❑❑

## अध्याय-२

# शंकर-पूर्व अद्वैत वेदान्त के विचारक

### गौडपादाचार्य

हमने पिछले पृष्ठों में यह देखने का प्रयास किया है कि अद्वैत वेदान्त के तत्व वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों में उपलब्ध हैं, परन्तु इन तत्वों के आधार पर यह कहना कठिन है कि उपर्युक्त ग्रन्थों में अद्वैत वेदान्त का प्रतिपादन हुआ है। उपर्युक्त ग्रन्थों के विवेचन के आधार पर यह तो भलीभाँति स्वीकार किया जा सकता है कि इन ग्रन्थों में बहुदेववाद, एकाधिदेववाद, एकदेववाद एवं एक तत्ववाद इत्यादि सिद्धान्त उपलब्ध हैं, किन्तु ये सभी सिद्धान्त अद्वैतवाद से भिन्न हैं। इस भिन्नता पर हम अगले पृष्ठों में प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे। यहाँ पर हम यह कहना चाहेंगे कि अद्वैत-वेदान्त का सही रूप में प्रतिपादन सर्वप्रथम गौडपादाचार्य की रचना 'गौडपाद-कारिका' में ही प्राप्त होता है। अपने इस ग्रन्थ में आचार्य ने अद्वैतवाद के प्रतिपादन का भरसक प्रयास किया है। गौडपाद-कारिका पर अद्वैत-वेदान्त के महारथी शंकराचार्य ने भाष्य भी लिखा है। शंकराचार्य ने अपने दादा-गुरू गौडपादाचार्य - को ही अद्वैतवाद का प्रथम प्रवर्तक कहा है। अपने माण्डूक्यकारिका के भाष्य के अन्त में वे इस कारिकाकार की वन्दना करते हुये कहते हैं कि 'संसारसागर में जीवों को डूबे हुये देख कर जिन्होंने करुणावश अपनी विशुद्ध बुद्धि रूप मन्थनदण्ड के आघात से क्षुभित हुये वेद नामक महासमुद्र के भीतर स्थित इस देवदुर्लभ अमृत को प्राणिओं के कल्याण के लिये निकाला है, उन पूजनीयों के भी पूजनीय परमगुरू (गौडपादाचार्य) को मैं उनके चरणों में गिर कर प्रणाम करता हूँ।'[१] भारतीय दर्शन के आधुनिक विद्वान डॉ. एस.एन. दासगुप्त भी यही स्वीकार करते हैं कि अद्वैत-वेदान्त के प्रथम प्रवर्तक गौडपादाचार्य ही हैं। इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि 'गौडपाद की माण्डूक्यकारिका के अतिरिक्त अन्य कोई अद्वैतवादी उपनिषद टीका इससे पूर्व नहीं पायी जाती। यहाँ तक कि इस सम्बन्ध में गौडपाद ने बादपरायण का भी उल्लेख नहीं किया है। इन सबसे यह स्पष्ट है कि आचार्य गौडपाद ही एकान्तिक अद्वैतवाद के प्रवर्तक प्रणेता थे।'[२]

आश्चर्य की बात यह है कि उपर्युक्त साक्ष्यों की उपेक्षा करते हुये कतिपय भारतीय एवं पश्चिमी विद्वान यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि गौडपादाचार्य

बौद्ध विचारकों से प्रभावित हैं और वे वेदान्तिक शब्दावली में बौद्ध दर्शन का ही प्रचार कर रहे हैं।[३] पश्चिमी विद्वानों में मेक्स वेल्सर का कहना है कि गौडपादकारिका के चौथे अध्याय में साक्ष्य एवं वैशेषिकों के वस्तुवादी विचारों का खंडन करने के लिये गौडपाद उसी प्रकार के तर्कों का प्रयोग करते हैं, जिस प्रकार के तर्कों का प्रयोग बौद्ध संप्रदायों में किया गया है। हरमैन जैकोबो तो शून्यवादिओं, विज्ञानवादिओं एवं गौडपाद की ज्ञानमीमांसा में एकता का अनुभव करते हैं।[४]

भारतीय विद्वानों में वही डॉ. एस.एन. दासगुप्त जो गौडपाद को अद्वैतवेदान्त का प्रथम प्रवर्तक मानते हैं, यह भी विश्वास करते हैं कि गौडपाद बौद्ध दार्शनिकों से भली भाँति प्रभावित हैं। डॉ. दासगुप्त के अनुसार गौडपाद ने शून्यवाद एवं विज्ञानवाद की शिक्षाओं को आत्मसात करके यह दिखलाने का प्रयास किया कि ये शिक्षायें उपनिषदों के विचारों के समतुल्य हैं।[५] डॉ. दासगुप्त यह भी मानते हैं कि गौडपाद की कारिकाओं में इस बात का पर्याप्त प्रमाण हैं कि उसका रचयिता बौद्ध ही था और वह बुद्ध तथा उपनिषदों की शिक्षाओं को एक ही मानता था।[६] प्रो. विधुशेखर भट्टाचार्य तो यहाँ तक कहते हैं कि गौडपाद बुद्ध की शिक्षाओं का ही प्रतिपादन कर रहे हैं। वे कहते हैं कि गौडपाद ने बुद्ध के समस्त सिद्धान्तों को स्वीकार किया है और अपनी कारिकाओं में सर्वत्र उन्हीं का प्रतिपादन किया है। नागार्जुन, आर्यदेव, मैत्रेयनाथ या असंग और यथोमित्र से गौडपाद ने दार्शनिक विचार ही नहीं ग्रहण किये वरन् अपनी कारिकाओं की रचना में उनकी शब्दावली और शैली भी अपना ली है।[७] प्रो. एस.एस. राय ने अपनी रचना 'द हेरिटेज ऑफ शंकर' में गौडपाद और बौद्ध दर्शन का साम्य तीन वर्गों में विभाजित किया है। पहला साम्य सिद्धान्तों का है, दूसरा साम्य विधि का है और तीसरा साम्य भाषाशैली का है।[८] प्रो. राय द्वारा यह साम्य दिखलाने का निहितार्थ यही है कि आचार्य गौडपाद बौद्ध दार्शनिकों से प्रभावित हैं।

गौडपादाचार्य के विचारों को उचित रूप से समझने एवं उनके विचारों के प्रति उपर्युक्त आक्षेपों के सम्बन्ध में किसी निर्णय पर पहुँचने के लिये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम उनके विचारों को सारांश में प्रस्तुत करें। यह सारांश प्रस्तुत करने के लिये हम 'गौडपाद-कारिका' एवं उस पर शंकराचार्य द्वारा किये गये भाष्य का ही सहारा लेंगे।

गौडपाद की कारिकायें चार अध्यायों में विभक्त हैं - आगम प्रकरण, वैतथ्य प्रकरण, अद्वैत प्रकरण और अलातशान्ति प्रकरण। आगम प्रकरण में माण्डूक्य उपनिषद की व्याख्या और जगत उत्पत्ति के विभिन्न प्रयोजनों का वर्णन और खण्डन किया गया है। माडूक्य उपनिषद का प्रारम्भ यह कह कर किया गया है कि 'ॐ' अक्षर ही सब कुछ है। यह जो कुछ भूत, भविष्यत और वर्तमान है, उसी की व्याख्या् है। उसी को ब्रह्म या आत्मा कहते हैं। उसके चार पाद हैं - जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और

तुरीय।[९] 'ॐ' के चार पाद हैं। अ, उ, म् और अ मात्रा है। आत्मा की दृष्टि से वही स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर और चौथा उनमें व्याप्त चैतन्य है। समष्टि अभिमानी परमात्मा वैश्वानर, हिरण्यगर्भ ईश्वर एवं निर्विकार ब्रह्म है। जाग्रत, स्वप्न और सुषप्ति, इन तीनों स्थानों में जो भोज्य और भोक्ता बताये गये हैं, इन दोनों को जो जानता है, वह भोगों को भोगते हुये भी उनसे लिप्त नहीं होता।[१०]

यह अलिप्त साक्षी सर्वज्ञ है, उसी की व्याख्या करते हुये गौडपाद कहते हैं कि द्वैत का अग्रहण तो प्राज्ञ और तुरीय दोनों एक समान है, किन्तु प्राज्ञ बीज स्वरूप निद्रा से युक्त है और तुरीय में यह निद्रा है नहीं। तत्व का अग्रहण निद्रा है और अन्यथा ग्रहण स्वप्न है। जब इन दोनों का क्षय हो जाता है, तब तुरीय पद की प्राप्ति होती है। तुरीय अवस्था में अज, अनिन्द्र और स्वप्न रहित अद्वैत आत्मतत्व का बोध प्राप्त होता है।[११] निद्रा और स्वप्न अज्ञान रूप हैं, इसीलिये वे व्यक्ति को भासित तो होते हैं, किन्तु उनका वास्तविक अस्तित्व नहीं है। मिथ्या प्रतीति की ज्ञान से निवृत्ति हो सकती है, जिसने मिथ्या प्रतीति का निवारण कर मात्राहीन, अनन्त मात्रा वाले द्वैत के उपशमस्थान और मंगलमय ओंकार को जाना है, वही मुनि है, और कोई पुरुष नहीं है।[१२]

गौडपाद स्वीकार करते हैं कि तुरीय परमात्मा ही परमसत् है। दृश्य जगत् अज्ञान जन्य सत्य की अप्रीति और असत् की मिथ्या प्रतीति से उत्पन्न हुआ है।

इसके बाद गौडपाद विश्व की उत्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख करते हैं। डॉ. दास गुप्त[१३] ने उन सभी सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुये कहा है कि कुछ लोग सृष्टि को प्राण से उत्पन्न मानते हैं। कतिपय लोग सृष्टि को स्वपन्वत स्वीकारते हैं तो अन्य इसे माया से उत्पन्न घोषित करते हैं। इस सृष्टि की उत्पत्ति का कारण ईश्वर की इच्छा को भी स्वीकार किया गया है। इस विश्व को प्रभु की क्रीड़ा का परिणाम भी स्वीकार किया गया है। गौडपादाचार्य उपर्युक्त किसी सिद्धान्त को नहीं मानते। वे तो एकमात्र ईश्वर को ही इसका कारण करते हैं।[१४] यदि उनसे यह पूछा जाय कि ईश्वर क्यों इस विश्व की सृष्टि करता है, तो वे कहते हैं कि ईश्वर पूर्णकाय है, उसे विश्व की रचना करना किसी हेतु से अनिवार्य नहीं है। यह तो उसका स्वभाव है।[१५]

गौडपाद परम् सत् को अद्वैत बतलाते हैं। वे लिखते हैं कि 'तुरीय आत्मा सब प्रकार के दुःखों की निवृत्ति में ईशान-प्रभु (समर्थ) है। वह अव्यय, अद्वैत, तुरीय और स्वभावों में व्यापक देवरूप माना गया है।[१६] गौडपाद प्रपंच्च का अत्यन्त अभाव बतलाते हैं। उनके अनुसार यदि प्रपंच्च होता तो निवृत्त हो जाता, इसमें सन्देह नहीं है। यह द्वैत तो माया मात्र है, परमार्थतः तो अद्वैत ही है।[१७] इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य गौडपाद परमसत् के रूप में केवल अद्वैत को स्वीकार करते हैं। इसके

अतिरिक्त वे इस समस्त विश्व की प्रतीति के लिये माया का सहारा लेते हैं। वे लिखते हैं कि आत्मा अपनी माया के द्वारा आत्मा में भेदों की कल्पना करता है।[१८] माया के ही कार्य पर प्रकाश डालते हुये आचार्य पुनः कहते हैं कि माया के द्वारा ही परमार्थ अद्वैत सत्य भी द्वैतावस्था को प्राप्त हो जाता है।[१९] गौडपाद के अनुसार आत्मा अजन्मा है, उससे कुछ भी उत्पन्न नहीं होता है। आत्मा निरव्यय है, इसलिये उससे सावयव भेदों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि भेद की उत्पत्ति आत्मा से मान लें तो आत्मा सावयव एवं विनाशी हो जायेगा।' मरणहीन वस्तु कभी मरणशील नहीं हो सकती और मरणशील कभी अमर नहीं होती। किसी भी प्रकार स्वभाव की विपरीतता नहीं हो सकती।[२०]

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदों के आधार पर माडूक्यकारिका के प्रथम अध्याय में आचार्य ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि सत् एक अद्वितीय है, द्वैत मिथ्या है। यहाँ पर हम यह कहना चाहेंगे कि अद्वैत वेदान्त की यह आधारभूत मान्यता है।

माडूक्यकारिका के दूसरे अध्याय अर्थात् वैतथ्य प्रकरण में आचार्य गौडपाद इस विश्व का मिथ्यात्व युक्तिओं द्वारा सिद्ध करते हैं। इसी प्रकरण की चौथी कारिका कहती है कि –

**अन्तः स्थाननात्तु भेदानां, तस्माज्जगरिते स्मृतम्।**
**यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन मिद्यते।।**[२१]

इस कारिका का भावार्थ यही है कि स्वप्नावस्था के पदार्थों की तरह जाग्रत अवस्था के पदार्थ भी मिथ्या हैं। इन दोनों प्रकार के पदार्थों में अन्तर यह है कि स्वप्नावस्था के पदार्थ मन के भीतर हैं, जबकि जाग्रत अवस्था के पदार्थ बाहर हैं। आचार्य शंकर ने इसी कारिका पर भाष्य करते हुये जाग्रत अवस्था के पदार्थों को एक युक्ति द्वारा मिथ्या सिद्ध किया है।[२२] उनकी युक्ति निम्न है :-

प्रतिज्ञा : जाग्रत अवस्था में देखे हुये पदार्थ मिथ्या हैं।

हेतु : दृश्य होने के कारण।

दृष्टान्त : स्वप्न में देखे हुये पदार्थों के समान।

हेतूपनय : जिस प्रकार स्वप्न में देखे हुये पदार्थ मिथ्या हैं, उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में भी उनका दृश्यत्व समान है।

निगमन : अतः जाग्रत अवस्था के पदार्थ भी मिथ्या हैं।

उपर्युक्त तर्क के अतिरिक्त गौडपादाचार्य विश्व को मिथ्या सिद्ध करने के लिये यह भी कहते हैं कि जो वस्तु आदि और अन्त में नहीं है, वह मध्य में भी नहीं हो

सकती। यह विश्व आदि और अन्त में नहीं है, अतः जाग्रत अवस्था के पदार्थ असत् के समान होकर भी सत् जैसे दिखाई देते हैं।[२३]

उपर्युक्त कारिकाओं में आचार्य गौडपाद ने विश्व के पदार्थों को मिथ्या यह कह कर सिद्ध किया है कि जाग्रत अवस्था के पदार्थ स्वप्न के पदार्थों की तरह हैं, इसीलिये आचार्य ने पहले स्वप्न के पदार्थों को मिथ्या सिद्ध किया है। गौडपाद वैतथ्य प्रकरण के आरम्भ में ही स्वप्न के पदार्थों को मिथ्या सिद्ध करते हैं। स्वप्न की उपलब्धि देह के भीतर किसी नाड़ी विशेष में होती है, जिसमें स्थानाभाव के कारण हाथी एवं पर्वत जैसी वस्तुओं का होना असंभव है। यदि यह कहें कि सोते समय जीव शरीर से बाहर जाकर स्वप्न के पदार्थों को देखता है, तो यह भी संभव नहीं है क्योंकि एक ही क्षण में बहुत दूर के पदार्थ दिखलाई देने लगते हैं। वे भी बिल्कुल वैसे नहीं दिखलाई देते हैं जैसे जाग्रत अवस्था में उपलब्ध होते हैं। सोने के पहले स्वप्न संसार नहीं रहता और स्वप्न के टूटने पर भी वह नहीं रहता। इसीलिये मध्य में जब वह दिखलाई देता है तो होता नहीं है, केवल दिखलाई देता है।[२४]

अब प्रश्न यह है कि स्वप्न के आधार पर हम जाग्रत अवस्था के पदार्थों को क्यों मिथ्या स्वीकार करें? क्या स्वप्न एवं जाग्रत अवस्था के पदार्थों में कुछ समानता है। सामान्य रूप से कुछ भी समानता दिखलाई नहीं पड़ती क्योंकि जाग्रत अवस्था के पदार्थ जैसे अन्न, वाहन, मिष्ठान इत्यादि भूख, प्यास एवं हमारी आने-जाने की समस्याओं को हल करते हैं, किन्तु स्वप्न में देखे गये पदार्थ ऐसा कुछ नहीं करते। अतः जाग्रत अवस्था के पदार्थों को स्वप्नावस्था के पदार्थों की भाँति मिथ्या बतलाना केवल कल्पना है, किन्तु शंकराचार्य इस तर्क से सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार दृश्यत्व और असत्यत्व दोनों प्रकार के पदार्थों में समान है और आदि एवं अन्त में दोनों प्रकार के पदार्थों का अभाव है, अतः यदि हम एक को मिथ्या कहते हैं तो दूसरा भी मिथ्या सिद्ध होता है।[२५]

अब प्रश्न यह है कि यदि स्वप्न एवं जाग्रत अवस्था के पदार्थ मिथ्या हैं तो इन पदार्थों को जानता कौन है अथवा इनकी कल्पना करने वाला कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में एक सच्चे अद्वैतवादी की भाँति गौड़पादाचार्य कहते हैं कि वह आत्मा स्वयं प्रकाश है और अपनी माया से स्वयं ही इन पदार्थों की कल्पना करता है और वही उन भेदों को जानने वाला है।[२६] वेदान्त की मान्यता यही है, वैतथ्य प्रकरण की इकतीसवीं कारिका में तो गौड़पाद यह भी कह देते हैं कि जिस प्रकार हम स्वप्न एवं माया को देखते हैं, जैसे हम गंधर्वनगर को जानते हैं, उसी प्रकार वेदान्त को समझने वाले व्यक्ति इस अवश्व को देखते हैं। तात्पर्य यह है कि स्वप्न यद्यपि दिखलाई पड़ता है, किन्तु वह मिथ्या है। जादूगर के खेल में भी हम पदार्थों को देखते हैं, परन्तु वे सत्य नहीं हैं। यह संसार भी हमारे ज्ञान का विषय है, किन्तु मिथ्या है।

उपर्युक्त युक्ति के द्वारा इस विश्व अर्थात् द्वैत को मिथ्या सिद्ध किया गया है, किन्तु इसी प्रकार की युक्ति से इसको सत्य सिद्ध नहीं किया जा सकता है। यदि हम निम्नलिखित युक्ति की रचना करें तो दृष्टान्त के अभाव में विश्व को सत्य नहीं सिद्ध कर सकेंगे :-

जाग्रत अवस्था में देखे गये पदार्थ सत्य हैं :- प्रतिज्ञा।

क्योंकि वे दिखलाई देते हैं :- हेतु।

जैसे यहाँ पर हमें कोई दृष्टान्त देना चाहिये जो जाग्रत अवस्था के पदार्थों से भिन्न हो, दिखलाई देता हो और सत्य हो। किन्तु ऐसा कोई दृष्टान्त दिया ही नहीं जा सकता। अतः उपर्युक्त न्याय वाक्य अधूरा रह जाता है। अतः युक्ति द्वारा विश्व को सत्य नहीं सिद्ध किया जा सकता।

यहाँ पर यह भी कह देना आवश्यक है कि गौडपादाचार्य केवल अद्वैत तत्व आत्मा को ही सत् स्वीकार करते हैं एवं मूलतत्व सम्बन्धी विभिन्न मतवादों को कल्पित मानते हैं। वे जीव को भी कल्पित घोषित करते हैं।[२७]

इस प्रकार सारांश में हमने देखा कि माडूक्यकारिक के प्रथम अध्याय में आचार्य ने शास्त्र प्रमाण के आधार पर अद्वैत सिद्ध किया और दूसरे अध्याय में तर्क के आधार पर द्वैत का निराकरण करने का प्रयास किया। उनके अनुसार आत्मा ही प्रपच्च का निवृत्ति स्थान, शिव एवं अद्वैत स्वरूप है। उसका ज्ञान होने पर द्वैत नहीं रहता। माडूक्यकारिका के तीसरे अध्याय में आचार्य अद्वैत को तर्क के आधार पर भी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उसके लिये वे हेतु एवं दृष्टान्त भी प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा आकाश के समान है।[२८] वह घटाकाशों के समान जीवरूप से उत्पन्न हुआ है। आत्मा से जीव की उत्पत्ति के विषय में यही दृष्टान्त है। तत्वतः महाकाश से घटाकाश की उत्पत्ति नहीं होती, केवल घट की उपाधि से घटाकाश की उत्पत्ति और विनाश प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार आत्मा से जीव एवं जगत की उत्पत्ति नहीं होती है किन्तु अविद्या में द्वैत की प्रतीति होती है। जिस प्रकार घटाकाश महाकाश का विकार एवं अवयव नहीं है, उसी प्रकार जीव भी आत्मा का विकार या अवयव नहीं है। आगे गौडपाद यह भी कहते हैं कि घटों के नष्ट होने पर घटाकाश महाकाश में विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार जीव भी उस आत्मा में विलीन हो जाते हैं।[२९]

यहाँ पर यह आपत्ति की जा सकती है कि एक ही आत्मा के होने पर एक आत्मा के जन्म-मरण सुख-दुखदिमान होने पर सभी जीवों को उस सुख-दुख इत्यादि का सहभागी होना पड़ेगा एवं कर्म उसके फल को निश्चित करने में कठिनाई होगी अर्थात् किसी एक व्यक्ति के कर्मों का फल दूसरे को भोगना पड़ेगा। इस कठिनाई का हल करते हुये गौडपाद का कहना है कि जिस प्रकार एक घटाकाश के धुयें और मिट्टी से युक्त होने पर समस्त घटाकाश उससे युक्त नहीं होता, उसी प्रकार एक

जीव के सुखादि से अन्य जीव युक्त नहीं होंगे।[३०] आत्मा की एकरूपता एवं अद्वैत सिद्ध करने के लिये आचार्य गौडपाद लिखते हैं कि घटादि उपाधियों के कारण प्रतीत होने वाले भिन्न-भिन्न आकाशों के रूप, कार्य एवं नामों में तो भेद है, परन्तु आकाश में तो कोई भेद नहीं। उसी प्रकार उपाधियों के कारण जीव में भेद है, आत्मा में नहीं।[३१]

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि माडूक्यकारिका के 'अद्वैत प्रकरण' में गौडपादाचार्य सब प्रकार अद्वैत की स्थापना के लिये प्रयासरत हैं। वे अद्वैत को ही परमार्थ स्वीकार करते हैं और द्वैत को उसी अद्वैत का कार्य निरूपित करते हैं।[३२] इस प्रकार वे अद्वैत को मुख्य स्थान देते हैं, द्वैत तो उसी का कार्य मात्र है, इसीलिये वह गौण है। वे कहते हैं कि अजन्मा अद्वैत वस्तु में भेद होना संभव नहीं। यदि उसमें भेद होना उत्पन्न हो तो वह अमृतस्वरूप वस्तु मरणशीलता को प्राप्त हो जाय। माया के जादू से ही भेद की प्रतीति संभव होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गौडपाद अपनी रचना माडूक्यकारिका के अद्वैत प्रकरण में उपनिषदों में निहित अद्वैत तत्व की तर्कसंगत व्याख्या करते हैं। घटाकाश का उदाहरण देकर वे अनेक जीववाद का भी निराकरण करते। उपनिषदों एवं गौडपादकारिका में अद्वैत से सम्बन्धित एक ही भेद परिलक्षित होता है, वह यह है कि उपनिषद परम् सत् का प्रतिपादन करने और उसके लक्षण बतलाने में ही अधिक रुचि रखते थे। उपनिषदों में परम सत् को ब्रह्म या अद्वैत भी कहा गया है किन्तु उपनिषदों में विश्व को तर्क की सहायता से मिथ्या सिद्ध नहीं किया गया है।[३३] जबकि गौडपाद विभिन्न तर्क देकर विश्व को मिथ्या सिद्ध करते हैं। इसीलिये हम कह सकते हैं कि सर्वप्रथम गौडपाद ने ही तर्कप्रतिष्ठित अद्वैतवाद की स्थापना की है।

माडूक्याकारिका का चौथा अध्याय 'अलातशान्ति प्रकरण' है। अलात का अर्थ है जलती हुई लकड़ी को घुमाने से बना हुआ चक्र। जैसे गतिमान उल्का से अग्नि चक्र की भ्रांति उत्पन्न होती है, वैसे ही यह रूपाकार जगत भी एक भ्रान्ति है। यदि हम लकड़ी की अग्नि को यथार्थ रूप में देख लें तो अलात की भ्रान्ति मिट जायेगी। इसी प्रकार यदि हम इस जगत के कारणभूत ब्रह्म का बोध प्राप्त कर लें, तो संसार का द्वैत मिट जायेगा। इसी दृष्टान्त को प्रधानता देकर इस अध्याय का नाम 'अलातशांत प्रकरण' रखा गया है। इस प्रकरण का प्रयोजन बतलाते हुये शंकराचार्य का कहना है कि अब यहाँ परस्पर विरोधी द्वैतवादी दर्शनों का मिथ्यात्व प्रदर्शित करके उनके प्रतिषेध द्वारा आवीत न्याय से अद्वैत दर्शन की सिद्धि का उपसंहार करते हैं।[३४] यहाँ पर आवीत न्याय का अर्थ समझ लेना हितकर होगा। अनुमान दो प्रकार का होता है - अन्वयी अनुमान, इसमें एक वस्तु की संज्ञा से दूसरी वस्तु की संज्ञा सिद्ध की जाती है, दूसरा व्यतिरेकी अनुमान है। इसमें एक वस्तु के अभाव से दूसरी वस्तु का

अभाव सिद्ध किया जाता है। इस व्यतिरेकी अनुमान को ही आवीत अनुमान कहते हैं। द्वैतवादी दर्शनों में विरोध दिखलाते हुये गौडपाद कहते हैं कि कोई द्वैतवादी सत् पदार्थ की उत्पत्ति मानते हैं और दूसरे असत् पदार्थ की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं।[३५] उदाहरण के लिये सांख्य दार्शनिक विद्यमान वस्तु अर्थात् सत् की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। इनसे भिन्न न्याय वैषेसिक अविद्यमान अर्थात् असत् वस्तु की उत्पत्ति में विश्वास करते हैं। इस पारस्परिक खंडन-मंडन के कारण द्वैतवादी सिद्धान्त मिथ्या सिद्ध हो जाता है एवं अद्वैत की स्वतः सिद्धि हो जाती है और क्योंकि इनका विवाद विद्यमान एवं अविद्यमान दोनों की उत्पत्ति का खंडन करता है, इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि वह अद्वैत अजन्मा है।[३६]

गौडपादाचार्य की प्रमुख रचना माडूक्यकारिका की विषय-वस्तु का उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन यह सिद्ध करता है कि आचार्य का सर्वोच्च लक्ष्य 'ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या' का ही प्रतिपादन है और समस्त अद्वैत वेदान्त की मुख्य शिक्षा यही है। आचार्य की कारिकाओं में प्रतिपादित अद्वैत ही है। इसीलिये आगम प्रकरण और अद्वैत प्रकरण में वे दो भिन्न-भिन्न तरीकों से अद्वैत की सिद्धि करते हैं अर्थात् आगम प्रकरण में शास्त्र के आधार पर और अद्वैत प्रकरण में तर्क प्रतिष्ठित अद्वैत की स्थापना करते हैं। अपनी रचना के अन्य दो प्रकरणों अर्थात् वैतथ्य-प्रकरण और अलातशान्त प्रकरण में आचार्य इस विश्व के मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिये भरसक प्रयास करते हैं। इन दो स्थापनाओं के अतिरिक्त पूरी माडूक्यकारिका में किसी अन्य स्थापना का प्रयास नहीं किया गया है। हाँ यह सत्य है कि इन स्थापनाओं को सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिये आचार्य ने कतिपय ऐसी उपमाओं, तर्कना पद्धति एवं शब्दावली का प्रयोग किया है, जिनका प्रयोग बौद्ध विचारकों की रचनाओं में भी मिलता है। केवल उपर्युक्त वस्तुओं के प्रयोग के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कि आचार्य गौडपाद गुप्त रीति से बौद्ध दार्शनिकों के विचारों का ही प्रचार-प्रसार कर रहे हैं, उनके प्रति अन्याय ही है। किसी दार्शनिक के मुख्य मनतव्य की उपेक्षा करके उसके सहकारी कारणों के आधार पर उसे इस या उस मत का प्रचार-प्रसार करने वाला घोषित करना अदार्शनिक कार्य ही कहा जायेगा। इस अदाशर्निकता की सीमा तब पार होती है, जब आलोचक कह देते हैं कि माण्डूक्यकारिका का चौथा अध्याय अर्थात् अलातशान्त प्रकरण तो किसी बौद्ध दार्शनिक का ही लिखा हुआ है। इस सम्बन्ध में प्रो. विधुशेखर भट्टाचार्य कहते हैं कि पुस्तक के चौथे अध्याय में गौड़पाद वेदान्त के विषय में कुछ भी नहीं कहते।[३७] मेरा विनम्र निवेदन यह है कि क्या गौड़पाद अलातशान्त का उदाहरण देकर ब्रह्म को समझाने की चेष्टा नहीं करते। इस उदाहरण के आधार पर आचार्य यही कहने का प्रयास कर रहे हैं कि जिस प्रकार अलात होने पर उस चक्र से उत्पन्न भ्रम टूट जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म का ज्ञान हो जाने से द्वैतभाव का निराकरण हो जाता है।

यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि माडूक्यकारिका के जिस चतुर्थ अध्याय को किसी बौद्ध द्वारा लिखा कहा गया है, उसी चतुर्थ अध्याय में गौडपाद विज्ञानवाद एवं शून्यवाद की आलोचना करते हैं। बौद्ध विज्ञानवादी मानते हैं कि चित्त द्वारा दृश्य की उत्पत्ति नहीं होती, पर चित्त का जन्म होता है। विज्ञानवादिओं की इस मान्यता से गौडपाद सहमत नहीं है। गौडपाद के अनुसार जिस प्रकार चित्त दृश्य की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार चित्त की भी उत्पत्ति नहीं होती।[३८] अतः जो विज्ञानवादी उस चित्त की उत्पत्ति तथा उसके क्षणिकत्व, दुःखित्व, शून्यत्व एवं अनात्मत्व आदि देखते हैं, वे तो आकाश में पक्षिओं के चरण-चिन्ह देखते हैं। इसी कारिका पर भाष्य लिखते हुये शंकराचार्य का कहना है कि जो शून्यवादी सबकी शून्यता देखते हुये अपने दर्शन की भी शून्यता की प्रतिज्ञा करते हैं, वे तो उनसे बढ़ कर साहसी हैं, वे आकाश को मुट्ठी में पकड़ना चाहते हैं।[३९]

गौडपाद द्वारा की गयी बौद्धों की उपर्युक्त आलोचना इस तथ्य के साक्ष्य के रूप में ली जा सकती है कि वे बौद्धों की शिक्षाओं का प्रचार-प्रसार नहीं कर रहे हैं। यदि वे बौद्ध विचारों के समर्थक होते, तो कम से कम उनकी आलोचना नहीं करते। यदि वे बौद्धों की शिक्षाओं के पक्षधर होकर भी उनकी आलोचना करते, तो उन पर आत्मघाती होने का दोष लगता। किन्तु गौडपाद जैसे निष्ठावान आचार्य का आत्माव्याघाती होना कठिन है। वे तो अद्वैत के प्रतिपादन हेतु बौद्धों की आलोचना कर रहे हैं।

आचार्य गौडपाद सब प्रकार के द्वैत का निराकरण करके अद्वैत को अजन्मा घोषित करते है। उसका स्वभाव ही अजात है और जिसका स्वभाव ही अजात है, उसकी उत्पत्ति एवं नाश कैसे हो सकता है। वे विश्व के पदार्थों के सम्बन्ध में भी अजात सिद्धान्त की ही शिक्षा देते हैं। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि यदि विश्व के पदार्थों के सम्बन्ध में भी हम अजात सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं तो उन पदार्थों को सत्य क्यों समझते हैं। इस सम्बन्ध में गौडपाद का कहना है कि 'समाचारात' एवं 'उपलम्भात' जैसे दो कारणों से ही हम अजात के होते हुये भी वस्तुओं की वास्तविकता स्वीकार कर लेते हैं। यहाँ पर आचार्य मायाहस्ति का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जिस प्रकार जादूगर के जादू से निर्मित हाथी भी वास्तविक हाथी की तरह व्यवहार करता देखा जाता है, उसी प्रकार आचरण के आधार पर हम केवल प्रतीत होने वाले विश्व के पदार्थों को सत् समझ लेते हैं।[४०] ये पदार्थ सत् नहीं है।

यदि विश्व के पदार्थ सत् नहीं है, तो सत् क्या है? इसी प्रश्न को शंकराचार्य ने भी अपने माडूक्यकारिका के भाष्य में उठाया है। वे पूछते हैं कि जिसके आश्रय से जाति आदि प्रसद्बुद्धियाँ होती हैं, वह परमार्थ वस्तु क्या है?[४१] इसके उत्तर में गौडपादकारिका के चौथे अध्याय के पैंतालिसवीं कारिका दृष्टव्य है। इसमें आचार्य

कहते हैं कि परमार्थतः देवदत्त अज, अचल, अवस्तु और अद्रव्यत्व ही है, किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से वह उत्पन्न होता है, चलता है, लम्बा है गोरा है, इत्यादि शब्दों से वर्णित होता है। इसी तरह वह परम तत्व शान्त एवं अद्वय अचल एवं अवस्तु होते हुये भी जात्याभास, चलाभास व सव्त्वाभास के रूप में प्रतीत होता है।[४२]

इस प्रकार गौडपादाचार्य का प्रतिपाद्य यही है कि केवल ब्रह्म ही अजात, अविचल, अविनाशी एवं अद्वैत है। उसके अतिरिक्त यह विश्व एवं इसके पदार्थ केवल प्रतीति मात्र हैं। इस विश्व में किसी का भी जन्म नहीं होता वरन् जात्याभास है। वस्तु नहीं है, वरन् वस्त्वाभास है। ऐसे विचारक को छुपा हुआ बौद्ध कहना उनके विचारों की अनदेखी करना है।

यहाँ पर आलोचक कह सकता है कि यह संभव है कि गौडपाद का मुख्य मन्तव्य अद्वैत का प्रतिपादन है, किन्तु उन्होंने कुछ सिद्धान्त, उपमायें, दार्शनिक विधि एवं शब्दावली अवश्य बौद्ध दार्शनिकों से लिये हैं। अतः वे बौद्ध विचारों का ही परोक्ष रूप से प्रतिपादन कर रहे हैं और उनसे प्रभावित भी हैं। इस सम्बन्ध में हम प्रो. विधुशेखर भट्टाचार्य के विचारों को ले सकते हैं। अपने द्वारा सम्पादित गौडपादकारिका के परिचय में प्रो. भट्टाचार्य का मानना है कि गौडपादाचार्य ने दो सिद्धान्त बौद्ध दार्शनिकों से लिये हैं - विश्व का वैतथ्य एवं प्रजातिवाद। विश्व की वैतथ्यता का सिद्धान्त आचार्य ने बौद्ध विज्ञानवादिओं से लिया है और प्रजातिवाद का सिद्धान्त माध्यमिक दार्शनिक नागार्जुन की देन है।

विश्व की वैतथ्यता अर्थात् विश्व को प्रतीति मात्र स्वीकार करने में आचार्य विज्ञानवादिओं से प्रभावित हैं। विज्ञानवादिओं की भाँति आचार्य गौडपाद भी इस विश्व की वास्तविक सत्ता न मान कर उसे कल्पित स्वीकार करते है। दोनों ही इस विश्व को स्वप्नवत करार देते हैं। इस विश्व को स्वप्नवत घोषित करना बौद्धों की ही देन है। गौडपाद ने उन्हीं के विचार का प्रतिपादन किया है। यही नहीं, प्रो. भट्टाचार्य उन वाक्याँशों को भी बतलाते हैं, जिनका उपयोग बौद्ध साहित्य में हुआ है और उस बौद्ध साहित्य से ही गौडपादाचार्य ने ग्रहण कर लिया। पिछले पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि गौडपाद अपनी रचना के चौथे प्रकरण में इस विश्व को मायाहस्तिन, गंधर्वनगर और अलात की भाँति बतलाते हैं। प्रो. भट्टाचार्य के अनुसार विश्व के स्वरूप को समझाने के लिये उपर्युक्त तीनों उपमाओं का प्रयोग बौद्ध विचारकों ने ही किया है। बौद्धों के पहले के साहित्य में इन उपमाओं का प्रयोग नहीं हुआ है।

जहाँ तक विश्व को स्वप्नवत घोषित करने का विचार है, हम यह कह सकते हैं कि इस सम्बन्ध में विज्ञानवादियों एवं गौडपादाचार्य के विचारों में पर्याप्त भेद है। गौडपाद इस विश्व को स्वप्नवत मानते हुए भी स्वप्न एवं विश्व में भेद करते हैं। गौडपाद इस विश्व को कुछ हद तक वस्तुगतता प्रदान करते हैं। वे इसे व्यवहारिक

सत् मानते है, जबकि स्वप्न जगत में व्यवहारित सत् नहीं है। बौद्ध विज्ञानवादी आत्मनिष्ठता को नहीं छोड़ता चाहते। उनके लिये जो मानस् में है, वही बाहर है, किन्तु गौडपादाचार्य जैसे अद्वैत वेदान्ती जो अन्दर है, उसी को बाहर नहीं मानते। उनके अनुसार अन्दर और बाहर दोनों ही भ्रम की उत्पत्ति हैं। वे सत् को केवल आत्मनिष्ठ ही स्वीकार नहीं करते। गौडपादाचार्य द्वारा विश्व को स्वप्नवत् बताते हुये भी अपने को विज्ञानवादिओं से भिन्न कर लेना यह सिद्ध करता है कि गौडपाद बौद्ध दार्शनिकों की शिक्षाओं का प्रचार नहीं कर रहे हैं। वे तो अपने अद्वैत सम्बन्धी मन्तव्य को सिद्ध करने के लिये विश्व को स्वप्नवत कह रहे हैं। इसीलिये उन्होंने अद्वैत को परमार्थिक सत् माना है एवं विश्व को व्यावहारिक सत् की संज्ञा दी है। प्रथम निरपेक्ष सत् है जबकि द्वितीय को व्यावहारिका सत् ही कहा है।

मायाहस्तिन एवं अलात जैसी उपमाओं द्वारा गौडपाद विश्व को प्रतीति मात्र सिद्ध करते हैं। प्रो. विधुशेखर भट्टाचार्य इन उपमाओं का सर्वप्रथम प्रयोग बौद्ध दर्शन साहित्य में पाते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि गौडपाद ने ये उपमायें वहीं से ली हैं किन्तु प्रो. टी.एम.पी. महादेवन प्रो. भट्टाचार्य के मत से सहमत नहीं हैं। वे मानते हैं कि मायाहस्तिन की उपमा भास के नाटकों में उपलब्ध है और अलात की उपमा भी मैत्रेयी उपनिषद में दी गयी है।[४३] अतः यह मानना उचित नहीं है कि इन उपमाओं के लिये गौडपाद बौद्ध विचारकों से प्रभावित हैं। प्रो. करपेन्टर के कथन को उद्धत करके भी प्रो. महादेवन गौडपाद को बौद्ध विचारकों के प्रभाव से मुक्त रखना चाहते हैं। गौडपादाचार्य द्वारा अलात की उपमा के प्रयोग के सम्बन्ध में डॉ. कारपेन्टर कहते हैं कि शाम को जलती लकड़ी को तेजी से हवा में घुमाते हुए अलात बनाना छोटे बच्चों का प्रिय खेल होता है।[४४] डॉ. कारपेन्टर के उपर्युक्त कथन का भावार्थ यही है कि गौडपादाचार्य ने जिस उपमा को बच्चों के खेल में देखा होगा, उसको उन्हें बौद्ध दार्शनिकों से लेने की क्या आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में एक बात दृष्टव्य है और वह यह कि यह संभव है कि द्वैत के निराकरण के लिये गौडपाद विज्ञानवादिओं के तर्कों को सहारा लेते हुये प्रतीत होते हैं, किन्तु उसके बाद वे विज्ञानवादिओं की आलोचना करते हैं।[४५] इसका तात्पर्य यही है कि यदि गौडपाद ने बौद्धों द्वारा प्रयुक्त उपमाओं का या उनकी किसी युक्ति को ग्रहण भी किया है, तो वह उनसे प्रभावित होने अथवा उनके विचारों के प्रचार के लिये नहीं वरन् द्वैत का निराकरण करके अद्वैत की स्थापना के लिये ही ग्रहण किया है।

एक अन्य सिद्धान्त, जिसके विषय में यह कहा जाता है कि गौडपाद ने यह सिद्धान्त नागार्जुन से ही लिया है - वह है अजातिवाद का सिद्धान्त। माध्यमिक कारिका के प्रारम्भ में ही नागार्जुन अजातिवाद का प्रतिपादन करते हैं। वे कहते हैं कि 'कोई भी भाव न स्वतः न परतः, न उमयतः और न अहेतुतः ही कभी उत्पन्न होता है।'[४६]

गौडपादाचार्य अजातिवाद के सिद्धान्त को निम्नलिखित रूप से स्वीकार करते हैं। 'स्वतः अथवा परतः किसी भी प्रकार कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती।'[४७] अजातिवाद के सम्बन्ध में उपर्युक्त दोनों दार्शनिकों के कथन में कुछ समानता अवश्य प्रतीत होती है, किन्तु उनके मन्तव्य में मित्रता स्पष्ट रूप देखी जा सकती है। नागार्जुन का कथन हमें बतलाता है कि कोई भी वस्तु न अपने आपसे उत्पन्न होती है, न दूसरे से उत्पन्न होती है, न अपने से एवं दूसरे से मिल कर उत्पन्न होती है, और न अहेतुतः अर्थात् बिना कारण उत्पन्न होती है। अतः कोई भी वस्तु उत्पन्न ही नहीं होती। इसी सम्बन्ध में गौडपाद का विचार है कि कोई वस्तु सत् है, इसलिये उसके उत्पन्न का प्रश्न नहीं है, क्योंकि सत् वस्तु सदैव विद्यमान रहती है। असत् वस्तु की भी उत्पत्ति इसीलिये नहीं होती हैं क्योंकि उसका प्रभाव है और सदसत् कोई वस्तु होती ही नहीं हैं क्योंकि एक ही समय एवं एक ही स्थान पर दो विरोधी गुणों वाली वस्तु देखी ही नहीं जाती। अतः किसी भी वस्तु का उत्पन्न होना संभव ही नहीं है। उपर्युक्त दोनों दार्शनिकों के अजातिवाद सम्बन्धी सिद्धान्त के प्रतिपादन में सम्प्रदायगत भेद स्पष्ट दिखलाई देता है। गौडपाद यह दिखलाना चाहते हैं कि आत्मा अजात है, शाश्वत है और अविनाशी है जबकि नागार्जुन का मन्तव्य है किसी वस्तु की उत्पत्ति इसलिये नहीं होती क्योंकि समस्य दृश्य जगत मिथ्या है, प्रपंच्च है।

दार्शनिक विधि के सम्बन्ध में भी गौडपादाचार्य को नागार्जुन का ऋणी स्वीकार किया जाता है। गौडपाद ने अपनी माण्डूक्याकारिक के चौथे प्रकरण में नागार्जुन के चतुष्कोटि न्याय का पूर्ण रूप से प्रयोग किया है। आज प्रायः सभी विचारक नागार्जुन को ही चतुष्कोटिन्याय का जनक मानते हैं क्योंकि इस न्याय का प्रयोग नागार्जुन के पूर्व वैदिक साहित्य एवं बौद्ध साहित्य में नहीं मिलता। मेरी भी यह मान्यता है कि गौडपाद ने ही नहीं वरन् गौडपाद के बाद में आने वाले अद्वैतवेदान्तिओं ने भी नागार्जुन के चतुष्टकोटि न्याय को अपनाया है। इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन है कि चतुष्कोटि न्याय को अपनाने के आधार पर गौडपाद को छुपा हुआ बौद्ध कहना एवं माण्डूक्यकारिका का चौथा अध्याय लिखने वाले को बौद्ध दार्शनिक मानना गौडपादाचार्य के प्रति अन्याय होगा। यदि हम अपने विरोधी की विधि को अपना कर उसको परास्त कर अपने मन्तव्य की सिद्धि करते हैं, तो क्या हम अपने विरोधी के अनुयायी कहलायेंगे?

उपर्युक्त पंक्तिओं में हमने नागार्जुन एवं गौडपाद की रचनाओं में कतिपय सिद्धान्तों, दार्शनिक विधि उपमाओं एवं शब्दावली के प्रयोग में समानता देखी। हम यह भी कह सकते हैं कि धर्म, धातु, प्रपंचोशम, शिव, चतुषकोटि, देशित निर्मितक, परमार्थ, संवृति, पाक्य, आप्य, मायाहस्ति, लौकिक, लोकोत्तर, अद्वय व संघात आदि अनेक शब्द दोनों आचार्यों के ग्रन्थों में समानरूप से प्रयुक्त मिलते हैं। कहीं-कहीं पर तो

उनकी श्लोक रचना में भी साम्य दिखलाई पड़ता है, किन्तु यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि दोनों दार्शनिकों के प्रतिपाद्य में, जैसी हम कह चुके हैं, उत्तरी एवं दक्षिणी ध्रुव की तरह मतभेद है। नागार्जुन का प्रतिपाद्य शून्यता है जबकि गौडपाद अजात् शाश्वत एवं अविनाशी तत्व के रूप में ब्रह्म को प्रतिपादित करते हैं और नागार्जुन के शून्यता को निरपेक्ष ब्रह्म के रूप में स्वीकार करना, उस महान माध्यमिक दार्शनिक के विचारों की उपेक्षा करना है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नागार्जुन एवं गौडपाद की रचनाओं में कतिपय सिद्धान्तों, उपमाओं, विधि, शब्दावली एवं शैलीगत कुछ समानता देखी जा सकती है। मायाहस्ति के सिद्धान्त भी प्रसारित हुये हैं। तर्क विधि भी जीवन्त रूप में गौडपाद तक पहुँची है किन्तु यदि हम ध्यान दें तो देखेंगे कि किसी दर्शन पद्धति के ये सभी बहिरंग पक्ष ही हैं। दर्शन का अपना स्वरूप, जीवन और जगत के विषय में एक वैचारिक मान्यता है। भाषा, शब्द योजना, शैली प्रतिपादन में प्रयुक्त होने वाली तर्क विधि उस दर्शन का वाह्य कलेवर है। जिसे धारण कर वह दर्शन एक व्यक्ति की बुद्धि से निकल कर दूसरे व्यक्ति की बुद्धि में पहुँचता है और वहाँ अपने कलेवर को त्याग कर वास्तविक रूप में प्रकट होता है। कोई प्रो. विधुशेखर भट्टाचार्य जैसा अदार्शनिक व्यक्ति ही भाषा आदि के वाह्य कलेवर को देख कर और उसे ही दर्शन मान कर गौडपाद को बौद्ध कह सकता है अथवा अलातशान्त प्रकरण को बौद्ध दर्शन का प्रातिपादक मान सकता है। दोनों दार्शनिकों की सैद्धान्तिक मान्यतायें बिल्कुल भिन्न हैं। नागार्जुन गौडपादाचार्य की अद्वैतवादी मान्यता को बिल्कुल हिला नहीं सका। अतः हमारा मत है कि गौडपाद से ही अद्वैतवेदान्त का सुसंगत रूप प्रारम्भ होता है। वे एक निष्ठावान अद्वैतवादी हैं।

मैं अपने उपर्युक्त मत को आधुनिक विद्वान सन्यासी स्वामी चिन्मयानन्द के निम्नलिखित कथन से पुष्ट करना चाहूँगा। स्वामी जी लिखते हैं कि 'जैसे हम आज अपने प्राचीन शास्त्रों की व्याख्या सामान्य रूप से उपलब्ध वैज्ञानिक और ईसाई शब्दावली में करना पसंद करते हैं, उसी प्रकार गौडपाद ने अपने समय की प्रचलित शब्दावली का प्रयोग उदारतापूर्वक किया हैं। उनका यह उद्देश्य कदापि नहीं था कि उनकी पुस्तक प्रकाशित हो और उसकी बिक्री प्रचार मात्रा में हो। वे तो केवल वेदान्त के महान ज्ञान को उस समय के शिक्षित समाज को समझना चाहते थे। सन्त सदा शाश्वत ज्ञान को अपने समय की प्रचलित भाषा और शैली में अपनी पीढ़ी को समझाते आये हैं।'[४८]

अंत में हम कह सकते हैं कि गौडपादाचार्य ही सही रूप में अद्वैत-चिन्तन धारा के प्रथम प्रवर्तक हैं। सर्वप्रथम उन्होंने ही वैदिक साहित्य को मथ कर अद्वैतरूपी नवनीत को प्राप्त किया। उन्होंने एक ही उपनिषद पर भाष्य लिख कर समस्त

उपनिषदों अथवा वेदान्त का सार प्रस्तुत कर दिया। उपनिषदों में अद्वैत के तत्व विद्यमान होने पर भी उनको सुसंबद्धरूप से प्रस्तुत किया, जो अद्वैत धारा का आधार बन सकी। यही नहीं एक तर्क प्रतिष्ठित अद्वैत धारा का सूत्रपात करके उन्होंने विश्व एवं भारतीय दार्शनिक जगत पर एक महान उपकार किया है। अद्वैत चिन्तन धारा के अभाव में भारतीय दर्शन आधा-अधूरा रह जाता। आत्मतत्व को उन्होंने जिस तर्क व पद्धति से प्रतिष्ठित किया, वह उनके बाद में आने वाले अद्वैतवेदान्तिओं के लिये एक वरदान सिद्ध हुआ। यह कहने में कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है कि गौडपादाचार्य के अभाव में शंकर न होते और शंकराचार्य के अभाव में वाचस्पति मिश्र, पद्मपाद, मधुसूदन सरस्वती एवं श्री हर्ष जैसे तर्कनिष्ठ अद्वैतवादिओं का होना भी संभव न होता। मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि गौडपादाचार्य के बाद में आने वाले सभी अद्वैतवेदान्ती उन्हीं का अनुकरण कर रहे हैं। हमारा तात्पर्य यह है कि जो दिशानिर्देश गौडपादाचार्य ने दिया, उसको आगे बढ़ा कर चर्मोत्कर्ष तक पहुँचना बाद के वेदान्तिओं के परिश्रम का परिणाम है।

यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या शंकर के पहले अन्य कोई वेदान्ती ऐसा नहीं हुआ, जिसने शंकर एवं अन्य अद्वैत-वेदान्तिओं को प्रभावित किया है। इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि शंकर के पहले अद्वैतवेदान्ती तो हुये हैं, किन्तु ऐसा कोई भी वेदान्ती नहीं हुआ, जिसने शंकर जैसी अद्वैत चिन्तनधारा को अग्रसरित किया है। उदाहरण के लिये भर्तृहरि एवं ब्रह्मदत्त के नाम अद्वैतवादिओं के रूप में लिये जाते हैं, किन्तु भर्तृहरि के स्फोटवाद की शंकर आलोचना करते हैं और उनके शब्दब्रह्म के सिद्धान्त से भी वे सहमत नहीं हैं। ब्रह्मदत्त के इस सिद्धान्त से शंकर सहमत नहीं है कि आत्मोपलाब्ध के उपरान्त भी सत्रूप से मनन अनिवार्य है। इन दोनों का प्रभाव मंडन मिश्र के अद्वैतवाद पर देखा जा सकता है, शंकर पर नहीं।

गौडपादाचार्य ही ऐसे अद्वैतवेदान्ती हैं, जिनका शंकर के विचारों से सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है। शंकर ने गौडपादकारिका पर भाष्य भी लिखा है। गौडपाद की तरह शंकर भी मानते हैं कि परमसत् एक अद्वैत है, यह समस्त विश्व प्रतीति मात्र है और ब्रह्म साक्षात्कार का प्रमुख साधन ज्ञान है।

यह भी कहा जा सकता है कि गौडपादाचार्य एक प्रगतिशील विचारक हैं। वे एक निष्ठावान अद्वैतवेदान्ती है और यह भी कहते हैं कि उनके अद्वैत दर्शन का किसी भी अन्य सिद्धान्त से झगड़ा नहीं है। अन्य सिद्धान्तवादी आपस में झगड़ते हैं, किन्तु गौडपादाचार्य की मान्यता है कि विश्व सम्बन्धी सभी सिद्धान्तों में सत्यता है, किन्तु यह सत्यता आंशिक है, पूर्ण नहीं। जब पूर्ण सत्य का ज्ञान हो जाता है, सभी विवाद मिट जाते है। आचार्य 'साधर्मविवादं निबोधत'[४६] वाक्यांश का प्रयोग करके सभी सिद्धान्तवादिओं के बीच दार्शनिक शान्ति का आग्रह करते हैं।

## संदर्भ-सूची


१. माण्डूक्योपनिषद, गौडपादीय कारिका, शंकरभाष्य, गीता प्रेस, गोरखपुर।

२. भारतीय दर्शन का इतिहास, हिन्दी अनुवाद, भाष्यकार वर्तृक वन्दना, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृष्ठ ३६३

३. देखिये 'गौडपाद' अध्याय IX, पृष्ठ १८६, लेखक टी.एम.पी. महादेवन।

४. वहीं, पृष्ठ १६१।

५. देखिये दासगुप्त की रचना, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, वालूम १, पृष्ठ ४२६।

६. वहीं, पृष्ठ ४२३।

७. आगम शास्त्र ऑफ गौडपाद, इन्ट्रोडक्शन, पृष्ठ ५४।

८. द हेरिटेज ऑफ शंकर, पृष्ठ ६।

९. सर्व 'ॐ' येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म, सोडयमात्मा चतुष्पात्, माण्डूक्यकारिका १,२।

१०. त्रिषुधामस य दोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः। मा.का. १.५
वेदैतदुभयं यस्तु सू भज्जानो न लिप्यते।।

११. अनादिमायया सुप्ता यदा जीरवः प्रवुध्यते। वहीं, १.१६
अजयनिद्रमस्वप्रमद्वैतं बुध्यते तदा।

१२. अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः। माण्डूक्यकारिका, १-२६
ओंकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः।।

१३. देखिये पी. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी वालूम १, हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ३६५।

१४. एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रमवाप्ययो भूतानाम् गौ.का. १,६।

१५. देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा, गौडपादकारिका १.६।

१६. निवृत्ते सर्वदुःखनामीशानः प्रभुख्ययः।
अद्वैतः सर्वभावानाम देव स्तुर्यो विभुः स्मुतः।।

१७. प्रपच्चो यदि विद्यते निवर्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैत परमार्थतः।।

१८. कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया। मा. कारिक, २.१२।

१९. मायया मिद्यते ह्यतन्नन्यथजं कथच्वन।
भक्ततो मिद्यमाने हि मर्त्यताममृतं ब्रजेत।।

२०. न भक्त्यमृतं मर्त्य न मर्त्यताममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावों न कथंचिद्भविष्यति।।

२१. देखिये माण्डूक्यकारिका, २.४।

२२. देखिये गौडपाद कारिका, शंकरभाष्य २.४।

२३. आदावन्ते च यन्नस्ति वर्तमानुअति तत्तथा। गौ.का. २.६
वितथैः सादृशाः सन्तोऽवितथा इक्लक्षिता।।

२४. गौ.का. २,१ से ५ तक।

२५. देखिये, गौडपादकारिका २.६७ और इन पर शंकर भाष्य।

२६. कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया। गौगपाद कारिका, २.१२
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्रच्यः।।

२७. देखिये, गौडपादकारिका वैतथ्य प्रकरण, २० से ३० तक।

२८. आत्मा ह्यवाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः। गौडपादकारिका ३.३
घटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्निदर्शनम्।।

२९. घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा। गौडपादकारिका ३.४
आकाशे संप्रीलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि।।

३०. यथैकस्मिन्घटाकाशे रजो धूमादिभिर्युते। माण्डूक्यकारिका ३.५
न सर्वे संप्रयुज्यन्ते तद्वजीवाः सुखादिभिः।।

३१. रूपकार्यसमाण्याश्च मिद्यन्ते तत्र तत्र कै। माण्डूक्याकारिका ३.६
आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः।।

३२. अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तम्देद उच्चयते। गौडपादकारिका, ३.१८
तेषमुपयथा द्वैतं तेनायं न स्व्द्धयते।।

३३. देखिये, माण्डूक्याकारिका ३.१६।

३४. देखिये माण्डूक्याकारिका, अलाशांत प्रकरण के प्रारम्भ में शंकराचार्य द्वारा लिखा परिचय।

३५. भतस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि। गौडपादकारिका ४.३
अभूतस्यापरे धीरा विवदन्तः परस्परम्।।

३६. भूतं न जायते किं चिदभूतं तैव जायते। गौडपादकारिका ४.३
विवदान्तोऽद्वसर ह्वैवमजाति स्र्यापन्ति ते।।

३७. आगम शास्त्र ऑफ गौडपाद, इन्ट्रोडक्शन ।

३८. तस्पान्न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते। गौडपादकारिका ४-२८
तस्य पश्यन्ति ये जातिं खे वै पश्यन्तिते पदम्।।

३९. देखिये, मा.का. ४२८ उस पर शंकर भाष्य।
यंऽ क्रून्यवादिनः पश्यन्त एवं सर्वशून्यताम् स्वदर्शनस्यापि शुन्यतां प्रतिजानेत् तेततोऽपि साहसिकतराः खं मुष्टिनापिजिघृक्षन्ति।

४०. उपलम्मातसमाचारान्मायाहस्ती यथोच्यते। माण्डूक्यकारिका, ४.१४
उपलम्मातममाचारादस्ति वस्तु तथोच्यते।।

४१. किं. पुनः परमार्थसद्वस्तु, यदास्पदा जात्याद्यसद्बुद्धय, देखिये वहीं शंकरभाष्य।

४२. जात्यामांस चलामासं वस्त्कामासं तथैव च। माण्डक्यूकारिका, ४.४५
अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञान शान्तमद्वयत।।

४३. देखिये टी.एम.पी. महादेवन कृत 'गौडपाद' अध्याय ६, पृष्ठ २०४।

४४. देखिये, वहीं।

४५. देखिये, गौडपादकारिका ४.२८ और इस पर शंकर भाष्य।

४६. न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः। माध्यमिककारिका, १.३
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन।।

४७. स्वतो वा परतो वापि न किंचित द्वस्तु जायते। गौडपादकारिका, ४-२२
सदसत्सदसद्वापि न किचिद्वस्तु जायते।।

४८. माडूक्य उपनिषद पर स्वामी चिन्मयानन्द की व्याख्या, पृ. २८७-८८।

४९. देखिये माण्डूक्यकारिका, अलातशान्तिप्रकरण, ५।

❑❑❑

# भर्तृहरि का शब्दाद्वैत

अद्वैतवेदान्त के इतिहास को देखने से पता चलता है कि भारतीय समाज में प्रस्थानत्रयी का ब्रह्मवाद ही सामान्य व्यक्तिओं एवं बौद्धिक जगत में चर्चा का अधिक विषय रहा है। सामान्य व्यक्ति जब अद्वैत ब्रह्म की बात करते हैं, तब वे भगवद्गीता एवं उपनिषदों के उदाहरण देकर अपनी बात की पुष्टि करते हैं। बौद्धिक जगत में भी अद्वैतवेदान्त और शंकराचार्य एक दूसरे के पर्याय के रूप में देखे जाते हैं, किन्तु वैदिक परम्परा में ब्रह्मवाद को दो दृष्टिओं से देखा गया है - अर्थब्रह्म और शब्दब्रह्म। प्रस्थानत्रयी का ब्रह्मवाद प्रायः अर्थब्रह्म से ही सम्बन्धित है किन्तु व्याकरण दर्शन का ब्रह्म शब्द ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। शब्द ब्रह्म का अद्वैतवादी सिद्धान्त भर्तृहरि की रचनाओं में स्थापित किया गया है। भर्तृहरि की छः रचनायें मानी गयी है :- (१) महाभाष्यटीका (२) वाक्यपदीय (३) वृत्रि (४) शब्दधातुसमीक्षा (५) नीतिशतक, शृंगारशतक और वैराग्यशतक (६) भक्तिकाव्य। अद्वैत दर्शन के दृष्टिकोण से केवल काव्यपदीय ही महत्वपूर्ण है। प्रस्तुत लेखक ने केवल 'वाक्यपदीय' को ही सागर विश्वविद्यालय पुस्तकालय में देखा है। अतः इसी ग्रन्थ के आधार पर भर्तृहरि के कतिपय विचारों का उल्लेख किया जायेगा। वाक्यपदीय को तीन खंडों में विभक्त किया गया है - ब्रह्मखंड, वाक्यखंड और पदखंड। इस संदर्भ में वाक्यपदीय के ब्रह्मखंड पर पं. सूर्यनारायण शुक्ल की टीका दृष्टव्य है। इसका प्रकाशन चौखम्भा, वाराणसी ने १६४७ में किया है। भर्तृहरि के शब्दाद्वैत पर कुछ कहने के पहले हम स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं कि अर्थब्रह्म और शब्दब्रह्म में मुख्य भेद क्या है।

प्रस्थानत्रयी के आधार पर जिस अद्वैत दर्शन की स्थापना की गयी, उसे अर्थब्रह्मवाद कहते हैं। इसके मुख्य प्रतिपादनकर्ता शंकराचार्य हैं। अर्थब्रह्मवादी ब्रह्म को शब्द नहीं मानता है। वह तो ब्रह्म को शब्द के अर्थ के रूप में ग्रहण करता है। उदाहरण के लिये भगवद्गीता में कृष्ण कहते हैं कि 'जो ब्रह्म के स्वरूप का लक्ष्य कराने वाले ओंकार का उच्चारण करता हुआ, उसके अर्थ रूप मुझ ईश्वर का चिन्तन करता हुआ शरीर को त्यागता है, वह परमगति को प्राप्त करता है।'[१]

परन्तु शब्दब्रह्म को स्वीकार करने वालों ने अर्थब्रह्म के इस विचार को अस्वीकार किया है। उनका मानना है कि अर्थ तो प्रयोजन का नाम है, प्रयोजन सदैव सापेक्ष होता है। किन्तु ब्रह्म निरपेक्ष है, शब्द निरपेक्ष है। अतः शब्द तत्व को ही ब्रह्म मानना चाहिये। शब्द ब्रह्मवादिओं की मान्यता है कि मूलरूप में शब्द का अस्तित्व निष्कलंक, निष्तरंग और निरपेक्ष है। ओंकार भी वही है। शब्द तत्व व्यापक है। उसी का यह नाम है। ब्रह्म का स्वरूप भी यही है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि गीता एवं उपनिषदों के जिन श्लोकों में शब्द को ब्रह्म कहा है, उन्हीं का भाष्य करके शंकराचार्य ब्रह्म को शब्द अर्थ के रूप में देखते हैं। उदाहरण के लिये भगवद्गीता के आठवें अध्याय के तेरहवें श्लोक में शब्दब्रह्म स्वीकार किया है।[२] इस श्लोक का 'ओमित्येंकाक्षरं ब्रह्म' वाक्यांश यह सिद्ध करता है कि 'ओम' अक्षर ब्रह्म है, परन्तु इसी श्लोक का भाष्य करते हुये शंकराचार्य, जैसा कि हम उपर्युक्त पैराग्राफ में उद्घृत कर चुके हैं, शब्द अर्थ को ब्रह्म के रूप में स्वीकृति देते हैं।

इसी प्रकार माण्डूक्य उपनिषद के प्रथम खंड के प्रथम मन्त्र में भी शंकराचार्य अर्थब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं जबकि मन्त्र कहता है 'ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है। यह जो कुछ भूत, भविष्यत और वर्तमान है, उसी की व्याख्या है, इसीलिये यह सब ओंकार ही है। इसके अतिरिक्त जो अन्य त्रिकालातीत वस्तु है वह भी ओंकार ही है।[३] माण्डूक्य उपनिषद के इस कथन की व्याख्या करते हुये शंकराचार्य वाच्य (ब्रह्म) एवं वाचक (ओंकार) में तादात्म्य स्वीकार करते हैं, ऐसा करके वे अर्थब्रह्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं, किन्तु श्रुति का यह कथन कि 'ओमित्येतदक्षरमिदएसर्व' अक्षरब्रह्म को ही स्वीकार करता है।

उपर्युक्त विवेचन के संदर्भ में हम कह सकते हैं कि शंकराचार्य द्वारा अर्थब्रह्म की अवधारणा को स्वीकार करने का मुख्य कारण उपनिषदों को स्वतंत्र ग्रन्थ मानना है। शंकर ही नहीं, शंकर से पूर्व ब्रह्मसूत्रकार भी उपनिषदों को स्वतंत्र ग्रन्थ मानता हुआ प्रतीत होता है। ब्रह्मसूत्र के प्रथम सूत्र 'अथातोब्रह्मजिज्ञासा' पर भाष्य करते समय ही शंकर यह स्वीकार करते हैं कि ब्रह्मज्ञान वेदान्त के वाक्यों के अर्थ से ही प्राप्त होता है। वे तो वेदान्तवाक्यों के अर्थज्ञान की दृढ़ता के लिये वेदान्तवाक्यों के अविरोधी अनुमान को भी प्रमाण के रूप में स्वीकार करने की वकालत करते है।[४] जिस आत्मतत्व को कर्त्ता एवं भोक्ता मान कर प्रतिष्ठित किया जाता है, उस आत्मा का स्वरूप-निर्धारण उपनिषद वाक्यों का कार्य है। शंकर के अनुसार उपनिषदों के वाक्य अर्थवाद के द्योतक हैं। अतः शंकर की अर्थब्रह्म की अवधारणा मुख्य रूप से संहिताओं एवं अन्य वेदागों पर आधारित है। इसका अर्थ यह नहीं है कि संहिताओं में ब्रह्मवाद के सूत्र नहीं है। उपर्युक्त ब्रह्मवाद की दोनों धारायें संहिताओं से ही चली आ रही हैं, उपनिषदों में भी दोनों धारायें विद्यमान है, किन्तु उपर्युक्त दोनों प्रकार के ब्रह्मवादियों ने भेद व वेदागों की व्याख्या स्वमत के अनुसार की है। यदि शब्दब्रह्म की सर्वोच्च अभिव्यक्ति भर्तृहरि के विचारों में हुई है तो अर्थब्रह्म की अवधारणा शंकर की रचनाओं में फली-फूली है क्योंकि शंकराचार्य के अनुसार समन्वय रूप से समस्त उपनिषदीय वाक्यों का अर्थ ब्रह्म ही है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर हम पाते हैं कि विक्षेपों के कारण शब्द ब्रह्म की धारा मन्द पड़ गयी और अर्थब्रह्मवादी धारा ने

उसे आच्छादित कर लिया। इतना होने पर भी शब्दब्रह्म धारा अब तक लुप्त नहीं हुई है और वह अपनी मन्द गति से सतत् रूप से प्रवाहशील है।

## भर्तृहरि का शब्दाद्वैतवाद

शब्दाद्वैतवाद का ही दूसरा नाम स्फोटवाद या प्रणववाद है। इस सिद्धान्त को मानने वाले शब्द को ही इस समस्त का आधार स्वीकार करते हैं। यद्यपि इस सिद्धान्त के बीज प्राचीन वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं, किन्तु इसकी विस्तृत व्याख्या भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में की है। उदाहरण के लिये तैत्तरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि 'भूः, भुवः और स्वः, इन तीन ही शब्दों से पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं 'द्यु' लोक की उत्पत्ति बतलाई गई है।[५] यही मनुस्मृति भी कहती है कि श्रष्टि के प्रारम्भ में महेश्वर ने पदार्थों के नाम व रूप इत्यादि की रचना वेदों के शब्दों से ही की है।[६] इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रुति एवं स्मृति दोनों यह स्वीकार करते हैं कि शब्द से ही यह समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई है। स्फोट शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम पतंजलि के महाभाष्य में हुआ है, किन्तु यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि सर्वप्रथम भर्तृहरि ने ही शब्दाद्वैतवाद अथवा स्फोटवाद की विस्तृत एवं शास्त्रीय विवेचना प्रस्तुत की है।

ब्रह्म का स्वरूप अर्थ में न खोज कर शब्द में खोजने वाले भर्तृहरि निश्चय ही अद्वैत का प्रतिपादन करते हैं। उनकी रचना 'वाक्यपदीय' का प्रथम खंड ही उन्हें अद्वैतवादी सिद्ध कर देता है। भर्तृहरि केवल एक शाश्वत तत्व में विश्वास करते हैं और वह है शब्दब्रह्म। यह तत्व आदि अन्त रहित है। यह शब्दब्रह्म ही अपने को विश्वरूप में अभिव्यक्त करता है, किन्तु वह स्वयं दिक-काल से परे है। भर्तृहरि उसे अनन्त शुद्ध चेतना कहते हैं। वह सभी पदार्थों को शब्दों के रूप में ही व्यक्त करते है। ब्रह्म की विश्वरूपी अभिव्यक्ति ब्रह्म में ही लीन हो जाती है।[७] वह अत्यन्त मुक्त है, मोक्ष को प्राप्त करने वाले उसी की उपासना करते हैं, वह शब्द ब्रह्म है।[८] यहाँ पर यह कह देना अनुचित नहीं है कि शंकर के अद्वैत दर्शन में मायोयहित ब्रह्म अर्थात् ईश्वर अन्तर्यामी है,[९] किन्तु शब्द ब्रह्मवादी इस प्रकार का मायापरिच्छेद स्वीकार नहीं करते। यहाँ वह विश्वात्मा ही अन्तर्यामी है। शब्दब्रह्मवादी के अनुसार ब्रह्म तो वह व्यापक ओंकार है जो निष्कल, नाम-रूपातीत, सर्वभूतान्तरात्मा और सर्वाधिष्ठान है।

प्रश्न यह है कि यदि एक शुद्ध चेतन ब्रह्म ही है, तो यह विश्व, जो स्वरूप में ब्रह्म का विरोधी है, कहाँ से आया? इस प्रश्न के उत्तर में शब्द ब्रह्मवादी कहते हैं कि विश्व ब्रह्म का विवर्त मात्र है। अद्वैत वेदान्त में विवर्त के विषय में माना जाता है कि उपदान से विषम सत्ता वाला कार्य विवर्त है, और सम सत्ता वाला कार्य परिणाम है।[१०] उदाहरण के लिये सांख्य दर्शन में अव्यक्त प्रकृति त्रिगुणात्मिका है, उसी का परिणाम यह विश्व भी त्रिगुणात्मक है, किन्तु जब विश्व को ब्रह्म का विवर्त माना जाता है, तो

ब्रह्म विश्व में परिणत नहीं होता वरन् वह माया के कारण अपने से विरोधी गुणों वाले विश्व के रूप में प्रतीत होता है।

व्याकरण दर्शन में विवर्त की परिभाषा कुछ भिन्न प्रकार से दी जाती है। व्याकरण दर्शन के अनुसार 'तत्व का स्वरूप से बिना च्युत हुये भेदानुकारपूर्वक, असत्य, विभक्त तथा अन्यरूपता का ग्रहण विवर्त है।[११] जितने भी विकार हैं, वे सब उसी एक तत्व में है, वही सभी विकारों को आकार देता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि व्याकरण दर्शन में ब्रह्म विश्व का कारण नहीं है, क्योंकि ब्रह्म तो इससे परे है। भर्तृहरि ब्रह्म की कालशक्ति अर्थात् माया को मानते हैं, यह विश्व माया के कारण ही है। यदि देखा जाय तो शंकर और भृर्तहरि में एक मुख्य भेद यह है कि शंकर-वेदान्त के अनुसार माया से उपहित ब्रह्म अर्थात् ईश्वर का ही विवर्त यह विश्व है, निर्गुण ब्रह्म तो सबसे परे है, निष्क्रिय है, किन्तु भर्तृहरि के अनुसार ईश्वर जैसी कोई सत्ता नहीं है। वे ब्रह्म की ही कालशक्ति को माया कहते हैं और वही ब्रह्म विवर्त का आधार है। यहाँ पर यह कहना अनुचित न होगा कि कतिपय विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि विवर्तवाद के सिद्धान्त के लिये शंकर भर्तृहरि के श्रेणी हैं।[१२] इस सन्दर्भ में एक मत यह भी है कि भर्तृहरि विवर्तवादी नहीं थे। इस सम्बन्ध में डॉ. गौरीनाथ शास्त्री का कथन है कि भर्तृहरि के लिये यह विश्व उस परमतत्व की शक्तिओं की रचना है। अतः यह विश्व प्रतीति मात्र नहीं है वरन् यह सत् है। यह उस परमतत्व का परिणाम है, विवर्त नहीं। अपने इस विचार के लिये डॉ. शास्त्री का कहना है कि अविद्या शब्द का उल्लेख वाक्यपदीय में नहीं है। वे वाक्यपदीय पर लिखी वृत्ति को भर्तृहरि की रचना नहीं मानते। वृत्ति में अविद्या सम्बन्धी विचार का उल्लेख है। इसके विपरीत प्रो. सुब्राम्मनियन अइअर ने दिखलाया है कि भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में दो बार अविद्या का उल्लेख किया है।[१३] प्रो. सुब्रामनियन का यह भी कहना है कि भर्तृहरि इस प्रपंच्चात्मक विश्व के लिये असत्य शब्द का प्रयोग करते हैं, इससे यह स्पष्ट है कि वे इसे विवर्त रूप ही समझते हैं।

भर्तृहरि के सम्बन्ध में यह मतभेद कि वे परिणामवादी हैं या विवर्तवादी, अधिक दूर तक नहीं जा सकता। यदि हम भर्तृहरि की 'वाक्यपदीय' को देखें तो हमें पता चलेगा कि वे किसी भी रूप में असत्कार्यवादी या आरम्भवादी नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे अभाव की पदार्थता स्वीकार नहीं करते। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि अभाव उत्पन्न नहीं हो सकता और भाव का प्रधंस भी नहीं हो सकता। भर्तृहरि के अनुसार भाव एवं अभाव आत्मा से अनन्य हैं तथा विकल्प मात्र हैं।[१४] इस प्रकार भर्तृहरि का आरम्भवाद से अलग होना ही यह सिद्ध कर देता है कि वे सत्कार्यवादी हैं। सत्कार्यवाद के मुख्यरूप से दो रूप स्वीकार किये जाते हैं - परिणामवाद एवं विवर्तवाद। भर्तृहरि को परिणामवादी कहना इसलिये कठिन है क्योंकि वे 'वाक्यपदीय' की प्रथमकारिका में

ही विश्व के शब्द ब्रह्म का विवर्त कह देते हैं।[१५] विवर्त का अर्थ है कि एक ही तत्व अपने को बिना च्युत किये भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीत होता है अर्थात् एक ही धर्मी असत्य एवं अभिन्न रूप में प्रतीत होता है। विवर्त को स्वप्न प्रतिमास के समान देखा जा सकता है। स्वप्न की रचना एक पुरुष का विवर्त है, उसी प्रकार यह समस्त विश्व एक ही अक्षरब्रह्म का विवर्त है। यह विवर्त अविद्या की प्रवृत्ति मात्र है। भर्तृहरि के अनुसार अविद्या ब्रह्म की शक्ति है। यह अविद्या ही समस्त विवर्त को उत्पन्न करती है।

वाक्यपदीय की स्वोपज्ञटीका में भी विवर्त का उपयोग किया गया है। इस टीका में भोक्ता, भोग्य और भोग को वाग्ब्रह्म का विवर्त बतलाया है। वे साधन एवं साध्य को भी शब्दब्रह्म का विवर्त स्वीकार करते हैं।[१६] इस प्रकार भर्तृहरि की रचना वाक्यपदीय एवं उसकी स्वोपज्ञ टीका विवर्त को ही मानते प्रतीत होते हैं। वाक्यपदीय में यद्यपि कतिपय स्थानों पर परिणाम शब्द का उपयोग भी हुआ है, किन्तु प्रस्तुत लेखक के अनुसार शब्दब्रह्म के साथ विवर्त का ही तालमेल अधिक उचित प्रतीत होता है।

शब्दाद्वैवादी होने के कारण भर्तृहरि मानते हैं कि प्रत्येक वस्तु का हमारा ज्ञान शब्द के साथ जुड़ा है। जो ज्ञान शब्द के साथ जुड़ा नहीं है, वह ज्ञान ही नहीं है। जो कुछ हम जानते है, वह शब्द द्वारा ही संभव है। शब्दरूप से रहित ज्ञान नहीं होता। शब्द ही एक साधन है, जिसके द्वारा निरपेक्ष असत् भी जाना जाता है। भर्तृहरि की अद्वैतवादी धारणा तब और भी स्पष्ट हो जाती है, जब वे शब्दब्रह्म के अतिरिक्त ईश्वर जैसी किसी अन्य तत्त्व की कल्पना नहीं करते। वे परमब्रह्म से ही इस विश्व उत्पत्ति की कल्पना करते हैं। इस सम्बन्ध में भर्तृहरि का अद्वैतवादी सिद्धान्त शंकर से भिन्न है। शंकर इस विश्व की व्याख्या के लिये 'माया उपहित चेतन ईश्वर' की कल्पना करते हैं। वे ईश्वर की स्थापना के बिना विश्व की उत्पत्ति संभव नहीं मानते हैं। इसीलिये तो राधाकृष्णन् जैसे विद्वान शंकर के दर्शन में ईश्वर की मान्यता को तर्कीय आवश्यकता मानते हैं।[१७] ईश्वर की कल्पना न करने के कारण ही भर्तृहरि का अद्वैतवाद एक अन्य बात में भी शंकर से भिन्न है। शंकर ने अपने अद्वैत दर्शन में ईश्वर की स्थापना करके धर्म का स्थान बनाये रखा है, क्योंकि सगुण ब्रह्म का अस्तित्व ही उपासक की उपास्य देव सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति करता है। निर्गुण ब्रह्म उपास्य देव का स्थान नहीं ले सकता। उपास्य देव सामान्य जनमानस की आवश्यकता है। शंकर उस आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। संभवतः इसीलिये अर्थब्रह्मवाद ने शब्दब्रह्मवाद को आच्छादित कर लिया और शब्द ब्रह्मवाद सिमट कर पुस्तकों तक ही सीमित हो गया।

## स्फोट-सिद्धान्त

अपने स्फोटवाद के सिद्धान्त के द्वारा भी भर्तृहरि अद्वैत पर पहुँचने का प्रयास करते हैं। स्फोट शब्द 'स्फूठ' धातु से निकला है, जिसका अर्थ है फूट पड़ना, निकल पड़ना अर्थात् स्फोट वह है जिसमें अर्थ फूटता है, निकलता है। स्फोट एक अर्थवाचक शब्द को कहते हैं। भर्तृहरि के अनुसार एक शब्द की अभिव्यक्ति तीन स्तरों में होती है - वैखरी, माध्यमा और पश्यन्ति। वैखरी शब्द का वह स्तर है, जिसका बोलने वाले और सुनने वाले द्वारा उपयोग किया जाता है। यह भिन्न ध्वनियों में बोला जाता है। मध्यमा शब्द वह है जो वैखरी में होता है, यह वैखरी का मानसिक पक्ष कहलाता है। इसमें कोई क्रम नहीं होता, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें क्रम है। यह हमारी बुद्धि में होता है। शब्द का पश्यन्ती पक्ष उसकी सभी अभिव्यक्तिओं का आधार है। यही परम् सत् है। यह स्वप्रकाश एवं शाश्वत प्रकाश है जो हमारे आन्तरिक जगत में रहता है। यही शुद्ध चेतना है, जिसका ब्रह्म से तादातम्य है। भर्तृहरि इसी को शब्दब्रह्म अथवा निरपेक्ष शब्दर्तत्व कहते हैं।

पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी एक शब्द के वे तीन स्तर हैं जो चेतना, बुद्धि एवं प्राण-इन्द्रिओं से क्रमवार सम्बन्धित हैं। पश्यन्ति सभी विभेदीकरण एवं क्रम रहित है। यह अवर्णीय, अविभाज्य एवं अविनाशी है। इस स्तर पर शब्द एवं उसके अर्थ में भेद नहीं है। मध्यमा शब्द का वह स्तर है, जहाँ पर शब्द एवं उसके अर्थ में भेद होते हुये भी वे एक हैं। यह शब्द का मानसिक स्तर है। इस स्तर पर शब्द एवं उसके अर्थ में कारण-कार्य भेद है। इसी को भर्तृहरि स्फोट कहते हैं। यही मध्यमा वाक है।[१८] अतः भर्तृहरि के अनुसार यह शब्द एवं अर्थ की शाश्वत एकता है।

भर्तृहरि दो प्रकार के शब्द मानते हैं - क्षणिक एवं शाश्वत्। शाश्वत शब्द स्फोट है, ध्वनि क्षणिक शब्द है। शाश्वत शब्द सामान्य है, क्षणिक शब्द विशेष है। क्षणिक शब्द अथवा ध्वनियाँ, शाश्वत शब्द के विवर्त है, किन्तु शब्द और अर्थ एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं।[१९] अर्थ का धारक स्फोट है, जिसके दो पक्ष होते हैं। एक पक्ष वह है जो अभिव्यक्त होता है और ध्वनिओं द्वारा जाना जाता है, दूसरा पक्ष अर्थ का धारक है, इसे प्रत्यायक अथवा प्रकाशक कहते हैं। स्फोट शाश्वत पक्ष है और प्रकाशक पक्ष अर्थात् ध्वनियाँ क्षणिक हैं। स्फोट एक एवं अविभाज्य है, इसकी वर्णो, शब्दों एवं वाक्यों में अभिव्यक्तियाँ अनेक एवं असत् हैं। अतः स्फोट सत् है और इसकी विशेष अभिव्यक्तियाँ असत् है, किन्तु ये विशेष अभिव्यक्तियाँ ही स्फोट को समझने के साधन हैं।

भर्तृहरि के विचारों का उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि वे एक अद्वैतवादी दार्शनिक है, किन्तु भर्तृहरि का अद्वैत दर्शन वादारायण एवं अन्य ब्रह्मवादिओं से भिन्न है। वे शब्दज्ञान द्वारा ब्रह्म तक पहुँचने की वकालत करते हैं, अतः वे सत् ही विवेचन के आधार पर एक भाषा दार्शनिक प्रतीत होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे शब्दों एवं वाक्यों के विश्लेषण से प्रत्ययों के स्पष्टीकरण करने का प्रयास कर रहे हैं। किन्तु उनके प्रयासों की सही एवं समुचित समझ उनके अद्वैत दर्शन पर ले जाती है। वे अद्वैतवेदान्ताओं की भाँति शब्द ब्रह्म को परमतत्व के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं, विश्व को उस परमतत्व का विवर्त मानते हैं, आत्मानुभव के द्वारा उस तत्व को प्राप्त करने की शिक्षा देते हैं और ब्रह्मवादिओं की भाँति ही कोई तर्क द्वारा परम् सत् तक पहुँचने को असंभव बतलाते है। अतः हमें उनको अद्वैतवादी कहने में संकोच नहीं है। फिर भी कतिपय विद्वान उन्हें अद्वैतवादी नहीं स्वीकार करते। वे उन्हें व्याकरण दार्शनिक, शब्दार्थ दार्शनिक और उनके दर्शन को स्फोट दर्शन अथवा निरपेक्ष शब्द दर्शन इत्यादि कहते हैं। उदाहरण के लिये भर्तृहरि के स्फोटवाद को वाचस्पति मिश्र वेदवाह्य दर्शन कहते है और वाचस्पति मिश्र के आधार पर ही प्रो. पाठक भर्तृहरि को बौद्ध दार्शनिक घोषित करते हैं।[२०] परन्तु काश्मीर शैव-दर्शन के प्रवक्ता सोमानन्द और उत्पल भर्तृहरि को अद्वैतवादी सिद्ध करते हैं और जैसा कि हम अगले पृष्ठों में देखेंगे, मंडन मिश्र भर्तृहरि को अद्वैतवादी मानकर चलते हैं। वे कतिपय स्थानों पर अपने विचारों के समर्थन में भर्तृहरि को उद्धृत करते हैं। एच. नाकामुरा, जो स्वयं एक बौद्ध विचारक हैं, भर्तृहरि को बौद्ध दार्शनिक नहीं स्वीकार करते। उनका कहना है कि भर्तृहरि वेदों का आदर करते हैं और वेदान्त के सिद्धान्तों को मानते हैं। भर्तृहरि की मान्यतायें महायान बुद्धिज्म के विपरीत हैं।[२१] अतः आन्तरिक और वाह्य दोनों प्रकार के साक्ष्य यह सिद्ध करते हैं कि भर्तृहरि एक अद्वैतवादी विचारक हैं।

## संदर्भ-सूची

१. देखिये, भगवद्गीता, ८.१३ शंकरभाष्य, ओम इति एकाक्षरं ब्रह्म ब्रह्मणः अभिधानमूतम् ओंकार व्याहरम् उच्चारयन ददर्थभूतं माम् ईश्वरम् अनुस्मरत् अनुचिन्मयम् यः प्रियाति, म्रियते . . .। स एवं त्यजन याति गच्छति परमां प्रकृष्टां गतिम्।

२. ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्नामनुस्मरन। गीता ८.१३
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमाय् गतिम्।।

३. ओमित्येतदक्षरमिदयँ सर्व तस्योपव्याएयानं भूतं भवम्दिविष्यदिति सर्वमोड़कार एव। माण्डूक्योपनिषद्, शंकरभाष्य १.१।

४. सत्सु तु वेदान्तवाक्येषु, जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थ ग्रहणदादर्थायानुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवन्न निवार्यते। देखिये, ब्रह्मसूत्र के दूसरे सूत्र पर शंकरभाष्य।

५. तैत्तरीय ब्राह्मण, २.२.४.२।

६. नाम रूपं च भूतानां कर्मणा च प्रवर्तनम्। मनुस्मति, १.२१।
वेदशब्देभ्य एवादो पृथक्संस्थाश्च निर्ममे।।

७. अनादिनिधनम् ब्रह्म शब्दतत्त्वम्, यदक्षरम। वाक्यपदीय, १.१
विर्वतते . . . प्रक्रिया जगतो यतः।।

८. वही, स्वोपज्ञ टीका, १.१।

९. एष सर्वेश्वर। एष सर्वज्ञः। एषो अर्न्तयामी, माण्डूक्योपनिषद्, शंकराभाष्य, ६।

१०. परिणायोनाम उपादान समसत्ताक-कर्यापत्तिः। वेदान्त परिभाषा, पृष्ठ १००
विवर्तो नाम उपादान विषमसत्ताक कार्यापात्तिः।।

११. देखिये, व्याकरण दर्शन में अद्वैत-विमर्ष, पृष्ठ ३०४-५।

१२. देखिये, इण्डियन आडियलीज्म, पृष्ठ १६५।

१३. देखिये, प्री शंकर अद्वैतफिलासफी, डॉ. संगमलाल पाण्डेय, पृष्ठ ३४०।

१४. नामावो जायते भावो नीति भावोनपाख्यताम्। वाक्यपदीय, ३.३.६१
एकस्मादातमनोनत्यो भावाभावौ विकल्पितो।।

१५. एकस्य तत्त्वाद प्रच्युतस्यभेदानुकारेण, असत्यविभक्ता ऽन्यरूपोपमनहिता विवर्तः स्वप्नविषयप्रतिमासवत्। उक्त च-मूर्तिक्रियाविवर्तो अविद्याशक्तिप्रवृत्तिमात्रम् तौ विद्यात्मनि तृवात्यत्वोम्याम अनारयेयौ। एतद्धि अविद्यया अविद्यात्वम इति वाक्यपदोय, सोपज्ञ टीका, १.१।

१६. देखिये, वाक्यपदीय, टीका, १.४।

१७. देखिये, इण्डियन फिलासफी भाग २ डॉ. राधाकृष्णन्।

१८. वैखरयाम कृतो नादः परशवणगोचरः।
वाक्यपदीय मध्यमा कृतो नादः स्फोठव्यन्जक उद्धते।।

१९. एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थवपृथक स्थितौ, वाक्यपदीय II, ३१।

२०. देखिये, प्री शंकर अद्वैत फिलासफी, संगमलाल पाण्डेय, पृष्ठ २३३-३४।

२१. देखिये, वहीं पृष्ठ ३३५।

❑❑❑

## मंडन मिश्र

यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भतृहरि शंकर से पहले हुये हैं, किन्तु मंडन मिश्र के सम्बन्ध में यह कहना आसान नहीं है। इसका एक कारण यह भी है कि शंकर ने अपनी रचनाओं में कहीं पर भी मंडन मिश्र का उल्लेख नहीं किया है। इस सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि यदि मंडल शंकराचार्य के पूर्ववर्ती होते तो शंकर मंडन जैसे विद्वान का कहीं न कहीं, किसी न किसी संदर्भ में उल्लेख अवश्य करते। इसके विपरीत एक तथ्य यह भी है कि मंडन की रचनाओं में भी शंकर का उल्लेख कहीं पर प्राप्त नहीं होता। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि या तो शंकर मंडन मिश्र के पूर्ववर्ती नहीं है अथवा मंडन ने शंकर के विचारों को महत्वपूर्ण नहीं समझा। प्रस्तुत लेखक के विचार में प्रथम विकल्प ही अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है क्योंकि शंकराचार्य जैसे मनीषी की उपेक्षा मंडन के लिये संभव नहीं होती।

उपर्युक्त युक्ति के अतिरिक्त एक अन्य तथ्य भी विचारणीय है। शंकरोत्तर प्रायः सभी अद्वैतवेदान्तिओं ने मंडन मिश्र के विचारों का उल्लेख किया है। उदाहरण के लिये सुरेश्वराचार्य, जो शंकर के प्रमुख शिष्यों में हैं, मंडन के विचारों का खंडन करते हैं। सुरेश्वराचार्य के शिष्य सर्वज्ञातमुनि का तो यहाँ तक कहना है कि मंडन मिश्र का अद्वैतवेदान्त अलग ही है।[१] भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भामती' में मंडन मिश्र के विचारों को स्थान दिया है। शंकर के कतिपय अनुयायी तो वाचस्पति मिश्र का मंडन को पिछलग्गू कहते हैं। उनके अनुसार वाचस्पति न तो बादरायण का ब्रह्मसूत्र समझते हैं और न शंकर का शारीरिक भाष्य ही।[२] इस विवरण से यह निष्कर्ष तो निकाला ही जा सकता है कि उस समय मंडन का प्रभाव शंकर से कम नहीं था, किन्तु यह सत्य है कि बाद में शंकर के विचारों ने भारतीय दार्शनिक जगत को आच्छादित कर लिया और मंडन के विचार एक ऐतिहासिक वस्तु बन कर रह गये।

मंडन के समय के सम्बन्ध में डॉ. दास गुप्त के विचारों का उल्लेख यहाँ असमीचीन नहीं है। डॉ. दास गुप्त मंडन को शंकर का परकालीन मानते हैं, उनका कहना है कि 'चाहे मंडन कोई भी हो, परन्तु चूँकि वह शंकर (८२० ई.पू.) के परकालीन थे, अतः नवम् शतक के मध्य से पूर्वतर नहीं रहे होंगे।'[३] इस साक्ष्य के आधार पर यदि शंकर का समय ८२० ई.पू. तक माना जाय और मंडन मिश्र का नवम् शतक के मध्य तक तो यह कहा जा सकता है कि मंडन और शंकर लगभग समकालीन थे। यह वास्तविकता है कि इन महापुरूषों के जीवन से सम्बन्धित प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इनके परकालीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में जो इनके सम्बन्ध में उल्लेख किया है, उसी साक्ष्य के आधार पर इनके समय का अनुमान लगाया जाता

है, जिसे संभाव्य ही कहा जा सकता है। मंडन की रचनाओं में शंकर के पूर्ववर्ती विचारकों का उल्लेख तो है, किन्तु शंकर के परवर्ती आचार्यों का उल्लेख मंडन की रचनाओं में नहीं है। अतः वर्तमान लेखक का भी यही विचार है कि मंडन और शंकर समकालीन हैं। दीर्घायु होने के कारण मंडन शंकर के बाद भी कतिपय वर्षों तक जीवित रहे होंगे।

वेदान्त के साहित्य के अवलोकन से मंडन द्वारा लिखित निम्नलिखित ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। मीमांसानुक्रमणिका, भावनाविवेक, विधिविवेक, स्फोटसिद्धि, भ्रिमविवेक, ब्रह्मसिद्धि और कुमरिल के तन्त्रवार्तिक पर भाष्य। इनमें से 'ब्रह्मसिद्धि' नामक ग्रन्थ ही प्रस्तुत विषय के लिये अधिक उपयोगी है। अतः इसी ग्रन्थ में प्रतिपादित मंडन के विचारों का संक्षिप्त विवरण देने का प्रयास किया जायेगा। ब्रह्मसिद्धि ग्रन्थ में चार अध्याय हैं, ब्रह्मकांड, तर्ककांड, नियोगकांड एवं सिद्धिकांड। ऐसा माना जाता है कि मंडन ने ब्रह्मसिद्धि के पहले अध्याय का नाम 'ब्रह्मकांड' भर्तृहरि से प्रभावित होकर ही रखा क्योंकि भर्तृहरि के ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' के प्रथम अध्याय का नाम भी ब्रह्मकांड है।[४] मंडन पर भर्तृहरि का प्रभाव इसलिये भी देखा जा सकता है कि मंडन ने अपनी ब्रह्मसिद्धि में भर्तृहरि के वचनों को उदघृत किया है।

यहाँ पर एक बात और विचारणीय है कि मंडन की रचनाओं में 'स्फोटसिद्धि' और कुमारिल के वार्तिक पर भाष्य भी शामिल हैं। स्फोटसिद्धि की रचना यह सिद्ध करती है कि मंडन भर्तृहरि से प्रभावित हैं क्योंकि मंडन के पहले भर्तृहरि ने ही स्फोटवाद के सिद्धान्त की वृहद व्याख्या की है। यही नहीं, स्फोटवाद के सहारे ही भर्तृहरि ने अक्षरब्रह्म तक पहुँचने का प्रयास किया। मंडन तो श्रुति वाक्यों की अपनी व्याख्या में भर्तृहरि के भाषादर्शन की सहायता भी लेते हैं। उदाहरण के लिये 'नेति नेति' वाक्यांश की व्याख्या में मंडन भर्तृहरि के विचारों पर ही विश्वास करते हैं।[५] इसके अतिरिक्त कुमारिल के वार्तिक पर भाष्य उन पर मीमांसा दर्शन से जुड़ने का स्पष्ट संकेत देता है। दार्शनिक जगत में प्रचलित किवदन्तियां भी मंडन को, अद्वैतवेदान्ती बनने के पहले, मीमांसक के रूप में ही सिद्ध करती हैं। इन किवदन्तिओं से मेरा संकेत उस किवदन्ती की ओर है, जिसमें मंडन और शंकर के बीच शास्त्रार्थ होने की बात कही जाती है। यद्यपि इस किवदन्ती के लिये कोई निश्चित साक्ष्य नहीं है, किन्तु समाज में प्रचलित कोई भी किवदन्ती नितान्त आधाररहित नहीं होती। अतः इस सम्बन्ध में हमारा निष्कर्ष यह है कि मंडन एक अद्वितीय प्रतिभावान विचारक थे। इसलिये उनका एक दर्शन पद्धति के अतिरिक्त अन्य दर्शन पद्धतिओं से जुड़ना कोई असामान्य बात नहीं है। जिस प्रकार भामती संप्रदाय के प्रणेता वाचस्पति मिश्र निष्ठावान अद्वैतवेदान्ती होते भी प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक पद्धतिओं से जुड़े हैं, उसी प्रकार मंडन मिश्र को भी देखा जा सकता है। मंडन का अन्तिम पड़ाव वेदान्त

ही है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। इसे हम उनके विचारों का क्रमिक विकास भी कह सकते हैं।

'ब्रह्मसिद्धि' के चार अध्यायों में से केवल दो अध्यायों का ही अद्वैत से सीधा सम्बन्ध है। ये अध्याय हैं - ब्रह्म-कांड और तर्क-कांड। ब्रह्मकांड में मंडन ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार परमसत् एक है, वह अद्वैत है। मंडन के अनुसार ब्रह्म एवं अस्तित्व समानार्थक हैं। मंडन मानते हैं कि ज्ञान के सभी साधन ब्रह्म को सिद्ध करते हैं, जो ब्रह्म नहीं है, उसे ज्ञान का कोई साधन सिद्ध नहीं कर सकता। अतः जो कुछ भी है वह ब्रह्म ही है, ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है।

मंडन मिश्र ब्रह्मकांड में परम सत् का प्रतिपादन करने के लिये दृष्टा और दृश्य का विवेचन करते हैं और उन्हें आभास मात्र सिद्ध करते हैं। यदि दृष्टा और दृश्य का भेद सत्य होता तो उन दोनों में कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता था।[६] यदि विकल्परूप में दृष्टा होता तो समस्त दृश्य पदार्थ केवल आत्मा पर भ्रान्तिरूप से अध्यारोपित होते और दृष्टा की सत्यता ही अनुभव में आती। अन्तःकरण के स्पन्दन से दृष्टा दृश्य का भेद उत्पन्न होता है। यह अन्तःकरण कुछ भी हो और इसकी प्रकृति चाहे जैसी हो, किन्तु शुद्ध निर्विकार चैतन्य इसके अलावा इसमें भासित होने वाले पदार्थों के विकार के साथ विकृत नहीं होता है। आत्मा कूटस्थ और ध्रुव है। अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होने पर उसमें विकास की प्रतीति होती है। वस्तुतः पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता, केवल प्रत्यक्ष का आभास ही रहता है। यदि दृश्य पदार्थों का वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं होता है तो आत्मा से स्वतंत्र उनका अस्तित्व मानना भूल है। जैसे दर्पण में मनुष्य अपना प्रतिबिम्ब अपने से पृथक देखता है, वैसे ही आत्मा नाना विषय अपने से बाहर देखती है।[७] कोई विषय चैतन्य से बाहर हो ही नहीं सकता, क्योंकि उस अवस्था में वह दुःखगाह्य होगा।[८] इस प्रकार हम देखते हैं कि मंडन विषय और विषय का तात्विक भेद स्वीकार नहीं करते। यह भेद केवल प्रतीति अर्थात् आभास मात्र है। वास्तविक अस्तित्व केवल विषयी का है। वही सार्वभौम आत्मा है। वही परम सत् है। मंडन के अनुसार यदि हमें अपने अनुभव की व्याख्या करनी है, तो दृष्टा एवं दृश्य के भेद को मिटाना ही होगा।

मंडन विषय और विषयों के ही भेद को समाप्त नहीं करते, किन्तु वे विश्व में भिन्न प्रतीत होने वाले पदार्थों के भेद को भी अस्वीकार करते हैं। वे समस्त भेदों के पीछे विद्यमान केवल एक अस्तित्व को ही मानते हैं। पदार्थों के बीच दिखाई देने वाले भेद को अस्वीकार करने के लिये मंडन का मुख्य तर्क यह है कि भेद हमको किसी भी प्रमाण से प्राप्त नहीं होता। सर्वप्रथम वे प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में कहते हैं कि प्रत्यक्ष हमें केवल दो वस्तुओं के अस्तित्व का ज्ञान देता है, उनके भेद का नहीं क्योंकि दो

पदार्थों के बीच भेद का तात्पर्य है, उनका एक दूसरे से भिन्न होना, और यह 'भिन्नता' इन्द्रियगोचर नहीं होती। इन्द्रियां तो हमें दो भिन्न पदार्थों के अस्तित्व का ही ज्ञान देती हैं। प्रत्यक्ष में 'भिन्नता' और इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं होता है,[९] इसीलिये प्रत्यक्ष के द्वारा भेद का ज्ञान प्राप्त करना असंभव है।

मंडन के अनुसार अनुमान के द्वारा भी भेद की उपलब्धि नहीं होती। अनुमान ज्ञान 'लिंग' पर निर्भर करता है। भेद एक निषेधात्मक तत्व है, अतः उसके लिंग पर या हेतु का प्रत्यक्ष होता ही नहीं है, और बिना हेतु के प्रत्यक्ष के अनुमान की प्रक्रिया पूर्ण नहीं होती। अतः अनुमान द्वारा भेद की प्राप्ति नहीं की जा सकती।[१०]

प्रर्थापत्ति के द्वारा भी 'भेद' को नहीं प्राप्त किया जा सकता है। कार्य के ज्ञान से उपपादक (कारण) का ज्ञान ही अर्थापत्ति कहलाता है। मंडन कहते हैं कि अर्थापत्ति में हम एक सिद्ध तथ्य के कारण की खोज करते हैं, किन्तु यह तो प्रसिद्ध तथ्य हैं, अतः उसकी व्याख्या कैसे की जा सकती है।[११] इस प्रकार 'भेद' को प्राप्त करने के लिये अर्थापत्ति का उपयोग ही नहीं किया जाना चाहिये।

मंडन उपमान के द्वारा भी 'भेद' का ज्ञान संभव नहीं मानते। उपमा या सादृश्य के आधार पर प्राप्त ज्ञान को उपमान कहते हैं।[१२] महर्षि गौतम के अनुसार अप्रद्धिनामा पदार्थ में प्रसिद्धनाम पदार्थ के साद्दश्य ज्ञान को उपमान कहते हैं।[१३] उपमान को 'भेद' के ज्ञान को साधन मानने के विरोध में मंडन का कहना है कि उपमान तो स्वयं प्रत्यक्ष पर आधारित है और प्रत्यक्ष द्वारा भेद को नहीं प्राप्त किया जा सकता है, इसीलिये उपमान भी भेद के ज्ञान में प्रमाण नहीं बन सकता।

मंडन अनुपलब्धि के सम्बन्ध में भी विचार करते हैं। भेद की प्राप्ति के लिये वे अनुपलब्धि को भी अयोग्य ठहराते है। सामान्यरूप से यह स्वीकार किया जाता है कि अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा अभाव का ग्रहण होता है। अभाव का ज्ञान किसी अन्य प्रमाण से संभव नहीं, किन्तु मंडन का मानना है कि अनुपलब्धि के द्वारा प्रभाव का ज्ञान नहीं होता। यदि प्रभाव का ज्ञान अनुपलब्धि के द्वारा संभव होता तो सुषुप्ति की दशा में भी अभाव का ज्ञान संभव होता है।[१४] मंडन का यह भी कहना है कि यदि भेद का ज्ञान अनुपलब्धि के द्वारा संभव होता तो 'भेद' की उपस्थिति पहले से माननी पड़ेगी, परन्तु ऐसी कोई उपलब्धि पहले से नहीं होती है।

मंडन श्रुतिवाक्यों द्वारा भी भेद के ज्ञान की संभावना से इनकार करते हैं। उनका मानना है कि श्रुतिवाक्य इस समस्त विश्व का निषेध तो करते हैं, किन्तु दो पदार्थों के बीच 'भेद' का ज्ञान हमें नहीं देते। श्रुतिओं में इस विषय पर चर्चा ही उपलब्ध नहीं होती, वे तो इस विश्व का मिथ्यात्व बतला कर संतोष करती हैं। मंडन भेद को वस्तु की विशेषता भी नहीं मानते। वे कहते हैं कि यदि भेद वस्तु की विशेषता होती तो या तो वस्तु और इस विशेषता में तादात्म्य होता या यह विशेषता वस्तु से

भिन्न होती। यदि तादात्म्य होती तो भेद का अभाव होता और वस्तुओं में तादात्म्य होता। यदि वस्तु और उसकी विशेषता में भेद होता तो एक ही वस्तु के दो रूप होते। अर्थात् वस्तु और उसमें तादात्म्य भी होता और वस्तु अपने से भिन्न ही होती। इस प्रकार एक वस्तु एक ही समय में एक भी और अनेक भी होती, परन्तु ऐसा मानना आत्म विरोधी है।

भेद के निराकरण के लिये मंडन द्वारा दी गयी युक्तियों की संक्षिप्त विवेचना यह सिद्ध करती है कि मंडन तर्कनाशक्ति के धनी थे और उनकी इस शक्ति ने उनके बाद में आने वाले अद्वैतवेदान्तिओं को प्रभावित भी किया। डॉ. एस.एन. दास गुप्त का कहना है कि 'शंकर के शिष्यों में मंडन ही ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने तार्किक युक्ति प्रणाली का प्रारम्भ किया और जो तार्किक शक्तियों में अद्वितीय थे और जिन्होंने शंकर शाखा के अन्य सब तर्कशास्त्रियों यथा आनन्दबोध, श्रीहर्ष, आनन्दज्ञान, चित्सुख, नृसिंहाश्रम एवं अन्य को प्रभावित किया।[१५] डॉ. एस.एन. दासगुप्त के उपर्युक्त कथन से वर्तमान लेखक पूर्णतयः सहमत नहीं है। अद्वैतवेदान्त में तर्कना पद्धति का प्रयोग गौडपादाचार्य ने अपनी रचना माण्डूक्यकारिका में किया है, वह निश्चय ही नागार्जुन के द्वन्द्वन्याय से प्रभावित है। मेरे इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि गौडपाद अथवा शंकर छुपे हुये बौद्ध हैं। मेरा विचार है कि बौद्धों के चतुपकोटि न्याय को लेकर अद्वैतवेदान्तिओं ने अपने निष्कर्ष निकाले हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि श्रीहर्ष ने अपनी रचना खंडनखड़खाद्य में स्वयं यह स्वीकार किया है कि उनकी तर्कना पद्धति शून्यवादिओं की है। मंडन मिश्र को भी हम इस प्रभाव का अपवाद नहीं कह सकते क्योंकि मंडन मिश्र ने जिस तर्कनापद्धति को भेद के खंडन के लिये अपनाया है, उसमें और नागार्जुन की तर्कनापद्धति में समानता देखी जा सकती है। अन्य वेदान्तिओं की भांति मंडन भी नागार्जुन की तर्कना पद्धति का उपयोग करके अद्वैतवेदान्ती निष्कर्ष निकालते हैं।

मंडन ने भेद का केवल खंडन ही नहीं किया है वरन् अपनी तर्कना शक्ति का प्रयोग करके अद्वैत तत्व अर्थात् ब्रह्म को सिद्ध भी किया हैं। वे समस्त भेदों के आधार पर एकत्व अर्थात् ब्रह्म को सिद्ध करते हैं। सर्वप्रथम वे प्रत्यक्ष के आधार पर ब्रह्म को सिद्ध करने का प्रयास करते है। मंडन के अनुसार प्रत्यक्ष सदैव साकारात्मक होता है, निषेधात्मक नहीं। इसका तात्पर्य यही है कि प्रत्यक्ष सदैव जो अस्तित्ववान है, उसी का ज्ञान देता है, अभाव का नहीं। अर्थात् जो अस्तित्ववान नहीं है, उसका ज्ञान नहीं देता है।[१६] वे मानते हैं कि प्रत्येक निषेध स्वीकारोक्ति से जुड़ा होता है। ज्ञान सदैव अस्तित्व का होता है, भेद का प्रत्यक्ष ही नहीं होता। भेद सदैव अभेद पर ही आधारित होता है। अभेद से अलग भेद का होना संभव नहीं है। जैसे चन्द्रमा एक है, किन्तु उसके प्रतिबिम्ब अनेक, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न वस्तुयें अनेक है किन्तु उनके पीछे

सत्-वस्तु एक ही है। वह सत्-वस्तु ब्रह्म है। इस प्रकार प्रत्यक्ष का सहारा लेकर मंडन सिद्ध करते हैं कि केवल एक ब्रह्म का ही अस्तित्व है और सभी वस्तुयें प्रतीति मात्र हैं।

उपर्युक्त युक्ति के अतिरिक्त मंडन ब्रह्म को सिद्ध करने के लिये विश्वरचनापरक युक्ति भी देते हैं। यह कासमोलजिकल तर्क भारतीय एवं पश्चिमी दर्शनों में भलीभांति उपलब्ध है। मंडन से पहले न्यायसूत्रों में यह युक्ति देखी जा सकती है। न्याय दर्शन में सृष्टि से स्रष्टा के अस्तित्व को सिद्ध करने को ही कासमोलाजिकल तर्क कहा गया है, किन्तु मंडन ने इस युक्ति को कुछ भिन्न अर्थ में लिया है। मंडन कहते हैं कि इस विश्व का मूलाधार अभाव नहीं हो सकता। इसका आधार एक अद्वैत तत्व है क्योंकि कार्य कारण से भिन्न नहीं होता, जैसे घड़ा मिट्टी से भिन्न नहीं है। अतः कार्य का अस्तित्व कारण के अस्तित्व से परे नहीं होता।[१७] अतः विश्व का अस्तित्व भी अपने कारण के अस्तित्व से अलग नहीं है। अतः केवल एक ही अस्तित्व है और वह ब्रह्म है।

मंडन यह भी तर्क देते हैं कि अस्तित्व सर्वोच्च वर्ग (जीनस) है और विशेष वस्तुओं और व्यक्तिओं का अस्तित्व उसी में और उसी के द्वारा है।[१८] यह उस एक की महानता है कि वह अनेक रूपों में प्रतीत होता है। अतः वास्तविक रूप में तो वही एक सत्ता है, जिसका आश्रय पाकर सब टिके हुये हैं। यह अनेकता भिन्न होते हुये भी उसी अस्तित्व से अभिन्न प्रतीत हो रही है। अन्त में मंडन श्रुति के आधार पर भी ब्रह्म को सिद्ध करते हैं। वे कहते हैं कि समस्त विश्व ब्रह्म में ही विलीन हो जाता है। विश्व में प्रतीत होने वाला भेद अन्ततोगत्वा उसी में मिट जाता है। अतः ब्रह्म ही एकमात्र सत् है।[१९]

मंडन के अनुसार श्रुतिओं के निषेध परक वाक्य इस विश्व के अस्तित्व का निराकरण करते हैं, इसीलिये उपनिषदों के वाक्यों के अर्थ को समझने के लिये किसी अन्य लक्षण की आवश्यकता ही नहीं है। वास्तव में निषेध की स्वीकृति मंडन के अद्वैत सिद्धान्त को हानि नहीं पहुँचाती क्योंकि मंडन का अद्वैत ब्रह्म अन्य वास्तविक (पाजिटिव) तत्वों का निराकरण अवश्य करता है, किन्तु निषेधात्मक तत्व का निराकरण नहीं करता। अतः उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य एक वास्तविक तत्व है और वह तत्व ब्रह्म ही है। इस विश्व का एकमात्र आधार ब्रह्म ही है।

यहाँ यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि ब्रह्म को सिद्ध करने के लिये और भेद को अस्वीकार करने हेतु जो तर्क मंडन ने दिये हैं, उनका उनके बाद में आने वाले अद्वैतवेदान्तिओं पर बहुत प्रभाव पड़ा। इस सम्बन्ध में भामतीकार वाचस्पति मिश्र ने तो यहाँ तक कहा है कि जिसने मंडन की 'ब्रह्मसिद्धि' को समझ लिया है, वह ब्रह्म

को सिद्ध करने के लिये दिये गये सत्तामूलक तर्क को अवश्य समझेगा। वह यह समझेगा कि ब्रह्म ही एक सार्वभौम आकार के रूप में सभी पदार्थों में विद्यमान है।[२०]

अद्वैतवेदान्त का दूसरा महत्वपूर्ण विचार माया अथवा अविद्या का है। माया और अविद्या के विषय में भी मंडन के विचार अपनी विशिष्टता लिये हुये हैं। मंडन के अनुसार अविद्या ब्रह्म का स्वभाव नहीं है, किन्तु वह ब्रह्म से पृथक भी नहीं है। वे अविद्या को न अस्तित्ववान मानते हैं और न अस्तित्वविहीन स्वीकार करते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि यदि अविद्या अस्तित्ववान है, तो वह सत् होगी और यदि अस्तित्वविहीन है तो वह आकाशकुसुम की भांति अलीक होगी। यदि वह अलीक है तो व्यवहार-बीज नहीं हो सकती, वह विश्व के पदार्थों की प्रतीति की जनक भी नहीं बन सकेगी, अतः मंडन अविद्या को अनिवर्चनीय मानते हैं।[२१]

मंडन मिश्र अविद्या का आश्रय ब्रह्म को नहीं मानते हैं। वे जीव को इसका आश्रय मानते हैं। वे स्वीकार करते हैं कि इस मत में अन्तर्विरोध है, इसलिये वह उपपद्यमान नहीं है, किन्तु फिर भी वे यह तर्क देते हैं कि अविद्या एक अन्तर्विरोधी वस्तु है, वह अनिर्वचनीय है। शंकर की भांति मंडन भी यह स्वीकार करते हैं कि जीव अपने मूल रूप में ब्रह्म है, किन्तु अपनी कल्पना के कारण वे अनेक हैं।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उठता है कि यह कल्पना जीव की है या ब्रह्म की। मंडन के अनुसार जीव कल्पना नहीं कर सकता क्योंकि वह तो स्वयं कल्पना की उत्पत्ति है।[२२] इसे ब्रह्म की कल्पना भी नहीं मान सकते, क्योंकि ब्रह्म तो कल्पना शून्य है।[२३] इसके अतिरिक्त यदि ब्रह्म में कल्पना मान ली जायेगी तो ब्रह्म की पूर्णता को आघात पहुँचेगा। इस प्रश्न के समाधान के लिये मंडन दो तर्क प्रस्तुत करते हैं। प्रथम उत्तर यह है कि माया स्वयं व्याघातपूर्ण है, तभी यह व्याघात अनुभव में आता है।[२४] दूसरा तर्क यह है कि अविद्या से जीव की उत्पत्ति होती है और जीव से अविद्या की। जीव और अविद्या अनादि है, इसीलिये दोनों में से किसी एक को पहले नहीं कहा जा सकता।[२५]

मंडन की 'ब्रह्मसिद्धिः' के समुचित अध्ययन से एक और तथ्य प्रकाश में आता है। मंडन के माया सम्बन्धी विचार उन्हें एक विशेष प्रकार के अद्वैत का प्रतिपादन करने वाला बना देते हैं। मंडन के दर्शन में माया एक निषेधात्मक तत्व के रूप में सामने आती है। इसीलिये वे असत् (नानबींग) में भी कुछ अस्तित्व (बींग) देखते हैं। वे मानते हैं कि इस असत् का ब्रह्म से भिन्न अस्तित्व है। यदि असत् का अस्तित्व मान लिया जाता है तो मंडन के सिद्धान्त में द्वैत के तत्व का समावेश होगा, किन्तु मंडन के अनुसार इस असत् का अस्तित्व उनके ब्रह्मद्वैत को प्रभावित नहीं करता। उनके अद्वैत का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म के अतिरिक्त किसी विधायक तत्व का अस्तित्व नहीं है। इसीलिये मंडन के सिद्धान्त को सत्ताद्वैत अथवा भावाद्वैत कहा जाता

है। अब हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि क्या मंडन की ब्रह्मसिद्धिः में माया को एक निषेधात्मक सत् के रूप में स्वीकार किया गया है?

इस सम्बन्ध में यदि हम मंडन की रचना 'ब्रह्मसिद्धिः' के चौथे अध्याय अर्थात् सिद्धिकांड को देखें तो हम उनके भावाद्वैत सम्बन्धी विचारों की पुष्टि पाते हैं।[२६] वहाँ मंडन विश्व-प्रपंच्च के पूर्ण निषेध की शिक्षा देते है और यह निरपेक्ष निषेध ही 'नेति-नेति' जैसे श्रुति शब्दों का अर्थ है। इस निरपेक्ष निषेध को किसी अन्य में रूपान्तरित नहीं किया जा सकता। यह प्रपंच्चभाव सत् का अंश है अर्थात् इसमें सत् का अंश है। मंडन के भावाद्वैत की व्याख्या करते हुये ब्रह्मानन्द सरस्वती का कहना है कि प्रपंच्चाभावः एवं अविद्याध्वसं मंडन के लिये दो ऐसे निषेध हैं, जिन्हें सत् स्वीकार करना चाहिये। ये दोनों तात्विक हैं और ब्रह्मानुभव होने पर भी समाप्त नहीं होते। विश्व के मिथ्यात्व में निहित निषेध की एक प्रकार से स त्ता है और जो इस विश्व से श्रेष्ठ है। इस प्रकार प्रपंच्चभाव एवं अविद्याध्वंस मंडन के भावाद्वैत को हानि नहीं पहुँचाते।[२७]

अपनी ब्रह्मसिद्धिः के कतिपय स्थानों पर मंडन यह स्वीकार करते हैं कि अभाव ज्ञान का विषय है।[२८] वह एक प्रकार का सत् है, यह सत् अस्तित्व से भिन्न भी है। अतः अभाव यदि ज्ञान का विषय है और सत् है तो वह किसी न किसी रूप में अस्तित्ववान भी होगा। यहाँ पर यह कहना अनावश्यक नहीं है कि शंकर के अनुसार अभाव की भिन्न सत्ता नहीं है, जिसके कारण अविद्यानिवृत्ति अभाव नहीं है। शंकर के अनुसार अविद्यानिवृत्ति का अर्थ ब्रह्म है। परन्तु मंडन के अनुसार अविद्या निवृति अभाव है, अतः सत् भी है। यह अभाव निषेध रूप होने के कारण ब्रह्म के एकत्व को हानि नहीं पहुँचाता। मंडन मानते हैं कि ब्रह्म के एकत्व का अर्थ यह है कि केवल ब्रह्म ही निश्चयात्मक सत्ता है। मंडन के लिये द्वैत अभाव का अर्थ यही है कि ब्रह्म के अलावा समस्त विध्यात्मक सत्ताओं का अभाव है। यही उनका भावाद्वैत है।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने यह कहने का प्रयास किया है कि अविद्यानिवृत्ति एवं प्रपंच्चाभाव ऐसा निषेध है जो किसी अन्य में रूपान्तरित नहीं किया जा सकता एवं यह सत् के रूप में ब्रह्म के समानान्तर तत्व प्रतीत होता है। किन्तु मंडन की 'ब्रह्मसिद्धि' में कुछ ऐसे भी स्थल है, जहाँ पर मंडन अविद्यानिवृत्ति का अर्थ विद्या अथवा ब्रह्मज्ञान से लेते हैं।[२९] मंडन के ऐसे वचनों के प्रति हमारा यही कहना है कि मंडन प्रपंच्चभाव को निश्चय ही अभाव के रूप में लेते हैं। यह एक ऐसा निषेधपरक सत् है जो मंडन के अनुसार श्रुति वाक्यों से भी निःसृत होता है। इस निषेध के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। मंडन ऐसे किसी प्रमाण का उल्लेख नहीं करते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में हमारा यह कहना है कि मंडन श्रुति में विश्वास

करते हैं और श्रुतियां निरपेक्ष निषेध के विषय में ज्ञान देती हैं। निरपेक्ष निषेध का प्रमाण श्रुतियां हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों में वर्णित मंडन के विचार उनकी रचना 'ब्रह्मसिद्धिः' के प्रथम दो अध्यायों पर आधारित हैं अर्थात् ब्रह्मकांड एवं तर्ककांड। इस ग्रन्थ में दो अन्य अध्याय भी हैं - नियोगकांड एवं सिद्धिकांड। नियोगकांड सबसे बड़ा अध्याय है जबकि सिद्धिकांड सबसे छोटा। ब्रह्मकांड ३८ पृष्ठ का है, तर्ककांड ३५ पृष्ठ, नियोगकांड ८२ पृष्ठ का, जबकि अन्तिम सिद्धिकांड केवल ४ पृष्ठ का ही है। 'ब्रह्मसिद्धि' के तीसरे अध्याय अर्थात् नियोगकांड में मंडन मीमांसकों के इस दावे का तर्कपूर्ण ढंग से खंडन करते हैं कि श्रुति वाक्य हमें केवल विधि निषेध का ही ज्ञान देते हैं। समस्त उपनिषद वाक्य कर्म करने या न करने से ही सम्बन्धित हैं। इस सम्बन्ध में हम यही कह सकते हैं कि यह मंडन के दार्शनिक विचारों के विकास के प्रथम चरण से सम्बन्धित है। मंडन अपने दार्शनिक विचारों के प्रथम चरण में घोर मीमांसक कुमरिल भट्ट के अनुयायी रहे हैं, किन्तु जब अपने जीवन के अन्तिम पड़ाव पर वेदान्ती बने, तब उन्होंने मीमांसकों की आधारभूत मान्यताओं का खंडन किया। चौथे अध्याय अर्थात् सिद्धिकांड में मंडन यह सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी का अस्तित्व नहीं है। अतः इस विश्वप्रपंच्च के अस्तित्व को मंडन केवल प्रतीति मात्र मानते हैं। जीव को इस प्रपंच्च की प्रतीति अविद्या के कारण होती है।

मंडन के अद्वैतवेदान्ती विचारों को समझने के प्रयास एवं उनके ग्रन्थ 'ब्रह्मसिद्धि' के अध्ययन के प्रयास के बाद एक बात स्पष्ट हो जाती है कि मंडन का अद्वैत दर्शन शंकर के शिष्य बनने का परिणाम नहीं है। इसका एक मुख्य कारण यह है कि मंडन का अद्वैत शंकर-पूर्व प्रचलित अद्वैतवेदान्त पर आधारित है। वे आत्मविश्वास एवं आत्मसंतोष से पूर्ण स्वतंत्र विचारक के रूप में अपने विचारों को व्यक्त करते हैं। उनकी कृति 'ब्रह्मसिद्धिः' हमारे इस विचार की पुष्टि करती है। इस ग्रन्थ में कहीं पर भी मंडन शंकर के ऋणी रूप में हमारे सामने नहीं आते। इसके अतिरिक्त कतिपय महत्वपूर्ण विषयों पर मंडन एवं शंकर में मतभेद देखा जा सकता है। 'ब्रह्मसिद्धि' में मंडन ने कहीं पर भी शंकर के विचारों की[३०] सहायता नहीं ली है, जबकि वे श्रुतिओं का सहारा लेते हैं और भर्तृहरि के विचारों से भी अपने विचारों को पुष्ट करते हैं। वे गौडपाद को भी साथ लेने का प्रयास करते हैं।[३१] मंडन एवं शंकर के विचारों में निम्नलिखित भेद खोजे जा सकते हैं।

सर्वप्रथम यह कहा जा सकता है कि मंडन भर्तृहरि के स्फोटवाद से सहमत हैं। अपनी रचना स्फोट-सिद्धि में वे भर्तृहरि के शब्दाद्वैत को ग्रहण करते हैं और उसे अपनी 'ब्रह्मसिद्धिः' के प्रारम्भ में अद्वैत-सिद्धान्त में समायोजित करते हैं।[३२] मंडन शब्दाद्वैत को आदरपूर्ण ग्रहण करते हैं। शंकर मंडन के इस विचार से सहमत नहीं

है और वे भर्तृहरि के स्फोटवाद का खंडन करते हैं और भर्तृहरि के स्फोट सिद्धान्त को त्याज्य मानते हैं।[३३]

शंकर मंडन मिश्र के भावद्वैव से कदापि सहमत नहीं है, जबकि मंडन अपनी ब्रह्मसिद्धिः में भावाद्वैत का प्रतिपादन करते हैं। मंडन के भावाद्वैत सम्बन्धी विचारों को हमने पहले के पृष्ठों में देखा है। शंकर एक विध्यात्मक तत्व अर्थात् ब्रह्म को ही स्वीकार करते हैं, जबकि मंडन निरपेक्ष निषेध को भी विध्यात्मक ब्रह्म के समानान्तर तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार निषेधरूपी तत्व विध्यात्मक तत्व को बिल्कुल हानि नहीं पहुँचाता। श्रुति के निषेधात्मक वाक्यों का अर्थ शंकर इस विश्वप्रपंच्च के निषेध एवं ब्रह्म के विध्यात्मक स्वरूप के प्रतिपादन के अर्थ में ही लेते हैं। वे ब्रह्म के अतिरिक्त किसी भी विध्यात्मक अथवा निषेधात्मक कोटि को नहीं मानते, जबकि मंडन ब्रह्म के अतिरिक्त निषेधात्मक कोटि की अन्तिम सत्ता स्वीकार कर लेते हैं।

शब्दब्रह्म और अर्थब्रह्म का भेद करते हुये हमने पहले के पृष्ठों में देखा है कि वाक्यपदीय के रचनाकार भर्तृहरि शब्द को ही ब्रह्म स्वीकार करते हैं। वे इस सम्बन्ध में श्रुतिओं के 'ओम' शब्द को स्वीकार करते हैं। इसके विपरीत अर्थब्रह्मवादिओं का मानना है कि श्रुतिवाक्यों का अर्थ ब्रह्म है अर्थात् शब्दब्रह्म को शंकर नहीं मानते, वे अर्थब्रह्मवादी हैं। इसीलिये वे श्रुतिवाक्य को साक्षात रूप से ब्रह्म का ज्ञान देने वाला स्वीकार करते हैं। जबकि मंडन श्रुति वाक्य से साक्षात् ब्रह्मज्ञान को नहीं मानते। वे श्रुतिवाक्य को परोक्ष रूप से ब्रह्मज्ञान देने वाला मानते हैं। शब्द के बाद मनन एवं निदिध्यासन इत्यादि से ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। शंकर के शिष्य सुरेश्वराचार्य भी अपने गुरू शंकर की भांति शब्द से ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान स्वीकार करते हैं।

कभी-कभी श्रुति वाक्यों की व्याख्या के सम्बन्ध में भी शंकर एवं मंडन का मतभेद खुल कर सामने आता है। इस मतभेद का एक स्पष्ट उदाहरण ईशावास्योपनिषद् के ग्यारहवें मन्त्र[३४] की दोनों आचार्यों के द्वारा की गयी व्याख्या है। मंडन द्वारा की गयी इस मन्त्र की व्याख्या शंकर द्वारा की गयी व्याख्या से भिन्न है। मंडन इस मन्त्र की व्याख्या दो प्रकार से करते हैं। मन्त्र के पहले अंश की व्याख्या में मंडन विद्या एवं अविद्या को साधन, साध्य के रूप में लेते हैं।[३५] मन्त्र के दूसरे अंश के सम्बन्ध में मंडन का कहना है कि जब व्यक्ति अविद्या से छुटकारा पाता है तो उसे आत्मोपलब्धि होती है। दूसरी व्याख्या के अनुसार मंडन का मानना है कि मन्त्र का पहला अंश इस ओर इशारा करता है कि अविद्या का अस्तित्व अविद्या के बिना नहीं है, दूसरे अंश के अर्थ में कोई भिन्नता नहीं है। मन्त्र में आये शब्द 'मृत्यु' को मंडन अविद्या के अर्थ में लेते हैं, जबकि विद्या से मंडन का तात्पर्य उस शाश्वत चेतना से है, जिसे ब्रह्म कहते हैं। अविद्या तमाम भेदों से युक्त अनात्मा है। श्रवण, मनन एवं ध्यानामयास से हम

अविद्या के अवरोधक पक्ष को पार कर आत्मानुभव को प्राप्त करते हैं। शंकर मन्त्र में आये शब्द 'अविद्या' का अर्थ अग्निहोत्रादि कर्म से लगाते हैं और 'मृत्यु' शब्द का अर्थ स्वाभाविक कर्म एवं ज्ञान[३६] के रूप में करते हैं। शंकर 'विद्या' शब्द का अर्थ किसी विशेष देवता के ज्ञान एवं 'अमृत' शब्द का अर्थ देवत्व भाव की प्राप्ति से करते हैं।[३७] इक्षावास्योपनिषद् के ग्यारहवें मन्त्र की दोनों आचार्यों द्वारा की गयी व्याख्या का उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन दोनों विचारकों का मतभेद उजागर करने के लिये पर्याप्त है।

मंडन भ्रम की व्याख्या करने में भी शंकर के विचारों से भिन्न मत रखते हैं। भ्रम की व्याख्या में करने भट्टमीमांसकों के विपरीत ख्याति या अन्यथख्याति को स्वीकार कर लेते हैं।[३८] मंडन के अनुसार भट्ट मीमांसकों का उपर्युक्त सिद्ध अनिर्वचनीय ख्याति की भाँति ही भ्रम की व्याख्या करता है। मंडन का विचार है कि भट्टमीमांसकों के अन्यथास्याति अथवा विपरीत ख्याति सिद्धान्त को भ्रम की व्याख्या के लिये वेदान्तिओं द्वारा स्वीकार कर लेना चाहिये।[३९] यह सुविदित है कि शंकर ने भ्रम की व्याख्या करने के लिये भट्टमीमांसकों के उपर्युक्त सिद्धान्त को कभी नहीं अपनाया। वे तो अनिर्वचनीय ख्याति को ही मान्यता देते हैं। अद्वैतवेदान्ती मानते हैं कि अन्यथा ख्याति और अनिर्वचनीय ख्याति में तालमेल नहीं हो सकता। अन्यथाख्याति के अनुसार सीप में चाँदी की प्रतीति है, वह बाजार इत्यादि में अन्यत्र होती है। अनिर्वचनीय ख्याति में यह माना जाता है कि रजत अन्यत्र नहीं होता है वरन् अविद्या के कारण विक्षेप से उत्पन्न होता है। अविद्या के रहने तक वह सत् प्रतीत होता है, जबकि अविद्या के नष्ट होने पर रजत का बोध हो जाता है।

मंडन एवं शंकर के विचारों में भेद का उपयुक्त संक्षिप्त विवेचन यह सिद्ध कर देता है कि मंडन एक स्वतंत्र विचारक हैं। मंडन द्वारा शंकर का शिष्यत्व ग्रहण करने वाली किवदंती को सत्य मानते हुये भी हम यही कह सकते हैं कि शंकर मंडन के दीक्षा गुरू हो सकते हैं, किन्तु शिक्षा गुरू नहीं। आचार्य मंडन ने श्रुतिओं एवं वादरायण के सूत्रों को आधार बना कर एक स्वतंत्र अद्वैतवादी चिन्तन प्रस्तुत किया।

## मंडन की विशिष्टता

मंडन के दर्शन की एक मुख्य विशेषता यह है कि वे अपनी निष्ठा और विचारों को निर्भय होकर व्यक्त करते हैं। वे किसी भी विचारक की आलोचना या प्रशंसा संप्रदायगत प्रभाव के कारण नहीं करते। उदाहरण के लिये कुमारिल के विचारों का अर्थनिरूपण करते समय वे कुमारिल के वफादार प्रतीत होते हैं, किन्तु अद्वैत सिद्धान्त की विशिष्टता को जब वे सही समझते हैं तो कुमारिल के विचारों की आलोचना भी करते हैं। इसी प्रकार भर्तृहरि के शब्दाद्वैत से प्रमाणित होकर भी वे उनके भावना सम्बन्धी संप्रत्यय को अस्वीकार भी कर देते हैं। वे शंकराचार्य के पूर्ण सन्यास सम्बन्धी

विचार से सहमत न होकर आत्मसाक्षात्कार के लिये कर्म एवं उपासना को भी आवश्यक समझते हैं। नैयायिकों के साथ न्याय करते हुये शब्द को सापेक्षिक ज्ञान की प्रक्रिया में महत्व देते हैं, किन्तु निर्गुण ब्रह्म साक्षात्कार उपनिषदों के शब्दों से प्राप्त होने के उपरान्त उस पर सतत् मनन का परिणाम मानते हैं। मंडन सन्यास आश्रम के महत्व को स्वीकार करते हुये उसे गृहस्थाश्रम से श्रेष्ठ नहीं मानते।[४०] वास्तव में मंडन भर्तृहरि, कुमारिल, नैयमिकों इत्यादि के उचित विचारों को महत्व देते हुये अपने विचारों को अद्वैतवेदान्ताओं की विचारधारा में समाहित करते हैं। ज्ञानयज्ञ के अन्तिम चरण में मंडन अद्वैत-सिद्धान्त में निष्ठा व्यक्त करते हैं। इस निष्ठा की अभिव्यक्ति ही उनकी रचना 'ब्रह्मसिद्धि' है। यद्यपि शंकर के निष्ठावान अनुयायी मंडन के इस समन्वयात्मक प्रयास को उनकी कमजोरी कहते है,[४१] किन्तु वर्तमान लेखक के अनुसार मंडन का यह प्रयास उनके दार्शनिक साहस, उचित दृष्टिकोण एवं स्वतंत्र विचार का प्रतिफल है। इसीलिये सुरेश्वराचार्य, मधुसूदन सरस्वती और वाचस्पति मिश्र जैसे शंकर के अनुयायी मंडन से प्रभावित हुये है, विशेषकर भेद के विरुद्ध मंडन द्वारा दिये गये तर्कों को अनेक अद्वैत-वेदान्तिओं ने अपनाया है।

## संदर्भ-सूची


१. देखिये, संक्षेप शारिका, II, १७४।

२. देखिये, प्री शंकर अद्वैत फिलासफी, संगमलाल पाण्डेय, पृष्ठ ३६३।

३. देखिये, ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, भाग २ हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ७८।

४. देखिये, प्री शंकर अद्वैत फिलासफी, पृष्ठ ३५५।

५. देखिये, प्री शंकर अद्वैत फिलासफी, पृष्ठ ३३४।

६. नानात्वे तु विविक्तस्वभावयोर असंसृष्ट परस्वर स्वरूपयोंः सम्बद्धवोः कीदृशो दृष्टदृश्यभावः, ब्रह्मसिद्धिः, मुंडन मिश्र, पृष्ठ ८।

७. तत्त्वेकस्यैवात्मनस्तथा विपरिणामद्विवर्तनाद्वा दर्पणतल इवात्मनः तथा हि दर्पणतलस्थमात्मान विभक्तमिवात्मनः प्रत्येति, वहीं, पृष्ठ ८।

८. 'चिदेस्तु विभक्तमसंसृष्टं तथा चेत्यत इति दुखगमम्', वहीं ८।

९. न सो क्षगोचरः भावामंशेनैव संयोगो योग्यत्वात् इन्द्रियस्यहि, ब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ ५६।

१०. तथा च न लिगंगमयेऽपि अदृश्ट सगंतित्वात्, देखिये, वहीं पृष्ठ ५६।

११. अर्थापत्तिरपि कार्यव्यवस्थाः हेतुका स्यात्, सा अद्धि भेदे कार्यव्यवस्थाया एवानुपत्त्तित्रायुक्ता, वहीं, पृष्ठ ५६।

१२. उपमीयते अनेन इति उपमानम, तत्वसंग्रह।

१३. प्रसिद्धसाधर्म्यति साध्यसाधनमुपमानन् देखिये, न्यायसूत्र, १.१.६।

१४. देखिये, ब्रह्मसिद्धि, मंडन मिश्र, पृष्ठ ५७।

१५. देखिये, ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृष्ठ ८७ (हिन्दी अनुवाद) डॉ. एस. एन. दास गुप्त।

१६. आहुक विधातृ प्रत्यक्षम् न निषेर्घ विश्चितः, ब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ ३६।
१७. मृदरूपेष हि घटाद्र्यो नैकत्वम् अतिक्रामन्ति, वहीं, पृष्ठ १२५।
१८. सत्तायाश्चप्रकतृयेव सतप्रधानत्वात् तदवारेण विशिष्टवस्तुसिद्धिरिति, वहीं पृष्ठ ८५।
१९. देखिये, ब्रह्मसिद्धि, १.२.३।
२०. देखिये, प्री शंकर अद्वैत फिलासफी, डॉ. संगमलाल पाण्डेय, पृष्ठ ४४६।
२१. नाविद्या ब्राह्मणः स्वभाव नार्थान्तरम्, नात्यन्तमसती, नामि सती, एवमेवेयम् विद्या माया मिथ्यावभास इत्युच्यते। स्वमावश्चेत् कस्यचित् अन्योऽनन्यो वो परमार्थ एवेति ना विद्या, अत्यन्तासत्त्वे खपुष्पसदृशी न व्यवहाराङ्ग्म् तस्मादनिर्वचनीयाँ।
२२. नापि जीवानाम कल्पनायाः प्राक् तद्र्भावात, इतरेतर आश्रयप्रसंगात्। वहीं पृष्ठ ८। कलपना धीनौ हि जीवविभागः, जीवाभ्रया कल्पनेति, वहीं पृष्ठ १०।
२३. कस्य पुनः कल्पनाभेदिका? न तावदब्राह्मणाः तस्य विद्यात्मनः कल्पनाशून्यत्वात्। वहीं पृष्ठ १०।
२४. अनुपपद्यमानार्थैव हि माया, वहीं।
२५. अनादित्वादुभयोरविद्या जीवयोर्विजाङकुर सन्तान्योरिव नेतरेतराश्रयत्वम् प्रक्तृप्तिमावतीरिते वर्णयन्ति। वहीं पृष्ठ १०।
२६. प्रपच्सस्य प्रविलयः शब्देन प्रतियाद्यते देखिये ब्रह्मसिद्धिः इन्ट्रोडक्शन, पृष्ठ XIII
२७. देखिये वहीं।
२८. अपि च अभावस्यापि प्रमेयत्वन्न प्रमाणयोग्यता सत्तालक्षणम्, ब्रह्मसिद्धिः पृष्ठ, १६०।
२९. अविस्तमयो मोक्षः सा संसार उदाहृता। विद्यैतव चाद्वया शान्ता तदस्तमय उच्यते। देखिये ब्रह्मसिद्धिः, पृष्ठ ११९।
३०. देखिये ब्रह्मसिद्धिः, पृष्ठ २६।
३१. देखिये ब्रह्मसिद्धिः, पृष्ठ १५०।
३२. आनन्दमेकममृतमजं विज्ञानमक्षरम् ब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ १
असर्व सर्वभयम् नमस्यामः प्रजापतिम्।।
३३. देखिये ब्रह्मसिद्धि मंडन मिश्र, इन्ट्रोडक्शन कुप्पूस्वामी, पृष्ठ २६।
३४. विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वैदोमयग्यह। ईशावास्योपनिषद्।। अविद्यया मृत्युं तीत्वां विद्ययामृतमश्नुते।।
३५. विद्याविद्ये द्वे अप्पुपायोपेयभावात सहिते देखिये, ब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ १३।
३६. देखिये, ईशावास्योपनिषद।। शंकरभाष्य
३७. वहीं।
३८. ननु नो विपरीतार्था धीः प्रतीतिक्रिोधातः देखिये, ब्रह्मसिद्धिः, पृष्ठ १३६
अनाथवसाच्च रजतप्रत्ययो रजतेस्मृतिः।
३९. देखिये, ब्रह्मसिद्धिः, मंडन मिश्र, इन्ट्रोडक्शन, कुप्वूस्वामी शास्त्री, पृष्ठ २७।
४०. देखिये ब्रह्मसिद्धिः मंडन मिश्र, इन्ट्रोडक्शन, पृष्ठ ७४।
४१. वहीं, पृष्ठ ७४।

❑❑❑

## अध्याय-३

# शंकर द्वारा विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की आलोचना

अद्वैत-वेदान्त का प्रतिपादन करने के लिए यह अभीष्ठ था कि शंकर तत्कालीन विभिन्न दार्शनिक-मतों की आलोचना करते। भाष्य-ग्रन्थों में जहाँ कहीं अवसर मिला है शंकर ने उन सिद्धान्तों का खण्डन किया है। उनके विचार से कपिल, कणाद आदि के दार्शनिक सिद्धान्तों में अन्तः व्याघात है। इन दर्शनों के प्रतिपादक अपने सिद्धान्तों में अनुरक्त होने के कारण अपने प्रतिपक्षी को देख कर द्वेष करते हैं और विरोध मानते है, किन्तु अद्वैत-वेदान्त उनको अपना ही अंग मानता है और उनसे विरोध नहीं करता।[1]

इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि किसी भी दर्शन-पद्धति में कोई दोष नहीं है। अद्वैत-वेदान्त को छोड़ कर, शंकर के मतानुसार प्रायः सभी दर्शनों में यह सामान्य दोष है कि उनमें द्वैत को ही परमार्थ माना गया है।[2] उनकी दृष्टि एक अखण्ड अद्वितीय वस्तु तक नहीं पहुँचती। दूसरे वे सब अपनी मानवी बुद्धि का आश्रय लेकर कल्पना करते हैं। मनुष्य की बुद्धि विलक्षण होती हैं। उनकी तर्क-बुद्धि के द्वारा उपलब्ध विषय एक होना दुष्कर है,[3] अतः उनके मत स्वभावतः व्याघातपूर्ण होते हैं।[4]

## सांख्य-दर्शन की आलोचना

सांख्य-दर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरुष दो मूल तत्त्व हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। वह सत्त्व, रजस और तमस् के संयोग से स्वयं जड़ होते हुए भी चेतन पुरुष के सानिध्य से उसी के हेतु विश्व का सृजन करती है।

### (क) अचेतन प्रधान से सृष्टि सम्भव नहीं

सांख्यवादी मानते हैं कि घट, सकोरा आदि वस्तुयें मृत्तिकामय हैं, अतः वे मृत्तिका से ही निर्मित होती हैं। इसी प्रकार वाह्य और आन्तरिक समस्त पदार्थ सुख, दुःख और मोह रूप देखने में आते हैं, अतः वे सुख, दुःख और मोह रूप सत्त्व, रजस और तमस् से ही निर्मित होने चाहिए।

शंकर इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि अचेतन प्रकृति बिना किसी चेतन सत्ता का अधिष्ठान पाये स्वतंत्र रूप से जगत की रचना का कार्य नहीं कर सकती। लोक में गृह, महल, शयन, आसन, विहारभूमि आदि समय के अनुसार बुद्धिमान शिल्पियों द्वारा सुख-प्राप्ति और दुःख से बचने के लिए रचे देखे जाते हैं। फिर भला भिन्न-भिन्न कर्मफल के भोग योग्य पृथ्वी आदि यह सम्पूर्ण जगत्, अनेक अवयवों से युक्त दृश्यमान शरीर और प्राण, मन, बुद्धि आन्तरिक जगत् की रचना अचेतन प्रधान कैसे कर सकता है? बड़े-बड़े बुद्धिमान शिल्पियों द्वारा इस रचना को समझा भी नहीं जाता है। जैसे मिट्टी, पत्थर आदि अचेतन होने के कारण कोई रचना नहीं कर सकते, किन्तु चेतन कुम्हार आदि द्वारा उनसे विशिष्ट आकार की रचना देखी जाती है। इसी प्रकार प्रधान को भी अन्य चेतन से अधिष्ठित मानना पड़ेगा।[५]

## (ख) विषय सुख, दुःख या मोहात्मक नहीं

सांख्य मत के अनुसार बाह्य जगत की वस्तुयें सुख, दुख या मोह उत्पन्न करती है, अतः उनकी रचना सत्त्व, रजस और तमस् के उपादान से होनी चाहिए। सत्त्व सुख, रजस दुःख और तमस् माह उत्पन्न करता है।

शंकर इससे सहमत नहीं हैं। वे कहते है कि बाह्य और आन्तरिक विकारों का सुख-दुःखमोहात्मकता के साथ अन्वय उत्पन्न नहीं होता। सुख-दुःख की आन्तरिक प्रतीति होती है। इसके विपरीत शब्दादि विषय बाह्य प्रतीत होते हैं। अतः यह कहना ठीक नहीं कि सुखादि ही बाह्य विषय, अन्तःकरण और इन्द्रियाँ उत्पन्न करते हैं। एक ही बाह्य विषय व्यक्तियों की भावना के अनुसार सुख, दुःख या मोह उत्पन्न कर सकता है। अतः वह विषय आदि सुख से निर्मित नहीं माना जा सकता है।[६]

## (ग) परिमित गुणों से स्वतः सृष्टि सम्भव नहीं

सांख्यवादी तर्क देते हैं कि सत्त्व, रजस और तमस् परिमित होने के कारण एक दूसरे के संसर्ग में आते हैं और परिमित बाह्य तथा आन्तरिक विषयों की रचना कर लेते हैं; जैसे, परिमित बीज परिमित अंकुर उत्पन्न कर देता है।

शंकर इसे सम्भव नहीं मानते। शयन, आसन आदि का निर्माण लकड़ी आदि से तभी होता है, जब कोई चेतन निमित्त विद्यमान होता है। अतः कार्य कारण भाव होने से बाह्य और आध्यात्मिक (आन्तरिक) विकारों में अचेतन पूर्वकत्व की कल्पना नहीं की जा सकती है।[७]

## (घ) प्रकृति में प्रारम्भिक प्रवृत्ति ही संभव नहीं

सांख्य ईश्वर का अस्तित्व नहीं मानता। वह तीनों गुणों की साम्यावस्था स्वतः भंग होकर सृष्टि रचना होने की कल्पना करता है।

शंकर कहते हैं कि इस विचित्र संसार-रचना की तो बात ही रहने दो, उस रचना की सिद्धि के लिए जो प्रधान की साम्यावस्था का भंग होना और तीनों गुणों का अंग-अंगी भाव से मिलना है, वह भी स्वतंत्र रूप से सम्भव नहीं है। अचेतन प्रधान में यह सृष्टि-रचना की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? जड़ मृत्तिका आदि और रथ आदि में स्वतंत्र प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। मिट्टी में प्रवृत्ति के लिए कुलाल (कुम्हार) और रथ में गति के लिए अश्व की आवश्यकता होती है, अतः प्रवृत्ति ही सम्भव होने से प्रधान से जगत् उत्पत्ति सम्भव नहीं है।[८]

## (ङ) अचेतन में दृष्ट प्रवृत्ति उसकी नहीं

सांख्यवादी यह तर्क दे सकते हैं कि जड़ वस्तु के बिना अकेले चेतन में भी प्रवृत्ति नहीं देखी गई है। शंकर इसे स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि फिर भी चेतन अश्व संयुक्त अचेतन रथ आदि की प्रवृत्ति देखी जाती है। यहाँ प्रवृत्ति का क्या कारण है? चेतन अश्व से अथवा अचेतन रथ से प्रवृत्ति होती है? सांख्यवादी कहते हैं कि जिसमें प्रवृत्ति देखी जाती है, वह उसकी है - यही मानना उचित है। प्रवृत्ति और उसका आश्रय दोनों प्रत्यक्ष हैं।

शंकर के मतानुसार यह मानना उचित नहीं है। चेतन के विद्यमान होने पर ही अचेतन में प्रवृत्ति देखी जाती है और चेतन न होने पर अचेतन में प्रवृ त्ति नहीं दिखाई देती, इसलिए अन्वय-व्यतिरेक से अचेतन में प्रवृत्ति का कारण चेतन ही मानना होगा। प्रकृति अचेतन है, अतः वह अपनी प्रवृत्ति कारण स्वयं नहीं हो सकती।[९]

## (च) चेतन से प्रवृत्ति की संभाव्यता

सांख्यवादी यह तर्क करते हैं कि वेदान्त के अनुसार जो परमात्मा एक, अनन्त विज्ञानस्वरूप मात्र है, वह भी प्रवृत्ति का कारण नहीं हो सकता है।

शंकर कहते हैं कि यह मानना युक्त नहीं है। सर्वगत, सर्वात्मा, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान परमात्मा प्रवृत्ति रहित होकर भी सबको प्रवृत्त करे, यह युक्त है। उदाहरण के लिए अयस्कान्तमणि स्वयं प्रवृत्ति रहित होता हुआ भी लोहे का प्रवर्तक होता है।[१] रूपादि विषय स्वयं प्रवृत्ति रहित होते हुए भी चक्षु आदि के प्रवर्तक होते हैं।

सांख्यवादी पूछ सकते हैं कि प्रवर्त्य (जड़ पदार्थ) न होने पर एकत्व के कारण चेतन में स्वयं प्रवृत्ति कैसे होगी?

इसके उत्तर में शंकर कहते हैं कि माया के कारण नामरूप उत्पन्न होते हैं और अविद्या से वे सत् भासित होते हैं। उनमें चेतन सत्ता से प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है। अतः चेतन सर्वज्ञ को कारण मानने पर प्रवृत्ति सम्भव है, किन्तु अचेतन को कारण मानने में नहीं है।[11]

## (छ) दूध-बछड़े के दृष्टान्त का खण्डन

सांख्य का प्रसिद्ध तर्क है कि गाय के थनों में अचेतन दूध बछड़े की वृद्धि के लिए स्वयं आ जाता है। अचेतन जल स्वभाव से ही लोगों के उपकार के लिए बहता है। इसी प्रकार अचेतन प्रधान भी स्वभाव से ही पुरुष के भोग और मोक्ष के लिए सृष्टि रचना में प्रवृत्त होता है।

शंकर कहते हैं कि ये दोनों दृष्टान्त असंगत है। दूध और जल में प्रवृत्ति चेतन के अधिष्ठान से ही है। जीवित गाय के थनों से ही दूध आता है। गाय अपने बछड़े के प्रेम के कारण दूध उतारती है। दूध स्वयं नहीं बहता। नदियों का जल गुरुत्वाकर्षण के कारण बहता है और गुरुत्वाकर्षण का अधिष्ठाता ईश्वर है। इसका प्रमाण श्रुति है - 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासेन गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यदन्ते' (बृ. ३, ८, ६)। हे गार्गी, इस अक्षर के ही प्रशासन में पूर्ववाहिनी एवं अन्य नदियां बहती हैं। चेतन की अपेक्षा तो सर्वत्र दिखाई देती हैं।[12]

## (ज) अनपेक्ष पुरुष से प्रवृत्ति संभव नहीं

सांख्यवादी चेतन पुरुष को प्रकृति का प्रवर्त्तक कह सकते हैं किन्तु वह भी युक्त नहीं है।

शंकर कहते हैं कि प्रधान तीनों गुणों की साम्यावस्था में रहता है। उससे भिन्न उसका प्रवर्त्तक या निवर्तक कोई नहीं दिखाई देता। प्रकृति से भिन्न अगणित चेतन पुरुषों की सत्ता हो सकती है, किन्तु वे उदासीन हैं। अतः वे प्रधान का प्रवर्तन या निवर्तन नहीं कर सकते। इस प्रकार पुरुष के अनपेक्ष होने से प्रधान कभी महदादि रूप में परिणित होगा और कभी न होगा - यह अयुक्त है।[13] ईश्वर तो सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान और महामायामय होने से सृष्टि और प्रलय कर सकता है।

## (झ) तृण-दुग्ध न्याय का खण्डन

सांख्यवादी कहते हैं कि जैसे तृण, पल्लव, जल आदि अन्य निमित्त की अपेक्षा

किये बिना स्वभाव से ही दूध बन जाते हैं, वैसे ही प्रधान भी स्वभाव से महदादि रूप में परिणित हो सकता है। यदि तृण आदि से भिन्न कोई निमित्त उपलब्ध होता तो उसकी इच्छानुसार ही हम दूध पा सकते थे, किन्तु ऐसा कोई निमित्त नहीं है।

शंकर कहते हैं कि निमित्त तो स्पष्ट रूप से विद्यमान है। गाय के खाने पर ही तृण आदि दूध रूप में परिवर्तित होते हैं। मरी गाय या जीवित बैल द्वारा खाये जाने पर भी तृणादि का दूध नहीं बन सकता है। यदि बिना निमित्त के तृणादि से दूध बन सके, तो गाय पालने और उसे खिलाने की क्या आवश्यकता है? मनुष्य अपनी इच्छानुसार उसे संपादन करने में समर्थ नहीं है, इतने मात्र से वह निनिर्मित नहीं होता। कोई कार्य मनुष्य सम्पाद्य है और कोई कार्य दैव सम्पाद्य है। मनुष्य भी उचित उपाय से तृण आदि लेकर दूध के सम्पादन करने में समर्थ होते हैं। पुष्कल दूध चाहने वाले पुरुष गौ को पुष्कल घास खिलाते हैं। अतः तृणादि के समान प्रधान का परिणाम स्वाभाविक नहीं है।[१४]

## (ञ) स्वतः प्रवृत्त प्रधान में दोष

शंकर कहते हैं कि प्रधान की प्रवृत्ति स्वाभाविक नहीं हो सकती, फिर भी सांख्य-वादियों की श्रद्धा के अनुसार उसमें स्वाभाविक प्रवृत्ति मान ली जाय, तो भी अनेक दोष रहेंगे।

पहली कठिनाई तो प्रयोजन का अभाव है। यदि प्रधान बिना किसी चेतन निमित्त के प्रवृत्त हो सकता है, उसे किसी सहकारी की अपेक्षा नहीं हो, तो उसी प्रकार उसे प्रयोजन की भी अपेक्षा न होगी। यदि ऐसा है, तो सांख्य के इस मत की हानि होगी कि प्रधान पुरुष के भोग और मोक्ष के लिए प्रवृत्त होता है।[१५]

सांख्य अपने मत की रक्षा करने के लिए कह सकता है कि प्रधान सहकारी की अपेक्षा तो नहीं रखता, किन्तु प्रयोजन की अपेक्षा रखता है। यदि ऐसा है, तो शंकर उसकी परीक्षा करते हैं और यह जानने का प्रयास करते हैं कि भोग और मोक्ष दोनों प्रवृत्ति के प्रयोजन कैसे हो सकते हैं।

यदि भोग है तो असंग पुरुष को भोग कैसे प्राप्त होंगे और वह भोग में क्यों प्रवृत्त होगा? यदि भोग में प्रवृत्त होगा तो उसके मोक्ष के अभाव का प्रसंग आ जायेगा। यदि मोक्ष ही प्रयोजन है तो सृष्टि होने और भोगों में लिप्त होने से पहले वह पुरुष मुक्त ही है, उसकी प्रवृत्ति निष्फल होगी और शब्द आदि विषयों की अनुपलब्धि का प्रसंग आ जायेगा।

दोनों प्रयोजन मानने पर भोग के योग्य अनन्त विषय प्राप्त होने पर मोक्ष के

अभाव का प्रसंग आयेगा। निर्मल, निष्कस पुरुष में उत्सुकता नहीं हो सकती, अतः उत्सुकतावश भी पुरुष भोगों में प्रवृत्त नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त, यदि यह मानें कि पुरुष की दृक्शक्ति के कारण प्रधान में सर्वशक्ति उत्पन्न होती है, पुरुष की दृक्शक्ति नित्य होने के कारण सृष्टि नित्य होगी और मोक्षाभाव का प्रसंग होगा; अतः प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष के प्रयोजन के लिये है यह उचित नहीं है।[१६]

## (ट) अंध-पंगु न्याय का खण्डन

सांख्य अपने मत का प्रतिपादन करने के लिये पुनः युक्ति देते हुये कहता है कि पुरुष और प्रकृति के सहयोग से सृष्टि हो सकती है, क्योंकि अंध-पंगु न्याय से दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। जैसे अंधा मनुष्य अपने कंधे पर पंगु मनुष्य को बैठा कर सफलतापूर्वक यात्रा कर सकता है, वैसे ही चेतन किन्तु निष्क्रिय पुरुष जड़ प्रकृति को प्रेरित कर सकता है। चुम्बक भी स्वयं अप्रवृत्त रह कर लोहे को प्रवृत्त कर सकता है।

शंकर इन दृष्टान्तों का खण्डन करते हैं। पंगु पुरुष अन्धे पुरुष को वाणी आदि से प्रवृत्त करता है, किन्तु इस प्रकार पुरुष में कोई भी प्रवृत्तिजनक व्यापार नहीं है क्योंकि वह निष्क्रिय और निर्गुण है।

चुम्बक के समान यदि पुरुष अपनी सन्निधि मात्र से प्रधान को प्रवृत्त करता है, तो पुरुष की सन्निधि नित्य होने के कारण सृष्टि भी नित्य होगी। यदि सृष्टि और प्रलय दोनों संभव मानें, तो पुरुष और प्रकृति की सन्निधि को नियन्त्रित करने वाला कोई तीसरा तत्व होना चाहिये।[१८]

## (ठ) गुणों के स्वरूप के नाश का भय

प्रधान में सृष्टि-रचना की प्रवृत्ति न होने का एक कारण और भी है। सत्त्व, रजस और तमस् जब समभाव से रहते हैं और उनमें से किसी एक गुण की अधिकता या प्रधानता नहीं होती है, तो उसे प्रधानावस्था कहते हैं। उस अवस्था में कोई गुण किसी दूसरे गुण पर आश्रित नहीं होता है। तब एक-दूसरे के स्वरूप की अपेक्षा से रहित सत्त्व आदि गुणों के अपने-अपने स्वरूप का नाश होने के भय से परस्पर के प्रति अङ्ग-अङ्गी भाव नहीं हो सकता। उनके अतिरिक्त ऐसी कोई बाह्य शक्ति भी नहीं है जो उनमें क्षोभ उत्पन्न कर विषमता लाये और महद् आदि की उत्पत्ति हो। अतः प्रधान से सृष्टि रचना नहीं हो सकती।[१८]

## (ड) चलस्वरूप गुणों से सृष्टि संभव नहीं

सांख्यवादी कह सकते हैं कि हम साम्यावस्था में गुणों के सर्वथा पृथक्, निरपेक्ष और स्थिर रहने की कल्पना नहीं करते हैं, इसलिए हमारे मत में उपर्युक्त दोष नहीं आ सकता है। कार्य के अनुसार गुणों का स्वभाव स्वीकार किया जाता है। अतः गुणों का स्वभाव चलस्वरूप है और उनमें विषमता उत्पन्न हो सकती है।

शंकर इसका खण्डन करते हुये कहते हैं कि गुणों में ज्ञानशक्ति न होने के कारण पूर्व वर्णित दोष यथावत् रहेंगे। वैषम्य प्राप्ति के योग्य चलस्वरूप के गुण साम्यावस्था में निमित्त के न होने से वैषम्य को प्राप्त न होंगे। यदि कदाचित् सांख्य यह भी मान ले कि बिना निमित्त के गुणस्वभावता ही विषमता को प्राप्त होते हैं, तो उनमें सदा विषमता ही रहेगी, जैसी इस समय सृष्टि काल में है। ऐसी दशा में प्रलय सम्भव न होगी।[१६]

# जैन दर्शन की आलोचना

## (१) सप्तभंगी नय अथवा स्याद्वाद का खण्डन

जैन-दर्शन की तर्कना-पद्धति के अन्तर्गत उनका सप्तभंगी नय आता है। इसके अनुसार प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्म वाली होती है। उसके सम्बन्ध में अनेक दृष्टिकोण हो सकते हैं। वे परस्पर विरोधी होते हुये भी अपने-अपने प्रसंग के अनुसार सत्य हैं। यह उनका अनेकान्तवाद है।

हर दृष्टिकोण के साथ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि वही एकमात्र दृष्टिकोण सत्य नहीं है। यह स्याद्वाद प्रतिपादित करता है कि हमारा ज्ञान पूर्ण सत्य नहीं है; वह पदार्थों की स्थिति-विशेष को लेकर ही है। हमारा ज्ञान सापेक्ष है। जैनों ने सात प्रकार के दृष्टिकोणों पर विचार किया है, अतः उनका स्याद्वाद सप्तभंगी नय कहलाता है। ये सात दृष्टिकोण इस प्रकार हैं - (१) स्यादस्ति (२) स्यात् नास्ति (३) स्यात् अस्ति नास्ति च (४) स्यात् अवक्तव्यं (५) स्यात् अस्ति च अव्यक्तव्यं च (६) स्यात् नास्ति च अव्यक्तव्यं च (७) स्यात् अस्ति च नास्ति च अव्यक्तव्यं च। एकत्व और नित्यत्व में भी इस सिद्धान्त की योजना की जाती है।

शंकर इसका खण्डन करते हुये कहते हैं कि यह जैन सिद्धान्त युक्त नहीं है।

### (क) एकधर्मी में विरुद्ध धर्म असम्भव

शंकर के मतानुसार एक ही वस्तु में सत्त्व और असत्त्व, अस्तित्व और

अनस्तित्व, शीत और उष्ण आदि विरोधी धर्म एक साथ नहीं रह सकते। हम किसी वस्तु को संकेत कर यह नहीं कह सकते कि वह है और नहीं भी है। दो विरोधी गुणों का एक साथ होना तर्क-विरुद्ध और बुद्धि अग्राह्य है।[२०]

## (ख) संशयात्मक ज्ञान

किसी वस्तु का होना, न होना और अवक्तव्य होना संशय के कारण ही प्रतीत होता है। 'अनिर्धारितरूपं ज्ञानं संशयज्ञानवदप्रमाणवेव स्यात्' - अनिर्धारित रूप से उत्पन्न हुआ ज्ञान संशय ज्ञान के समान अप्रमाण ही होगा। प्रामाणिक ज्ञान निश्चयात्मक होना चाहिये।

यदि कोई निर्धारित ज्ञान हो, तो उसे भी यह स्याद्वाद अनिर्धारित बना देगा। स्यादस्तिस्यान्नास्ति का विकल्प अनिर्धारण ही उत्पन्न करेगा। इस प्रकार निर्धारण करने वाले का और निर्धारण फल का एक पक्ष में अस्तित्व होगा और दूसरे पक्ष में नास्तित्व होगा। ऐसी स्थिति में प्रमाणभूत होता हुआ भी तीर्थंकर प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति के अनिर्धारित होने पर उपदेश करने में कैसे समर्थ होगा? अथवा तीर्थंकरों के अभिप्राय का अनुसरण करने वाले शिष्य उनके उपदिष्ट अनिर्धारित रूप अर्थ में कैसे प्रवृत्त होंगे?[२१]

## (ग) आत्मघाती सिद्धान्त

विचार करने पर स्याद्वाद आत्मघाती सिद्ध होता है। यदि सब कुछ अनिर्धारित है तो स्याद्वाद स्वयं अनिर्धारित होना चाहिये। जैन भले ही अपने इस मत को संशय का मत न मान कर ज्ञान की सापेक्षता का मत कहें, किन्तु शंकर की आलोचना काफी पुष्ट है। निरपेक्ष के बिना सापेक्ष स्वतंत्र रूप से विद्यमान नहीं रह सकता। यदि सब कुछ आंशिक सत्य है तो स्याद्वाद भी आंशिक सत्य है और आंशिक मिथ्या है।

जैन-दर्शन के किसी सिद्धान्त पर इस स्याद्वाद का सिद्धान्त लगाने से स्थिति गड़बड़ा जाती है। शंकर अस्तिकायों की पाँच संख्या पर इसका प्रयोग करते हैं। परिणाम यह होता है कि एक पक्ष में 'स्यात्, ऐसा होगा' और दूसरे पक्ष में 'नस्यात्, ऐसा न होगा।' इससे न्यून संख्यात्व अथवा अधिक संख्यात्व प्राप्त होता है। इन पदार्थों में अवक्तव्यत्व भी संभव नहीं है। यदि वे अवक्तव्य हैं तो नहीं कहे जायेंगे, फिर भी, यदि कहे जाते हैं तो वे अवक्तव्य नहीं हो सकते हैं।

ये कथित पदार्थ उसी प्रकार अवधारित होते हैं तथा अवधारित नहीं होते हैं और उसी प्रकार उसका अवधारण फल सम्यग्दर्शन है अथवा नहीं है, एवं उससे विपरीत असम्यग्दर्शन भी है अथवा नहीं। इस प्रकार प्रलाप करता हुआ मत्तोन्मत्त पक्ष का

होगा, निश्चयात्मक पक्ष का नहीं। यही स्थिति जैन-दर्शन के अन्य सिद्धान्तों की होगी। अतः आर्हत मत असंगत है।[२२]

## (२) आत्मा सम्बन्धी मध्यमपरिमाणवाद का खण्डन

जैन-दर्शन के अनुसार जीव अनेक हैं। वे गणना में नहीं आ सकते, इसलिए यह दर्शन बहुजीववादी माना जाता है। सभी जीव स्वभावतः चेतन हैं। वे स्वयं प्रकाशवान हैं और अपने से भिन्न वस्तुओं को भी प्रकाशित करते हैं। कर्म से लिप्त होकर ये जन्मते हैं और मरते हैं। अतः इन्हें बार-बार शरीर धारण करना पड़ता है। मुक्त होने पर ये कर्म और शरीर रहित होकर अलोकाकाश में विश्राम करते हैं।

जीवों के आकार के सम्बन्ध में विभिन्न मत पाये जाते हैं। वेदान्त, न्याय, सांख्य आदि मतों में आत्मा विभु आकार का माना गया है। वैष्णव दार्शनिक उसे अणु-परिमाण का मानते हैं, किन्तु इन दोनों मतों के विपरीत जैन जीव को शरीर के आकार का स्वीकार करते हैं। इसे 'मध्यम परिमाणवाद' कहते हैं। इसके अनुसार जीव जो शरीर धारण करता है, वह उसी के आकार का बन जाता है। बड़े शरीर में फैल कर बड़ा हो जाता है और छोटे शरीर में वह घट कर छोटा हो जाता है। शंकर ने इस मध्यम परिमाणवाद का खण्डन किया है।

### (क) मध्यम परिमाण में नश्वरता का दोष

यदि आत्मा शरीर के परिमाण का है तो वह अकृत्सन (अपूर्ण), असर्वगत और परिच्छिन्न होगा। ये समस्त लक्षण विनाशी वस्तु के होते हैं, जैसे घट। अतः आत्मा को विनाशी मानना पड़ेगा। यह निर्णय जैन-दर्शन के विपरीत है, इसलिए आत्मा को मध्यम परिमाण का नहीं माना जा सकता।[२३]

### (ख) सब शरीरों के योग्य नहीं

शरीरों का तो अनिश्चित परिमाण होता है। कोई शरीर चींटी जैसा छोटा होता है और कोई हाथी जैसा बड़ा। कर्म-विपास से मरने के बाद छोटा-बड़ा कोई भी शरीर मिल सकता है। मनुष्य शरीर में रहने वाला जीव यदि दूसरे जन्म में हाथी का शरीर प्राप्त करता है तो वह सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त नहीं करेगा और यदि उसे चींटी का जन्म मिल गया तो उस शरीर में पूर्ण रूप से नहीं समायेगा। एक ही जन्म में शरीर सदा एक आकार का नहीं रहता। शिशु, युवा और वृद्ध पुरुष में शरीर के विभिन्न आकार देखे जाते हैं। मध्यम आकार की आत्मा सब आकार के शरीरों में पूर्ण रूप से नहीं आ सकती।[२४]

### (ग) आत्मा के छोटे-बड़े होने में दोष

जैन कहते हैं कि आत्मा अनन्त अवयव (अंश) वाला है। छोटा शरीर पाने पर संकुचित हो जाते हैं और बड़ा शरीर पाने पर विकसित हो जाते हैं। इसलिए छोटे-बड़े सभी शरीरों को वह व्याप्त कर लेता है।

शंकर कहते हैं कि यदि ऐसा है तो छोटा शरीर पाने पर आत्मा के कुछ अंशों का प्रतिघात (विनाश) होगा या नहीं? यदि उनका विनाश नहीं होता है तो अनन्त अवयव वाली आत्मा संकुचित होकर छोटे शरीर में नहीं आ सकती। इसके विपरीत यदि वे नष्ट हो सकते हैं और उसका कुछ अंश ही शेष रह जाता है तो आत्मा अणु मात्र होगी। वह सब शरीर को व्याप्त न कर सकेगी। इसके अतिरिक्त यह कल्पना नहीं की जा सकती कि शरीर मात्र में परिच्छिन्न आत्मा अनन्त अवयवों से युक्त है।[२५]

### (घ) आत्मा के अवयव कम अधिक होने में दोष

जैन दार्शनिक कहते हैं कि जीवों के घटने-बढ़ने की एक विशेष विधि है। बृहत् शरीर प्राप्त होने पर कुछ जीवावयव पास आकर उसमें जुड़ जाते हैं और अल्प शरीर प्राप्त होने पर कुछ जीवावयव दूर हो जाते हैं और जीव छोटा होकर उस शरीर में आ जाता है।

शंकर इस कल्पना में भी दोष दिखाते हैं। वे कहते हैं कि इस प्रकार जीव के अवयव घटने-बढ़ने से उसमें विकार आदि दोष आ जायेंगे। जीव को यदि विकास युक्त मान लें तो वह अनित्य होगा। अनित्य जीव मुक्ति नहीं पा सकता। यदि मुक्ति नहीं है, तो बन्धन भी नहीं है।[२६]

### (ङ) अवयवों का अनात्मत्व

यदि जीव को कुछ अवयव बाहर से प्राप्त होते हैं और उन्हें पाकर वह बड़ा हो जाता है अथवा कुछ अवयव वह त्याग सकता है, जो उसे छोड़ कर उससे अलग हो सकते हैं, तो निश्चय ही ये आने-जाने वाले अवयव शरीर के समान अनात्मा होंगे। अनात्मस्वरूप अवयव आकर आत्मा में मिल नहीं सकते और यदि वे आत्मा के लक्षणों से युक्त हैं और उसके अभिन्न अंग हैं तो वे आत्मा को त्याग कर अलग नहीं हो सकते।

इसके अतिरिक्त यह विचार करना होगा कि आत्मा में कितने अवयव ऐसे हैं, जिन्हें वह त्याग सकता है। यदि सभी अवयवों का त्याग हो सकता है तो आत्मा नाम का कुछ भी शेष नहीं है। यदि कुछ अंश शेष रहता है, जिसका त्याग नहीं हो सकता,

तो वही उसका वास्तविक आकार होगा और यह निश्चित करना होगा कि वह किस आकार का है।

### (च) आगन्तुक अवयवों की प्रकृति

यदि जीव अपने कुछ अवयव त्याग सकता है तो वे कहाँ जाते हैं, उनका क्या होता है, वे कहाँ विलीन होते हैं? ये प्रश्न उठना स्वाभाविक है। यह नहीं कहा जा सकता कि वे अंश भौतिक पदार्थों से आविर्भूत होकर आते हैं और जीव से पृथक होकर भूतों में ही मिल जाते हैं क्योंकि जीव अभौतिक है। जैन स्वयं जीव और अजीव दो प्रकार के द्रव्यों का विभाजन करते हैं।

यदि कहा जाय कि जीवों में साधारण और असाधारण दो प्रकार के अवयव होते हैं तो इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता है और न जैन-दर्शन ही उनका उल्लेख करता है। इस कारण अवयवों के त्याग की कल्पना मिथ्या है।[२७]

### (छ) चेतना-सन्तान मानने में आपत्ति

जैन कह सकते हैं कि जीव स्रोत-सन्तान (प्रवाह) की भाँति चेतना-सन्तान है। जल के प्रवाह में जल आता भी है और जाता भी है, किन्तु प्रवाह नित्य रहता है। इसी प्रकार चेतना के कुछ अंश आने और कुछ अंश जाने पर भी जीव नित्य है।

ऐसा पाने पर शंकर कहते हैं कि अब हमें यह विचार करना होगा कि यह चेतना-सन्तान वस्तु है या अवस्तु है। यदि वह वस्तु है और उसमें विकार होता है तो वह अनित्य होगा। यदि वह वस्तु है तो जैन भी बौद्धों की तरह निरात्मवादी सिद्ध होंगे।[२८]

### (ज) मोक्ष अवस्था में आत्मा का निश्चित आकार

जैन मत के अनुसार मुक्त अवस्था में जीव का आकार निश्चित और स्थायी होता है। इस मत पर शंकर कहते हैं कि यदि मुक्त अवस्था में जीव का आकार निश्चित है तो पूर्व और मध्य में उसका वही आकार होना चाहिए। वे एक दूसरे से पृथक नहीं हो सकते। अतः जीव को अणु या महान् आकार का मानना पड़ेगा। उसे शरीर परिमाण का मानना किसी प्रकार युक्त संगत नहीं है।[२९]

## वैशेषिक दर्शन की आलोचना

## परमाणुवाद का खण्डन

वैशेषिक मत में सात पदार्थ माने गये हैं - (१) द्रव्य (२) गुण (३) कर्म (४)

सामान्य (५) विशेष (६) समवाय और (७) अभाव। पदार्थ उस वस्तु को कहते हैं जिसका किसी पद (शब्द) से बोध होता है। जिन वस्तुओं के नाम हो सकते हैं, वे सब पदार्थ हैं। समस्त पदार्थों को दो वर्गों में बाँट सकते हैं - भाव-पदार्थ और अभाव-पदार्थ। उपर्युक्त सात पदार्थों में से प्रथम छः भाव-पदार्थ और अन्तिम अभाव-पदार्थ है। प्राचीन वैशेषिक दर्शन केवल छः भाव-पदार्थ मानता था। उसमें ईश्वर की भी सत्ता नहीं मानी गयी थी। शंकर उसी का खण्डन करते हैं। उत्तर वैशेषिक में अभाव नाम का पदार्थ और ईश्वर की सत्ता स्वीकार कर ली गयी।

इसका सृष्टि सम्बन्धी सिद्धान्त परमाणुवाद कहलाता है। सूक्ष्य परमाणु जगत के उपादान कारण हैं। उन्हीं से पृथ्वी आदि तत्वों और लोक-लोकान्तर तथा प्राणियों के शरीरों की रचना होती है। ये परमाणु अविभाज्य हैं। ये चार प्रकार के कहे गये हैं। उन चार प्रकार के परमाणुओं से पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु जैसे मूल तत्वों की उत्पत्ति होती है। प्रलय काल में समस्त जगत् परमाणु अवस्था में होता है। विश्व की रचना प्रारम्भ होने पर सर्वप्रथम वायु परमाणुओं में जीव के ससंर्ग से गति उत्पन्न होती है[३०] क्योंकि जीवों में ही पाप-पुण्य रूप अदृष्ट का वास होता है। गति उत्पन्न होने पर परमाणु एक-दूसरे से जुड़ कर द्वयणुकों की रचना करते हैं। जब तीन द्वयणुक एक साथ मिलते है तो त्रसरेणु बनते हैं। द्वयणुक दिखाई नहीं देता किन्तु त्रसरेणु सबसे छोटी दिखाई देने वाली वस्तु है। उससे अन्य बड़े यौगिक बनते हैं और इस प्रकार वायु का अणु उत्पन्न हो जाता है। इसी विधि से अग्नि, जल और पृथ्वी के अणुओं की क्रमशः रचना होती है और इन्द्रियों सहित शरीर बनता है। परमाणुओं के गुण द्वयणुओं में उसी प्रकार आ जाते हैं जैसे धागे के गुण वस्त्र में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस मान्यता के मूल में वैशेषिकों का यह तर्क है कि लोक में पट आदि सावयव पदार्थ स्वभावतः संयोग सहकारी तन्तु आदि द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं। इस सिद्धान्त से पदार्थों के अवयवों की खोज करते हुए आगे बढ़ें तो हम परमाणुओं पर पहुँच जाते हैं। ये परमाणु पुनः विभक्त हो सकते हैं। शंकर ने इस परमाणुवाद का खण्डन किया है।

## (क) प्रारम्भिक गति सम्भव नहीं

शंकर को सर्वप्रथम यह आपत्ति है कि परमाणुओं में प्रारम्भिक गति उत्पन्न नहीं हो सकती। जब दो परमाणु मिल कर एक द्वयणुक बनता है, तो इस कार्य के लिए गति उत्पन्न करने वाली कोई शक्ति होनी चाहिए। गति का कारण प्रयत्न या अभिघात होता है।[३१] परमाणुओं में गति उत्पन्न करने वाला ऐसा कोई कारण नहीं प्रतीत होता।

वैशेषिक मतानुसार जीव के पाप-पुण्य रूप अदृष्ट से यह गति उत्पन्न हो सकती है। शंकर के मतानुसार, प्रलय काल में जीव के शरीर न होने के कारण वह गति

उत्पन्न नहीं कर सकता। प्रयत्न करना जीव का गुण है, किन्तु प्रयत्न तभी सम्भव है, जब वह शरीर में रहने वाले अन्तःकरण के संसर्ग में आता है। इसी आधार पर अभिघात जैसे दृष्टिगत होने वाले कारण भी सम्भव प्रतीत नहीं होते। ये कारण स्वयं ही तब उत्पन्न होते हैं, जब संसार की रचना हो चुकी होती है। फिर भला ये संसार रचना के हेतु कैसे हो सकते हैं?[३२]

## (ख) अदृष्ट से गति का खण्डन

शंकर द्वन्द्वात्मक तर्क करते हैं कि यदि अदृष्ट को परमाणु की मूल गति का कारण माना जाता है तो हम पूछ सकते हैं कि इस अदृष्ट का निवास जीव में है या परमाणु में। दोनों अवस्थाओं में यह परमाणुओं की मूल गति का कारण नहीं हो सकता। कणाद के अनुसार बुद्धि आत्मा का अर्जित गुण है। अन्तःकरण और आत्मा के संयोग से उसकी उत्पत्ति होती है। अतः सृष्टि के पूर्व आत्मा अन्तःकरण के सम्पर्क में न आ सकने के कारण बुद्धि-रहित होती है। बुद्धि के अभाव में आत्मा अदृष्ट को प्रेरित नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त, अदृष्ट को आत्मा में समवेत मानने से भी, अदृष्ट के साथ परमाणुओं का न सम्बन्ध हो सकता है और न उससे गति उत्पन्न हो सकती है।

यदि कहा जाय कि अदृष्य समन्वित आत्मा का परमाणुओं से सम्बन्ध है और इसीलिए परमाणुओं में कर्म उत्पन्न हो सकता है, तो किसी नियामक के अभाव में दोनों के बीच सदा सम्बन्ध बने रहने से परमाणु सदा सक्रिय बने रहेंगे और प्रलय सम्भव न होगी, किन्तु कणाद प्रलय स्वीकार करते हैं। अतः परमाणुओं से या तो रचना होगी ही नहीं या ऐसी रचना होगी जो कभी समाप्त न होगी।

## (ग) परमाणु-संयोग में कठिनाई

शंकर कहते हैं कि अवयवरहित दो परमाणुओं का संयोग होना भी सम्भव नहीं है। वस्तुओं का संयोग केवल दो प्रकार से हो सकता है - सर्वदेशीय या एकदेशीय। यदि दो परमाणुओं का संयोग सर्वात्मना हो तो द्वयणुक में आकार वृद्धि न होगी क्योंकि एक परमाणु दूसरे में पूरा समा जायेगा। इससे परमाणुओं के आकार में वृद्धि न होगी। वे पूर्ववत् परमाणु ही बने रहेंगे।

इसके विपरीत यदि परमाणुओं का संयोग एकदेशीय या आंशिक होता है तो यह मानना पड़ेगा कि परमाणु में भाग है। वैशेषिक ऐसा नहीं मानते हैं।

तीसरा विकल्प यह हो सकता है कि वैशेषिक यह मान लें कि परमाणु काल्पनिक अंशों से मिल कर बने हैं। इस स्थिति में परमाणुओं का संयोग भी काल्पनिक मानना

होगा। काल्पनिक संयोग से बनी वस्तुयें भी काल्पनिक रहेंगी, सत्य नहीं। वैशेषिक दृश्य जगत् को काल्पनिक नहीं मानते है। उनके मतानुसार जो कुछ दिखाई देता है वह सब सत्य है।

## (घ) परमाणुओं में क्रिया का अभाव

शंकर परमाणुओं में गति की असम्भावना सिद्ध करने के लिए चतुष्कोटि न्याय का प्रयोग करते हैं। परमाणुओं में गतिविषयक चार विकल्प हो सकते हैं - वे स्वभावतः सक्रिय हैं या निष्क्रिय स्वभाव वाले हैं और या तो सक्रिय-निष्क्रिय स्वभाव वाले हैं या उभय स्वभाव से रहित हैं। इन चार के अतिरिक्त परमाणुओं की अन्य कोई स्थिति सम्भव नहीं है। इन चारों प्रकार से परमाणुकारणवाद उत्पन्न नहीं होता। यदि वे सक्रिय स्वभाव के हैं तो वे नित्य सक्रिय रहेंगे और प्रलय न हो सकेगी। उन्हें निष्क्रिय स्वभाव का मानने पर वे नित्य निष्क्रिय बने रहेंगे और विश्व की रचना न हो सकेगी। उभय स्वभाव में स्वयं व्याघात है। एक ही पदार्थ में दो विरोधी गुण नहीं हो सकते। परमाणु सक्रिय भी हो और निष्क्रिय, यह सम्भव है, किन्तु सृष्टि हेतु परमाणुओं को गति देने वाला कोई अन्य पदार्थ मानना पड़ेगा। अदृष्टादि निमित्त के नित्य सन्निधान से परमाणुओं में नित्य सक्रियता रहेगी और यदि अदृष्टादि के संयोग होने पर भी निष्क्रियता रहती है तो वह भी नित्य रहेगी। इस प्रकार परमाणुकारणवाद सम्भव सिद्ध नहीं होता।

## (ङ) समवाय सम्बन्ध का खण्डन

वैशेषिक-दर्शन में दो प्रकार के सम्बन्ध माने जाते हैं - संयोग और समवाय। जब दो पृथक वस्तुयें कुछ काल के लिए एक साथ मिलें तो उसे संयोग सम्बन्ध कहते हैं। मेज पर रखी पुस्तक का सम्बन्ध इसी प्रकार का है। इसे युतसिद्ध सम्बन्ध कहते हैं। समवाय दो पदार्थों का वह सम्बन्ध है, जिसके कारण वे एक दूसरे में समवेत रहते हैं। अवयव और अवयवी, गुण और द्रव्य आदि इसी प्रकार के सम्बन्ध हैं। यह अयुतसिद्ध सम्बन्ध है। धागे और वस्त्र का सम्बन्ध समवाय कहलाता है। धागे के बिना वस्त्र का अस्तित्व नहीं रह सकता। वैशेषिक दो परमाणुओं का सम्बन्ध समवाय ही मानते हैं, संयोग नहीं। यह भी आपत्तिजनक है।

इस दर्शन-पद्धति में दो परमाणुओं का समवाय सम्बन्ध से जुड़ा मानते हैं। यह समवाय वैशेषिक के सात पदार्थों में से एक है और परमाणुओं के समान अपनी सत्ता रखता है। जैसे परमाणु एक-दूसरे से पृथक् होते हैं, वैसे ही उनको जोड़ने वाला समवाय भी उनसे पृथक् है। दो परमाणुओं को जोड़ कर एक बनाने के लिए एक

समवाय की आवश्यकता होती है। उन्हें जोड़ने के लिए फिर अन्य समवाय चाहिए आदि। इस प्रकार अनवस्था दोष होगा।[३३]

यदि इस आपत्ति के समाधान में वैशेषिक कहते हैं कि हम व्यवहार में सूत-वस्त्र आदि वस्तुयें समवाय सम्बन्ध से जुड़ी देखते हैं और जैसे उनमें अनवस्था दोष नहीं है, वैसे ही परमाणु और द्वयणुक में समवाय सम्बन्ध मानने से दोष न होगा, तो शंकर कहते हैं कि व्यवहार में तो संयोग सम्बन्ध ही माना जाता है। वस्तु और संयोग को जोड़ने के लिए समवाय की आवश्यकता नहीं होती।

इस पर वैशेषिक कहते हैं कि संयोग सम्बन्ध एक गुण है और समवाय सम्बन्ध गुण नहीं है। अतः गुण होने से संयोग अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है और समवाय अगुण होने से अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रखता। शंकर कहते हैं कि ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि दोनों में अपेक्षा का कारण समान है अर्थात् वे सम्बन्धियों से पृथक् हैं।[३४] अतः समवाय को एक स्वतंत्र पदार्थ मान कर वैशेषिक अनवस्था दोष में पड़ जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि परमाणुओं से विश्व-रचना सिद्ध नहीं हो पाती।

## (च) परमाणु अन्तिम कारण नहीं

वैशेषिक जगत का अन्तिम कारण परमाणु मानते हैं। वे अविभाज्य हैं, इसलिए वे स्वयं किसी दूसरे अंश या वस्तु से नहीं बने हैं। शंकर इस मत का खण्डन वैशेषिक मत के ही अन्य सिद्धान्त से करते हैं। इसी गुण-भेद के कारण उनके मिलने से वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के पृथक् तत्त्व निर्मित होते हैं। अतः परमाणुओं को भी किसी वस्तु का कार्य होना चाहिए जो उनसे और अधिक सूक्ष्म हो। लोक में जो रूप आदि युक्त वस्तु है, वह अपने कारण की अपेक्षा स्थूल और अनित्य देखी जाती है। जैसे पट तन्तुओं की अपेक्षा स्थूल और अनित्य होता है, तन्तु अपने अवयवों की अपेक्षा स्थूल और अनित्य होते हैं, वैसे ही परमाणु भी रूपादि युक्त हैं, ऐसा वे स्वीकार करते हैं। इसलिए वे भी कारण वाले हैं और उसकी अपेक्षा स्थूल और अनित्य हो जाते हैं।[३५]

## (छ) परमाणु गुणयुक्त सम्भव नहीं

हम देखते हैं कि पृथ्वी, जल आदि में गन्ध, स्वाद आदि भिन्न गुण हैं, इसलिए वैशेषिक मत में उनके परमाणु भी गुणयुक्त माने गये हैं। शंकर को इसमें आपत्ति है। वे कहते हैं कि यदि परमाणु गुणयुक्त माने जायेंगे, तो वे परमाणु ही नहीं हो सकते। उनका तर्क इस प्रकार है।

यदि परमाणुओं में गुण हैं तो वे तीन प्रकार से ही माने जा सकते हैं। या तो प्रत्येक परमाणु में वायु से पृथ्वी तक चारों भूतों के चारों गुण हैं या एक परमाणु में एक गुण है या भूत के अनुसार परमाणुओं में क्रमशः एक, दो, तीन और चार गुण हैं। पहली दशा में प्रत्येक परमाणु में चारों गुण होंगे तो उन परमाणुओं के संघात से एक प्रकार की वस्तु उत्पन्न होगी। दूसरी दशा में एक परमाणु में एक ही गुण होने पर भी उनके संघात से एक ही प्रकार का पदार्थ उत्पन्न होगा। इन दोनों दशाओं में वायु से पृथ्वी तक की विभिन्नता का सृजन न हो सकेगा।

अब हमारे पास एक ही विकल्प शेष रहा। हमको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि पृथ्वी के परमाणु में चार गुण हैं - जल के परमाणु में तीन, अग्नि के परमाणु में दो और वायु के परमाणु में एक गुण है। ऐसी स्थिति में हमें स्वभावतः यह मानना पड़ेगा कि जल के परमाणु से पृथ्वी और अग्नि के परमाणु से जल के परमाणु बड़े हैं। न्यूनाधिक गुणों के कारण परमाणु भी छोटे-बड़े मानने आवश्यक हैं। यदि ऐसा है तो बड़े परमाणु वास्तव में परमाणु ही नहीं हैं। अतः परमाणुओं से विश्व की रचना मानना अयुक्त है।[३६]

वैशेषिक मत को शंकर अर्धवैनाशिक मानते हैं क्योंकि वे परमाणु, आकाश आदि कुछ को नित्य मानते हैं और गुण, कर्म आदि कुछ को नाशवान मानते हैं।[३७]

## बौद्ध-मत की आलोचना

### (१) क्षणभंगवाद का खण्डन

अविद्या आदि संघात की उत्पत्ति में इसलिए सहायक नहीं हो सकते कि बौद्धमत में स्वीकृत क्षणभंगवाद उत्पत्ति-विरोधी है। क्षणभंगवादी यह स्वीकार करते हैं कि उत्पद्यमान उत्तर क्षण में पूर्व क्षण का नाश होता है। ऐसा मानने से पूर्व और उत्तर क्षण का कारण-कार्य-भाव सम्पादित नहीं हो सकता। नष्ट होता हुआ अथवा नष्ट हुआ पूर्व क्षण अभावग्रस्त होने से उत्तर क्षण का कारण नहीं हो सकता।

यदि यह अभिप्राय है कि भावरूप परिनिष्पन्न पूर्वक्षण ही उत्तर क्षण का हेतु है, तो भी दोष रहता है। यह क्षणभंगवाद विरोधी है। यदि कारण परिनिष्पन्न होने के लिए वो क्षण भी रहता है, तो क्षणभंगवाद नहीं रहा।

यदि बौद्धमत यह स्वीकार करे कि पूर्व क्षण का भाव ही कारण है, तो उससे उत्तर क्षण की उत्पत्ति नहीं हो सकती। कार्य तभी उत्पन्न हो सकता है, जब वह कारण से सम्बद्ध हो, किन्तु एक क्षण में कारण कार्य से सम्बद्ध नहीं हो सकता है। कार्य

उत्पन्न होने के लिए दूसरा क्षण चाहिए। यदि दूसरे क्षण तक कारण रहता है, तो क्षणभंगवाद का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है।

यदि कारण से बिना सम्बन्ध पाये कार्य उत्पन्न हुआ मानें, तब किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार कार्य-कारण का सिद्धान्त उच्छिन्न हो जायेगा। अतः कारण को कार्य से अवश्य होना चाहिए, किन्तु क्षणिकवाद में कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता।

बौद्धमत के अनुसार क्षणभंगवाद उत्पाद और निरोध का प्रतिपादन करता है; किन्तु यह उत्पाद और निरोध किसका है, कुछ भी सिद्ध नहीं होता। न वह वस्तु का स्वरूप हो सकता है, न अन्य अवस्था का और न अन्य वस्तु का ही। यदि उत्पत्ति और विनाश वस्तु के स्वरूप हों तो उससे वस्तु शब्द, उत्पत्ति और विनाश शब्द पर्याय होंगे। अर्थात् एक ही पदार्थ के दो नाम होंगे। यदि उत्पत्ति और विनाश शब्दों से मध्यवर्ती वस्तु की आदि और अन्तिम अवस्थायें हैं - ऐसा मानें तो वस्तु में आदि, मध्य और अन्त तीन क्षण माननें होंगे और क्षणिकत्व मत की हानि होगी। यदि अश्व और भैंस के समान उत्पाद और निरोध वस्तु से अत्यन्त भिन्न हों तो उत्पाद और निरोध से वस्तु असम्बद्ध होगी और वस्तु के शाश्वत होने का प्रसंग होगा। यदि दर्शन और अदर्शन वस्तु का उत्पाद और निरोध हो तो ऐसा होने पर वे द्रष्टा के धर्म होंगे, वस्तु के धर्म न होंगे। इस स्थिति में भी वस्तु के शाश्वत होने का प्रसंग होगा।[३८]

बौद्ध मत में चार प्रकार के हेतुओं को प्राप्त कर चित्त और चैत्त की उत्पत्ति मानी गई है। वे चारों आलम्बन प्रत्यय, समानान्तर प्रत्यय, सहकारी प्रत्यय और अधिपति प्रत्यय कहलाते हैं। इस सिद्धान्त का क्षणभंगवाद से विरोध है। निर्हेतुक उत्पत्ति मानने पर प्रतिबन्ध के अभाव में सर्वत्र सब कुछ उत्पन्न हो सकेगा। यदि उत्तर क्षण पर्यन्त पूर्व क्षण ही मानें तो एक ही क्षण में कार्य और कारण दोनों विद्यमान रहेंगे और प्रतिज्ञा का बोध होगा। सब संस्कार क्षणिक हैं, यह प्रतिज्ञा बाधित होगी।[३९]

बौद्ध मत में सब वस्तुओं की क्षणिकता स्वीकार की गयी है। वे इस क्षणिकता के ज्ञाता को भी क्षणिक मानते हैं। शंकर कहते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता। क्षणिकता का ज्ञाता स्थिर होना चाहिए, तभी उसका ज्ञान होगा और स्मृति भी सम्भव होगी। अनुभव-उपलब्धि के अनन्तर उत्पन्न हुआ स्मरण ही अनुस्मृति है। इस अनुस्मृति और पूर्व उपलब्धि का कर्त्ता एक ही हो, तभी अनुस्मृति हो सकती है क्योंकि एक पुरुष के अनुभव के विषय में अन्य पुरुष की स्मृति नहीं होती। अनुभव और स्मरण का एक कर्त्ता होने पर 'मैंने यह देखा था और अब मैं यह देखता हूँ' ऐसा प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा प्रत्यय सर्वलोक प्रसिद्ध है।

यदि अनुभव और स्मृति के कर्ता भिन्न पुरुष हों तो स्मरण करने वाला कहेगा - 'अन्य ने जो अनुभव किया था, उसका मैं स्मरण करता हूँ' परन्तु, किसी को ऐसी प्रतीति नहीं होती। अतः अनुभव-कर्ता और स्मृति-कर्ता एक ही आत्मा होना चाहिए। वह क्षणिक सिद्ध नहीं किया जा सकता, इसलिए बौद्धों के क्षणिकत्व सिद्धान्त की हानि होती है।

जैसे अनुभव-कर्ता और स्मृति-कर्ता एक ही है, वैसे ही जन्म से मरण पर्यन्त एक के पीछे एक अनुभव और स्मृतियाँ होती रहती हैं और उन सबका कर्ता एक ही आत्मा अनुभव में आता है। ऐसा अनुभव करते हुए भी क्षणभंगवादी का विपरीत सिद्धान्त प्रतिपादित करना उचित नहीं कहा जा सकता।

अनुभव और स्मृति-कर्ताओं को दो किन्तु सदृश मानने से भी आत्मा की क्षणिकता सिद्ध नहीं होती। जब हम कहते हैं कि 'यह उस जैसा है' तो दोनों का अनुभव-कर्ता एक ही सिद्ध होता है। अनुभव-कर्ता को यह कभी प्रतीत नहीं होता कि एक क्षण पहले कोई अन्य था और अब मैं उसके समान दूसरा हूँ। 'जिसे मैंने पहले दिन देखा था, वही आज मैं स्मरण करता हूँ।' इस प्रकार निश्चित तद्‌भाव का ज्ञान होता है।[४०]

## (२) अभाव से भाव की उत्पत्ति का खण्डन

कार्य-कारण के सिद्धान्त मुख्य रूप से दो हैं - सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद। दोनों ही सिद्धान्तों में कारण को सत् माना गया है। सत्कार्यवाद में कार्य कारण में पहले से विद्यमान रहता है, किन्तु असत्कार्य ऐसा नहीं मानता। बौद्ध-दर्शन में स्थायी और अनुयायी कारण स्वीकार नहीं किया गया है; अतः वे अभाव से भाव की उत्पत्ति मानते हैं। उनके मत से 'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' अर्थात् कारण के नाश हुए बिना कार्य का प्रादुर्भाव नहीं होता। इस प्रकार वे अभाव से भाव की उत्पत्ति दिखाते हैं। बीज के नष्ट होने से अंकुर उत्पन्न होता है, विनष्ट दूध से दही बनता है और विनष्ट मिट्टी से घट निर्मित होता है। वे यह भी तर्क देते हैं कि यदि कूटस्थ कारण से कार्य उत्पन्न हो तो कूटस्थत्व होने से सबसे सब उत्पन्न होगा। अतः नष्ट बीज से ही अंकुर का उत्पन्न होना उचित है।

शंकर इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं - अभाव से भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि अभाव से भाव उत्पन्न हो, तो अभावत्व के सर्वत्र समान होने से कारण-विशेष को स्वीकार करना निष्फल हो जायेगा। विनष्ट हुए बीज का जो अभाव है, उस अभाव और शशविषाण आदि के अभाव में एक समानता है। अतः बीज से ही अंकुर उत्पन्न होता है और दूध से ही दही बनता है - इस प्रकार कारण स्वीकार

करने में कोई प्रयोजन नहीं है। विशेषरहित अभाव को कारण रूप स्वीकृत करने से शशविषाण आदि से भी अंकुर उत्पन्न होंगे, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता।

यदि प्रत्येक वस्तु के अभाव की अपनी एक विशेषता या गुण माना जाय तो उस विशेषता का आश्रयभूत अभाव भी भाव रूप ही मानना होगा और उस वस्तु से कुछ भिन्न न होगा, जिसका वह अभाव है।

कटस्थ कारण से कार्य की उत्पत्ति असम्भव नहीं है। उदाहरण के रूप में स्थिर रहने वाला स्वर्ण कारण है तो उससे कंगन की उत्पत्ति हो सकती है और स्वर्ण कंगन में बिना नष्ट हुए विद्यमान रहता है। बीज और अंकुर के दृष्टान्त में ऐसा प्रतीत होता है मानो बीज नष्ट हो जाता है, किन्तु शंकर कहते हैं कि ऐसा नहीं होता है। बीज के तत्व अंकुर रूप में विद्यमान रहते हैं। असत् शशविषाण से सत् की उत्पत्ति नहीं देखी जाती और सत् स्वर्ण से सत् की उत्पत्ति देखी जाती है, अतः अभाव से भाव की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती।

## (३) प्रतिसंख्यानिरोध आदि का खण्डन

सौत्रान्तिक मत में प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध और आकाश को अवस्तु और अभाव मात्र मानते हैं। भावों के बुद्धिपूर्वक निरोध को प्रतिसंख्यानिरोध कहते हैं। इसके विपरीत अबुद्धिपूर्वक भावों का निरोध अप्रतिसंख्यानिरोध कहलाता है। ये तीनों बौद्ध शब्दावली में 'असंस्कृत धर्म' हैं क्योंकि वे अवस्तु रूप हैं और संघात नहीं हैं। उनकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होता। प्रतिसंख्यानिरोध निर्वाण है। वह अन्तिम मुक्ति की अवस्था है। यह सदा के लिए होता है। अप्रतिसंख्यानिरोध में धर्मों का अप्रत्यक्ष होता है क्योंकि प्रत्यक्ष कराने वाले प्रत्यय नहीं रहते हैं। जब हमारा ध्यान एक वस्तु पर होता है, तो अन्य वस्तुयें नहीं दिखाई देतीं। इस समय उन वस्तुओं का अभाव नहीं होता है, वरन् जिन साधनों से उनका प्रत्यक्ष होता है, वे अनुपलब्ध होते हैं। आकाश को वे आवरण का अभाव मानते हैं। यह सदा सर्वत्र व्याप्त अनिरूपाख्य वस्तु है, अतः उसे अवस्तु या असंस्कृत वस्तु मानना चाहिए।[४१]

शंकर प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध को असम्भव मानते हैं। बौद्ध सर्वास्तिवादिओं की मान्यता है कि प्रतिसंख्यानिरोध एवं अप्रतिसंख्यानिरोध शाश्वत् और अभावात्मक दोनों हैं, किन्तु शंकर का कहना है कि यदि ये शाश्वत् हैं तो उन्हें भावात्मक होने चाहिए। शाश्वत् वस्तु अभावात्मक नहीं हो सकती। अभावात्मक वस्तु न शाश्वत् हो सकती है और न अशाश्वत।[४२] शंकर यही तर्क आकाश के सम्बन्ध में भी देते हैं।

बौद्ध वस्तुवादी मानते हैं कि प्रतिसंख्यानिरोध एवं अप्रतिसंख्यानिरोध दोनों में

अविद्या का निरोध सम्मिलित है। इस सम्बन्ध में शंकर पूछते हैं कि क्या अविद्या का निरोध सम्यक् ज्ञान द्वारा उत्पन्न होता है अथवा स्वयं से ही उत्पन्न हो जाता है? यदि यह सम्यक् ज्ञान द्वारा उत्पन्न होता है तो बौद्धों के क्षणिकवाद के सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है क्योंकि क्षणिकवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु स्वरूपतः क्षणिक एवं प्रवाहशील है और यदि यह स्वयं से उत्पन्न होता है तो महात्मा बुद्ध की अष्टांगमार्ग सम्बन्धी शिक्षा निरर्थक हो जाती है।[४३]

आकाश को अभावात्मक तत्त्व इसलिए भी नहीं कह सकते क्योंकि उपनिषदों में इसे ब्रह्म अथवा आत्मा से उत्पन्न भावात्मक तत्त्व माना गया है।[४४] यदि, जैसा कि बौद्ध वस्तुवादी मानते हैं, वायु आकाश में रहती है तो आकाश अभावात्मक कैसे हो सकता है?[४५] आकाश को एक ही साथ वायु का आधार एवं अभावात्मक मानना तर्कसंगत नहीं है।

## (४) बौद्धों के विभिन्न सम्प्रदायों के मतों का खण्डन

प्रतिपत्ति के भेद से अथवा शिष्यों के भेद से बौद्ध मत की चार शाखायें प्रसिद्ध हैं। उन्हें वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक कहते हैं। बुद्ध वचनों का संग्रह कई ग्रन्थों में किया गया है, उनमें से एक ग्रन्थ का नाम अभिधर्मविभाषा है। बुद्ध के शिष्यों में से जो लोग उस ग्रन्थ को प्रामाणिक मानते हैं, वैचाषिक कहते हैं। सूत्रपर्यन्त (सुत्तान्त) बुद्ध के वचनों को प्रामाणिक मानने वाले बौद्ध उन्हें सौत्रान्तिक हैं। योग (समाधि) द्वारा आलय विज्ञान का साक्षात्कार करने वाला योगाचार है। उसे विज्ञानवादी भी कहते हैं। भाव और अभाव दोनों से रहित सर्वस्वभाव शून्य मध्यमा प्रतिपत् को स्वीकार करने वाले माध्यमिक कहे जाते हैं। उन्हें सर्वशून्यवादी भी कहते हैं। शंकराचार्य ने वैभाषिक और सौत्रान्तिक को एक में मिला कर सिद्धान्त की दृष्टि से उन्हें सर्वास्तिवादी कहा है और बौद्ध मत के तीन ही सम्प्रदाय माने हैं - सर्वास्तिवादी, विज्ञानास्तित्ववादी और सर्वशून्यत्ववादी।

### (क) सर्वास्तित्ववाद की आलोचना

सर्वास्तित्ववाद का अर्थ वस्तुवाद है। इसके अनुसार सभी बाह्य और आन्तरिक वस्तुयें सत् हैं। बाह्य और अन्तर उभय पदार्थों में आस्था रखने वाले शिष्यों को बुद्ध ने 'उभयं सत्यम्' का उपदेश दिया। बाह्य पदार्थ भूत और भौतिक हैं। उनके मतानुसार वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी चार ही भूत हैं और इनके संघात् से निर्मित सभी पदार्थ भौतिक हैं। चारों भूत परमाणुओं से निर्मित हैं। पृथ्वी के परमाणु कठिन, जल के स्निग्ध, अग्नि के उष्ण और वायु के चलन स्वभाव के होते हैं, इसीलिए पृथ्वी आदि

में कठिनता आदि के गुण उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार नामक पाँच स्कन्ध हैं। ये आन्तरिक पदार्थ हैं। ये सर्वव्यवहार के विषय रूप से संघटित होते हैं। स्कन्ध का अर्थ समुदाय है। जिससे निरूपण किया जाय अथवा जिसका निरूपण किया जाय, वह रूप है। इसलिए विषय सहित इन्द्रियाँ रूप स्कन्ध हैं। यद्यपि रूप आदि विषय बाह्य हैं तो भी देह में स्थित इन्द्रियों से ग्राह्य होने के कारण वे आध्यात्मिक हैं। अहम् रूप में अनुभव होने वाला आलय विज्ञान ही विज्ञान स्कन्ध है। सुख-दुःख का अनुभव वेदना स्कन्ध है। इन्द्रिय-विषयों का बोध और उनके नाम का ज्ञान संज्ञा है। राग, द्वेष, मोह, धर्म, अधर्म आदि संस्कार स्कन्ध हैं। इनमें विज्ञान को चित्त और शेष चार को चैत्य कहते हैं। इस प्रकार पाँचों स्कन्धों को संक्षेप में 'चित्त और चैत्य' भी कह सकते हैं।[४६]

सर्वास्तित्ववाद का खण्डन करते हुए शंकर कहते हैं कि अन्तर या बाह्य कोई संघात संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि 'सामुदायिनामचेतनत्वात्' अर्थात् समस्त समुदायी अचेतन हैं।[४७] वे समस्त परमाणु अचेतन हैं, जिनके मिलने पर पृथ्वी आदि का संघात बनता है। अचेतन वस्तुयें स्वयं आपस में नहीं मिल सकती हैं। यह हम वैशेषिक के परमाणुवाद पर विचार करते समय विस्तारपूर्वक देख चुके हैं। सर्वास्तित्ववादी चेतना की उत्पत्ति अचेतन परमाणुओं के संघात से मानते है, अतः चेतना संघात बनने के पूर्व उपलब्ध नहीं रहती है। चेतना के अभाव में अचेतन परमाणुओं में गति सिद्ध नहीं की जा सकती है। 'चित्ताभिज्वलनस्य च समुदायसिद्धयधीनत्वात्' अर्थात् चित्ताभिज्वलन समुदायसिद्धि के अधीन है।[४८] इसके अतिरिक्त अन्य कोई नित्य चेतना नहीं है। उसके अभाव में जड़-परमाणुओं का संघात निर्मित नहीं हो सकता।

यदि यह माना जाय कि जड़ परमाणु स्वतः सक्रिय रह सकते हैं, क्रिया उनका स्वभाव है, तो उनके द्वारा सृष्टि का सृजन निरन्तर चलता रहेगा। यह सृष्टि कभी परमाणु रूप में परिवर्तित न होगी। यदि सृष्टि कभी परमाणु रूप में नहीं बदलती है तो यह कहना निरर्थक है कि यह सृष्टि परमाणुओं से निर्मित है।

आलयविज्ञान से परमाणु संचालित नहीं हो सकते। वह या तो सन्तानों से अन्य हैं अथवा अनन्य हैं। इन्हीं दो रूपों में उसकी कल्पना की जा सकती है। यदि उसे अन्य मानें तो वह वेदान्तियों की आत्मा के अतिरिक्त क्या हो सकता है? यदि अनन्य है तो वह क्षणिक है और क्षणिक वस्तु से न कुछ उत्पन्न हो सकता है और न वह किसी अन्य वस्तु को अपनी क्रिया से प्रेरित कर सकती है। यदि इस प्रकार जगत् का निर्माण नहीं होता है तो प्राणियों का कोई व्यवहार भी सम्भव नहीं होगा।

बौद्ध कहते हैं कि यद्यपि भोक्ता अथवा ईश्वर जैसा स्थिर चैतन्य नहीं है जो परमाणुओं का संघात करे, किन्तु अविद्या आदि का भाव-चक्र परस्पर कारण होने से लोकयात्रा हो सकती है। भाव-चक्र को ही द्वादश-निदान कहते हैं। इसमें अविद्या,

संस्कार, विज्ञान, नाम-रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरा-मरण बारह कड़ियाँ गिनाई जाती हैं। बौद्ध-दर्शन में इनका कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तारसहित वर्णन है। क्षणिक, दुखद, असार और हेय विषयों को नित्य, सुखदाई और प्राप्तव्य मान लेना अविद्या है। इसके कारण संस्कार उत्पन्न होते हैं। संस्कार से विज्ञान (चैतन्य) उत्पन्न होता है। गर्भावस्था में भ्रूण में जो चेतना आती है वह पूर्व जन्म के संस्कार के कारण ही है। चेतना होने पर नाम-रूप अर्थात् गर्भस्थ शरीर और मन वृद्धि पाते हैं। उसमें षडायतन की उत्पत्ति होती है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन षडायतन कहलाते हैं। इनमें स्पर्श का अनुभव होता है। इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्पर्क ही स्पर्श है। स्पर्श से सुख-दुःख की वेदना होती है। वेदना से तृष्णा उत्पन्न होती है और विषयों के बार-बार प्राप्त होने की इच्छा होती है। तृष्णा से उपादान की उत्पत्ति होती है अर्थात् विषयों से लिप्त रहने की प्रवृत्ति होती है। उपादान से जन्म धारण करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, उसे भव कहते हैं। भव से जन्म (जाति) होता है और जन्म से मृत्यु अवश्यंभावी होती है। इस द्वादश-निदान के कारण जीवनयात्रा चलती रहती है और अन्तर्बाह्य पदार्थों का संघात भी उसी के कारण होता है।

शंकर इस तर्क को अस्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि यदि यह मान लिया जाय कि अविद्या आदि के कारण इतर-इतर की उत्पत्ति होती है, तो भी उनके द्वारा संघात सिद्ध नहीं किया जा सकता। 'न संघातस्य किंचिन्निमित्तमवगम्येत' अर्थात् संघात का कोई निमित्त अवगत नहीं होता। अविद्या आदि का संघात के साथ कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त, भूति-भौतिक और चित्त-चैत के संघात उत्पन्न होने पर ही अविद्या आदि उत्पन्न होती है। वह शरीर, मन और बुद्धि के संघात पर अवलम्बित है। अतः अविद्या आदि संघातों के कारण नहीं हो सकते।

सर्वास्तिवादी कह सकते हैं कि अविद्या अनादि है और उसके कारण जन्म-मृत्यु का चक्र भी अनादि काल से चला आ रहा है। इस कारण संघातों पर आश्रित रह कर भी अविद्या संघातों का कारण हो सकती है। ऐसी स्थिति में संघातों से संघातों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। यदि संघात समान संघात उत्पन्न करते हैं तो मनुष्य शरीर से मनुष्य शरीर ही उत्पन्न होगा, उसे देवताओं या पशुओं आदि का शरीर प्राप्त न हो सकेगा। इसके विपरीत, यदि संघात से असमान संघात उत्पन्न होता है तो एक क्षण में मनुष्य का शरीर हाथी के शरीर में, हाथी का शरीर देवता के शरीर में और देवता का शरीर मनुष्य के शरीर में बदल जायेगा। ये दोनों ही मत बौद्ध-दर्शन में अमान्य हैं।

संघात जीवात्मा के भोग के लिए होते हैं, किन्तु बौद्धमत में जीवात्मा की सत्ता

नहीं मानी गयी है जो शरीर में रह कर भोग कर सके। अतः शरीर का संघात स्वयं ही भोग करता है और स्वयं ही युक्त होता है, ऐसा मानना पड़ेगा। अतः अविद्या आदि को संघात का कारण मानने पर भी, बिना भोक्ता स्वीकार किये संघातों का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है।

## (ख) विज्ञानवाद की आलोचना

विज्ञानवादी बौद्ध विषयनिष्ठ प्रत्ययवादी हैं। ये विज्ञान के बाहर किसी वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं मानते। उनके अनुसार बुद्ध का यही अभिप्राय था। किन्हीं मन्दबुद्धि शिष्यों का बाह्य पदार्थों में आग्रह देख कर उनके अनुरोध से उन्होंने बाह्यार्थवाद का उपदेश दिया था, किन्तु उन्हें तो एक विज्ञान स्कंधवाद ही अभिप्रेत था।[४६] विज्ञानवाद में बुद्धि के अन्तर्गत ही सब प्रमाण, प्रमेय और फल-व्यवहार स्वीकार किये गये हैं। इस मत के समर्थन में जो युक्तियाँ दी जाती हैं, शंकर ने उनका खण्डन किया है। वे विज्ञानवाद का दृढ़ता से खण्डन करते हैं। वे जाग्रत अवस्था में दिखाई देने वाली बाह्य वस्तुओं की व्यावहारिक सत्ता स्थापित करते हैं। हम आगे विज्ञानवादियों के तर्क एक-एक एक प्रस्तुत करेंगे और शंकर द्वारा उनका खण्डन दिखायेंगे।

(१) विज्ञानवादी कहते हैं कि यदि कोई बाह्य वस्तुयें हों तो वे या तो परमाणु रूप होंगी या उनके संघात रूप। उनमें परमाणु तो स्तम्भ आदि ज्ञान के विषय नहीं हो सकते हैं क्योंकि न परमाणु दिखाई देते हैं और न वस्तुयें ही परमाणु रूप में दिखाई देती हैं। स्तम्भ आदि परमाणुओं के समूह भी नहीं हो सकते क्योंकि उनका परमाणुओं से अन्य रूप से या अनन्य रूप से निरूपण नहीं हो सकता।

इस तर्क का खण्डन करते हुए शंकर कहते हैं कि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व हम अस्वीकार नहीं कर सकते हैं। प्रत्येक ज्ञान में स्तम्भ, भवन, घट, पट आदि बाह्य पदार्थ उपलब्ध होते हैं। 'न चोपलभ्यमानस्यैवाभावो भवितुमर्हति' अर्थात् उपलभ्यमान अर्थ का अभाव नहीं हो सकता। जैसे कोई भोजन करता हुआ व्यक्ति भोजन अपने मुँह में रखे, उसका स्वाद ले और पेट भरने पर तृप्ति का अनुभव करे, फिर भी कहे कि मैं भोजन नहीं करता हूँ, मैं तृप्त नहीं होता हूँ तो उनके वचन उपादेय नहीं हो सकते। इन्द्रियों से बाह्य विषयों का संसर्ग पाकर और अनुकूल-प्रतिकूल वेदना अनुभव कर कोई कैसे कह सकता है कि बाह्य जगत में कोई पदार्थ नहीं है?

(२) अपने मत की रक्षा के हेतु विज्ञानवादी तर्क देते हैं कि यद्यपि इन्द्रियों को विषय उपलब्ध होते हैं, किन्तु विषय भी उपलब्धि का ज्ञान मात्र ही है। हमारे ज्ञान का

नानात्व ही हमारे व्यवहार के लिए पर्याप्त है। बाह्य वस्तुओं के होने की कोई आवश्यकता नहीं है।

शंकर अपने अन्दर चेतना में वस्तु की अनुभूति के अतिरिक्त वस्तु की बाह्य जगत् में स्वतंत्र सत्ता मानते हैं। कोई भी व्यक्ति स्तम्भ, दीवाल, घट, पट को देखता है तो उसे केवल अपने अन्दर उनका ज्ञान ही नहीं होता वरन् उसे यह भी ज्ञान होता है कि वैसी ही वस्तु बाहर विद्यमान है। जो लोग बाह्य वस्तुओं का विरोध करते हैं, उनका विरोध ही बाह्य वस्तुओं के होने का प्रमाण भी है।

जब विज्ञानवादी कहते हैं कि हमारा अन्तर्ज्ञान 'बाह्य वस्तुवत्' भासित होता है, वे सर्वलोक प्रसिद्ध बाह्य वस्तुओं को जानते हुये और उनके प्रत्याख्यान की कामना करते हुए 'बहिर्वत्' शब्द का प्रयोग करते हैं। यदि उन्हें बाहरी वस्तुयें उपलब्ध न हों तो वे बहिर्वत् नहीं कह सकते। यह कोई नहीं कहता है कि विष्णुमित्र बंध्यापुत्र के समान प्रतीत होता है। 'उपलब्धि व्यतिरेकोऽपि बलादर्थस्याभ्युपगन्तव्यः' अर्थात् उपलब्धि से पृथक् भी अर्थ को बलात् स्वीकार करना होगा। वस्तुओं का बाह्य अस्तित्व स्वीकार किये बिना वस्तु-बोध की व्याख्या नहीं की जा सकती।

शंकर इस बात पर भी बल देते हैं कि चेतना के बाहर वस्तुओं का अनस्तित्व इसी बात से सिद्ध नहीं हो जाता कि प्रत्ययों का वही रूप है जो वस्तुओं का है। यदि वस्तुओं का स्वतंत्र और पृथक अस्तित्व न होता जो प्रत्यय उनका आधार नहीं धारण कर सकते थे। हमारी चेतना में वस्तु और प्रत्यय का भेद उपलब्ध होने के कारण प्रत्यय और वस्तु की साथ-साथ उपलब्धि इस बात को सिद्ध करती है कि वस्तु ही प्रत्यय का कारण है। दोनों में तादात्म्य नहीं है।

(३) विज्ञानवादी यह तर्क भी प्रस्तुत करते हैं कि प्रत्यय और उसका विषय सदा साथ उपलब्ध होते हैं। सहोपलम्भ के नियम से विषय और विज्ञान का अभेद प्राप्त होता है। इस कारण बाह्य वस्तुओं की सत्ता नहीं है।

शंकर कहते हैं कि 'सहोपलम्भनियमोऽपि प्रत्ययविषययोरुपायोपेयभावहेतुको नाभेदहेतुकः' अर्थात् ज्ञान और विषय का सहोपलम्भ नियम भी उपायोपेयभाव हेतुक है, अभेद हेतुक नहीं है। उपायोपेयभाव का अर्थ है निमित्त-नैमित्तिक भाव। नेत्र से रूप प्रत्यक्ष के साथ प्रकाश भी उपलब्ध होता है; इस प्रकार रूप और प्रकाश के सहोपलम्भ से दोनों का अभेद नहीं हो जाता है। इसी प्रकार वस्तु और उसका प्रत्यय एक साथ प्राप्त होने पर दोनों को अभिन्न नहीं माना जा सकता। उनके नियत सहोपलम्भ की तर्क-संगत व्याख्या तभी नहीं की जा सकती है जब हम वस्तु को उसके प्रत्यय का कारण मानें।

इसके अतिरिक्त घट-ज्ञान और पट-ज्ञान तथा पट विशेषणों में परिवर्तन होता

है, किन्तु विशेष्य ज्ञान में कोई भेद नहीं होता। दोनों ज्ञानों में चेतना एक समान रहती है। दो परिवर्तनीय कारकों के द्वारा एक अपरिवर्तनीय कारक की उनसे भिन्नता निरन्तर सिद्ध होती है और इसके विपरीत एक अपरिवर्तनीय कारक के द्वारा दो या अधिक परिवर्तनीय कारकों की उनसे भिन्नता सिद्ध होती रहती है। शंकर इसका निर्णय यह निकालते हैं – 'तस्मादर्थज्ञानयोर्भेदः' अर्थात् वस्तु और ज्ञान का भेद है। यदि चेतना और उसमें भासित होने वाली वस्तु एक ही होते और उनके लक्षणों में कोई भेद न होता तो चेतना कभी किसी वस्तु से अलग होने में समर्थ न होती। किन्तु अनुभव इसके बिल्कुल विपरीत है। कभी एक वस्तु का और कभी दूसरी वस्तु का ज्ञान ग्रहण करने में हमारी चेतना वही बनी रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तुएँ चेतना की अंग नहीं हैं। हमारी चेतना से वस्तुओं का पृथक् अस्तित्व है।

(४) विज्ञानवादी बाह्य जगत् की प्रतीति स्वप्न के समान मानते हैं। वे कहते हैं कि जैसे स्वप्न, माया, मरीच्युदक गंधर्वनगर आदि ज्ञान बाह्य वस्तुओं के बिना ही ग्राह्य और ग्राहक रूप में होते हैं वैसे ही जाग्रत् विषयक स्तम्भ आदि ज्ञान भी हो सकते हैं क्योंकि दोंनों ज्ञानों में ज्ञानत्व समान है।

शंकर इसका विरोध करते हुये कहते है – 'न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति' अर्थात् जाग्रत् अवस्था में जानी गई वस्तुयें स्वप्न की वस्तुओं जैसी नहीं हैं, क्योंकि दोनों की प्रकृति भिन्न है। एक तो, जाग्रत-अवस्था के अनुभवों से स्वप्न की वस्तुओं का बोध हो जाता है, किन्तु जागृत अवस्था की वस्तुओं का इस प्रकार बोध कभी नहीं होता। दूसरे, स्वप्न-दर्शन व्यक्ति की वासनाओं के कारण होता है और वह उसकी स्मृति पर आश्रित होता है। इसके विपरीत जाग्रत-दर्शन प्रमाणजन्य है। तीसरे, यदि बाह्य वस्तुयें और स्वप्न की वस्तुयें एक समान होतीं तो हमें उनकी प्रकृति का भेद न ज्ञात होता, किन्तु हम अनुभव करते हैं कि दोनों अवस्थाओं की वस्तुयें रूप में एक समान होते हुये भी प्रकृति और स्थायित्व में भिन्न प्रकार की हैं। चौथे, स्वप्न और जाग्रत की वस्तुओं में कुछ लक्षण एक समान भले ही हों, किन्तु उनके सभी लक्षण एक समान कदापि नहीं हैं। अग्नि का धर्म दाहकता है, किन्तु यदि वह कुछ बातों में जल के समतुल्य है, तो उसमें शीतलता न मिल जायेगी।[५०]

(५) विज्ञानवादी बुद्धि में ही समस्त जगत् की प्रतीति व्यक्ति की वासनाओं के वैचित्रय से निरूपित करते हैं। बीजांकुर न्याय से वासना और बुद्धिगत प्रत्ययों की उत्पत्ति कार्य-कारण भाव से होती रहती है। दोनों एक-दूसरे के कारण हैं। अन्वय और व्यतिरेक से यह ज्ञात होता है कि यह ज्ञान-वैचित्रय वासनानिमित्तक है।

शंकर यह तर्क स्वीकार नहीं करते। केवल वासनाओं से बुद्धि में नानारूप प्रत्ययों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जिन वासनाओं से उत्पन्न प्रत्यय माने जाते हैं, वे वासनायें स्वयं बाह्य वस्तुओं से उत्पन्न होती हैं। जाग्रत अवस्था में जब हम बाह्य

वस्तुओं के सम्पर्क में आते हैं, तो हमारी वासनायें निर्मित होती हैं और उन्हीं से स्वप्न संसार उत्पन्न होता है। किन्तु जाग्रत काल की वस्तुओं का अस्तित्व न होने पर वासनायें ही न होंगी और उनके बिना प्रत्यय रूप विज्ञान भी न होगा। बिना किसी कारण के वासनाओं की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती।

वासनाओं को अनादि मानने से अन्ध परम्परा न्याय से व्यवहार-लोपिनी अप्रतिष्ठारूप अनवस्था होगी। तात्पर्य यह कि प्रत्यय से वासना और वासना से प्रत्यय की उत्पत्ति मानें तो चक्रक दोष और अनवस्था दोष प्राप्त होंगे।

विज्ञानवादी अन्वय-व्यतिरेक से ज्ञान-वैचित्र्य वासनानिमित्तक मानते हैं और बाह्य वस्तुओं का निषेध करते हैं, किन्तु शंकर अन्वय-व्यतिरेक से ही बाह्य वस्तुओं की सत्ता सिद्ध करते हैं। जब वस्तुओं का ज्ञान होता है, तब वासना उत्पन्न होती है और जब वे उपलब्ध नहीं तो वासना भी निर्मित नहीं होती।

इसके अतिरिक्त वासनायें संस्कार रूप हैं। 'संस्काराश्च नाश्रयमन्तरेणावकल्पन्ते' अर्थात् संस्कारों की कल्पना किसी आश्रय के बिना नहीं हो सकती।[५१] व्यवहार में यही देखा जाता है। बौद्धमत में वासना का कोई आश्रय नहीं है क्योंकि उसके लिए कोई प्रमाण नहीं है। सामान्य रूप से आलयविज्ञान को ही वासनाओं का आश्रय माना जाता है, किन्तु वह भी क्षणिक होने के कारण अनवस्थित स्वरूप है। वह भी प्रवृत्ति-विज्ञान के समान वासनाओं का आश्रय नहीं होता।

इसके अतिरिक्त, तीनों कालों में एक अन्वयी, कूटस्थ और सर्वार्थदर्शी सत्ता न मान्य होने के कारण विज्ञानवादी वासनाओं के अधीन स्मृति और प्रत्यभिज्ञा आदि को व्यवहार सिद्ध नहीं कर सकते। यदि आलयविज्ञान को ही कूटस्थ मान लिया जाय तो क्षणिकत्व सिद्धान्त की हानि होती है।

## (ग) शून्यवाद की आलोचना

शंकराचार्य ने शून्यवाद को सर्ववैनाशिक माना है। इसके अनुसार अन्तर्बाह्य किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। माधवाचार्य ने सर्वदर्शन-संग्रह में इस मत की प्रतिपादक युक्ति यही दी है कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान परस्पर आश्रित हैं। एक का अस्तित्व शेष दो पर आश्रित होता है। यदि उनमें से कोई एक असत् हो तो शेष भी असत् होंगे। उदाहरण रूप, यदि रज्जुसर्प मिथ्या है तो उसका ज्ञाता और ज्ञान भी मिथ्या होगा। स्वप्न जगत् में स्वप्न की वस्तुयें ही मिथ्या नहीं होतीं किन्तु स्वप्न का द्रष्टा भी तद्वत् मिथ्या होता है। अतः यदि विज्ञानवाद बाह्य वस्तुओं को अस्तित्वहीन सिद्ध करता है तो विज्ञान या चित्त-चैत्त भी वैसे ही सिद्ध हो जाते हैं। नागार्जुन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ माध्यमिककारिका में इसी प्रकार की उक्तियाँ दी हैं और समस्त अन्तर्बाह्य जगत् को

स्वभाव शून्य कहा है। वह शून्यता को सत् और असत् के मध्य स्वभावरहित कहता है, इसलिये उसका दर्शन मध्यमकशास्त्र कहलाता है। शंकर उसे मध्य में न रख कर असत्वादी या सर्ववैनाशिकवादी मानते हैं। इसी दृष्टि से उन्होंने शून्यवाद का खण्डन किया है।

ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखते हुए शंकर ने शून्यवाद का उस प्रकार विस्तृत खण्डन नहीं किया है जैसे सर्वास्तित्ववाद और विज्ञानवाद का। शून्यवाद पर आने पर वे लिखते हैं - 'शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निकराकरणाय नादरः क्रियते' अर्थात् शून्यवादी पक्ष तो सर्वप्रमाण विरुद्ध है, इससे उसके निराकरण में आदर नहीं किया जाता है। यहाँ शंकर शून्यवाद के विरुद्ध एक यही युक्ति देते हैं कि सर्वप्रमाण सिद्ध इस लोक-व्यवहार का कोई भिन्न तत्व स्वीकार किये बिना निषेध नहीं किया जा सकता। 'अपवादाभाव उत्सर्गप्रसिद्धेः' अर्थात् अपवाद के अभाव में उत्सर्ग प्रसिद्ध है।[५२]

## मीमांसा दर्शन की आलोचना

### कर्मवाद का खण्डन

मीमांसा-दर्शन को कर्म-मीमांसा भी कहते हैं। यह वेदों के कर्म-काण्ड को महत्व देता है। इसके अनुसार वेदों की सार्थकता का सूत्र है 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्य-मतदर्थानाम्' अर्थात् वेद क्रियाअर्थक है और अक्रियार्थक वेद अनर्थक है। कर्म के द्वारा ही स्वर्ग और अपवर्ग प्राप्त हो सकता है। मीमांसा का यह कर्मवाद प्रमुख सिद्धान्त है, जिसकी शंकर ने आलोचना की है। इसके अतिरिक्त मीमांसा में सृष्टि-रचना और जीव सम्बन्धी सिद्धान्त न्याय-वैशेषिक आदि अन्य दर्शनों से मिलते-जुलते हैं। उनका खण्डन वैशेषिक आदि के अन्तर्गत हो जाता है, इसलिए उसकी पुनरावृत्ति करना अपेक्षित नहीं है।

**(क) सभी श्रुति-वाक्य क्रियार्थक नहीं** - मीमांसा के अनुसार विधि, निषेध, अर्थवाद, मन्त्र और नामधेयात्मक समस्त वेद साक्षात् या परम्परा से यज्ञ आदि क्रियाओं तथा उनके उपकरण अंगों का प्रतिपादक है, जैसे 'स्वर्गकामो यजेत', 'दध्ना जुहोति' इत्यादि। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि वेद-वाक्य क्रियापरक नहीं हैं, किन्तु सिद्ध वस्तु ब्रह्मपरक हैं, अतः वे निष्फल हैं।

शंकर इस मत का निषेध करते हुए कहते हैं कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारणभूत ब्रह्म वेदान्त-वाक्यों से जाना जाता है। ऐसे वेदान्त-वाक्य क्रियापरक नहीं हैं, किन्तु उन्हें निष्फल नहीं कहा जा सकता

क्योंकि वे ब्रह्म का ज्ञान कराते हैं। ऐसा न मानें तो श्रुति प्रतिपादित अर्थ की हानि और अश्रुत अर्थ की कल्पना करनी पड़ेगी।[५३]

**(ख) वेदान्त-वाक्य क्रिया विधि के अंग नहीं** - मीमांसक वेदान्त-वाक्यों को बिल्कुल निरर्थक होने के दोष से बचाने के लिए उन्हें कर्ता तथा देवता आदि का प्रकाशन रूप प्रयोजन वाले होना मानते हैं। इस प्रकार वे क्रिया विधि के अंग होकर सार्थक हो जायेंगे।

शंकर कहते हैं कि वेदान्त-वाक्यों का कर्ता के स्वरूप प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं हो सकता है क्योंकि कुछ श्रुतियाँ क्रिया, कारक और फल का निषेध करती हैं। उदाहरणार्थ, 'तत्केन के प्रत्येत्' अर्थात् ब्रह्मविद्या काल में कौन कर्त्ता, किस कारण से, किस विषय को देखे।[५४] मीमांसक कर्ता का तात्पर्य यज्ञ आदि कर्ता मानते हैं। यदि उस कर्ता का स्वरूप निर्धारित करते हुये श्रुति कहे कि वह किसी इन्द्रिय के द्वारा कुछ नहीं देखता है, तो वह कर्ता यज्ञ की कैसे कर सकेगा? इस प्रकार दोनों वाक्यों की संगति नहीं बैठ सकती।'[५५]

**(ग) वेदान्त-वाक्य सिद्ध वस्तु के प्रतिपादक नहीं** - मीमांसक मानते हैं कि ब्रह्म तो सिद्ध वस्तु है। सिद्ध वस्तु प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय होती हैं और वह हेयोपादेय (त्याज्य या प्राप्तव्य) रहित होती हैं। ऐसी वस्तु के प्रतिपादन में श्रुति का कोई पुरुषार्थ नहीं है। वेद तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के अविषय स्वर्ग आदि फल और उनके साधन भूत यज्ञ आदि कर्मों का प्रतिपादक है। अतः प्रसिद्ध है - 'अज्ञातज्ञापकत्वं हि वेदानां प्रामाण्यम्' अर्थात् प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से अज्ञात वस्तु का ज्ञापकत्व ही वेदों का प्रामाण्य है। यदि वेद ज्ञात या सिद्ध वस्तु का वर्णन करें तो वह अनुवाद मात्र कहलायेगा, इससे वेदों में प्रामाण्य सिद्ध नहीं होगा। इसलिए वेदान्त-वाक्यों को सिद्ध वस्तुपरक न मान कर कर्म अथवा उपासना के लिए ही मानना चाहिए।

शंकर इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि ब्रह्म प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय नहीं है, किन्तु 'तत्वमसि' जैसे वेदान्त-वाक्यों के बिना ब्रह्मात्मभाव अवगत नहीं होता है। श्रुतियाँ स्वयं कहती हैं कि जैसे नमक जल में रहता है, फिर भी दिखाई नहीं देता। वह निश्चित ही इस जल में है, वैसे ही इस शरीर में विद्यमान सद्ब्रह्म का प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से अनुभव नहीं होता, किन्तु वेदान्त वाक्यों से इस शरीर में उसका अपरोक्ष हो सकेगा।[५६] शिष्य गुरु के पास जाकर कहता है 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' अर्थात् मैं आपसे उपनिषद् प्रतिपादित पुरुष के विषय में पूछता हूँ।[५७] इन वाक्यों से ब्रह्म की अपूर्वता और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से अज्ञेयता सिद्ध होती है।[५८]

'हेयोपादेय रहित होने से ब्रह्म का उपदेश निष्फल है' - यह जो कहा गया है, वह दोष नहीं है क्योंकि हेयोपादेय रहित ब्रह्मात्मभाव के अवगत होने से ही सब क्लेशों

की निकृति और परमपुरुषार्थ की सिद्धि होती है।[५६] श्रुति स्वयं इसका समर्थन करती है – 'अशरीर शरीरेष्वन वस्थेष्व वस्थितम्, महान्तं विभुमात्मानं भत्वा धीरो न शोचनि' अर्थात जो शरीरों से शरीर रहित तथा अनित्यों में नित्य स्वरूप है, उस महान् और सर्वव्यापक आत्मा को जान कर विद्वान शोक नहीं करता है।[६०]

**(घ) केवल उपासनापरक मानने से विरोध** – मीमांसक कहते हैं कि यद्यपि ब्रह्म को शास्त्र प्रमाणक मान लिया जाय, तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उपासना विधि के विषय रूप से ही शास्त्र ब्रह्म का बोध कराता है। इसका कारण यह है कि शास्त्र प्रवृत्ति तथा निवृत्ति प्रयोजन वाला है। वह पुरुष को किसी एक विषय में प्रवृत्त करता हुआ और किसी एक विषय से निवृत्त करता हुआ सार्थक होता है। दूसरे वाक्य इसके अंगभूत होकर उपयुक्त होते हैं। अतः ब्रह्म की उपासना में नियोजित करने के कारण वेदान्त-वाक्य सार्थक हो सकते हैं। 'आत्मानमेव लोकमुपासीत' – ज्ञानस्वरूप आत्मा की ही उपासना करें।[६१]

ब्रह्म के श्रवण मात्र से श्रोता की संसारित्व-भ्रान्ति निवृत्त नहीं होती; उसे पूर्व के समान सुख-दुःखादि संसारी धर्म देखने में आते हैं। अतः श्रवण के बाद मनन और निदिध्यासन की विधि देखने में आती है। इसलिए यह स्वीकार करना चाहिए कि उपासना विधि विषयक होने से ब्रह्म शास्त्र प्रमाणक है।

शंकर इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि ऐसा नहीं है। कर्म और ब्रह्मविद्या के फल में वैलक्षण्य है। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म श्रुति और स्मृति में धर्म नाम से प्रसिद्ध हैं। उसके विषय में जिज्ञासा करना धर्म-जिज्ञासा कहलाती है। इसके साथ ही परिहार के उद्देश्य से वर्णित प्रतिषेध होने से हिंसा आदि रूप अधर्म भी जिज्ञास्य हैं। इस धर्माधर्म के फलस्वरूप विषय और इन्द्रियों के संयोग से प्राप्त होने वाला सुख-दुःख रूप फल सर्व प्रसिद्ध है। मनुष्य से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सभी शरीरधारियों में सुख का तारतम्य श्रुति कहलाती है। उससे सुख के साधनभूत धर्म का तारतम्य ज्ञात होता है। धर्म के तारतम्य से अधिकारी का तारतम्य अवगत होता है। इसी प्रकार जीवों में दुःख का तारतम्य देखने से उसके हेतुभूत अधर्म का तारतम्य ज्ञात होता है। अविद्या आदि दोष विशिष्ट जीवों के धर्म अधर्म के तारतम्य से शरीर ग्रहण पूर्वक सुख-दुःख का तारतम्य अनित्य संसार रूप है। इसीलिए श्रुति कहती है कि सशरीर आत्मा के सुख-दुःख का विनाश नहीं होता।[६२]

इसी से यह अवगत होता है कि अशरीरी आत्मा को मिथ्या देह सम्बन्धी सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते। आत्मा की यह शरीर रहित अवस्था ही मोक्ष है। मोक्ष को धर्म का कार्य नहीं मान सकते अन्यथा प्रियाप्रिय स्पर्श का प्रतिषेध अनुपपन्न होगा। अतएव अनुष्ठेय कर्मफल से विलक्षण मोक्ष नामक अशरीरत्व नित्य है, यही सिद्ध होता है। श्रुति भी उसके लिए 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (धर्म-अधर्म से भिन्न) कहती है।

इसलिए कर्मफल से विलक्षण होने के कारण वह अशरीर मोक्ष ब्रह्म है। उसकी जिज्ञासा ब्रह्म-जिज्ञासा कहलाती है। अनेक श्रुतियाँ ब्रह्मज्ञान के अनन्तर मोक्ष दिखलाती हैं। ज्ञान और मोक्ष के बीच कार्य को निषेध किया गया है। मोक्ष के प्रतिबन्धक अज्ञान की निवृत्तिमात्र आत्मज्ञान का फल है। मिथ्याज्ञान की निवृत्ति ब्रह्मात्मैकत्व ज्ञान से होती है।

**(ङ) आत्मज्ञान में मानसिक क्रिया का निषेध** - मीमांसक ज्ञान को मानसिक क्रिया मान कर मोक्ष को कर्म से प्राप्य बताते हैं। शंकर ज्ञान को कर्म से विलक्षण मानते हैं। क्रिया के सामान्यतः चार रूप होते हैं - उत्पत्ति, विकृति, आप्ति और संस्कृति। संक्षेप में, यदि मोक्ष उत्पाद्य हो तो वह अनित्य होगा, जैसा कि सभी उत्पाद्य वस्तुओं में देखा जाता है। इसी प्रकार दधि आदि विकारी पदार्थ भी नित्य नहीं होते, इसलिए मोक्ष विकार्य भी नहीं है। ब्रह्म आत्मरूप होने के कारण प्राप्य भी नहीं है। यदि ब्रह्म को आत्मा से भिन्न मानें तो भी वह प्राप्य नहीं है, क्योंकि आकाश के समान सर्वव्यापक होने के कारण वह नित्य है। मोक्ष संस्कार्य भी नहीं है। मोक्ष ब्रह्मस्वरूप है, अतः न उसमें कोई गुण लाया जा सकता है और न उसमें कोई दोष है जो हटाया जा सके। अतः 'ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते' अर्थात् मोक्ष में केवल ज्ञान के सिवा क्रिया के लेशमात्र का भी सम्बन्ध नहीं है।

ज्ञान मानसी क्रिया भी नहीं है। वस्तु स्वरूप की अपेक्षा के बिना जहाँ जिसका विधान किया जाता है, वह क्रिया है और वह पुरुष संकल्प के अधीन है। ध्यान-चिन्तन आदि मानसी क्रियायें हैं। वे पुरुष के अधीन होने के कारण पुरुष द्वारा करने न करने अथवा अन्य प्रकार करने योग्य है। ज्ञान तो प्रमाणजन्य है और प्रमाण यथार्थ वस्तु विषयक होता है, इसलिए ज्ञान करने न करने अथवा अन्य प्रकार से करने के योग्य नहीं होता। वह केवल वस्तु के अधीन है, न विधि के अधीन है और न पुरुष के अधीन। अतः मानसिक होने पर भी ज्ञान का ध्यान से महान अन्तर है।

शंकर ज्ञान और मानसी-क्रिया का अन्तर एक दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं। यदि हम कहें 'पुरुष अग्नि है, स्त्री अग्नि है' तो यहाँ पुरुष और स्त्री में अग्नि-बुद्धि मानसिक है और वह केवल विधिजन्य होने के कारण क्रिया ही है। वह पुरुष के ही अधीन, किन्तु प्रत्यक्ष विषय-वस्तु (अग्नि) के अधीन है। अतः वह ज्ञान है, क्रिया नहीं। इसी प्रकार समस्त प्रमाण विषयक वस्तु में भी समझना चाहिए। ब्रह्मात्म विषयक ज्ञान भी विधि के अधीन नहीं है, अतः वह कर्म नहीं है।

## ईश्वर-निमित्तकारणवाद का खण्डन

कुछ दार्शनिक ईश्वर को जगत् का केवल निमित्त कारण मानते हैं। सेश्वर सांख्य और योग मत में ईश्वर को प्रकृति और पुरुष का अधिष्ठातृ कह कर जगत्

का निमित्त कारण बताया गया है। प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। प्रकृति, पुरुष और ईश्वर तीनों पृथक हैं। माहेश्वर मत (शैव) ऐसा मानता है कि कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त (मोक्ष) ये पाँच पदार्थ पशुपति ईश्वर से पशुपाश अर्थात जीव-बन्धन विनष्ट करने के लिए उपदिष्ट हैं। पशुपति और प्रकृति जगत् के पृथक् निमित्त और उपादान कारण हैं। उसी प्रकार उत्तर न्याय और वैशेषिक दर्शन में भी अपनी प्रक्रिया के अनुसार ईश्वर को निमित्त कारण मानते हैं और परमाणुओं को उपादान कारण निरूपित करते हैं। शंकर इस मत के खण्डन हेतु निम्नलिखित युक्तियाँ देते हैं।

**(क) राग-द्वेष आदि दोषों का खण्डन** – यदि ईश्वर केवल निमित्त कारण है तो वह हीन, मध्यम और उत्तम भाव के प्राणियों को उत्पन्न करेगा और 'रागद्वेषादिदोषप्रसक्ते-रस्मादादिवत् अनरीश्वरत्वं प्रसज्येत' अर्थात वह रागद्वेष आदि दोषों से प्रसक्त होकर हम लोगों के समान जीवतुल्य हो जायेगा।[६३] इस दशा में अनीश्वरत्व ही सिद्ध होगा और उसे ईश्वर नहीं कहा जा सकता।

**(ख) अन्यान्याश्रय दोष** – यदि यह कहें कि ईश्वर समस्त प्राणियों की रचना उनके ही शुभाशुभ कर्मों के अनुसार करता है, इसलिए उसमें राग-द्वेष का दोष नहीं आता है, तो ईश्वर का कृतित्व जीवों के शुभाशुभ कर्मों पर आश्रित होगा और जीवों को अपने कर्म-फल भोग के लिए ईश्वर पर आश्रित होना होगा। इस प्रकार 'इतरेतराश्रयदोष प्रसंगात्' अर्थात् एक दूसरे पर आश्रय रखने का दोष प्राप्त होगा।

यदि ईश्वर सृष्टि-कर्तृत्व और जीव के कर्मफल भोक्तृत्व को अनादि मानें तो भी समस्या का समाधान नहीं होगा क्योंकि वर्तमान काल के समान प्रतीत काल में भी अन्योन्याश्रय दोष मानना पड़ेगा और अन्धपरम्परा न्याय प्रसक्त होगा।[६४]

**(ग) ईश्वर में स्वार्थ दोष** – न्याय-दर्शन का मत है – 'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः' प्रवृत्ति के हेतु भूत दोष है। इस मत के अनुसार कोई भी दोष के बिना स्वार्थ या परार्थ में प्रवृत्त हुआ नहीं देखा जाता। स्वार्थ में प्रयुक्त हुए ही सब लोग परार्थ में भी प्रवृत्त होते हैं, अतः ईश्वर में यह दोष भी आता है और वह ईश्वर कहलाने योग्य नहीं रह जाता।[६५]

**(घ) पुरुषविशेष में उदासीनता** – योग-दर्शन ईश्वर को एक ऐसा पुरुष विशेष मानता है, जिसमें क्लेष, कर्म, विपाक और आषय नहीं होते हैं। इन लक्षणों से रहित पुरुष रूप ईश्वर उदासीन होगा। उसे सृष्टि-रचना में प्रवृत्त होने का कोई कारण नहीं है। 'पुरुषस्य चौदासीन्याभ्युपगमादसमाञ्जस्यम्' अर्थात् पुरुष में उदासीनता मानने से असामञ्जस्य उत्पन्न होगा, वह कर्म में प्रवृत्त न हो सकेगा।[६६]

**(ङ) संयोग सम्बन्ध का अभाव** – ईश्वर यदि केवल निमित्त कारण है और प्रकृति तथा पुरुष उससे पृथक् हैं, तो ईश्वर उनका शासक नहीं हो सकता। शासक

और शासित का सम्बन्ध होने के लिए दोनों के बीच संयोग या समवाय सम्बन्ध होना चाहिए। उनमें संयोग सम्बन्ध इसलिए नहीं हो सकता कि प्रधान, पुरुष और ईश्वर सर्वगत और निरवयव हैं। इसके अतिरिक्त आश्रय-आश्रयी भाव का निरूपण न होने से उनमें समवाय सम्बन्ध भी नहीं हो सकता। जगत की रचना होने के पूर्व उनमें कार्य-कारण भाव का सम्बन्ध भी नहीं सिद्ध होता है।[६७]

**(च) प्रधान ईश्वर का अधिष्ठेय नहीं हो सकता** - अप्रत्यक्ष और रूपहीन प्रधान से ईश्वर कोई रचना नहीं कर सकता। यहाँ मिट्टी और कुम्भकार का दृष्टान्त घटित नहीं होता। मिट्टी में रूपादि गुण होते हैं, इसलिए उससे घट बनाया जा सकता है। प्रधान उससे विलक्षण है। 'न प्रधानमीश्वरस्याधिष्ठेयं संभवति' अर्थात् प्रधान ईश्वर का अधिष्ठेय नहीं हो सकता है।[६८]

इसके उत्तर में योग-दर्शन कहता है कि जैसे अप्रत्यक्ष और रूप आदि रहित नेत्र आदि इन्द्रियों को पुरुष अधिष्ठित करता है, वैसे ही ईश्वर प्रधान को भी अधिष्ठित करता है और उससे सृष्टि-रचना कर सकता है। शंकर इस तर्क में दोष दिखाते हैं। पुरुष दिखाई देने वाले भोगादि के लिए ही प्रवृत्त होता है। ईश्वर में भोग आदि नहीं देखे जाते हैं। यदि इन्द्रिय-समुदाय के साथ प्रधान का साम्य स्वीकार करें तो ईश्वर को संसारी पुरुष की भाँति भोग में प्रसक्त हुआ मानना पड़ेगा।[६९]

**(छ) अशरीरी ईश्वर में निमित्तत्व सम्भव नहीं** - जैसे राजा सशरीर होकर ही किसी राज्य का स्वामी और शासक हो सकता है, वैसे ही ईश्वर को भी सशरीर होना चाहिए। तभी वह प्रधान से सृष्टि कर सकता है और जीवों पर शासन कर पायेगा। किन्तु ईश्वर के न शरीर है और न इन्द्रियाँ, अतः वह प्रकृति पर शासन नहीं कर सकता है। शरीर की रचना सृष्टि के बाद ही होगी। सृष्टि के पूर्व शरीर नहीं हो सकता। 'निरधिष्ठानत्वे चेश्वरस्य प्रवर्तकत्वानुपपत्ति' अर्थात् शरीर के बिना निरधिष्ठान होने पर ईश्वर प्रवर्तक नहीं हो सकता है, कारण कि लोक में ऐसा ही देखा जाता है।[७०] यदि ईश्वर को सशरीरी मान भी लें तो वह अन्य भौतिक प्राणियों के समान जन्मने-मरने वाला हो जायेगा।

**(ज) परिच्छिन्न और विनाशी होने का दोष** - ईश्वर, प्रधान और पुरुषों को परस्पर भिन्न और अनन्त माना जाता है। ऐसी दशा में यदि ईश्वर सर्वज्ञ है, तो प्रश्न उठता है कि वह प्रधान, पुरुष और अपनी इयत्ता (पारमाण) जानता है या नहीं जानता? दोनों ही अवस्थाओं में दोष आता है। यदि जानता है तो वह स्वयं, प्रकृति और पुरुष सीमित होंगे क्योंकि हर ज्ञेय वस्तु परिच्छिन्न होती है। यदि वे सब परिच्छिन्न है तो उनका अन्त अवश्यंभावी है।

पुरुष संख्या में असीम हैं, किन्तु सर्वज्ञ ईश्वर को उनकी संख्या ज्ञात होनी चाहिए। पुरुष क्रमशः मुक्त होते रहते हैं। सब पुरुष मुक्त हो जाने पर प्रकृति का कोई उद्देश्य नहीं रह जायेगा। उस अवस्था में सृष्टि समाप्त हो जायेगी और शून्यता आ जायेगी। सृष्टि न होने पर और उसकी आवश्यकता भी न होने पर ईश्वर को जानने के लिए या करने के लिए कुछ न होगा। अतः वह सर्वज्ञ और निमित्त कारण भी न रहेगा।

ईश्वर, प्रकृति और पुरुष के भिन्न होने से उन्हें परिच्छिन्न होना चाहिए और परिच्छिन्न होने से विनाशी होंगे। यदि ईश्वर प्रकृति और पुरुष का परिमाण नहीं जानता है तो सर्वज्ञ नहीं होगा। यदि वह सर्वज्ञ नहीं है तो वह ईश्वर नहीं हो सकता। अतः ईश्वर को केवल निमित्त कारण नहीं माना जा सकता।

## भागवत-दर्शन की आलोचना

भागवत पाँचरात्र आगम के अनुसार परमात्मा जगत् का निमित्त और उपादान कारण दोनों है। अद्वैत-वेदान्त भी यह मत स्वीकार करता है। श्रुति अनुसारिणी स्मृति प्रमाण भी है, इसलिए भागवत-दर्शन सर्वथा खण्डनीय नहीं है। उसमें कुछ सिद्धान्त श्रुति-विरुद्ध अपना लिये गये हैं। उनका निराकरण करना आवश्यक है।

इन मत में केवल एक भगवान् वासुदेव ही निरञ्जन ज्ञानस्वरूप परमार्थतत्त्व हैं। वह अपने को चार प्रकार से विभक्त कर वासुदेव व्यूह, संकर्षण व्यूह, प्रद्युम्न व्यूह और अनिरुद्ध व्यूह में प्रतिष्ठित हैं। यहाँ व्यूह का अर्थ मूर्ति है। वासुदेव परमात्मा कहा जाता है और संकर्षण जीव का नाम है। प्रद्युम्न मन और अनिरुद्ध अहंकार है। उनमें वासुदेव परा प्रकृति है और अन्य संकर्षण आदि कार्य हैं। उस भगवान वासुदेव की अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग द्वारा सौ वर्ष पूजा करने पर जीव के क्लेश क्षीण हो जाते हैं और वह परमात्मा को प्राप्त होता है। वाक्, काय और चित्त सहित सावधानीपूर्वक देवगृह में जाना अभिगमन है। पूजा योग्य द्रव्य का संग्रह उपादान है। इज्या का अर्थ है पूजा। अष्टाक्षर मंत्र का जप स्वाध्याय है। वासुदेव का ध्यान करना ही योग है।

शंकर को इस बात से विरोध नहीं कि परमात्मा अपने को अनेक प्रकार के व्यूह कर अवस्थित होता है क्योंकि वह श्रुतिसम्मत है। जीव द्वारा उसकी उपासना करना भी श्रुति-विरुद्ध नहीं है। किन्तु नीचे लिखे कुछ सिद्धान्त इस दर्शन के आचार्यों द्वारा परिकल्पित हैं, वे शास्त्र-सम्मत नहीं है। शंकर उनका खण्डन करते हैं -

**(क) परमात्मा से जीव की उत्पत्ति का खण्डन** - शंकर के मतानुसार वासुदेव या परमात्मा से संकर्षण नामक जीव की उत्पत्ति संभव नहीं है। यदि इस प्रकार जीव

की उत्पत्ति होती है तो वह अनित्य होगा। जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है, उसका विनाश होता है। यदि जीव को विनाशी मान लें तो वह परमात्मा को नहीं प्राप्त कर सकता, जबकि भागवत जीव का परम पुरुषार्थ परमात्मा की प्राप्ति ही मानते हैं। इसमें श्रुति प्रमाण भी नहीं है।[७१]

**(ख) जीव से मन की उत्पत्ति का खण्डन** – भागवत-दर्शन में संकर्षण नामक जीव से प्रद्युम्न नामक मन की उत्पत्ति मानी गयी है। यह असंगत है। मन एक करण है। कर्ता से करण की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। देवदत्त आदि से कुठार आदि उत्पद्यमान नहीं होते। ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है, जहाँ कर्त्ता से करण उत्पन्न दिखाई दे। इसके अतिरिक्त इस मत का समर्थन करने वाली कोई श्रुति भी नहीं है।

इसी प्रकार प्रद्युम्न नामक मन से अनिरुद्ध नामक अहंकार भी उत्पन्न नहीं हो सकता। एक उपकरण से दूसरा उपकरण उत्पन्न होने का भी कोई दृष्टान्त या प्रमाण नहीं है।[७२]

**(ग) चार व्यूहों का खण्डन** – उपर्युक्त कठिनाई से बचने के लिए भागवत यदि संकर्षण आदि को जीव आदि न मान कर सबको एक समान ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज पूर्ण मानें तो एक से दूसरे की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि चारों निर्दोष, निरधिष्ठान और निरवद्य वासुदेव के समान ही हैं तो यह मत अनेकेश्वरवादी होगा। 'ततो नेकेश्वर कल्पनानर्थक्यम्' अर्थात् उससे अनेक ईश्वर की कल्पना निष्फल है। एक ही ईश्वर से समस्त ईश्वर-कार्य सिद्ध हो सकता है।[७३]

भागवत-दर्शन मानता है कि एक भगवान् वासुदेव ही परमार्थ तत्व है। अतः इसके विपरीत चारों व्यूहों को तद्वत् मानने से पूर्व सिद्धान्त की हानि होगी। यदि चारों व्यूह एक समान धर्म वाले हैं तो वासुदेव से संकर्षण आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकती, कारण से कार्य में कुछ अतिशयता न होगी। कारण से कार्य में कुछ अतिशय होना चाहिए, जैसे मिट्टी और घट में। 'न ह्यसत्यतिशये कार्य कारणमित्यवकल्पते' अर्थात् अतिशय न होने पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह कार्य है और यह कारण है।[७४]

**(घ) गुण-गुणित्व कल्पना आदि में विरोध** – स्वयं ही गुण और गुणी हो, यह कल्पना विरुद्ध है। भागवत-दर्शन में ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज को भगवान् के गुण कहा गया है और उन्हें भगवान् वासुदेव से पृथक् माना गया है। शंकर गुण और गुणी में भेद नहीं मानते क्योंकि उनके अनुसार ब्रह्म सब प्रकार के भेदों से परे है।

**(ङ) वेद-विरोध** – यह दर्शन वेद-विरोधी भी है। उसके अनुसार चारों वेदों में परम श्रेय न मिलने के कारण शांडिल्य ने इस शास्त्र को प्राप्त किया और इसकी शरण ली। इस प्रकार यह वेदों की निन्दा करता है। उनका कथन है 'एकस्यापि

तन्त्राक्षरस्य अध्येता चतुर्वेदिभ्योऽधिक' - इस पंचरात्र तन्त्र के एक अक्षर का अध्येता चतुर्वेद वेत्ताओं से अधिक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकर ने प्रायः उन सभी दार्शनिक मतों का खण्डन किया है जो अद्वैत-मत का या तो विरोध करते हैं अथवा उससे सहमत नहीं हैं। इस प्रकार के खण्डन से उनका तात्पर्य किसी मत का केवल निषेध करना नहीं है वरन् अद्वैत की स्थापना ही उनका एकमात्र लक्ष्य है। शंकर अपनी तर्कनाशक्ति के सहारे उस महान लक्ष्य की प्राप्ति में सफल भी हुये हैं। श्रुति का अर्थ निर्धारित करने एवं श्रुति विरोधी युक्तियों के खण्डन में भी उन्होंने अपनी तर्कना-पद्धति का सहारा लिया है। अपनी तर्कनाशक्ति के कारण ही शंकर विश्व के महान दार्शनिकों में स्थान रखते हैं।

## संदर्भ-सूची


१. 'अस्मदीयो दर्शनपक्षो न विरुध्यते यथा स्वहस्तपादादिभिः' गौ.का. शांकर भाष्य, ३.१७।

२. गौ.का. शांकर भाष्य, ३.१७।

३. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य, २.१.११।

४. वहीं, २.२.१।

५. वहीं, २.२.१।

६. वहीं।

७. 'न कार्यकारणभावाद् बाह्यध्यात्मिकानां भेदानामचेतनपूर्वकत्वं शक्यं कल्पयितुम्।' ब्र.स.शां. भा., २.२.१।

८. 'प्रवृत्त्यनुपपत्तेरपि हेतानचितेनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति।' वहीं, २.२.२।

९. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. २.२.२।

१०. 'प्रवृतिरहितो पि ईश्वर; सर्वगतः सर्वात्मा सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सत् सर्व प्रवर्तयेत् . . . अयस्कान्तवत्।' वहीं, २.२.२।

११. 'संभवति प्रवृत्तिः सर्वज्ञकारणत्वे, न त्वचेतनकारणत्वे' ब्र.सू., शां.भा., २.२.२।

१२. 'चेतनापेक्षत्वं तु सर्वत्रोपदर्शितम्' वहीं, २.२.३।

१३. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., २.२.४।

१४. 'न तृणादिवत्स्वाभाविकः प्रधानस्य परिणामः' ब्र.सू., शां.भा., २.२.५।

१५. वहीं, २.२.६।

१६. वहीं, २.२.६।

१७. वहीं, २.२.७।

१८. वहीं, २.२.८।

१९. वहीं, २.२.६।

२०. वहीं, २.२.३३।

२१. वहीं, २.२.३३।

२२. 'असंगतमिदमार्हतं मतम्' - ब्र.सू., शां.भा., २.२.३३।

२३. 'अनित्यत्वमात्मनः प्रसज्येत' - ब्र.सू., शां.भा., २.२.३४।

२४. वहीं, २.२.३४।

२५. वहीं।

२६. वहीं, २.२.३५।

२७. वहीं, २.२.३५।

२८. वहीं, २.२.३५।

२९. वहीं, २.२.३६।

३०. 'सर्गकाले वायवीयेष्वदृष्टापेक्षं कर्मोत्पद्यते, तत्कर्म स्वाश्रयमणुमण्वन्तरेण संयुनक्ति'। ब्र.सू., शां.भा., २.२.१२।

३१. 'प्रयत्नोऽभिघातादिर्वा' ब्र.सू., शां.भा., ३.२.१२।

३२. वहीं।

३३. 'तनश्च तस्य तस्योन्योन्यः सम्बन्धः कल्पयितव्य इत्यनवस्थैव प्रसज्येत' ब्र.सू., शां.भा., २.२.१३

३४. 'अपेक्षाकारणस्य तुल्यत्वात्' - वहीं, २.२.१३।

३५. वहीं, २.२.१५।

३६. वहीं, २.२.१६।

३७. वहीं, २.२.१८ (सोऽर्धवैनाशिकः)।

३८. वहीं, २.२.२०।

३९. वहीं, २.२.२१।

४०. वहीं, २.२.२५।

४१. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, ए हिन्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी, भाग १, पृष्ठ १२४।

४२. ब्रह्मसूत्र शां.भा., २.२.२४।

४३. वहीं।

४४. आत्मन् आकाशः संभूतः, तै. २.१।

४५. ब्र.सू.शां.भा. २.२.२४।

४६. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., २.२.१८।

४७. वहीं।

४८. वहीं।

४९. वहीं, २.२.२८।

५०. वहीं, २.२.२९।

५१. वहीं, २.२.३०।

५२. वहीं, २.२.३१।

५३. वहीं, १.१.४।

५४. बृहदारण्यक उपनिषद्, २.४.१३।

५५. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., १.१.४।

५६. छान्दोग्य उपनिषद्, ६.१३.२।

५७. बृहदारण्यक उपनिषद्, २.६.२६।

५८. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., १.१.४।

५९. वहीं।

६०. कठोपनिषद्, १.२.२१।

६१. बृहदारण्यक उपनिषद्, १.४.१५।

६२. छान्दोग्य उपनिषद्, ८.१२.१।

६३. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., २.२.३७।

६४. वहीं।

६५. वहीं।

६६. वहीं।

६७. वहीं, २.२.३८।

६८. वहीं, २.२.३९।

६९. वहीं, २.२.४०।

७०. वहीं, २.२.४१।

७१. वहीं, २.२.४२।

७२. वहीं, २.२.४३।

७३. वहीं, २.२.४४।

७४. वहीं।

□□□

# अध्याय-४

# अध्यास

शंकर-वेदान्त में 'अध्यास' की अवधारणा महत्वपूर्ण स्थान रखती है। शंकर ब्रह्मसूत्र-भाष्य अध्यास निरूपण से ही प्रारम्भ करते हैं। अध्यास अज्ञान या भ्रम का पर्यायवाची है। अज्ञान से ज्ञान उपहित या ढका हुआ है। इस प्रकार परिच्छिन्न ज्ञान मनुष्य को सहसा उपलब्ध नहीं होता है। यही कारण है कि हम सत्य के दर्शन नहीं कर पाते और असत् को ही सत् समझ कर भ्रम में पड़े रहते हैं। असत् में भटकते रहने से नाना प्रकार के मतों की कल्पना तो की जा सकती है, किन्तु सत्य नहीं जाना जा सकता है।

अज्ञान अनेक प्रकार का हो सकता है। यदि ज्ञेय वस्तु बिल्कुल भासित न हो तो उस वस्तु का अज्ञान होगा। इसके विपरीत वस्तु भासित होते हुये भी यह ज्ञान न हो कि यह वही वस्तु है, जिसे हम खोज रहे हैं तो भी अज्ञान होगा। इन दोनों स्थितियों के मध्य भी ज्ञेय वस्तु हो सकती है। वह वस्तु न बिल्कुल प्रकट हो और न बिल्कुल अप्रकट, तो भी उसका अज्ञान होगा। इसके अतिरिक्त यदि एक वस्तु दूसरे से मिल जाय और स्वतंत्र रूप से अलग उपलब्ध न हो, तो भी उसका अज्ञान हो सकता है। अज्ञान के ये अनेक रूप होने के कारण प्रश्न उठता है कि ब्रह्म-विषयक अज्ञान किस प्रकार का है?

शंकर इस अज्ञान को अध्यासरूप मानते हैं। अध्यास की अवस्था में दो वस्तुओं के बीच एक-दूसरे से इस प्रकार सम्बन्ध हो जाता है कि एक वस्तु के धर्म दूसरे वस्तु में और दूसरी वस्तु के धर्म प्रथम वस्तु में दिखाई देने लगते हैं। इसका एक स्थूल दृष्टान्त है तप्तलौहपिण्ड।[1] गर्म लोहे में अग्नि और लोहे के धर्मों का एक-दूसरे पर अध्यास हो जाता है। लोहा ठंडा होता है किन्तु अग्नि में न कोई आकार होता है और न भार, फिर भी, लोहे का धर्म इसमें भासित होने से अग्नि लोहे के आकार की हो जाती है और वह भारी अनुभव होती है। अग्नि और लोहा विरुद्ध धर्म वाले हैं, एक के धर्म दूसरे में नहीं हो सकते, किन्तु फिर भी तप्तलौहपिण्ड में एक के धर्म दूसरे में भासित होते हैं।

प्रतिपाद्य विषय में यह अध्यास विषय और विषयी के बीच हुआ है। दोनों एक-दूसरे के विपरीत हैं। विषय 'तुम' और विषयी 'मैं' रूप में विरुद्ध धर्म वाला है।

दोनों का विरोध प्रकाश और अंधकार के समान है। विषयी प्रकाश के समान चेतन स्वरूप है और विषय अंधकार के समान जड़ है। फिर भी इन दोनों के धर्मों का परस्पर अध्यास हो गया है। आत्मा और अनात्मा अत्यन्त विरोधी स्वभाव के हैं।[२] आत्मा शुद्ध चेतनस्वरूप, अखण्ड, एकरस, अनन्त, निर्विकार, शाश्वत, कूठस्थ आदि लक्षणों से युक्त है और अनात्मा रूप समस्त जगत् है, जिसमें शरीर, मन व बुद्धि आदि भी अन्तःपाती हैं। यह अनात्मा, जड़-समुदाय और प्रकाश्य है। यह सीमित, विकारवान और नश्वर है। इस प्रकार आत्मा और अनात्मा दोनों अत्यन्त विरोधी स्वभाव के हैं। दोनों का परस्पर तादात्म्य नहीं हो सकता। केवल धर्मों का ही परस्पर अध्यास होता है, इसीलिये हमें अनुभव होता है कि शरीर चेतन है और हम (आत्मा) शरीर के आकार वाले हैं। यह प्रतीति देहात्म बुद्धि है और उसका कारण अध्यास है।

## अध्यास का कारण

सत्स्वरूप आत्मा का जो धर्म है, असत् स्वरूप अनात्मा का धर्म उसके विपरीत है। जिस वस्तु के जो धर्म हैं, वे यदि वहीं दिखाई दें तो न अध्यास होगा और न अज्ञान का प्रश्न उठेगा। किन्तु जब सत्य का धर्म असत में और असत् का धर्म सत् में दिखाई देता है और वहीं उसे स्वीकार कर लेते हैं, तो इसे अध्यास कहते हैं और अध्यस्त धर्मों को सत्य मानना अज्ञान कहलाता है। शंकर अध्यास का कारण 'अविवेक' और 'मिथ्या-ज्ञाननिमित्तक' मानते हैं।[३]

अध्यास का कारण अविवेक इसलिये है कि सत् के धर्म सत् में न दिखाई देकर असत् में दिखाई देते हैं और इसी प्रकार असत् के धर्म सत् में दिखाई देते हैं। इसके विपरीत विवेक तभी है, जब सत् के धर्म या लक्षण सत् में ही दिखाई दें और उन लक्षणों में सत् को ही सत् मानें। इसी प्रकार असत् के धर्म असत् में देख कर उसी को असत् समझना भी विवेक है। इस विवेक में धर्मों और धर्मियों का यथावत् ज्ञान होना चाहिए। अविवेक हानि में स्थिति बदल जाती है, अतः अविवेक में ही अध्यास का अनुभव होता है।

अविवेक के अतिरिक्त अध्यास का कोई दूसरा कारण नहीं हो सकता। आत्मा और अनात्मा या सत् और असत् का परस्पर वास्तविक अध्यास नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा खण्ड है, उसमें न कोई अंश है और न उसमें अध्यस्त भासित होता हुआ अनात्मा पूर्वदृष्ट है। जड़-चेतन के धर्म परस्पर विरोधी हैं, अतः एक का दूसरे में प्रसरण भी नहीं हो सकता। केवल अविवेक से ही धर्मों की अन्यत्र कल्पना हो सकती है।

## अध्यास का अर्थ और लक्षण

संस्कृत का 'अध्यास' शब्द अधि+आस् (अस्) + घञ् प्रत्यय के संयोग से बना है। इस व्युत्पत्ति से इसका अर्थ है कि एक वस्तु पर उससे पृथक किसी दूसरी वस्तु का आ बैठना, आरोप होना तथा एक वस्तु के स्थान में किसी अन्य वस्तु का मिथ्या ग्रहण होना। रज्जुसर्प इसी प्रकार दृष्टान्त हो सकता है। मन्द प्रकाश में रज्जु सर्प प्रतीत हो सकती है। यथार्थ रज्जु पर काल्पनिक सर्प आ बैठना अध्यास है। उसके फलस्वरूप भय का संवेग और भागने की क्रिया भी हो सकती है। पाण्डु रोग में सफेद वस्तु पीली दिखाई देना, सीप का चाँदी भासित होना, मरुस्थल में जल प्रतीत होना अध्यास के ही दृष्टान्त हैं।

यह कोई नियम नहीं है कि पुरोवर्ती विषय में ही दूसरे विषय का अध्यास हो, क्योंकि अप्रत्यक्ष आकाश में भी अविवेकी लोग तलमलिनता आदि का अध्यास करते हैं। इसी प्रकार आत्मा में अनात्मा का अध्यास भी सम्भव है।[४]

शंकराचार्य ने अध्यास का लक्षण इस प्रकार दिया है – 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्व-दृष्टावभासः।'[५] इतना ही अध्यास का लक्षण है। 'स्मृतिरूप' और 'पूर्वदृष्टावभास' ये दोनों अध्यास के लक्षण है। 'स्मृतिरूप' और 'पूर्वदृष्टावभास' ये दोनों अध्यास के साधक हैं। 'परत्र अवभास' का अर्थ है – परत्र (अधिष्ठान में या विद्यमान वस्तु में) अवभास (किसी अन्य वस्तु की प्रतीति होना) अन्य भासित होने वाली वस्तु स्मृति के आधार पर प्राप्त होती है। स्मृति उसी वस्तु की होती है, जिसे हमने पहले देखा था।

यहाँ 'स्मृतिरूप' पद पर विशेष ध्यान देना होगा। स्मृति के लिये तो नियत कारण रूप से पूर्वानुभव अपेक्षित है, किन्तु जगत् की प्रातिभासिक स त्ता सिद्ध करने के लिए पूर्वानुभूति मानने में अनवस्था दोष उपस्थित होगा। अतः अध्यास की अवस्था में भासित होने वाली वस्तु स्मृति नहीं मानी जा सकती। 'रूप' शब्द सादृश्य का वाचक है। जैसे रस्सी पर सर्प का अध्यास सर्प की स्मृति से उत्पन्न होता है, वैसे ही ब्रह्म पर जगत् का अध्यास भासित होता है। जगत् स्मृति से उत्पन्न नहीं हुआ है, किन्तु उसकी सत्ता स्मर्यमाण के सदृश कही जाती है।

यदि न्याय-दर्शन के आग्रह से भ्रम में स्मृति का सादृश्य अवश्य मानना पड़ता है तो जगत् वस्तुतः स्मृति नहीं वरन् स्मृति रूप है। ब्रह्म ही एकमात्र सद्वस्तु है, किन्तु प्रतीति अनेक वस्तुओं की होती है जो वास्तव में नहीं है। इन सब मिथ्या रूपों की प्रतीति अध्यास मात्र है। यद्यपि अध्यास की रचना स्मृति जैसी है किन्तु संसाराध्यास स्मृति से उत्पन्न नहीं है। उसे शंकर 'नैसर्गिक' मानते हैं।[६] यह उत्प त्त के बिना ही अनादि काल से प्रतिभासित हो रहा है।

कुछ व्याख्याकार जगत् को पूर्वदृष्ट मानते हैं और अध्यास की उत्पत्ति स्मृति के कारण ही स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यद्यपि प्रतीयमान यह प्रपञ्च नूतन है तथापि पूर्वदृष्ट और स्मर्यमाण के सदृश है क्योंकि यह प्रपंच अनादिकाल से प्रवाह रूप में चला आ रहा है, इससे यह अनादि काल से अविद्या द्वारा चिदात्मा में अध्यस्त है। पूर्व-पूर्व अध्यास के अनुभवजन्य संस्कार स्मृतिरूप होकर अन्तःकरण में नूतन अनुभव उत्पन्न करते हैं जैसे पूर्व-पूर्व बीज उत्तरोत्तर अंकुर उत्पन्न करते हैं।[७]

शंकर अध्यास की परिभाषा पुनः इस प्रकार देते हैं - 'अध्यासो नाम अतस्मिंस्तदबुद्धिः' अर्थात् अतद् में तद्बुद्धि ही अध्यास है। यह परिभाषा पूर्व दी गयी परिभाषा 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' का संक्षिप्त रूप है।

वेदान्त के विरोधी अन्य दार्शनिक शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अध्यास का खण्डन करते हैं। उन्हें सन्तुष्ट करने के लिये शंकर उन्हीं की अध्यास विषयक परिभाषायें देकर कहते हैं कि अन्य में अन्य का अवभास ही अध्यास है। इस सामान्य लक्षण में वे सब एक मत हैं। सबकी परिभाषाओं में यह सामान्य लक्षण कैसे विद्यमान है, यह देखने के लिये हमें अध्यास पर दी गयी विभिन्न परिभाषाओं का विश्लेषण करना होगा। हम उन पर क्रमशः विचार करेंगे।

(१) **अन्यत्रान्य धर्माध्यासः**[८] (एक में दूसरे के धर्म का आरोप अध्यास है) - यह परिभाषा आत्मख्यातिवादी योगाचार और अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक दोनों मानते हैं, किन्तु उनका तात्पर्य भिन्न है। योगाचार मत में विज्ञान (बुद्धि) को ही आत्मा माना गया है। अतः इनके मतानुसार क्षणिक विज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वही ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान रूप में पृथक् भासित होता है।[९] विज्ञान ही प्रक्षिप्त होकर बाह्य पदार्थों के रूप में दिखाई देता है, इसलिये रजत आदि के धर्म विज्ञान में भासित होते हैं। यही एक में दूसरे के धर्मों का अध्यास है।

इस अध्यास के कारण आत्मारूप विज्ञान जगत् रूप में भासित होता है। ज्ञान होने पर यह बोध होता है कि यह रजत नहीं है, विज्ञान मात्र है। आत्मा ही अनेक रूपों में भासित होती है, इसलिए विज्ञानवाद आत्मख्याति का समर्थक है।

नैयायिक भी अध्यास की यही परिभाषा मानते हैं कि एक में दूसरे के धर्म का अध्यारोप अध्यास है; किन्तु वे विज्ञानवादियों के मत का खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि विज्ञान का ही रजत रूप में भासित होना अनुभव विरुद्ध है। सुख-दुःख तो अपने अन्दर अनुभव होते हैं। किन्तु सभी लोग जानते हैं कि रजस की सत्ता बाहर अनुभव होती है। रजत को भी अपने अन्दर विज्ञान का रूप मानना अनुभव विरुद्ध है। यह कोई नहीं कहता है मैं ही रजत हूँ या मेरे में रजत है।

न्याय मत में अध्यास अन्यथाख्याति के कारण माना गया है। बाजार में देखा

गया रजत जब शुक्ति में प्रतीत होता है तो यह अन्यथाख्याति हुई और शुक्ति में रजत के धर्म का आरोप होना अध्यास है। इस अध्यास का क्या कारण है? उनके मत में भ्रमस्थल से भिन्न बाजार में रजत का अनुभव नेत्र दोष से शुक्ति में प्रतीत होता है।[१०]

(२) **यत्र यदध्यासस्तद्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रमः**[११] (जिसमें जिसका अध्यास है, उसका भेदाग्रह निमित्तक भ्रम अध्यास है) - यह परिभाषा सांख्य और मीमांसक मत में मानी गयी है। वे लोक प्रसिद्ध भ्रमों को ही अध्यास मानते हैं। शुक्ति का 'इदं' अंश और रजत की स्मृति से 'इदं रजतं' ज्ञान होता है। इसमें सदोष नेत्र हेतु है। जब सदोष नेत्र शुक्ति के सम्पर्क में आता है तो सादृश्य के कारण रजत की स्मृति होती है और सामने विद्यमान वस्तु को द्रष्टा रजत मान लेता है।

सांख्य इसका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि इदं अंश का नेत्रों से प्रत्यक्ष ज्ञान और रजत का स्मृति ज्ञान दोनों ज्ञान सत्य हैं और इनके विषय इदं और रजत भी सत्य है। नेत्रों के दोषवश दोनों ज्ञानों और दोनों विषयों का भेद ग्रहण नहीं होता और दोनों मिल कर 'इद्रं रजतम्' का ज्ञान और व्यवहार होने लगता है। इसीलिए परिभाषा में 'विवेकाग्रहनिबन्धनः' पद प्रयोग में लाया गया है। विवेक का बंधनकारी दोष समाप्त होने पर इदं और रजतं की एकता मिट जाती है और भ्रम दूर हो जाता है।

सांख्य और मीमांसक अख्यातिवादी हैं।

(३) **यत्र यदध्यासः तस्यैव विपरीत धर्मत्वकल्पनाम् आचक्षते** (जिसमें जिसका अध्यास है, उसमें विपरीत धर्मत्व की कल्पना को अध्यास कहते हैं)[१२] - यह मत शून्यवादी बौद्धों का है। वे असत्ख्यातिवादी हैं। उनके मतानुसार शुक्ति में अत्यन्त असत् रजत की कल्पना को अध्यास कहते हैं। अत्यन्त असत् रजत की प्रतीति ही असत्ख्याति है। शून्यवादी विज्ञान आदि किसी तत्व को सत् नहीं मानते। समस्त जगत्, जिसमें व्यक्ति और उसका ज्ञान भी सम्मिलित है, आभास मात्र है। यह गगन-कुसुम, गंधर्वनगर या बंध्यापुत्र के समान है।

शंकराचार्य ने इन विभिन्न परिभाषाओं का खण्डन-मण्डन नहीं किया है।[१३] इस कार्य में प्रवृत्त होने पर परम सत् का प्रतिपादन और उसमें जगत् का सम्बन्ध दिखाते हुए विपरीत मतों की आलोचना करनी पड़ती और उस विस्तार में पड़ने से विषयान्तर हो जाता है। अतः उन्होंने निर्णय रूप में इतना ही कहा है कि इन सभी परिभाषाओं में अध्यास का तात्पर्य 'अन्य में अन्य अवभास' ही है। इस बिन्दु पर कोई विवाद नहीं है।

(४) **अनिर्वचनीयख्याति** - शांकर-वेदान्त अन्य मतों की अपेक्षा इस बात में भिन्न है कि यह अनिर्वचनीयख्याति मानता है। सत्-असत् से विलक्षण वस्तु को अनिर्वचनीय कहते हैं। शुक्ति में रजत की प्रतीति अनिर्वचनीय है। वह गगन-कुसुम

के समान नितान्त असत् नहीं है। यह कोई नहीं कहता है कि हम गगन-कुसुम देख रहे हैं, किन्तु शुक्ति में रजत देखने वाला कहता है कि यह रजत है। हम इसे देख रहे हैं।

विषय रूप दो वस्तुओं के धर्मों का एक-दूसरे में अध्यास सहज सम्भव है, किन्तु आत्मा पर अनात्मा का अध्यास कई समस्यायें उत्पन्न करता है। शंकर ने कुछ समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया है।

(१) प्रथम प्रश्न है - अविषय प्रत्यगात्मा में विषय और उसके धर्मों का अध्यास कैसे होगा? सब लोग सामने उपस्थित विषय में ही अन्य विषय का अध्यास करते हैं। शुक्ति, रज्जु आदि जो प्रत्यक्ष अध्यास के अधिष्ठान हैं वे सब इन्द्रिय-संयुक्त होने से विषय हैं, अतः उनमें रजत, सर्प आदि का अध्यास सम्भव है। परन्तु रूप आदि रहित आत्मा चक्षु आदि इन्द्रियों से अग्राह्य होने के कारण अविषय है, इसलिए अविषय आत्मा में अहंकार आदि विषय और उनके जड़त्व आदि धर्मों का अध्यास कैसे हो सकता है? यदि अध्यास सिद्ध करने के लिए आत्मा को विषय मान लें तो अनेक श्रुतिवाक्य बाधित होंगे, जिनमें आत्मा को अविषय कहा गया है, जैसे 'न चक्षुषा गृह्यते' (मु. ३-१-८) अर्थात् यह आत्मा चक्षु आदि इन्द्रियों से गृहीत नहीं होता, 'यच्चक्षुषा न पश्यति' (केन १-६) जिसे अन्तःकरण चक्षु द्वारा नहीं देख सकता, 'न तत्र चक्षुर्गच्छति' (केन १-३) उस आत्मा तक नेत्र नहीं जाता।

इसके उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं - 'न तावदयमेकान्तेन अविषयः अस्मत्प्रत्यय-विषयत्वात् अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्म प्रसिद्धेः'[१४] अर्थात् यह आत्मा सर्वथा अविषय नहीं है क्योंकि वह अस्मत् (अहं) प्रत्यय का विषय है, अपरोक्ष है और प्रत्यगात्मरूप से प्रसिद्ध है। यह आत्मा बाल, वृद्ध, मूर्ख, पण्डित आदि सबकी अन्तरात्मा है, स्वप्रकाश होने से सबको प्रत्यक्ष है। इसीलिए सब लोग दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि 'मैं हूँ'। किसी को अपने अस्तित्व के विषय में सन्देह नहीं होता। वह इतना प्रकाशस्वरूप है कि सूर्य-चन्द्र आदि भी उसी से प्रकाशित होते हैं -

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासमतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।[१५]

अर्थात जो तेज सूर्य में स्थित हुआ सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा में स्थित है और जो तेज अग्नि में स्थित है, उसे तू मेरा ही तेज जान। इस प्रकार शास्त्र भी आत्मा के स्वप्रकाशस्वरूप होने का प्रतिपादन करते हैं, इसलिए आत्मा को ज्ञान का अविषय नहीं कहा जा सकता। अन्य विषयों की भांति आत्मा में अध्यास होना सम्भव है।

इसके अतिरिक्त यह भी कोई नियम नहीं है कि पुरावर्ती विषय में ही विषयान्तर

का अध्यास हो। जो वस्तु इन्द्रियों के सामने उपलब्ध नहीं है, उस पर भी अध्यास देखा जाता है। आकाश ऐसी ही अगोचर वस्तु है। उस पर अविवेकी लोग तलमलिनता आदि का अध्यास करते हैं। आकाश द्रव्य या पदार्थ नहीं है, इसलिए वह स्पर्श योग्य नहीं है। उसका कोई रूप नहीं है, अतः वह आँखों से भी नहीं देखा जाता। इसलिए शंकराचार्य आकाश को अप्रत्यक्ष मान कर उस पर अध्यास होने की सम्भावना बताते हैं। वह तल अर्थात् कड़ाही की भाँति गोल दिखाई देता है और उसमें मलिनता अर्थात् नीलिमा भासित होती है। यह दृष्टिगोचर गोलाई और नीलिमा आकाश में सम्भव नहीं है, फिर भी वह आकाश में ही भासित होती है। प्रकाश-किरणों की गति का सिद्धान्त समझने वाले जानते हैं कि नीलिमा आदि आकाश के लक्षण नहीं हैं। वह प्रकाश की गति के कारण प्रतीत होती है। अविवेकी लोग नीलिमा को आकाश में अध्यारोपित करते हैं। इसी दृष्टान्त के समान, यदि आत्मा प्रत्यक्ष न हो अर्थात् वह इन्द्रिय-ज्ञान का विषय न हो, तो भी उस पर अहंकार और सुख-दुःख का अध्यास हो सकता है।

(२) दूसरी शंका यह हो सकती है कि अधिष्ठान और अध्यस्त दोनों का सादृश्य होने पर ही अध्यास सम्भव होता है जैसे रस्सी और सर्प, शुक्ति और रजत आदि में देखा जाता है, परन्तु आत्मा और अनात्मा में कोई सादृश्य न होने पर अध्यास कैसे होगा? आत्मा और अनात्मा एक दूसरे के विरोधी हैं। एक अस्मत् प्रत्यय और दूसरा युष्मत् प्रत्यय का विषय है। एक विषय है और दूसरा विषयी। दोनों में प्रकाश और अंधकार के समान भेद है - यह शंकराचार्य पहले ही स्वीकार कर चुके हैं। फिर उनमें अध्यास कैसे हो सकता है?

आकाश के दृष्टान्त से इस शंका का भी निराकरण हो जाता है। आकाश और तलमलिनता आदि में कोई साम्य नहीं है, फिर भी दोनों में अध्यास होता है। मरुस्थल की बालू और जल में कोई साम्य नहीं है, फिर भी वहाँ जल देखा जाता है। वैसे ही आत्मा और अनात्मा का अध्यास सम्भव होता है।

## अध्यास का विस्तार

अध्यास की परिभाषा पर विचार करने पर संक्षिप्त निर्णय यह निकलता है कि 'अध्यामी नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः'[१६] अर्थात् अतद् में तद् बुद्धि ही अध्यास है। वस्तु जैसी है, उसके विपरीत लक्षणों वाली बुद्धि उत्पन्न हो जाना अध्यास कहलाता है। आकाश की तलमलिनता, रज्जुसर्प, शुक्तिरजत, मृगमरीचिका आदि इसके दृष्टान्त हैं। अब विचार करना चाहिए कि वह अनर्थकारी अध्यास कौन है, जिसके कारण मनुष्य कर्म-बंधन और दुःखों में पड़ता है तथा उपनिषद् आदि शास्त्र जिसके निवारण के लिए प्रवृत्त होते हैं। यह निर्णय करने के लिए शंकराचार्य अध्यास का विस्तार बताते हैं।

यद्यपि शंकराचार्य ने अनर्थकारी अध्यास का विभाजन, वर्गीकरण और नामकरण नहीं किया है, किन्तु उनकी वर्णनशैली से ज्ञात होता है कि उनके मन में इस प्रकार का कोई विभाजन था। शंकर-निरूपित अध्यास को स्पष्ट रूप से समझने के लिये हम उसका विभाजन कर लेते हैं। समस्त अध्यास को सर्वप्रथम 'स्वरूपाध्यास' और 'संसर्गाध्यास' इन दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

अध्यास में दो वस्तुयें होती हैं - अधिष्ठान और अध्यस्त वस्तु। अधिष्ठान सत् वस्तु होती है और अध्यस्त वस्तु मनःकल्पित होती है। अध्यास के समय दोनों वस्तुओं में एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध हो जाता है। दृष्टान्त में शुक्ति अधिष्ठान है और रजत उस पर अध्यस्त है। प्रथम सत् है और दूसरी कल्पित, मिथ्या। भ्रमकाल में शुक्तिरूप अधिष्ठान मिथ्या रजत से आच्छादित हो जाता है और भ्रम में पड़े व्यक्ति को केवल रजत दिखाई देता है। इसे 'स्वरूपाध्यास' कह सकते हैं। रजत शुक्ति में स्वरूप से अध्यस्त होने के कारण यह स्वरूपाध्यास है।

भ्रमकाल में शुक्ति भले ही रजत के समान भासित हो किन्तु उसमें किसी प्रकार का विकार या परिवर्तन नहीं होता। भ्रम निवारण होने पर शुक्ति जैसी प्राप्त होती है, वैसी ही भ्रम काल में भी रहती है। इस शुक्ति का रजत के साथ सम्बन्ध 'संसर्गाध्यास' है।

हमारा अनर्थकारी अध्यास आत्मा और अनात्मा के तादात्म्य से है। भ्रमकाल में अनात्मा में ही आत्मा की प्रतीति स्वरूपाध्यास है और प्रत्येक आत्मा की बुद्धि आदि अनात्मा में संसर्गाध्यास है। शंकराचार्य इन दोनों प्रकार के अध्यास का निरूपण इस प्रकार करते हैं :

> अहंप्रत्ययिनम शेष स्वप्रचार सक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य त च
> प्रत्यगात्मानं सर्वसाक्षिणं तद्विपर्ययेणान्तः करणादिषु अध्यस्यति।[१७]

अर्थात् अहं प्रत्यय वाले अन्तःकरण का उस प्रत्यगात्मा पर अध्यास है जो अन्तःकरण की सम्पूर्ण वृत्तियों का साक्षी है और इसके विपरीत सर्वसाक्षी प्रत्यागात्मा का अन्तःकरण आदि में अध्यास है।

इसमें पहला स्वरूपाध्यास है और दूसरा संसर्गाध्यास। सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मा पर अन्तःकरण का अध्यास होने से सत्स्वरूप आत्मा परिच्छिन्न हो जाता है, उसकी प्रतीति नहीं होती है। अध्यस्त अन्तःकरण ही हमें भ्रमकाल में उपलब्ध होता है। अन्तःकरण में ही अहं वृत्ति उत्पन्न होती है और उसके कारण ऐसा अनुभव होता है मानो यह अहं वृत्तियुक्त अन्तःकरण ही हम हैं। यह स्वरूपाध्यास है और इसका अनर्थ यह है कि हम अन्तःकरण, इन्द्रियों, शरीर आदि को ही अपना रूप मान लेते हैं।

इसी के साथ प्रत्यगात्मा का अध्यास अन्तःकरण आदि पर भी होता है। यह संसर्गाध्यास है। इसका परिणाम यह होता है कि यद्यपि आत्मा अहंकार आदि प्रपंच से अत्यन्त विलक्षण है, किन्तु उसमें अनात्मा के धर्म अनुभव होते हैं। स्वरूपाध्यास से कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि की मिथ्या प्रतीति होती है और संसर्गाध्यास से असंग आत्मा में भी सुख-दुःख का अनुभव होता है।

इसे अधिक स्पष्ट समझने के लिए जड़-चेतन लक्षणों पर ध्यान देना चाहिए। प्रत्यगात्मा चेतन है और अन्तःकरण आदि अनात्मा अचेतन या जड़ है। दोनों का एक दूसरे से अध्यास होता है, बहुत कुछ तप्त लौहपिण्ड के समान। अग्नि और लोहा मिल कर एक से हो जाते हैं, दोनों की पृथक सत्ता भासित नहीं होती है। लोहे में लालिमा और ताप अग्नि के गुण आरोपित होते हैं और अग्नि में आकार, भार, कठोरता आदि लोहे के गुण आरोपित होते हैं। इसी प्रकार जड़ अन्तःकरण में आत्म-चैतन्य व्याप्त होकर अन्तःकरण में चेतनता और अहं की प्रतीत होती है और ऐसा अनुभव होता है कि अन्तःकरण स्वयं चेतन है और यही अपना स्वरूप (आत्मा) है। इसके विपरीत अन्तःकरण के सीमित, विकारवान, नश्वरता आदि गुण असीम, निर्विकार, अविनाशी आत्मा पर अभ्यस्त होकर उसमें तद्वत् अनुभव उत्पन्न करते हैं।

अध्यास का अन्य प्रकार से विचार करें तो उसे धर्मों के वर्ग में बाँट सकते हैं। आत्मा और अनात्मा धर्मी हैं। उन दोनों का अन्योन्याध्यास धर्मी अध्यास है। इसी अध्यास के दो भेद स्वरूपाध्यास और संसर्गाध्यास हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। दोनों धर्मियों के अपने-अपने पृथक् धर्म हैं। इन धर्मों का एक दूसरे पर जो अध्यास होता है वह धर्माध्यास है। इसका विस्तार करते हुए शंकराचार्य लिखते हैं :-

> पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेति बाह्यधर्मानात्मन्य- ध्यस्यति; तथा देहधर्मान् स्थूलो हं, कृशो हं, गौरो हं, तिष्ठामि, गच्छामि, लंध्यामि चेति। तथेन्द्रियधर्मान् मूकः काणः क्लीवः बधिरः अन्धोऽहमिति। तथाऽन्तःकरणधर्मान् काम संकल्पविचिकित्साध्यवसायादीन्।

अर्थात् कोई पुत्र, स्त्री आदि के अपूर्ण और पूर्ण होने पर मैं ही अपूर्ण और पूर्ण हूँ, इस प्रकार बाह्य पदार्थों के धर्मों का अपने में अध्यास करता है। 'मैं स्थूल हूँ', 'मैं कृश हूँ', 'मैं गौर हूँ', 'मैं खड़ा हूँ', 'मैं जाता हूँ', 'मैं लांघता हूँ', इस प्रकार देह के धर्मों का अध्यास करता है और 'मैं मूक हूँ', 'मैं काना हूँ', 'मैं नपुंसक हूँ', 'मैं बधिर हूँ', 'मैं अंधा हूँ', इस प्रकार इन्द्रियों के धर्मों का अध्यास करता है। इसी प्रकार काम, संकल्प, संशय, निश्चय आदि अन्तःकरण के धर्मों का अपने में अध्यास करता है।

इस प्रकार धर्माध्यास को शंकराचार्य ने चार वर्गों में बाँटा है - (१) बाह्यधर्माव्यास (२) देहधर्माध्यास (३) इंद्रियधर्माध्यास और (४) अन्तःकरणधर्माध्यास। इन सब के उदाहरण आचार्य ने स्वयं दिये हैं। यह विभाजन अनात्मा को चार वर्गों में बाँट कर और प्रत्येक के धर्मों का आत्मा पर आरोप करने से निरूपित हुआ है। आत्मा एक है किन्तु अनात्मा अनेक अंशों में विभक्त है। अनात्मा के सभी अंश अध्ययन के लिये चार वर्गों में बाँटे गये हैं और उनके धर्मों का अध्यास आत्मा पर होता दिखाया गया है।

धर्मियों के अध्यास के फलस्वरूप उनके धर्मों का अध्यास होता है और धर्मों का अध्यास ही दुःख, पीड़ा, भय, चिन्ता, क्लेश, मृत्यु आदि अनर्थों का हेतु बनता है। अतः यदि हम इन अनर्थों से बचना चाहते हैं तो हमें धर्माध्यास त्यागना होगा। उसे त्यागने के लिये मूल में विद्यमान धर्मी अध्यास समाप्त करना होगा। यह अध्यास तभी तक विद्यमान है, जब तक उसका विवेक नहीं है। आत्मा को आत्मा और अनात्मा को अनात्मा जान लेने से अध्यास मिट जाता है।

## अध्यास की कुछ विशेषताएँ

अध्यास को ठीक-ठीक समझने के लिये शंकर ने उसकी कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया है, जिन पर ध्यान देना आवश्यक है।

> अपमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासों मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्व
> प्रवर्तकः सर्वलोक प्रत्यक्षः।

अर्थात् यह अध्यास अनादि, अनन्त, नैसर्गिक, मिथ्या ज्ञानरूप और कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि का प्रवर्तक सर्वलोक प्रत्यक्ष है।

**(१) अध्यास अनादि अनन्त है** - अध्यास अविद्या रूप होता है। अविद्या अनादि है। अज्ञान में पड़ा व्यक्ति अपने अज्ञान का प्रारम्भ खोजे तो उसे वह न मिलेगा। यदि आपको अपने कलग का मूल्य ज्ञात नहीं है तो आप यह भी नहीं बता सकते कि वह आपके लिए कब से अज्ञात है। इसी प्रकार हम यह खोज कर नहीं बता सकते कि हमें अपने आत्मस्वरूप का बोध कब से नहीं है। इससे अध्यास अनादि होना सिद्ध होता है।

अध्यास अनन्त भी है। इसका अर्थ यह नहीं कि यह कभी नष्ट नहीं होता। शंकराचार्य स्वयं कहते हैं कि ज्ञान से यह नष्ट हो जाता है। अतः अध्यास के अनन्त होने का अर्थ यही हो सकता है कि एक व्यक्ति का अध्यास नष्ट होने पर भी अन्य व्यक्तियों में यह देखा जाता है। सभी लोगों का अध्यास नष्ट नहीं होता। स्वामी

गोविन्दानन्द रत्नप्रभा में लिखते हैं - 'ज्ञानं बिना ध्वंसाभावादानन्त्यम्'[१८] अर्थात् ज्ञान के बिना उसका ध्वंसाभाव नहीं होता है, अतः वह अनन्त है। शंकराचार्य[१९] कहते हैं कि वह अनन्त है क्योंकि वह स्वप्न की वस्तु, मृगतृष्णा के जल और माया-रचित गन्धर्वनगर के समान होने से देखते-देखते नष्ट होने वाला है। इसी कारण उसकी अन्तिमावस्था या समाप्ति नहीं है। श्रीधरस्वामी इसकी अनन्तता का कारण इसकी परम्परा का अन्त न होना मानते हैं। नारायण स्वामी शंकराचार्य के मत की ही व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जिसकी सत्ता ही नहीं, उसका आदि-अन्त कैसे हो सकता है? मरीचिका में देखा हुआ जल कितना गाढ़ा है, उसका स्वाद कैसा है, कब यह जल उत्पन्न हुआ एवं कब इसकी समाप्ति होगी, इस सम्बन्ध में जिस प्रकार हजारों विकल्प हो सकते हैं और सब विकल्प भ्रम मात्र ही हैं, उसी प्रकार अध्यास के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा जाय, वह भ्रममात्र ही होगा।

(२) **अध्यास नैसर्गिक है** - यह अध्यास का भ्रम न ईश्वर ने उत्पन्न किया है, न माया ने और न जीव ने। यह तो नैसर्गिक है। जैसे मरुस्थल में जल की प्रतीति उत्पन्न करने का दायित्व न बालू पर है, न सूर्य पर और न नेत्रों पर। प्रकृति के नियम ही ऐसे हैं कि सूर्य के प्रकाश में बालू जल के समान चमकती है और देखने वाले को वहाँ जल दिखाई देता है। इसमें देखने वाले की भी गलती नहीं है। चतुर व्यक्तियों को भी वहाँ जल दिखाई देगा। इसी प्रकार प्रकृति से लोकों और शरीरों का सृजन होता है। आत्म-चैतन्य सर्वत्र व्याप्त होने से अन्तःकरण में विद्यमान रहता है। अन्तःकरण और चैतन्य के संयोग से अध्यास की उत्पत्ति हो जाती है। बुद्धि-वृत्तियों से ज्ञाता-ज्ञेय भेद उत्पन्न होता है और दोनों का अधिष्ठान रूप परमात्मा आच्छादित-सा हो जाता है। यह सब कुछ नैसर्गिक है।

(३) **मिथ्या ज्ञान रूप** - अध्यास नैसर्गिक होने का यह अर्थ नहीं कि वह सत्य है। अध्यास स्वयं मिथ्याज्ञान रूप है, किन्तु उसमें स्थित व्यक्ति को अनात्मा ही आत्मा भासित होता है और यह मिथ्याज्ञान ही सत् प्रतीत होता है। इस सत्यत्व बुद्धि के कारण अपने मिथ्याज्ञान के प्रति शंका नहीं होती और व्यक्ति अपने राग-द्वेष से उत्पन्न अनेक समस्याओं में फँसा रहता है।

(४) **कर्तृत्व-भोक्तृत्व का प्रवर्तक** - अध्यास ही अविद्या है और अविद्या से अहंकार, विषयों की आसक्ति, कामना, कर्म, कर्त्ताभाव, कर्मानुसार सुख-दुःख की प्राप्ति, उनका भोग, भोक्तृत्व, वासनायें, पुनर्जन्म का चक्र प्रवर्तित होता है। जब तक अध्यास रहता है, जीव संसार-सागर में डूबा रहता है और जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है।

(५) **सर्वजन प्रत्यक्ष** - कर्ता-भोक्ता भाव सभी मनुष्यों को अनुभव हो रहा है।

इससे सिद्ध है कि ये सब अध्यास में स्थित हैं और उसके कारण संसार दुःखों से पीड़ित है। इसके लिए किसी तर्क या शास्त्र प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। जब व्यक्ति अपनी दीन-दशा से परितप्त होकर इससे बाहर निकलना चाहता है, तो शास्त्र उसकी समस्या का निदान बताते हैं और उससे मुक्त होने के लिए मार्ग भी दिखाते हैं। समस्त उपनिषद, गीता आदि ग्रन्थों का यही प्रयोजन है।

शंकराचार्य के परवर्ती आचार्यों ने भी अद्वैत-वेदान्त का प्रतिपादन करने में अध्यास की समस्या पर पर्याप्त विचार किया है। अध्यास के पूर्वकथित भेद - स्वरूपाध्यास, संसर्गोध्यास, धर्मि-अध्यास और धर्माध्यास का उल्लेख मधुसूदन सरस्वती ने अपने ग्रन्थ सिद्धान्त-बिन्दु में किया है।[२०] विद्यारण्य स्वामी ने आत्मा और अनात्मा के अध्यास का विस्तृत विश्लेषण कर यह बताने का प्रयास किया है कि आत्मा पर मिथ्या अहं का आरोप कैसे हुआ है। उसे स्पष्ट करने के लिए वे शुक्ति पर रजत के अध्यास का दृष्टान्त प्रयोग में लाते हैं।

जैसे शुक्ति पर रजत का अध्यास हो, वैसे ही कूटस्थ (आत्मा) पर विशेष (चिदाभास) का अध्यास रहने से हमें चिदाभास ही सत्य प्रतीत होता है और उसी में हमारी अहं बुद्धि होती है। इसे विद्यारण्य स्वामी विक्षेपाध्यास नाम देते हैं।

अविद्यावृतकूटस्थे देहद्वयमुता चितिः।
शुक्तौ रूप्यवदध्यस्ता विक्षेपाध्यास एवं हि।।[२१]

अर्थात् दोनों देहों से युक्त चिदाभास शुक्ति में रूप्य के समान अविद्या से आवृत कूटस्थ में अध्यस्त होता है, उसी को 'विक्षेपाध्यास' कहते हैं।

'यह रजत है' इस प्रकार के भ्रम में रजत की सत्यता और यहपन शुक्ति से प्राप्त होते हैं। शुक्ति की सत्यता से रजत सत्य प्रतीत होता है। शुक्ति की ओर संकेत कर हम कहते हैं कि यह रजत है। अतः रजत का यहपन शुक्ति से प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार विक्षेप में स्वयन्ता और वस्तुता कूटस्थ से प्राप्त होती है। विक्षेप में ये लक्षण न होते हुये भी भीसते हैं।

शुक्ति में रजत का भ्रम होने पर रजत में शुक्ति का कालापन और तिकोना आकार नहीं भासित होता, वह ढका रहता है।[२२] इसी प्रकार कूटस्थ की असंगता और आनन्द के लक्षण तिरोहित हो जाते हैं, वे विक्षेप में भासित नहीं होते। जैसे शुक्ति में रजत की भ्रांति होकर रुपया कहलाती है, वैसे ही कूटस्थ में विक्षेप की भ्रांति 'अहं' कही जाती है। हम अपना जो अहं अनुभव करते हैं, वह मिथ्या है और कूटस्थ आत्मा पर अध्यास्त होने के कारण सत्य प्रतीत होता है।[२३] इस अहं से पृथक् आत्मा का असंग और आनन्द-रूप न भासना ही मूल अविद्या है, जिसका उल्लेख पहले हो चुका

है। अविद्या का नाश विद्या से ही होता है। अविद्या नष्ट होने पर उसके कार्य भी नष्ट हो जाते हैं। उस ज्ञान की अवस्था में आत्मा और चिदाभास का अध्यास नहीं रहता है। इस अध्यास के निवृत्त होने पर इन्द्रियां, देह, पुत्र, चित्त आदि का अध्यास भी समाप्त हो जाता है।

'विचारसागर' के रचयिता श्री वासुदेव ब्रह्मेन्द्र सरस्वती अध्यास की पाँच सामग्रियाँ निर्धारित करते हैं और अध्यास की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं - 'भ्रमज्ञानविषयीभूतमिथ्यावस्तु तद्विषयक भ्रान्तिज्ञानं चाध्यास इत्युच्यते'[२४] अर्थात् भ्रमज्ञान की विषयभूत मिथ्यावस्तु और उसके विषय में भ्रान्ति ज्ञान अध्यास कहलाता है। इस परिभाषा पर ध्यान देने से ज्ञात होगा कि ये आचार्य अध्यास के दो भेद करते हैं - अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास। भ्रान्तिज्ञान के विषयीभूत मिथ्या सर्प आदि 'अर्थाध्यास' हैं और उस मिथ्या वस्तु विषयक भ्रान्तिज्ञान 'ज्ञानाध्यास' है। इसमें ज्ञानाध्यास ही मिथ्या ज्ञान या भ्रान्ति है। अर्थाध्यास के ही दो भेद स्वरूपाध्यास और संसगोध्यास हैं, जिनका उल्लेख पहले हो चुका है।

वासुदेव ब्रह्मेन्द्र सरस्वती अध्यास की पाँच सामग्रियाँ या कारण कलाप बताते हैं - (१) सत्य वस्तु का अनुभव-जन्य संस्कार (२) प्रमातृदोष (३) प्रमाणदोष (४) प्रमेयदोष और (५) अधिष्ठान विशेष का अज्ञान किन्तु उसका सामान्य ज्ञान। 'बिना त्वाभिरध्यास एव न सिद्धयेत्' अर्थात् इनके बिना अध्यास सिद्ध नहीं हो सकता है। शुक्ति में रजत का अध्यास होने पर ये पाँचों कारण विद्यमान होते हैं। पहले हमारी बुद्धि में सच्चे रजत का संस्कार होना चाहिए, तभी शुक्ति में रजत की कल्पना हो सकती है अन्यथा नहीं। दूसरे प्रमाता में रजत का लोभ होना चाहिए। यह प्रमातृदोष है। तीसरे, प्रमाण इन्द्रियाँ और प्रकाश हैं। इनके दोष से वस्तु का वास्तविक रूप ज्ञात नहीं होता। चौथा, प्रमेय दोष यह है कि शुक्ति का रजत से कुछ साम्य है। इसी कारण शुक्ति में उसके सदृश रजत का भ्रम होता है, सर्प का नहीं। पाँचवें, अधिष्ठान रूप शुक्ति का स्पष्ट ज्ञान न हो किन्तु उसका सामान्य ज्ञान अवश्य हो। यदि शुक्ति बिल्कुल न दिखाई दे तो उस पर रजत का भ्रम और अध्यास न होगा।

सामान्य रूप से किसी अध्यास के यही पाँच अंग होते हैं, किन्तु अद्वैत-वेदान्त के पक्ष में यह आक्षेप किया जा सकता है कि आत्मा ही एकमात्र सद्वस्तु है। प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदि अनात्मा और असत् है। इसलिए सत् और असत् का अध्यास ही नहीं हो सकता। यह समस्या वही है, जिस पर शंकर ने विचार किया है। वे कहते हैं कि यह असम्भव होते हुए भी अनुभव में देखा जाता है। अनुभव ही उसका प्रमाण है। विचार-सागर के रचयिता युक्ति के द्वारा आत्मानात्म अध्यास का प्रतिपादन करते हैं। संक्षेप में उनके तर्क इस प्रकार हैं।

अध्यस्त नामरूप जगत् मिथ्या है, किन्तु उसके पूर्वज्ञान और संस्कार से अध्यास हो सकता है। शंकर जिसे 'स्मृतिरूपा' कहते हैं, उसे यहाँ 'संस्कार' माना है। 'ज्ञान-जन्य-संस्कार एवाध्यास हेतुः'[२५] अर्थात् ज्ञान से उत्पन्न संस्कार ही अध्यास का हेतु है। पूर्व ज्ञेय वस्तु सत् हो या असत्, ऐसा कुछ नियम नहीं है। यदि किसी जादूगर का दिखाया हुआ मिथ्या अम्रवृक्ष देखे और वैसा सत्य वृक्ष कभी न देखा हो तो भी मिथ्या अम्रवृक्ष देखने वाले को उसके संस्कारवश वह मधूक वृक्ष देख कर उसे अम्रवृक्ष का भ्रम हो सकता है। इसी प्रकार मिथ्या जगत् को अनादि काल से देखते आ रहे हैं। उसके संस्कार से ही ब्रह्म जगत्वत् भासित होता है।

यदि कहा जाय कि प्रथम बार यह अध्यास कैसे हुआ, तो उसका उत्तर यही है कि यह अनादि है, इसलिए प्रथम बार का प्रश्न नहीं उठता है -

जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः।।[२६]

अर्थात जीव, ईश्वर, ब्रह्म, जीवेश्वर का भेद, अविद्या और अविद्या तथा चैतन्य का सम्बन्ध अनादि है। 'उत्पत्तिशून्यत्वं स्वरूपतोऽनादित्वम्'[२७] अर्थात् उत्पत्ति शून्य होना ही अनादित्व है।

एक आक्षेप यह भी हो सकता है कि आत्मा और अनात्मा में सादृश्य नहीं है अतः अध्यास नहीं हो सकता। इसके उत्तर में कहते हैं कि सादृश्य होना सर्वत्र आवश्यक नहीं है। नेत्र दोष के कारण शंख पीतवर्ण दिखाई देता है, यद्यपि शंख और पीतवर्ण में कोई साम्य नहीं है। इसी प्रकार आत्मा-अनात्मा में सादृश्य न होने पर भी अविद्या के कारण अध्यास हो सकता है।

प्रभातृदोष भी सर्वत्र होना आवश्यक नहीं है, जैसे लोभशून्य विरक्त व्यक्तियों को भी शुक्ति में रजत का अध्यास होता है। इसी प्रकार प्रमाण दोष भी सर्वत्र अनिवार्य नहीं है। नेत्र दोष न होने पर भी आकाश में तलमलिनता दिखाई देती है। यह भी आक्षेप हो सकता है कि स्वयं प्रकाश स्वरूप ब्रह्म में अज्ञान का होना सिद्ध नहीं होता। इसके उत्तर में कहते हैं कि ज्ञानस्वरूप ब्रह्म और अज्ञान में विरोध नहीं है। तर्क यह है - 'यद्यात्मनः स्वरूपप्रकाशो ज्ञानविरोधी भवेत्तदा सुषुप्तौ स्वयं प्रकाशात्मनि नाज्ञानमुपलभ्येत'[२८] अथात् यदि आत्मा में अज्ञान उपलब्ध न होता। ज्ञान स्वरूप आत्मा और अज्ञान में विरोधी नहीं वरन् आत्मा का चैतन्य अज्ञान को प्रकाशित करता है। 'आत्मनः स्वरूप प्रकाशः सर्वाधिष्ठानत्वादज्ञानस्यापि सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन साधक एवं भवति'[२९] अर्थात् आत्मा का स्वरूप प्रकाश सर्वाधिष्ठान रूप होने से अज्ञान की सत्ता को भी स्फुरण देकर उसका सहायक होता है। अतः अध्यास सम्भव है।

## शांकर-वेदान्त में अध्यास का महत्व

शंकर ने अध्यास को माया के पर्यायवाचक शब्द के रूप में लिया है।[३०] शांकर-वेदान्त में माया का महत्वपूर्ण स्थान है। यह स्पष्ट है कि जगत् का नानात्व एवं अद्वैत की समस्या माया द्वारा ही सुलझाई गयी है। अद्वैत और नानात्व दो विरोधी संप्रत्यय हैं। शंकर निश्चय ही अद्वैत की स्थापना करना चाहते हैं किन्तु विश्व में नानात्व है। अद्वैत से नानात्व कैसे उत्पन्न होता है? इसकी व्याख्या करने के लिए शंकर ने माया की अवधारणा को स्वीकार किया। माया को शंकर अनिर्वचनीय[३१] तथा मिथ्या मानते हैं, इसीलिए मायाकल्पित समस्त विश्व भी मिथ्या है।[३२] इस नानात्वपूर्ण विश्व की माया द्वारा ब्रह्म पर अध्यारोपित होने से अद्वैत समाप्त नहीं होता।

इसके अतिरिक्त शंकर यह भी मानते हैं कि आत्मा विषयी है और शरीर विषय। ये दोनों एक दूसरे से विरोधी गुण वाले हैं। आत्मा अति सूक्ष्म एवं इन्द्रियानुभव से परे है। वह अजन्मा, अकर्ता, अभोक्ता एवं सब प्रकार के विकारों से परे है, किन्तु शरीर इन्द्रियानुभविक एवं स्थूल है। वह नाशवान एवं विकारों से पूर्ण है। यह सामान्य अनुभव का तथ्य है कि हम शरीर के गुण आत्मा पर और आत्मा के गुण शरीर पर अध्यारोपित करते हैं। यही नहीं, हम अपने शरीर को आत्मा समझते हैं और आत्मा को शरीर समझ लेते हैं। प्रश्न है कि इस प्रकार का अनुभव किस प्रकार होता है? शुद्ध विषयी विषय रूप में कैसे भासित होता है? शांकर-वेदान्त में इस प्रकार के अनुभव की व्याख्या अध्यास द्वारा ही की गयी है।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप को अक्षुण रखते हुये शरीर से उसकी एकता के अनुभव की व्याख्या अध्यास के अभाव में संभव नहीं है। शंकर एवं उनके अनुयायिओं ने, संभवतः इस तथ्य को समझ कर अध्यास को अपने दर्शन में स्थान दिया, इसीलिए अद्वैत-वेदान्त में अध्यास को मिथ्याज्ञानरूप, कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का प्रवर्तक माना गया है।[३३] यदि कोई यह कहे कि दो स्थूल वस्तुओं के गुणों को ही एक दूसरे पर अध्यारोपित किया जा सकता है, किन्तु आत्मा स्थूल वस्तु नहीं है, अतः उसके गुणों का शरीर पर या शरीर के गुणों पर आत्मा पर अध्यारोपण नहीं हो सकता - इसके उत्तर में शंकर का कहना है कि यह कोई आवश्यक नियम नहीं है। प्रकाश अप्रत्यक्ष है। वह कोई स्थूल वस्तु भी नहीं है, फिर भी बालक-बुद्धि के मनुष्य पर नीला रंग अध्यारोपित करते हैं।[३४] यह अध्यास कब से है? और कब तक रहेगा? ऐसे प्रश्नों के उत्तर में शंकर का कहना है कि अध्यास अनादि है और वह तब तक रहता है, जब तक ज्ञान नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के दृष्टिकोण से अध्यास अनादि है किन्तु अनन्त नहीं परन्तु सामूहिक रूप से अध्यास अनादि एवं अनन्त दोनों है। इस प्रकार हम देखते हैं, शांकर-वेदान्त में विश्व एवं व्यक्ति से सम्बन्धित जटिल समस्याओं को अध्यास द्वारा ही सुलझाया गया है।

## संदर्भ-सूची


१. आत्म-बोध, शंकराचार्य, ६२ (प्रतप्तायसपिण्डवत्)।
२. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., अध्यास भाष्य, पृष्ठ २ (युष्मदस्मद् प्रत्ययगोचरयोर्विषय विषयिणोस्तम प्रकाश विरुद्धस्वभावयोः इतरेतर भावानुपपत्तौ) सिद्धायां तद्धमणिमपि सुतरामितरेतर भावानुपवत्तिः।।
३. वहीं, पृष्ठ ३ (अन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्माश्च अध्यस्येतरेतरा-विवेकेनात्पन्तविविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्या ज्ञाननिमित्तः)।
४. वहीं, पृष्ठ ११-१२।
५. वहीं, पृष्ठ ४।
६. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., प्रस्तावना, पृष्ठ ३ (नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः)।
७. वहीं, सत्यानन्दी-दीपिका, पृष्ठ ६।
८. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., उपोद्घातः।
९. Indian Psychology by J.N. Sinha, P. 287.
१०. Ibid., P. 302.
११. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., उपोद्घात।
१२. वहीं।
१३. अन्य परवर्ती आचार्यों ने विभिन्न ख्यातिवादी मतों की परीक्षा की है और अद्वैत में प्रतिपादित अनिर्वचनीयख्याति की स्थापना की है। उस पर इस ग्रन्थ के पाँचवें अध्याय में विचार किया गया है।
१४. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. प्रस्तावना, पृष्ठ ११।
१५. भगवद्गीता, १५.१२।
१६. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., प्रस्तावना, पृष्ठ १७।
१७. वहीं।
१८. रत्नप्रभा, पृष्ठ ५६।
१९. शां.भा., भगवद्गीता १५.३, पृष्ठ २६८।
२०. सिद्धान्त-बिन्दु, पृष्ठ २७।
२१. पंचदशी, ६.३३; पृष्ठ १४५।
२२. वहीं, ६.३४।
२३. वहीं, ६.३५-३६।
२४. विचारसागर, द्वितीय तरंग, पृष्ठ ४४।
२५. संस्कृत विचार सागर, द्वितीय तरंग, पृष्ठ ५२।
२६. वहीं, पृष्ठ ५५।
२७. वहीं, पृष्ठ ५६।

२८. वहीं, पृष्ठ ६०।

२६. वहीं, पृष्ठ ६०।

३०. तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते, ब्रह्मसूत्र, शां.भा., उपोद्‌घातः।

३१. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., २.२.२।

३२. वहीं, १.२.१३।

३३. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., उपोद्‌घात।

३४. वहीं।

❑❑❑

अध्याय-५

# प्रमाण-मीमांसा एवं भ्रम सिद्धान्त

## शंकर पूर्व अद्वैत-वेदान्त में प्रमाण-मीमांसा

अद्वैत-वेदान्त में प्रमाण-मीमांसा पर विचार करने के पूर्व 'प्रमाण' का तात्पर्य समझ लेना आवश्यक है। मूल शब्द 'प्रमा' है, जिससे 'अप्रमा', 'प्रमाण', 'प्रमाता', 'प्रमेय', 'प्रामाण्य' आदि शब्द बनते हैं, जिनका प्रयोग प्रमाण-मीमांसा के अन्तर्गत किया गया है।

धर्मराजाध्वरीन्द्र ने 'प्रमा' को परिभाषित करते हुये लिखा है, 'अनधिगत और अबाधित' विषय का ज्ञान ही प्रमा है।[1] 'अनधिगत' का तात्पर्य पूर्व ज्ञात न होना और अबाधित का अर्थ दूसरे प्रमाण से मिथ्या न सिद्ध होने वाला है। इस प्रकार 'प्रमा' वह ज्ञान है जो यथार्थ हो, मिथ्या-ज्ञान न हो। ज्ञान की यथार्थता के विषय में अनेक मत हैं। एक मत के अनुसार जो ज्ञान अर्थवान और सप्रयोजन है, वही यथार्थ है। दूसरा मत सम्वादी प्रत्यय को यथार्थ ज्ञान मानता है। तीसरा मत कहता है कि जो वस्तु जहाँ हो, वहाँ उसका अनुभव ही यथार्थ ज्ञान या प्रमा है और चौथा मत अबाधित ज्ञान को यथार्थ ज्ञान मानता है। अंतिम मत ही वेदान्त का मत है।

पुनः ज्ञान दो प्रकार का हो सकता है - अनुभूति और स्मृति। वस्तु उपलब्ध होने पर जब उसका ज्ञान होता है तो उसे 'अनुभूति' कहते हैं। यह अनुभूति जब किसी अन्य काल में पुनः बुद्धि में आती है तो वह ज्ञान स्मृति कहलाता है। स्मृति काल में वस्तु उपलब्ध होना आवश्यक नहीं है। सामान्यतः इस स्मृति ज्ञान को प्रमा नहीं माना जाता है। अनुभूत ज्ञान को ही प्रमा कहना चाहिए।

इस प्रकार प्रमा कराने वाले साधन को 'प्रमाण' कहते हैं अर्थात् प्रमा का जो करण (साधन) है, वह प्रमाण है।[2] प्रत्येक प्रमा में एक विशेष प्रकार का साधन अपेक्षित होता है। उदाहरणार्थ, प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियाँ और बुद्धि ही प्रमाण होते हैं। 'यह घट है' - इस प्रमा का साधन नेत्र है। इसलिए नेत्र घट का प्रमाण है। बुद्धि आदि भी ज्ञान के साधन हैं किन्तु इनकी आवश्यकता सभी प्रकार के ज्ञान में होती है। अतः ज्ञान का जो विशेष साधन है, उसी को प्रमाण मानते हैं, अन्य साधारण साधनों को नहीं।

प्रमा से ही प्रमाता और प्रमेय दो पक्ष उत्पन्न होते हैं, जिन्हें क्रमशः ज्ञाता और ज्ञेय कहते हैं। जिसे ज्ञान होता है वह प्रमाता है, और जिस वस्तु का ज्ञात होता है, उसे प्रमेय कहते हैं। इस प्रकार प्रमाता को प्रमाण द्वारा किसी प्रमेय का जब ज्ञान होता है, तो वह प्रमा कहलाता है।

साधारण अनुभव से सिद्ध है कि प्रमाता चेतन-विशिष्ट होना चाहिए; जड़ वस्तु प्रमाता नहीं हो सकती है। उपनिषदों के अनुसार प्रमाता एकमात्र ब्रह्म है क्योंकि वही चेतन सत्ता या ज्ञानस्वरूप है। तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है।[३] यही बुद्धि और समस्य इंद्रियों में व्याप्त होकर नानात्व का प्रमाता होता है। इतना ही नहीं, समस्त प्रमेय भी उस ब्रह्म रूप ही है। तात्पर्य यह कि निरपेक्ष चैतन्य सत्ता की बुद्धि आदि से उपहित होकर प्रमाता और उसकी अपेक्षा से नानात्वपूर्ण विषय प्रमेय बनते हैं।

निरपेक्ष सत् से ही आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। इन पंच महाभूतों से औषधि, अन्न और प्राणियों के शरीर निर्मित हुए - यही सब प्रमेय हैं।[४] जब प्रमाता और प्रमेय ब्रह्म के ही दो पक्ष हैं तो प्रमा भी ब्रह्मरूप ही है। इस तथ्य का निरूपण समष्टि और व्यष्टि दो रूपों में हो सकता है। ब्रह्म अपनी समष्टि माया की उपाधि से ईश्वर नाम से प्रसिद्ध होता है और समस्त रूपात्मक सृष्टि प्रमाता बन कर सर्वज्ञ कहलाता है। जीव उसका व्यष्टि रूप है और वह अपनी सीमित उपाधियों से सीमित ज्ञान का अधिकारी होता है, अतः वह अल्पज्ञ है। किन्तु जीव अपने वास्तविक स्वरूप में निरूपाधिक चैतन्य ब्रह्म ही है। अपनी हृदय-गुहा में जो व्यक्ति आकाश के समान अनन्त चैतन्य सत्ता को जानता है, वह ब्रह्म के साथ एक होकर सम्पूर्ण प्रमेयों का ज्ञाता बन कर सर्वज्ञ हो जाता है। जीव की अल्पज्ञता सीमित उपाधियों के कारण है। यदि वह उन उपाधियों का त्याग कर समष्टि उपाधि धारण कर ले तो ईश्वरत्व प्राप्त कर सर्वज्ञ हो सकता है।[५]

इसका तात्पर्य यह है कि प्रमाता, प्रमेय और प्रमा का भेद उपनिषद् के ऋषियों की दृष्टि में उपाधिजन्य है और उपाधियाँ नामरूप मात्र हैं।[६] निरुपाधिक चैतन्य में ये कोई भेद सम्भव नहीं हैं।

प्रामाणिकता की दृष्टि से समस्त उपनिषद् दो वर्गों में बाँटे जा सकते हैं - मंत्रोपनिषद् और ब्राह्मणोपनिषद्। स्वामी चिन्मयानन्द के अनुसार 'मन्त्रोपनिषद्' ऐसे धार्मिक ग्रन्थ हैं, जिनका ज्ञान समाधिस्थ ऋषियों को ध्यानावस्था के क्षणों में दैवी प्रेरणा द्वारा मंत्र रूप में हुआ। वह ज्ञान मानों किसी अज्ञात दूरस्थ स्थान से शुद्ध रूप में अवतरित हुआ। यही कारण है, मंत्र सदैव कविता के रूप में होते हैं और जिस ऋषि को उनकी प्रेरणा होती है, वह उनका रचयिता होने का दावा नहीं करता क्योंकि इनकी

रचना के लिए उनके मन या बुद्धि ने स्वयं कोई प्रयास नहीं किया। दीप्तमान अनुभवों के क्षणों में वह ज्ञान उनके हृदय में तब प्रकट हुआ, जब वे अपने मनोमय और विज्ञानमय कोषों की सीमा लांघ चुके थे। हिन्दू दार्शनिक इस सहज ज्ञान में प्राप्त मंत्रों को विशेष मान्यता देता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस ज्ञान की विस्तृत व्याख्या की गयी है। इस दृष्टि से 'ईशावास्य', 'मण्डक' आदि उपनिषद् मंत्रोपनिषद् हैं और 'बृहदारण्यक', 'प्रश्न' आदि उपनिषद् ब्राह्मण उपनिषद् हैं। इन दो प्रकार के उपनिषदों में जब कभी विपरीत विचार मिलते हैं, तब मंत्रोपनिषद् में दिये हुए पाठ को ही अन्तिम रूप से मान्यता दी जाती है। प्रश्नोपनिषद् में 'पिप्पलाद' ऋषि अपने शिष्यों के प्रश्नों का उत्तर देते हैं और उसके समर्थन में शब्द प्रमाण के रूप में श्लोक उद्धृत करते हुए कहते है – 'तदेतौ श्लोकौ भवतः' और इसके उपरान्त श्लोक बोलते हैं।[७]

कुछ आचार्यों ने शब्द प्रमाणों के दो भेद माने हैं – लौकिक और अलौकिक। इस दृष्टि से मंत्रोपनिषद् अलौकिक शब्द प्रमाण माने जा सकते हैं और ब्राह्मण उपनिषद् लौकिक शब्द प्रमाण। यह विभाजन केवल शब्द की उत्पत्ति का स्थान देख कर किया गया है, प्रामाण्य विषय को ध्यान में रख कर नहीं। ऋषियों ने जब मन-बुद्धि के परे पहुँच कर जिस ज्ञान को प्राप्त किया, वह मंत्र या अलौकिक शब्द प्रमाण कहा जा सकता है। मन-बुद्धि के स्तर पर अनुभव किया गया और समझा गया परम तत्त्व-विषयक ज्ञान ब्राह्मण या लौकिक शब्द प्रमाण है। किन्तु ये दोनों ही प्रकार के शब्द प्रमाण परमार्थ-विषयक होने के कारण और संशयरहित होने से अलौकिक शब्द प्रमाण ही सर्वत्र सामान्य रूप से माने जाते हैं। लौकिक शब्द प्रमाण वही होता है जो देहाभिमानी व्यक्ति इसी लोक के सम्बन्ध में कोई घटना या वस्तु का उल्लेख करते हुए बोलता है। उदाहरण के रूप में डॉ. दास का मरीज अपने अनुभव से कहता है कि 'डॉ. दास हृदय-रोग के कुशल डॉक्टर हैं।'

परमात्मा का ज्ञान कराने में मंत्र और ब्राह्मण दोनों ही उपनिषद् सहायक हैं। इनके द्वारा परम तत्त्व उसी दशा में प्रकाशित होता है, जब अन्तःकरण शुरू होता है। ज्ञान होने पर शब्दों की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती है। उसके उपरान्त शब्दों का अनुध्यान करना व्यर्थ है –

'नानुध्यायाद् बहूञ्छाब्दान् वाचो विग्लापनंः हितत्' अर्थात् बहुत शब्दों का निरन्तर चिन्तन न करे, वह तो वाणी का श्रम ही है।[८] वह अपने में स्वतः नानात्व अनुभव नहीं करता है।[९] वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है। समस्त त्रैतयुक्त ज्ञान में वह विद्यमान है[१०] और अनन्यत्व के बोध में वह स्वयं प्रकाश होकर उपस्थित है।

इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष आदि विविध प्रमाण जीव के हेतु ही हैं। परम सत अप्रमेय है। यद्यपि उपनिषदों में इसका उल्लेख नहीं मिलता है कि प्रमाण कितने

हो सकते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष व अनुमान आदि विविध प्रमाणों का प्रयोग अवश्य मिलता है।

उपनिषद् स्वतः शब्द प्रमाण हैं। ऋषियों ने अपनी आन्तरिक अनुभूति का जो वर्णन किया है, वह प्रमाण ही है। उनकी अनुभूति प्रत्यक्ष आदि पर आधारित नहीं है। उसका वे निषेध करते हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के ब्रह्मवेत्ताओं ने प्रमाणान्तर से ज्ञात न होने वाले उस परम तत्त्व के विषय में अन्य किसी उपाय की गति न देख कर ध्यान योग के अनुशीलन द्वारा उस परम मूल कारण को स्वयं ही अनुभव से जान लिया।

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्<br>
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूठाम्।<br>
यः कारणानि निरिवलानि तानि<br>
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः।।[११]

'उन्होंने (ऋषियों ने) ध्यानयोग का अनुवर्णन कर अपने गुणों से आच्छादित परमात्मा की शक्ति का साक्षात्कार किया। वह परमात्मा अकेले ही काल से लेकर आत्मापर्यन्त समस्त कारणों का अधिष्ठान हैं।'

इस उपनिषद् में श्रुति उस ध्यान विधि का भी उल्लेख करती है, जिसके द्वारा अधिकारी व्यक्ति ब्रह्मवेत्ता ऋषियों की भांति परम तत्त्व के दर्शन अपने हृदय में कर सकते हैं।[१२] उसका दर्शन शुद्ध बुद्धि द्वारा ही होता है। नेत्रों से तो उसे देखा ही नहीं जा सकता क्योंकि उस तत्त्व का अपना कोई रूप नहीं है।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य<br>
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।<br>
हृदा हृदिस्थं मनसा य एन -<br>
मेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति।।[१३]

'इसका स्वरूप नेत्रादि से ग्रहण करने योग्य स्थान में नहीं, उसे कोई भी नेत्र द्वारा नहीं देख सकता। जो इस हृदयस्थित परमात्मा को शुद्ध बुद्धि यानी मन से इस प्रकार जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं।'

यहाँ नेत्र समस्त इंद्रियों को उपलक्षित करता है। अतः तात्पर्य यह हुआ कि वह किसी भी इन्द्रिय द्वारा विषय रूप से ग्रहण नहीं किया जा सकता। अन्य उपनिषदों में भी इस मत की पुनरावृत्ति की गयी है, जैसे 'यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति'[१४] जिसे कोई नेत्र द्वारा नहीं देख सकता अपितु जिसकी सत्ता से नेत्र देखता है।

उपर्युक्त उद्धरण से यह भी ज्ञात होता है कि उपनिषद् के ऋषि प्रत्यक्ष प्रमाण को अवश्य मानते हैं किन्तु उसका विषय रूपवान होना चाहिए। शब्द, स्पर्श आदि का भी अपना रूप है जो क्रमशः कर्ण, त्वक् आदि द्वारा ग्राह्य है। परमतत्त्व रूपाकारहीन है, अतः वह इन्द्रियगोचर नहीं है। जगत् के नामरूपात्मक विषय ही इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं। व्यावहारिक जगत् की परिसीमा में प्रत्यक्ष प्रमाण उपयोगी है।

कठोपनिषद् के ऋषि का तर्क है कि परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बना कर मानो उन्हें नष्ट कर दिया है। इसी से जीव इन्द्रियों द्वारा बाह्य-विषयों को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं।[१५] वह आत्मा न तो वाणी से, न मन से और न नेत्र से ही प्राप्त होती है।[१६]

अनुमान प्रमाण से भी उपनिषद् के ऋषि परिचित हैं। वे इसका प्रयोग भी करते हैं किन्तु परम तत्त्व के प्रतिपादन में उसे असमर्थ मानते हैं – 'नैषा तर्केण मतिरापनेया'[१७] अर्थात तर्क द्वारा बुद्धि उसे नहीं प्राप्त कर सकती है। छान्दोग्य उपनिषद् में आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को शिक्षा देते हुए अनुमान प्रमाण का प्रयोग करता है। रात में जो नमक जल में डाला था, वह जल में ही घुल गया। अब उसे नेत्रों से नहीं देखा जा सकता। अनुमान से ज्ञात है कि नमक जल में घुला हुआ विद्यमान है। जिह्वा की स्वाद इन्द्रिय से उसे चख कर प्रत्यक्ष रूप से जाना जा सकता है। जो नेत्र के लिए अनुमान का विषय है, यह जिह्वा से लिए प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार 'सत्सोम्य न निभात्मयसेऽत्रैव किलेति' अर्थात् वह सत् भी निश्चय ही वहीं विद्यमान है, तू उसे देखता नहीं है, परन्तु वह विद्यमान अवश्य है।[१८] तात्पर्य यह है कि जैसे जल में घुला नमक प्रत्यक्ष का विषय न होने पर भी अनुमान का विषय हो सकता है, वैसे ही परम सत् प्रत्यक्ष और अनुमान का विषय न होने पर भी अन्य प्रकार से जाना जाता है।

आरुणि के उपर्युक्त विवेचन में उपमान प्रमाण का भी दृष्टान्त मिल जाता है। अन्यत्र वे शकुनि पक्षी का उपमान के रूप में प्रयोग करते हैं। 'जिस प्रकार डोरी में बंधा हुआ पक्षी दिशा-विदिशाओं में उड़ कर अन्यत्र स्थान न मिलने पर अपने बंधन-स्थान का ही आश्रय लेता है, इसी प्रकार निश्चय ही यह मन दिशा-विदिशाओं से उड़ कर अन्यत्र स्थान न मिलने पर प्राण का ही आश्रय लेता है क्योंकि मन प्राण रूप बंधन वाला है।[१९] घट और मृत्तिका का प्रसिद्ध दृष्टान्त भी उपमान प्रमाण का ही द्योतक है। 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्व मृन्मयं विज्ञानं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् . . . ऐवं सोम्य स आदेशो भवति'[२०] अर्थात् जिस प्रकार मृत्तिका के पिण्ड द्वारा सम्पूर्ण मृन्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है कि विकास केवल वाणी के आश्रयभूत नाममात्र है, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है। हे सोम्य, ऐसा ही वह आदेश भी है।

शंकराचार्य ज्ञान को कर्म से स्वरूपतः पृथक् लक्षण का बताते हैं और उसे (ज्ञान को) वस्तु-तंत्र कहते हैं। इसके विपरीत कर्म पुरुष-तंत्र है। ज्ञान किसी भी प्रमाण से होने वाला किसी भी लौकिक-अलौकिक वस्तु का हो, वह सदा वस्तु-तंत्र होगा। 'वस्तुतन्त्रमेव तत्'[२१] अर्थात् वह (ज्ञान) वस्तु के अधीन है। तात्पर्य यह है कि वस्तु के अनुकूल ज्ञान होने पर ही वस्तु का ज्ञान कहलायेगा। यदि वस्तु विद्यमान हो और उसे प्रकाशित करने वाला प्रमाण भी हो, तो ज्ञान अवश्य होगा। आँखें बन्द करना, अन्यत्र देखने लगना अथवा ज्ञान होने में कोई अन्य बाधा डालना ज्ञान के साधनों में विकल्प उत्पन्न करना है। उसका वस्तु के ज्ञान से सम्बन्ध नहीं है।

कर्म से ज्ञान की तुलना कर शंकर ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है। कर्म करने, न करने अथवा अन्यथा करने में पुरुष स्वतंत्र है।[२२] उदाहरणार्थ, मनुष्य इस बात में स्वतंत्र है कि वह अश्व से जाये, पैदल जाये अथवा अन्य प्रकार से जाये, अथवा न जाये। इसलिए कर्म में ही विधि, प्रतिषेध, विकल्प, उत्सर्ग तथा अपवाद कहे जाते हैं। किन्तु सिद्ध वस्तु इस प्रकार है, अथवा इस प्रकार नहीं है, अथवा वस्तु बिल्कुल नहीं है, ऐसे विकल्प नहीं किये जा सकते। यदि कोई विकल्प होता है तो वह पुरुष बुद्धि की अपेक्षा से होता है, किन्तु सिद्ध वस्तु का यथार्थ ज्ञान पुरुष बुद्धि की अपेक्षा नहीं करता, वह तो सिद्ध वस्तु के अधीन है।

इसी आधार पर प्रमा और अप्रमा भी निर्धारित किये जा सकते हैं। एक स्थाणु में स्थाणु है, पुरुष है अथवा अन्य है, ऐसा ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं है। उसमें पुरुष है अथवा अन्य कुछ है, यह मिथ्याज्ञान (अप्रमा) है। 'स्थाणु ही है' यह यथार्थ ज्ञान (प्रमा) है क्योंकि यह ज्ञान वस्तु के अधीन है। इसी प्रकार सिद्ध वस्तु विषयक ज्ञानों का प्रामाण्य वस्तु के अधीन है।[२३]

लौकिक वस्तुओं का ज्ञान ही वस्तु-तंत्र नहीं है, वरन् ब्रह्मज्ञान भी वस्तु के अधीन है। यहाँ ब्रह्म ही वह वस्तु है, जिसका ज्ञान होता है। यदि यह शंका हो कि सिद्ध वस्तु होने से ब्रह्म अन्य प्रमाण विषय होने के कारण वेदान्त वाक्यों का विचार निष्फल होगा; इसे इसके उत्तर में शंकर कहते हैं कि ऐसा मानना युक्त नहीं है। ब्रह्म इन्द्रियों का विषय नहीं है, अतः अन्य प्रमाणों से उसका जगत् रूप कार्य के साथ सम्बन्ध का ग्रहण नहीं होता।[२४]

ज्ञान वस्तु-तन्त्र मानने से ज्ञान और स्मृति का भेद स्पष्ट हो जाता है। शंकर स्मृति को ज्ञान नहीं मानते हैं। वस्तु के उपलब्ध होने पर ज्ञान होता है, किन्तु स्मृति में वस्तु उपलब्ध नहीं होती। जैसे मैं अपने पुत्र का स्मरण करता हूँ, उसे उपलब्ध नहीं करता, उपलब्ध करना चाहता हूँ, इस प्रकार स्मृति और उपलब्धि में विप्रयोग और संप्रयोगात्मक प्रत्यक्ष रूप से अर्थ का भेद स्वयं अनुभव होता है।[२५] स्मृति में पहले

से जानी हुई वस्तु ही कल्पना रूप में आती है, वस्तु यथार्थ में ज्ञान का विषय नहीं बनती है।

शंकर ज्ञान को दो वर्गों में विभाजित करते हैं – लौकिक और पारमार्थिक। लौकिक ज्ञान में वेद्य, वेदित और वेदना का भेद रहता है। इस प्रकार के ज्ञान में ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय दोनों से भिन्न होता है।[२६] इसी आधार पर शंकर बुद्धि की विषयाकार वृत्तियों से उनके साक्षी को पृथक् मानते हैं। वृत्तियाँ नानारूप हैं और उनका साक्षी सदा एक रूप है, यह अनुभव सिद्ध है। 'विज्ञान में उत्पत्ति, नाश और अनेकत्व आदि विशेष स्वीकार किये जाते हैं, अतः प्रदीप के समान विज्ञान भी अन्य से अवगम्य है, ऐसा हमने सिद्ध किया है।'[२७] बाह्य वस्तुओं से बुद्धि-वृत्तियों तक समस्त ज्ञान ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान में विभक्त है। यह लौकिक ज्ञान है।

परिमार्थिक ज्ञान सम्यक् ज्ञान है, जिसमें यह भेद नहीं रहता। 'ज्ञानज्ञेयज्ञातृभेदरहितं परमार्थतत्त्वदर्शनम्'[२८] अर्थात् परमार्थ दर्शन ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता के भेद से है। इसीलिए श्रुतियाँ कहती हैं कि ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। उसमें अनेकत्व का बोध नहीं होता।

शंकर ज्ञान के साधन (प्रमाण) तीन या छः मानते हैं – इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। डॉ. राधाकृष्णन् लिखते हैं – 'शंकर ज्ञान के तीन स्रोतों का उल्लेख करते हैं : प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्र प्रमाण। उनके परवर्ती लेखकों ने उनमें तीन और जोड़े : उपमान, अर्थापत्ति और अभाव।'[२९] किन्तु हम देखते हैं कि शंकर स्वयं छः प्रमाण गिनाते हैं और कहते हैं कि न केवल कर्म द्वारा और न कर्म-ज्ञान समुच्चय द्वारा ही मुक्ति सम्भव है, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है। 'न प्रमाणाभावात्। तत्र हि कर्मण उक्त विषय व्यतिरेकेण विषयान्तरे सामर्थ्यास्तित्वे प्रमाणं न प्रत्यक्षं नानुमान नोमानं नार्थापत्तिर्न शब्दोस्ति।'[३०] अर्थात् इसमें कोई प्रमाण नहीं है, यहाँ कर्म से उक्त विषयों से भिन्न किसी अन्य विषय में सामर्थ्य होने का न प्रत्यक्ष प्रमाण है, न अनुमान है, न उपमान है, न अर्थापत्ति है और न शब्द प्रमाण है। यहाँ केवल 'अनुपलब्धि' का उल्लेख नहीं आया है। ब्रह्मसूत्र भाष्य में शंकर ने उस पर विचार किया है।[३१] डॉ. दास गुप्ता भी स्वीकार करते है कि वेदान्त कुमारिल की भाँति स्वतः प्रामाण्यवाद मानता है।[३२]

शंकर ने इन सब प्रमाणों को अविद्या-काल में ही उपयोगी या प्रामाण्य माना है। कोई ज्ञान तभी तक सत् माना जाता है, जब तब उसका बोध नहीं होता। अतः संसार की प्रतीति अभी सत् होते हुए और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होते हुए भी उस समय मिथ्या हो जाती है, जब ब्रह्म-ज्ञान से उसका बोध हो जाता है। तत्त्व-ज्ञान की अवस्था में नानात्व शेष नहीं रहता, इसलिए जगत्-ज्ञान व्यावहारिक सत् होते हुए भी परमार्थतः सत् नहीं है। परमार्थ सत् ही निरपेक्ष सत् है।

शंकर स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि अविद्या वाला प्रमाता ही प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का आश्रय लेता है, इंद्रियादि रहित आत्मा का न प्रमातृत्व उपपन्न होता है और न उसमें प्रमाण की प्रवृत्ति ही सम्भव है। इन्द्रियों का प्रयोग किये बिना प्रत्यक्ष आदि व्यवहार सम्भव नहीं होते और अधिष्ठान के बिना इन्द्रियों का व्यवहार सम्भव नहीं होता। अनध्यस्त आत्मभाव वाले शरीर से कोई व्यापार नहीं कर सकता। तात्पर्य यह है कि असंग आत्मा में प्रमातृत्व उपपन्न नहीं होता, प्रमाता के बिना प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और शास्त्र अविद्वानों का ही आश्रय करते हैं।[३३]

शंकर के इस कथन से पाठक के मन में यह विचार आ सकता है कि यदि सब प्रमाण अविद्या-कल्पित ही हैं तो उनके द्वारा त त्व की खोज करना व्यर्थ है। अविद्या कल्पित प्रमाणों का प्रयोग करने वाला अविद्या में ही भ्रमण करता रहेगा, उससे बाहर निकल कर सत् के दर्शन न कर सकेगा। किन्तु भाष्य में आगे चल कर शंकर का प्रमाण-विषयक दृष्टिकोण आशाजनक दिखाई देता है। वे कहते हैं कि कर्म में जैसे शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण है, वैसे तत्त्वज्ञान में नहीं है। उसमें अन्य प्रमाण भी उपयोगी हैं। 'जगत् के जन्म आदि के कारण का प्रतिपादन करने वाले वेदान्त-वाक्यों के विद्यमान होने पर उनके अर्थ-ग्रहण की दृढ़ता के लिए वेदान्त-वाक्यों का अविरोधी अनुमान भी यदि प्रमाण हो, तो उसका निवारण नहीं किया जाता क्योंकि श्रुति ने ही सहायक रूप से तर्क अनुमान स्वीकार किया है।'[३४] शंकर इस प्रकार के श्रुति उद्धरण भी देते हैं, जहां श्रुति अपने प्रति पुरुष बुद्धि को सहायक दिखलाती है। 'धर्मजिज्ञासा के समान ब्रह्मजिज्ञासा में केवल श्रुति आदि ही प्रमाण नहीं है किन्तु श्रुति आदि तथा अनुभव आदि यथासंभव उसमें प्रमाण हैं।'[३५] यदि कोई कहे कि मन-बुद्धि आदि कारणों से आत्मा अगोचर है, इस कारण उसका ज्ञान नहीं हो सकता, तो शंकर यह कथन ठीक नहीं मानते हैं क्योंकि शास्त्र और आचार्य के उपदेश द्वारा एवं शम, दम आदि साधनों द्वारा शुद्ध किया हुआ मन आत्मदर्शन में करण या साधन है। इस प्रकार उस ज्ञान-प्राप्ति के विषय में अनुमान और आगम प्रमाणों के रहते हुए भी यह कहना कि ज्ञान नहीं होता, साहस मात्र है।[३६] शंकर के इस कथन से भी अनुमान आदि प्रमाणों में उनकी आस्था सिद्ध होती है। आगे चल कर अद्वैत वेदान्त में स्पष्ट रूप से छः प्रमाणों को स्वीकार किया गया - प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाण।[३७] अब यहाँ हम संक्षेप में इन प्रमाणों का अलग-अलग विवेचन करेंगे।

## प्रत्यक्ष प्रमाण

शंकर ने प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विवेचन पृथक् रूप से और व्यवस्थित ढंग से

नहीं किया है, इसलिए इन प्रमाणों के विषय में शंकर की धारणा समझने के लिए उनकी समस्त रचनाओं का अवलोकन कर समस्त बिखरे विचारों को एक स्थान में संग्रहीत करना पड़ता है। वे इंद्रिय और उनके विषयों के सम्पर्क को प्रत्यक्ष ज्ञान मानते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में इन्द्रियों का पर्यायवाची शब्द 'मात्रा' प्रयोग किया गया है।[३८] उसका अर्थ बताते हुए शंकर कहते हैं – 'मात्रा वे हैं, जिनसे शब्दादि विषय जाने जाते हैं अर्थात् इन्द्रियां। इन्द्रियां और शब्दादि के संयोग से शीतोष्ण आदि का ज्ञान होता है।'[३९]

इन्द्रिय होने मात्र से कोई ज्ञान नहीं हो जाता है। 'प्रत्येक ज्ञान में स्तम्भ, कुड्य (दीवार), घट, पट इस प्रकार बाह्य अर्थ उपलब्ध होता है।[४०] उसके अभाव में प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसी प्रसंग में शंकर विज्ञानवादियों के इस मत का भी खण्डन करते हैं कि प्रत्यक्ष व्यक्ति की अपनी मानसिक क्रिया मात्र है और अनुभव में आने वाले विषय बाहर नहीं होते है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि शंकर प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय को ज्ञाता से भिन्न स्वतंत्र रूप से विद्यमान मानते हैं। प्रत्यक्ष के साथ ही यह बोध होता है कि घट आदि बाहर विद्यमान है। अतः डी.एम. दत्त शंकर और उनके बहुत से अनुयायियों को ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से वस्तुवादी मानते हैं। यह विचार उन्हें अपने विरोधी बौद्धों से पृथक कर देता है।'[४१]

इन्द्रियों के विषय केवल रूप-रंग वाले ही नहीं हैं, वरन् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध भी हैं। इसलिए सब प्रकार के विषयों का ज्ञान पांच ज्ञानेन्द्रियों से होता है। ज्ञानेन्द्रियों में भिन्न-भिन्न प्रकार के विषयों को ग्रहण करने का सामर्थ्य है,[४२] किन्तु केवल इन्द्रियों से ही विषय का ज्ञान नहीं हो सकता। इन्द्रियों के साथ मन भी होना चाहिए, तभी इन्द्रियाँ विषय-ग्रहण कर सकती हैं – 'इन्द्रिय मनोभ्यां हि वस्तुनो विज्ञानं' इन्द्रिय और मन के द्वारा ही वस्तु का विज्ञान होता है।[४३]

शंकर मन को श्रुति और स्मृति प्रमाण के आधार पर श्रोत्रादि के समान इन्द्रियरूप में स्वीकार करते हैं। जैसे इन्द्रियाँ बाह्य करण हैं, वैसे ही मन अन्तःकरण है। इन दोनों के एक साथ होने पर वस्तु का प्रत्यक्ष होता है। अन्तःकरण भिन्न-भिन्न स्थलों पर मन, बुद्धि, विज्ञान, चित्त आदि नामों से जाना जाता है।

शंकर अन्तःकरण के कार्य बता कर उसकी अनिवार्यता तर्क द्वारा सिद्ध करते हैं। वे कहते हैं – 'अन्तःकरण अवश्य है, यह स्वीकार करना चाहिए। उसके स्वीकार न किये जाने पर नित्योपलब्धि अथवा नित्यानुपलब्धि का प्रसंग होगा। उपलब्धि के साधनभूत आत्मा, इन्द्रिय और विषय के सन्निधान होने पर नित्य ही उपलब्धि प्रसक्त होगी। इसके विपरीत ज्ञान के इन सब साधनों के उपलब्ध होने पर भी यदि किसी वस्तु का बोध नहीं होता है तो उसकी नित्य अनुपलब्धि होगी।' अनुभव में हम देखते

हैं कि चेतना, कान और ध्वनि निरन्तर उपलब्ध होने पर भी हम उसे बराबर नहीं सुनते रहते हैं। जब मन किसी ध्वनि की ओर ध्यान देता है, तभी उसे कान ग्रहण करते हैं और आत्मा या इन्द्रिय की शक्ति प्रतिबंधित हो जाती है, ऐसा मानना होगा। शंकर कहते हैं – 'आत्मा की शक्ति का प्रतिबन्ध तो सम्पन्न नहीं है क्योंकि वह अविक्रिय है। इन्द्रिय की शक्ति का भी स्वयं प्रतिबद्ध होना सम्भव नहीं है। अतः जिसके अवधान या अनवधान से विषय की उपलब्धि या अनुपलब्धि होती है, वह मन है।[४४] इसीलिए श्रुतियाँ कहती हैं कि मन से ही देखता है, मन से ही सुनता है।'[४५]

इस प्रकार प्रत्यक्ष में शंकर अन्तःकरण की भूमिका आवश्यक मानते हैं। मन इन्द्रिय के द्वारा विषय ग्रहण कर विषयाकार वृत्ति धारण करता है। शंकर इसे 'मनःप्रचार' कहते हैं।[४६] अतः प्रत्यक्ष ज्ञान 'वृत्तिजन्य' ज्ञान है। शंकर के शब्दों में 'इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेषु प्रवर्तमानानां मनः अनुप्रवर्तते' अर्थात् इन्द्रियों के अपने-अपने विषय में प्रवर्तित होने पर मन उनका अनुवर्तन करता है।[४७]

इन्द्रिया पाँच हैं, किन्तु मन एक ही है, इसलिए शंकर मन को 'सर्वकरण साधारण' कहते हैं।[४८] सभी इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले विषयों को ग्रहण कर तद्रूप धारण करने की सामर्थ्य मन में है। मन में जिस विषय की वृत्ति निर्मित होती है, वह आत्मचैतन्य से प्रकाशित होकर उस विषय का बोध कराती है।

शंकर ने इस बात का निर्णय नहीं किया है कि विषयावृत्ति हमारे अन्दर रहने पर ही मन उसे धारण करता है, अथवा मन इन्द्रिय-द्वार से निकल कर विषय तक जाता है और वही उस वस्तु से सन्निकर्ष पाकर उस वस्तु का रूप धारण करता है, किन्तु इतना निश्चय है कि प्रत्यक्ष में मन विषयाकार वृत्ति धारण करता है और उसके बिना प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नहीं है।

प्रत्यक्ष प्रमाण की अपनी सीमा है। इसके द्वारा ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता। शंकर के अनुसार, 'इन्द्रियाँ स्वभाव से विषयविषयक हैं, ब्रह्मविषयक नहीं। यदि ब्रह्म इन्द्रियों का विषय होता तो यह जगद्रूप कार्य ब्रह्म के साथ सम्बद्ध है, ऐसा गृहीत होता, किन्तु हम देखते हैं कि जगत् रूप कार्य ही इन्द्रियों से गृहीत होता है।'[४९]

यदि प्रत्यक्ष के द्वारा ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता तो इसमें प्रत्यक्ष का दोष नहीं है क्योंकि शंकर के शब्दों में, 'स्वविषयशूराणि हि प्रमाणनि, श्रोत्रादिवत्'[५०] अर्थात् श्रोत्रादि इन्द्रियों के समान सब प्रमाण अपने-अपने विषय में प्रबल होते हैं। ब्रह्म के विषय में प्रत्यक्ष नहीं, वरन शास्त्र ही प्रमाण है। प्रत्यक्ष के विषय में शास्त्र भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। अग्नि शीतल होती है, अथवा सूर्य नहीं तपता – यह बात सैकड़ों दृष्टान्तों से भी प्रतिपादित नहीं हो सकती। एक प्रमाण का दूसरे प्रमाण से विरोध नहीं होता।

जो वस्तु एक प्रमाण से नहीं जानी जाती, उसी को दूसरा प्रमाण बतलाता है।[५१] अन्यत्र शंकर पुनः कहते हैं – 'अग्नि ठण्डी है या अप्रकाशक है', ऐसा कहने वाली सैकड़ों श्रुतियाँ भी प्रमाण रूप नहीं मानी जा सकती हैं।[५२]

यद्यपि प्रत्यक्ष प्रमाण से नानात्व का ज्ञान होता है और शास्त्र प्रमाण से अद्वैत का, किन्तु दोनों प्रमाणों में विरोध नहीं है। विरोध मानने वालों से शंकर पूछते है – 'क्या शब्दादि के भेद से आकाश की एकता में भी विरोध है? यदि उसका विरोध नहीं है तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ब्रह्मैकत्व प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का विरोध नहीं हो सकता।'[५३]

शंकर ने यद्यपि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का प्रयोग किया और उनके विषय में उनकी एक निश्चित धारणा थी, किन्तु उन्होंने प्रमाणों पर स्वतंत्र रूप से न विचार किया और न उनकी गहन मीमांसा करना आवश्यक समझा। उनके अनुयायियों, जिनकी दो धारायें हो गयी – विवरण-प्रस्थान और भामती-प्रस्थान उन्होंने इनका कुछ गहन विवेचन किया और धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्त-परिभाषा ग्रन्थ लिख कर अद्वैत-वेदान्त की प्रमाण-मीमांसा को समन्वित रूप प्रदान कर दिया। अतः इन विद्वानों द्वारा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों पर प्रस्तुत किये गये विचारों का यहाँ उल्लेख करना नितान्त अपेक्षित है।

प्रत्यक्ष प्रमाण में चैतन्य, करण और विषय तीन पक्ष निहित होते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान होने में इनमें किसकी प्रधानता है और इन सबका कितना योगदान है – इन प्रश्नों पर विचार करते हुए विवरण-प्रस्थान और भामती-प्रस्थान में भेद हो गया। विवरण-प्रस्थान की धारा विषय को प्रधानता देती है और भामती-प्रस्थान की धारा करण को। दोनों धाराओं के इस मतभेद का उल्लेख वेदान्त परिभाषाकार ने इस प्रकार किया है – 'प्रत्यक्ष ज्ञान की विशेषता करण के कारण नहीं है किन्तु वह प्रमेय से विशेषित होती है – ऐसा एक मत में प्रतिपादित किया गया है। दूसरे मत का यह आशय है कि करण से विशेषित होकर ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वह विषय से विशेषित नहीं होता है।'[५४]

पद्मपादाचार्य अपने ग्रन्थ पञ्चपादिका में प्रत्यक्ष में विषय की प्रधानता इस प्रकार बतलाते हैं – 'अन्तरपरोक्षानुभवात् न विषयस्था परोक्षता भिद्यते'[५५] अर्थात् अन्तःस्थित अपरोक्ष अनुभव से विषय की अपरोक्षता भिन्न नहीं है। यहाँ अपरोक्ष का अर्थ प्रत्यक्ष है। अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित विषय प्रत्यक्ष होता है। इसी को विषय का प्रत्यक्ष होना कहते है। प्रत्यक्ष की इस प्रक्रिया को अधिक स्पष्ट करते हुए पद्मपाद कहते हैं – 'अन्तरपरोक्षानुभवावगुण्ठित एवं जागरणेऽप्यर्थोऽनुभूयते। अन्यथा जडस्थ प्रकाशानुपपत्तेः। यथाऽवगुण्ठिनो घटः प्रदीपप्रभावगुण्ठनमन्तरेण न प्रकाशो भवति।'[५६] अर्थात् अन्तःस्थित अपरोक्ष से अवगुण्ठित होकर ही जाग्रत अवस्था में विषय अनुभूत

होता है, अन्यथा जड़ वस्तु का प्रकाशित होना सिद्ध न होगा। प्रत्यक्ष घट दीपक के प्रकाश से अवगुण्ठित हुए बिना प्रकाशित नहीं होता। तात्पर्य यह है कि अन्तःकरण में विषय उपलब्ध होने पर वह प्रत्यक्ष होता है। विषय उपलब्ध न होने पर प्रत्यक्ष न होगा। अतः प्रत्यक्षत्व विषयगत है।

विषय अन्तःकरण में दो दशाओं में उपलब्ध हो सकता है - एक अव्यवहित रूप से और दूसरे व्यवहित रूप से।[५७] प्रथम दशा में प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और दूसरी दशा में अनुमान ज्ञान। निकट विद्यमान घट अव्यवहित रूप से प्राप्त होता है, किन्तु पर्वत के पीछे की अग्नि व्यवहित रूप से उपलब्ध होती है। विषय के अव्यवहित रूप से अन्तःकरण में उपलब्ध होने पर दोनों का अभेद माना गया है।[५८]

दूसरा मत वाचस्पति, अमलानन्द और अप्पय दीक्षित का है, जिसके अनुसार प्रत्यक्षत्व ज्ञानगत है। वाचस्पति कहते हैं, 'अन्य कारण से अन्य कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, नहीं तो कुटज के बीज से वटवृक्ष का उगना प्रसक्त होगा। इसलिए कारण पर ही कार्य का स्वरूप निर्भर है। इसी न्याय से कोई भी प्रमा विशेषरूप से प्रत्यक्ष प्रमा तभी कहलाती है, जब उसका कारण प्रत्यक्ष प्रमाण हो।'[५९] तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान किसी अन्य ज्ञान से उत्पन्न नहीं होता। अनुमान ज्ञान में धूम्रज्ञान से अग्नि ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कहलाता।

इसी मत का समर्थन करते हुए अमलानन्द वेदान्त-कल्पतरु में कहते हैं - 'अपरोक्ष प्रमा के हेतु से उत्पन्न होना ही ज्ञान के प्रत्यक्षत्व का नियामक है। शब्द अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करने का हेतु नहीं है।'[६०]

अप्पय दीक्षित के शब्दों में, 'जो अपना विषय नहीं है, उसे विषय करने वाले ज्ञान से न उत्पन्न होने वाला ज्ञान होना ज्ञानगत अपरोक्षत्व है।'[६१] ज्ञान का कोई विषय प्रत्येक ज्ञान में होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में उस विषय का प्रथम या सीधा ज्ञान होता है। अनुमानादि अन्य प्रकार के ज्ञानों में एक ज्ञान से दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय न बनी हुइ वस्तु को अवलम्बन न बना कर उत्पन्न हुआ ज्ञान 'स्वविषयविषयक ज्ञान' है। वह ज्ञान जिस ज्ञात का जनक नहीं है, वही प्रत्यक्ष ज्ञान है।

प्रत्यक्ष की इस ज्ञानगत परिभाषा पर यह आक्षेप हो सकता है कि 'यह नील कमल है' इसे प्रत्यक्ष ज्ञान न माना जायेगा क्योंकि 'नील' विशेषण के ज्ञान से जन्म कमल का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसके उत्तर में परिमलकार कहते हैं - 'न च विशिष्ट ज्ञानं विशेषण ज्ञान जन्यमित्यभ्युपगमे'[६२] अर्थात् विशिष्ट ज्ञान विशेषणज्ञानजन्य नहीं होता है। नील-कमल के प्रत्यक्ष होने में प्रत्यक्ष के किसी अविषय अंश का उपयोग नहीं किया गया है। जैसे दो भिन्न वस्तुओं का एक साथ प्रत्यक्ष हो सकता है, वैसे ही 'नील' और 'कमल' का एक साथ प्रत्यक्ष होकर दोनों की एकता भी प्रत्यक्ष होती है।

विवरण और भामती दोनों सम्प्रदायों ने प्रत्यक्ष ज्ञान को एकांगी दृष्टि से समझने का प्रयास किया है और उसी के अनुसार उन्होंने परिभाषायें भी दी है। परिणामस्वरूप दोनों परिभाषाओं में अपूर्णता और पक्षपात दिखाई देता है। वेदान्त-परिभाषाकार ने इन दोनों मतों का उल्लेख ही नहीं वरन् उनमें समन्वय करने का प्रयास किया है, किन्तु वे विवरण-प्रस्थान की ओर अधिक झुकाव रखते हैं।

धर्मराजाध्वरीन्द्र प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया का निरूपण करते हुए कहते हैं कि घटादि विषयों से अवच्छिन्न चैतन्य विषय-चैतन्य, अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य प्रमाण-चैतन्य और अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य प्रमातृ-चैतन्य है। जब वृत्ति-अवच्छिन्न चैतन्य विषय-अवच्छिन्न चैतन्य से अभिन्न होता है, तो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जैसे तालाब का जल छेद से निकल कर नाली के रास्ते से होता हुआ खेतों में प्रविष्ट होता है और उसी के आकार का तिकोना, चौकोना या वर्तुलाकार बन जाता है वैसे ही पूर्वोक्त तीन उपाधियों में से तैजस अन्तःकरण भी चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा शरीर से बाहर निकल कर घटादि विषय तक जाता है और घटादि विषयों के आकार में परिणत होता है। उस परिणाम को वृत्ति कहते हैं। वृत्ति और घट एकदेश स्थित होने से उपधेयों में भेद नहीं रहता है। इस कारण घटावच्छिन्न चैतन्य और घटाकारवृत्ति अवच्छिन्न चैतन्य में अभेद होता है और घट का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।[६३]

इस विवेचन में विवरण मत की अपेक्षा कुछ अधिक स्पष्टता और निश्चय दिखाई देता है। विवरणकार अन्तःकरण और विषय का अभेद मानते हुए भी यह नहीं कह सकते कि अन्तःकरण इन्द्रिय-द्वारों से निकल कर बाहर जाता है और विषय-अवगुण्ठित होता है। वे यह भी नहीं कह सके कि विषय अन्तःकरण में कैसे प्रविष्ट होता है और दोनों में अभेद कैसे होता है? यदि विषय का ज्ञान हमारे भीतर अन्तःकरण में होता है तो वस्तु बाहर विद्यमान कैसे ज्ञात होती है? वेदान्त परिभाषा में इन प्रश्नों का समाधान हो जाता है। अन्तःकरण का बाहर जाना और विषयरूप वृत्ति उत्पन्न होना प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु हो सकता है।

धर्मराजाध्वरीन्द्र के मतानुसार बाह्य विषयों का ज्ञान बाह्य प्रत्यक्ष से होता है किन्तु प्रत्यक्ष का यही एक रूप नहीं है। अन्तःकरण प्रत्यक्ष भी होता है। सुख, दुःख, काम, संकल्प इत्यादि भाव अन्तःकरण के धर्म हैं। इनके ज्ञान में इन्द्रिय सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं है। अतः इनका ज्ञान अन्तःप्रत्यक्ष से हो जाता है।[६४] इसका निष्कर्ष यह है कि प्रत्यक्ष का विषय इन्द्रियों की सीमा में आने वाला ही नहीं, वरन् वह वहाँ है, जहाँ अन्तःकरण की पहुँच है। अन्तःकरण का जिस विषय से सम्पर्क हो सकता है, उसका प्रत्यक्ष सम्भव है। चेतन आत्मा अन्तःकरण के साथ अनिवार्य रूप से विद्यमान ही है।

प्रत्यक्ष प्रमाण का भिन्न प्रकार से भी विभाजन हो सकता है - सविकल्प और निर्विकल्प।[६५] न्याय आदि कुछ अन्य दर्शनों में भी यह विभाजन स्वीकार किया गया है। वेदान्त का दृष्टिकोण उन से पृथक् है। विकल्प को विषय करने वाला ज्ञान सविकल्प है जैसे 'मैं घट को जानता हूँ,' परन्तु संसर्ग को विषय न करने वाला ज्ञान निर्विकल्पक है, जैसे वह देवदत्त है।

तात्पर्य यह है कि सविकल्प ज्ञान में ज्ञेय वस्तु की विशिष्टता ज्ञात होती है। 'यह पट नहीं, घट है' - इस ज्ञान में वस्तु की विशेषता घट है। यदि वस्तु की विशिष्टता ज्ञात न हो तो वह निर्विकल्प प्रत्यक्ष है। यह कहा जा सकता है कि विशेषण विशेष्य सम्बन्ध (वैशिष्ट्य) को विषय न करने वाला ज्ञान निर्विकल्प ज्ञान कहलाता है - जैसे 'सो यं देवदत्त', 'तत्त्वमसि', 'वह (सत्) तू है' इत्यादि वाक्यों से उत्पन्न होने वाला ज्ञान।[६६] इस ज्ञान में सविकल्पक ज्ञान की भाँति घटरूप विशेषण से विशिष्ट ज्ञान को विषय करने वाला 'मैं घट को जान रहा हूँ' ऐसा वैशिष्ट्यावग्राही ज्ञान नहीं होता।

यहाँ पर एक शंका उपस्थित होती है कि वाक्यजन्य ज्ञान होने के कारण एवं इन्द्रियजन्य न होने से निर्विकल्प ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं वरन् शब्द ज्ञान है। वेदान्त में इन्द्रिय जन्यत्व को प्रत्यक्ष का प्रयोजक नहीं माना गया है, अपितु विषय में योग्यता एवं वर्तमानता होते हुए प्रमाण चैतन्य का विषय चैतन्य से अभिन्न होना ही प्रत्यक्ष ज्ञानगत प्रयोजक है। अतः 'सो यं देवदत्तः' इस वाक्य जन्य ज्ञान का विषय सन्निकृष्ठ है इसीलिए इस वाक्यजन्य ज्ञान का विषय समीप होने के कारण सन्निकृष्ठ विषय को उद्देश्य कर अन्तःकरण वृत्ति बाहर निकालती है। इस प्रकार देवदत्तावच्छिन्न (विषयावच्छिन्न) चैतन्य और वृत्यावाच्छिन्न (प्रमाण चैतन्य) का तादात्म्य होने से 'सोऽयदेवदत्तः' वाक्यजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार 'तत्वमसि' ज्ञान भी प्रत्यक्ष है।[६७]

साक्षि चैतन्य की द्विविधता से भी प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का माना जाता है - जीव साक्षि और ईश्वर साक्षि। संसर्ग का विषयत्व और अविषयत्व रूप दो निमित्तों से उसकी द्विविधता सम्भव होने पर भी वह दोनों प्रकार का ज्ञान चैतन्यरूप होने से एक ही है। शिखामणिकार इस भेद को जीवसाक्षिजन्य और ईश्वरसाक्षिजन्य ज्ञान मानते हैं। ऐसा लक्षण करने से साक्षीद्वैविध्य से प्रत्यक्ष ज्ञान भी दो प्रकार का हो जाता है। जीव और ईश्वर के निरूपण के बिना प्रत्यक्ष ज्ञान के ये दोनों प्रकार समझना कठिन है। जीव और जीवसाक्षि में अन्तर यह है कि अन्तःकरण जब चैतन्य का विशेषण रहता है, तब वह जीव कहलाता है तथा अन्तःकरण जब चैतन्य की उपाधि रहता है, तब उसे जीव साक्षि कहते हैं। प्रत्येक जीवात्मा का साक्षि चैतन्य भिन्न-भिन्न है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो मुझको ज्ञात हुये विषय का ज्ञान अन्य व्यक्तियों को भी होने लगेगा। इसी दोष को दूर करने के लिए अन्तःकरण रूप उपाधि के भेद से वेदान्तिओं ने जीव

साक्षी में नानात्व स्वीकार किया है।[६८]

मायोपहित अर्थात् मायावच्छिन्न चैतन्य ही ईश्वर साक्षि चैतन्य है। क्योंकि उस ईश्वर की उपाधि भूत माया एक है, इसीलिए ईश्वर साक्षि चैतन्य भी एक ही है। प्रत्येक जीव चैतन्य का अन्तःकरण भिन्न होने से अन्तःकरणोपहित चैतन्य भी भिन्न (अनेक) हैं, परन्तु ईश्वर साक्षिचैतन्य एक है, यही दोनों में विशेष अन्तर है। 'इन्द्र माया के कारण बहुरूपत्व को प्राप्त होता है' इत्यादि श्रुतिवाक्य में 'मायाभिः' इस बहुवचन का आशय 'माया के शक्ति विशेष है।' अर्थात् मायाभिः - मायाओं से इस प्रयुक्त बहुवचन का अभिप्राय एक महामाया की असंख्य विचित्र अवान्तर शक्तियाँ होने से मुख्य माया के एकत्व के साथ विरोध नहीं है। अथवा मायागत सत्व, रज, तम इन तीन गुणों के अभिप्राय से वह बहुवचन है। अग्नि आदि पदार्थों में दाहकत्व, प्रकाशत्व आदि कार्यों को देख कर अनन्त शक्तियाँ अनन्त पदार्थों में जैसी कल्पित की जाती हैं, उसी तरह जगत रूप विचित्र कार्यों के देखने से असंख्य कार्यों की शक्तियाँ माया में कल्पित करनी पड़ती हैं। उन्हीं को शक्ति विशेष अथवा अवान्तर शक्ति कहते हैं। इन्हीं असंख्य शक्तियों (शक्तिविशेष) को ध्यान में रखते हुये मायाभिः शब्द श्रुतिवाक्य में प्रयुक्त किया गया है।[६९]

इन्द्रियजन्य और इन्द्रियाजन्य भेद से भी प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है।[७०] सुखादि का प्रत्यक्ष इन्द्रियाजन्य प्रत्यक्ष है। घ्राण, रसना, चक्ष, श्रोत्र और त्वचा ये पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय से संयुक्त होने पर प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करती हैं। घ्राण, रसना और त्वक् तीन इन्द्रियाँ अपने स्थान में स्थित रह कर ही गन्ध, रस और स्पर्श विषयों का क्रमशः प्रत्यक्ष (अनुभव) उत्पन्न करती हैं, परन्तु चक्षु और श्रोत्र दो इन्द्रियाँ स्वयं ही जहाँ विषय हो, वहाँ जाकर अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती है। चक्षु के समान परिच्छिन्न होने से श्रोत्र का भेरी, मृदंगादि स्थानों में गमन सम्भव है। इसी कारण 'भेरी शब्द को मैंने सुना', 'मृदंग ध्वनि को मैंने सुना' ऐसा अनुभव होता है। इन्हें इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष कहते हैं।

## अनुमान

दूसरा प्रमाण अनुमान है, जिसे शंकर ने स्वीकार किया है और अपने भाष्यों में उसका प्रयोग भी किया है। एक दृष्टि से वे प्रत्यक्ष और अनुमान को समतुल्य समझते हैं।[७१] अनुमान प्रमाण से जानने योग्य विषय नानात्वपूर्ण जगत् ही है। हमारे निकट की वस्तुयें जो इन्द्रियों के कार्य क्षेत्र में आ सकती हैं, प्रत्यक्ष प्रमाण से जानी जाती हैं, किन्तु दूर की वस्तुयें, जहाँ तक इन्द्रियों की गति नहीं है, अनुमान के द्वारा जानी जाती हैं। अतः 'प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों की अव्यभिचारिता (समञ्जसता)

में विरोध नहीं होता है क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है।'[७२] अनुमान का शाब्दिक अर्थ यही सूचित करता है - अनु = बाद में, मान = ज्ञान अर्थात् एक ज्ञान (प्रत्यक्ष) के आधार पर दूसरा ज्ञान प्राप्त होना अनुमान का लक्षण हैं।

अनुमान प्रमाण की विशिष्टता 'लिंग' है, जैसे प्रत्यक्ष में विषय के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष। अनुमान प्रमाण में ज्ञेय पदार्थ के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष नहीं होता। यदि ऐसा हो, तब तो वह प्रत्यक्ष गोचर कहलायेगा। दूरस्थ या व्यवहित विषय भले ही इन्द्रियों की परिधि में न हो किन्तु उसका कोई लिंग इन्द्रिय गोचर होना चाहिए। लिंग के अभाव में अनुमान नहीं हो सकता। 'लिंगाद्यभावात् नानुमानादीनाम्' अर्थात् लिंग आदि का अभाव होने से (ब्रह्म) अनुमान आदि का विषय नहीं है।[७३] शंकर पुनः कहते हैं, 'दृष्टसाम्येन अदृष्ट्‌टमर्थ समर्थयन्ती युक्तिरनुभवस्य संनिकृष्यते'[७४] अर्थात् दृष्ट अर्थ के साम्य से अद्‌दृष्ट पदार्थ का समर्थन करने वाला तर्क अनुभव के सन्निहित है।

शंकर किसी भी प्रमाण को दूसरे प्रमाण का विरोधी नहीं मानते। अनुमान भी प्रत्यक्ष का विरोधी नहीं है। शंकर के शब्दों में, 'प्रत्यक्षविरोधऽनुमानस्याप्रमाण्यात्'[७५] अर्थात् प्रत्यक्ष से विरोध होने पर अनुमान की प्रामाणिकता नहीं हो सकती।

नैयायिक परार्थानुमान के पाँच अंग मानते हैं - प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। किन्तु मीमांसक उन्हें संक्षिप्त कर तीन अंगों या वाक्यों तक ही सीमित कर देते हैं। वे तीन प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त हैं। शंकर अनुमान के पाँचों अंग स्वीकार कर उनका प्रयोग करते दिखाई देते हैं। इसका एक उदाहरण इस प्रकार है। इसमें शंकर ने पांचों अंगों का नामोल्लेख किया है।[७६]

१. जाग्रतद्‌दश्यानां भावानां वैतथ्यम्-इति प्रतिज्ञा
(जाग्रत में देखे हुए पदार्थ मिथ्या हैं)

२. दृश्यत्वात् इति हेतुः
(दृश्य होने के कारण)

३. स्वप्नदृश्यभाववत् इति दृष्टान्तः
(स्वप्न में देखे हुए पदार्थों के समान)

४. यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां - इति हेतूपनयः
वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृश्यत्व - मविशिष्टुम्
(जिस प्रकार वहाँ स्वप्न में देखे हुए पदार्थों का मिथ्यात्व है, उसी प्रकार जाग्रत में भी उनका दृश्यत्व समान रूप से है)

५. तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यं स्मृतम् इति निगमनम्
(अतः जागृति में भी उनका मिथ्यात्व माना गया है।)

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि शंकर अनुमान के पाँचों अवयवों को स्वीकार करते हैं, किन्तु उन्होंने सर्वत्र इन पाँचों अवयवों का अनिवार्य रूप से प्रयोग नहीं किया है। उन्होंने अधिकांश स्थलों में प्रथम तीन अवयवों का ही प्रयोग किया है। सामान्यतः अनुमिति का आधार हेतु और साध्य के मध्य निरन्तर रहने वाली व्याप्ति ही है और नैयायिकों ने व्याप्ति के अनेक भेद भी किये हैं, किन्तु शंकर उनके विवेचन में रुचि नहीं रखते हैं। वे प्रत्यक्ष या अनुमान में कार्य करने वाले मनोविज्ञान का भी उल्लेख नहीं करते। वे न्याय आदि दर्शनों में स्वीकृत प्रमाणों का रूप प्रायः स्वीकार करते दिखाई देते हैं।

अनुमान प्रमाण की उपयोगिता और प्रामाण्य शंकर को व्यावहारिक जीवन में मान्य हैं। 'उसे अस्वीकार करने से लोक व्यवहार का उच्छेद प्रसंग हो जायेगा।'[७७] भूत और वर्तमान के सादृश्य से भविष्यत् विषय में भी सुख प्राप्ति और दुःख परिहार के लिए प्रवृत्त होते हुए लोग देखे जाते हैं।

परमार्थ ज्ञान में भी शंकर अनुमान का उपयोग एक सीमा तक स्वीकार करते हैं। वह अंतिम प्रमाण नहीं है, उसके लिए शास्त्र ही अंतिम प्रमाण है, किन्तु शास्त्रानुकूल तर्क स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है। कभी-कभी शास्त्र के अर्थ को निश्चित करने में भी इसका प्रयोग किया जाता है। शंकर कहते हैं – 'श्रुति अर्थ में विरोध हो तो अर्थाभास का निराकरणपूर्वक यथार्थ अर्थ का निर्णय वाक्यवृत्ति निरूपणरूप तर्क से किया जाता है।'[७८]

अनुमान की परिभाषा देते हुए वेदान्त परिभाषाकार लिखते हैं – 'अनुमिति प्रमा का करण ही अनुमान है'[७९] और 'अनुमति प्रमा व्याप्ति ज्ञान से उत्पन्न होती है, अतः व्याप्ति ज्ञान होने से अनुमिति का ज्ञान सम्भव है। व्याप्तिज्ञान का संस्कार अवान्तर व्यापार है।'[८०]

यहाँ नैयायिकों के तृतीय लिंग परामर्श का खण्डन किया गया है, जिसमें प्रथम लिंगज्ञान (धूम्र) रसोई में, दूसरा बन में जाने पर पर्वत पर धूम्र देख कर और तीसरा बह्निव्याप्य धूम्र देखा जाता है। यह परामर्श वेदान्तियों को नहीं मान्य है। उनके अनुसार यदि व्याप्ति ज्ञान है तो पर्वत पर धूम्र देख कर व्याप्ति उत्पन्न होगा और तत्काल अग्नि का ज्ञान हो जायेगा। इस संस्कार को यहाँ स्मृति से भिन्न माना गया है।

व्याप्ति की परिभाषा इस प्रकार की गयी है – 'व्याप्तिश्च अशेषसाधनाश्रयाश्रित-साध्यसामानाधिकरण्यरूपा' अर्थात् समस्त साधनों का जो आश्रय है और उसके आश्रित जो साध्य हैं, उससे हेतु का समानाधिकरण ही व्याप्ति है। धूम्र (साधन) का आश्रय पर्वत है और पर्वत के आश्रित अग्नि (साध्य) है। धूम्र और अग्नि में, साधन

और साध्य में समानाधिरण्य है। यही व्याप्ति है। व्याप्ति में व्यभिचार दर्शन न होकर सदा सहचार दर्शन होना आवश्यक है। यह चाहे एक बार दर्शन से हो या अनेक बाद से, उसका महत्व नहीं है।[८१]

नैयायिक तीन प्रकार के लिंग मानते हैं - केवल अन्वयी, केवल व्यतिरेकी और अन्वय व्यतिरेकी। वेदान्तपरिभाषाकार अनुमान को एक अन्वयीरूप ही मानते हैं। नैयायिकों के लिंग विभाजन का खण्डन किया गया है।[८२]

यहाँ अनुमान को स्वार्थ और परार्थ दो भेदों में बाँटा गया है, किन्तु परार्थानुमान में पाँच अवयवों के स्थान में तीन अवयव ही माने गये हैं।[८३]

## उपमान प्रमाण

वेदान्त में उपमान निरूपण भाट्टमीमांसा के अनुसार ही है। वेदान्त परिभाषाकार उपमान का लक्षण निम्न पंक्तियों में देते हैं -

'तत्र सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम्। तथा हि प्रांगणेषु (नगरेषु) दृष्टगोपिण्डस्य पुरुषस्य वनगतस्य गवयेन्द्रियसन्निकर्षे सति भवति प्रतीतिरयं पिण्डो गोसदृश इति तदनन्तरं च भवति निश्च्ययो नेन सदृशी मदीया गौरिति। तत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां गवयनिष्ठगोसादृश्य ज्ञानं करणं गोनिष्टगवय सादृश्य ज्ञानं फलम्।'[८४] (वे.प. २२६-२३०)

तात्पर्य यह है कि सादृश्य प्रमा के कारण को उपमान करते हैं। उपमान प्रक्रिया इस प्रकार से निष्पन्न होती है - जिस पुरुष ने प्रांगण अथवा नगर में गाय का अवलोकन किया हो और वही व्यक्ति अरण्य में जाकर 'गवय' को जब देखता है, तो उस समय उसे 'अयपिण्डोगोसदृशः' - यह पिण्ड (व्यक्ति पशु) गाय जैसा है, गाय के सादृश है, ऐसा ज्ञान होता है। तत्पश्चात् उसे 'अनेनसदृशोमदीयागोः' - 'इस गवय जैसी मेरी गाय है' (इस पशु अर्थात् गवय के सदृश (समान) मेरी गाय है) यह निश्चयात्मक ज्ञान होता है। इन दोनों ज्ञानों में से अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर गवय में होने वाला जो गो सादृश ज्ञान है, वह करण है अर्थात् उपमान प्रमाण है और गोनिष्ठ गवय का सादृश्य ज्ञान फल अर्थात् उपमिति है।

यहाँ पर सादृश ज्ञान को प्रमा और प्रमाण दोनों का बोधन किया गया है। यद्यपि दोनों ही सादृश्य ज्ञान रूप हैं, तथापि उनमें भेद है। प्रमाण रूप सादृश्य ज्ञान में 'गाय' की 'गवय' को उपमा दी गई है अर्थात् इस ज्ञान में 'गाय' उपमान और 'गवय' उपमेय है। प्रमिति रूप सादृश्य ज्ञान में गाय को गवय की उपमा दी गई है। अर्थात् इस ज्ञान में 'गवय' उपमान और (गौ) गाय उपमेय है। प्रथम सादृश्य ज्ञान द्वितीय सादृश्य ज्ञान का जनक है और द्वितीय सादृश्य ज्ञान प्रथम सादृश्य ज्ञान का फल (जन्य-कार्य) है।

सारांश यह है कि गवय में गाय के सादृश्य का ज्ञान उपमान प्रमाण और गाय में गवय का सादृश्य ज्ञान उपमिति कहलाता है।

प्रत्यक्ष अनुमान आदि से विलक्षणता रखने के कारण वेदान्ती इसे स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं और प्रत्यक्ष तथा अनुमान में इसकी गतार्थता न होने के कारण परिभाषाकार कहते हैं कि इन्द्रिय सन्निकर्ष न होने के कारण यह गवय निष्ठ सादृश्य ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा नहीं हो सकता क्योंकि वन में गवय को देखते समय गाय के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष नहीं रहता। इसी प्रकार वे दो अनुमान प्रयोग भी प्रस्तुत करते हैं।[८५] प्रथम में स्वरूपासिद्ध दोष होने के कारण उपमान को अनुमान में सन्निविष्ट नहीं किया जा सकता एवं द्वितीय प्रयोग में यदि अनुमान निर्दृष्ट भी हो, तो फिर भी बिना अनुमान के 'अनेय सदृशीमदीया गौः' इस प्रकार की अबाधित उपमिति होती है। यह आवश्यक भी नहीं कि प्रत्येक सादृश्य प्रमा के समय ऐसा ही अनुमान किया जाय। इसके अतिरिक्त इस सादृश्य-ज्ञान के अनन्तर 'गवय सादृश्यं अहं उपमिनोमि' - गवय सादृश्य का मैं अनुमान करता हूँ, ऐसा अनुव्यवसाय होने की अपेक्षा 'गवय सादृश्यं अहं उपमिनोमि' - गवय सादृश्य का मैं उपमान करता हूँ अर्थात् गवय सादृश्य को मैं उपमान द्वारा जानता हूँ, यही अनुव्यवसाय होता है। इसलिए उपमान को अनुमान में सन्निविष्ट नहीं किया जा सकता, वह एक स्वतंत्र प्रमाण है।

यद्यपि परिभाषाकार वैसा दृश्य ज्ञान रूपी उपमिति के बारे में मौन रहते हैं, परन्तु उनके टीकाकार - शिखामणि[८६] एवं मणिप्रभा - के रचयिता दोनों वैसा दृश्य रूप ज्ञान को उपमिति नहीं मानते। मण्डिप्रभाकार उदाहरण द्वारा अपने मत को पुष्ट करते हुए कहते हैं - जहाँ 'कमलेन लोचनमुपमिनोमि' - मैं नेत्र को कमल से उपमा देता हूँ, इस प्रकार का उपमान-उपमेय भाव पाया जाय, वही उपमान प्रमाण होता है। इसके विपरीत जहाँ वैधर्म्य ज्ञान हो, वहाँ उपमान-उपमेय भाव के लुप्त रहने के कारण उपमान प्रमाण सम्भव नहीं होता।[८७]

फिर जहाँ साध्य अग्नि प्रत्यक्ष सिद्ध है, वहाँ पर 'पर्वतो बह्निमानधूमात्' ऐसा अनुमान प्रयोग होता है। परन्तु इतने से ही प्रत्यक्षप्रमाण को जैसे व्यर्थ नहीं माना जा सकता अर्थात् अनुमान से प्रत्यक्ष की अगतार्थता ही सिद्ध होती है, उसी प्रकार अनुमान में उक्त सादृश्य ज्ञान सिद्ध होने पर भी उपमिति प्रमा का पृथक अनुभव होने से उपमान प्रमाण को अनुमान में परितार्थ नहीं किया जा सकता। अतः उपमिति प्रमा के कारण उपमान प्रमाण को पृथक् प्रमाण मानना ही चाहिए।

## शब्द प्रमाण

इन्द्रियों की पहुँच के अन्दर उपलब्ध वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रत्यक्ष

प्रमाण है। उसके आगे जहाँ इन्द्रियाँ नहीं पहुँच सकतीं, उसका ज्ञान प्रत्यक्ष के विपरीत परोक्ष है और उसे अनुमान प्रमाण से जान सकते हैं। किन्तु अपना वास्तविक आत्मा न प्रत्यक्ष प्रमाण से और न अनुमान प्रमाण से ही जाना जा सकता है, उसका 'अपरोक्ष' ज्ञान शब्द प्रमाण से ही जाना जाता है।

आत्मा या ब्रह्म अरूप होने के कारण प्रत्यक्ष का विषय नहीं है और उसका कोई लिंग न होने के कारण वह अनुमान से भी नहीं जाना जा सकता। उसका ज्ञान शब्द प्रमाण से ही होता है।[८८]

शब्द प्रमाण दो प्रकार का हो सकता है - लौकिक और अलौकिक। जब किसी लौकिक वस्तु या घटना के विषय में किसी आप्त पुरुष से ज्ञान प्राप्त होता है, तो ज्ञान का यह साधन लौकिक शब्द प्रमाण है। शंकर की दृष्टि में अलौकिक शब्द प्रमाण आगम ही है, जिससे परमार्थ वस्तु का बोध होता है। 'प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से पर तत्त्व का बोध सम्भव नहीं है, उसका ज्ञान तो आगम द्वारा ही सम्भव है।'[८९]

शंकर शास्त्र की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए उसे ब्रह्म से उत्पन्न मानते हैं। उनका तर्क है कि 'अनेक विद्याओं से सम्पन्न, दीपक के समान सब अर्थों का प्रकाशन करने में समर्थ और सर्वज्ञ के समान महान ऋग्वेद आदि शास्त्र ब्रह्म से ही उत्पन्न हो सकते हैं। सर्वगुण सम्पन्न शास्त्र की उत्पत्ति सर्मज्ञ को छोड़ कर किसी अन्य से नहीं है।[९०] यह लोक प्रसिद्ध है कि लौकिक ग्रन्थों की रचना करने वाला विद्वान् अपने लिखे ग्रन्थों से अधिक जानता है, अतः सर्वज्ञान के भण्डार वेदों की उत्पत्ति महान् अपरिच्छिन्न सद्रूप परमात्मा से ही होनी चाहिए। यह उत्पत्ति भी लीला न्याय से पुरुष निःश्वास की भांति अनायास होती है।'[९१]

प्रत्येक कल्प में सृष्टि के प्रभव और प्रलय के साथ श्वास की भांति वेद भले ही प्रकट और अप्रकट हों, किन्तु वे नित्य हैं। 'वेद शब्द में नित्यत्व समझना चाहिए।'[९२] शंकर ने अपने इस मत के समर्थन में श्रुति और स्मृति प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं।[९३] नित्य शब्द प्रमाण से ही नित्य परमात्मा की उपलब्धि सम्भव है।

शब्द प्रमाण ब्रह्म का ज्ञान कराने वाला है। 'ऋग्वेद और शास्त्र ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान में योनि, कारण या प्रमाण है। शास्त्र प्रमाण से ही अधिगत होता है कि जगत् के जन्मादि का कारण ब्रह्म है।'[९४]

ब्रह्म से वेद की उत्पत्ति ही नहीं हुई वरन् वेद स्वयं ब्रह्म है। शंकर कहते हैं, 'वेद रूप ब्रह्म को तुम कर्म की उत्पत्ति का कारण समझो।'[९५] 'वेदरूप ब्रह्म साक्षात् परमात्मा नामक अक्षर से पुरुष के निःश्वास की भांति उत्पन्न हुआ है, इसलिए वह सब अर्थों को प्रकाशित करने वाला होने के कारण सर्वगत है।'[९६]

'वेद का अपने अर्थ में प्रामाण्य वैसे ही निरपेक्ष है जैसे सूर्य का रूप विषय में

निरपेक्ष प्रामाण्य है।'[९७] वेद की प्रामाणिकता किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखती। इतना ही नहीं, शंकर 'श्रुति' को प्रत्यक्ष प्रमाण और 'स्मृति' को अनुमान प्रमाण मानते हैं। उनके शब्दों में, 'प्रत्यक्षं श्रुतिः, प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात् अनुमानं स्मृतिः, प्रामाण्यं प्रति सापेक्षत्वात्।'[९८] अर्थात् श्रुति प्रत्यक्ष है क्योंकि अपने प्रामाण्य के प्रति उसे किसी अन्य प्रामाण्य की अपेक्षा नहीं है। स्मृति ज्ञान अनुमान है, क्योंकि उसे अपनी प्रमाणता के लिए मूलभूत श्रुति की अपेक्षा होती है। तात्पर्य यह है कि श्रुतियां सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी हैं, अतः उनमें जिस ज्ञान का निरूपण किया गया है, वह परमात्मा अव्यवहित रूप से उपलब्ध है। उसे किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। अथवा, ऋषियों ने परम सत् को अपरोक्ष रूप से देखा या अनुभव किया है, वही श्रुति ज्ञान है। उसे अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं। स्मृतियों की रचना श्रुति के आधार पर की गयी। उनमें स्मृतिकारों की अपनी कल्पना है। वह ज्ञान तभी प्रामाणिक होगा, जब श्रुति के अनुकूल और उससे समर्थित हो। प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों में यही अन्तर है। प्रत्यक्ष ज्ञान अनुमान आदि की अपेक्षा नहीं रखता किन्तु अनुमान लिंग पर आश्रित है और लिंग प्रत्यक्ष से उपलब्ध है। इसलिए अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष की अपेक्षा रखता है।

यदि कहें कि श्रुति ज्ञान हमारे लिए परोक्ष ही होगा, वह प्रत्यक्ष के समान साक्षात् ज्ञान नहीं कराता तो यह ठीक नहीं है। श्रुति प्रमाण हमें अपने स्वरूप का ज्ञान अपरोक्ष रूप से कराता है और श्रुतियों में आत्मा को जो रूप चेतनस्वरूप, कुटस्थ असंग आदि बताया गया है वैसा ही हमें उपलब्ध होता है। इसलिए श्रुति प्रमाण से हमें अपनी आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान होने पर किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। स्मृतियों से आत्मा का ज्ञान परोक्ष रूप से होता है अथवा स्मृतियाँ श्रुतियों के आधार पर हमें आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान कराती हैं। इन दोनों स्थितियों में स्मृतियों को अपने प्रामाण्य के लिए श्रुतियों की अपेक्षा होती है। इसके अतिरिक्त, 'स्मृति के परस्पर विरोध होने पर एक का ग्रहण और अन्य का परित्याग अवश्य होने से श्रुति-अनुसारी स्मृतियाँ प्रमाण हैं।'[९९]

शंकर ने श्रुति प्रमाण से ब्रह्मज्ञान होने की प्रक्रिया पर भी प्रकाश डाला है। वे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से शब्द प्रमाण की प्रक्रिया का भेद करते हुए कहते हैं – 'न हि शास्त्रमिदंतया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिविपादयिषति। किं तर्हि? प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयदविद्या कल्पितं वेद्य-वेदितृ-वेदनादि भेदमपनयति।[१००] अर्थात् शास्त्र इदं रूप से विषयभूत ब्रह्म का प्रतिपादन करना नहीं चाहता किन्तु ब्रह्म प्रत्यगात्म रूप से अविषय है, ऐसा प्रतिपादन करता हुआ शास्त्र अविद्या से कल्पित वेद्य-वेदितृ-वेदना आदि भेद को निवृत्त करता है। वे पुनः कहते हैं कि श्रुति तो ऐतिह्यमात्र से अपने अर्थ का अभिधान करती हैं।[१०१] ऐतिह्य का तात्पर्य है – परोक्ष रूप प्रवाह परम्परा।

शंकर उन श्रुतियों को उद्धत करते हैं जो कहती हैं कि मोक्ष के प्रतिबंध (अज्ञान) की निवृत्ति मात्र आत्मज्ञान का फल है।[१०२]

ब्रह्म विषय रूप से ज्ञात नहीं होता, अतः शास्त्र प्रमाण से ब्रह्मज्ञान उस प्रकार नहीं होता है जैसे अन्य प्रमाणों से रूप और लिंग युक्त विषय ज्ञात होते हैं। यही कारण है कि श्रुति कहती है - 'जिसे ऐसा निश्चय है कि ब्रह्म ज्ञान नहीं है, उसे ब्रह्म ज्ञात है अर्थात् उसने ब्रह्म के स्वरूप को जाना है और जो ऐसा समझता है कि 'मुझे ब्रह्म ज्ञात है' उसने ब्रह्म को जाना ही नहीं, क्योंकि जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया है उसे ब्रह्म विषय रूप से अज्ञात है। ब्रह्म को ज्ञान का विषय समझ कर 'मैंने ब्रह्म को जाना है' ऐसा कहना अज्ञानियों का मत है।'[१०३]

इस प्रकार यह निश्चय है कि शंकर शास्त्र प्रमाण से ब्रह्मज्ञान सम्भव मानते हैं। वे यह भी कहते हैं कि श्रुति वाक्य अज्ञान की निवृत्ति कर ब्रह्मज्ञान कराते हैं। इसमें दृष्टान्त दशम् पुरुष की आख्यायिका है। 'आत्मा में दशम् संख्या की अपूर्व रूप भ्रम की निवृत्ति के समान शास्त्र अविद्या से आरोपित दुःखित्व रूप भ्रम की निवृत्ति के लिए है।'[१०४]

ब्रह्मज्ञान में महावाक्यों का विशेष उपयोग है। 'अहं ब्रह्मास्मि'[१०५] भी एक महावाक्य है। इस पर भाष्य लिखते हुए शंकर कहते हैं - 'विज्ञान तो मिथ्या ज्ञान का निवर्तक होने के सिवा और कुछ करने वाला है नहीं। शास्त्र-वचन किसी वस्तु में कोई सामर्थ्य पैदा करने वाला नहीं होता क्योंकि शास्त्र केवल ज्ञापक है, कारक नहीं - यही वास्तविक स्थिति है।'[१०६] डॉ. के. सच्चिदानन्द मूर्ति के अनुसार 'वे (महाकाव्य) आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान कराते हैं। महावाक्य सुनने से जैसे ही आत्मा का ज्ञान उदित होता है, वह स्वभावतः समस्त पूर्व मिथ्या धारणाओं को नष्ट कर देता है।'[१०७] किन्तु यह कथन शंकर की मान्यता के अनुकूल नहीं प्रतीत होता। ऊपर शंकर के उद्धरण से इसकी तुलना करने से भेद स्पष्ट हो जायेगा। शंकर के मतानुसार महावाक्य सुनने से केवल अविद्या की निवृत्ति होती है, ब्रह्मज्ञान अनुभव-रूप है। डॉ. मूर्ति यहाँ वाक्य से आत्मज्ञान और फिर उससे अविद्या की निवृत्ति मानते हैं। सच बात तो यह है कि शब्द प्रमाण से ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने की क्या प्रक्रिया है, इसका शंकर ने अधिक विवेचन नहीं किया है। इसलिए उनके अनुयायियों ने अपनी दृष्टि के अनुसार उनका तात्पर्य निकाला है।

आगम प्रमाण वाक्य द्वारा होता है। जिस वाक्य के तात्पर्य का विषय होने वाला संसर्ग (वस्तु) अन्य प्रमाणों से बाधित नहीं होता, वह वाक्य प्रमाण है। वाक्यजन्य ज्ञान में आकांक्षा, योग्यता, आसक्ति और तात्पर्य ज्ञान - ये चार कारण होते हैं।

'आकांक्षा' का तात्पर्य है पदार्थों की परस्पर जिज्ञासा।[१०८] कोई शब्द सुन कर उससे सम्बन्धित अन्य वस्तुओं की जिज्ञासा होती है, जैसे किसी क्रिया को सुन कर

उसके कर्ता की जिज्ञासा और कर्त्ता को सुन कर उसके कर्म और करण की जिज्ञासा। अपूर्णता के कारण आकांक्षा उत्पन्न होती है और वह पूर्णता चाहती है। कोई वाक्य अपेक्षित अर्थ देकर तभी प्रमाण बनता है, जब वह श्रोता की आकांक्षा पूरी करता है।

जिन पदों के मिलने से वाक्य बनता है, वह पदों की योग्यता पर भी निर्भर करता है। आकांक्षा पूर्ण करने के लिए किन्हीं पदों को जोड़ देना मात्र पर्याप्त नहीं है। 'अग्नि से सींचता है' - इस वाक्य में पदों की आकांक्षा पूर्ण करने की योग्यता नहीं है। अतः तात्पर्य विषयी भूत संसर्ग का बाध न होना ही 'योग्यता' है।[१०६]

'आसक्ति' का अर्थ है पदों के बीच में व्यवधान न होना।[११०] यदि लिखित वाक्य है तो उसके पद इतने पास-पास हों कि उनको मिला कर वाक्य बनता हो और वह अर्थ देने में समर्थ हो। बोला गया वाक्य अपने पदों के बीच कालगत व्यवधान न रखे।

इसके अतिरिक्त वक्ता का तात्पर्य भी समझना होता है और उसी को ध्यान में रख कर वाक्य का अर्थ समझा जाता है, तभी उस वाक्य से उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रमाण होता है। वक्ता का तात्पर्य उसके द्वारा दी गयी भूमिका और उपसंहार आदि से ज्ञात होता है। अतः वाक्य में वक्ता के विवक्षित अर्थ का ज्ञान करा देने की योग्यता को ही तात्पर्य कहते हैं।[१११]

वेदान्त के महावाक्यों का अर्थ लक्षणावृत्ति से किया जाता है। अतः शंकर आदि आचार्यों ने लक्षणा के प्रकार-भेदों पर विचार किया है। धर्मराजाध्वरीन्द्र ने भी उनका उल्लेख कर आगम प्रमाण का सर्वांगीण निरूपण किया है। इनकी विशेषता यही है कि वे परम्परागत विचारों को व्यवस्थित और एक स्थान में एकत्र कर देते हैं। वे कहते हैं - पदार्थ दो प्रकार के होते हैं - शक्य (शक्तिरूप वृत्ति से युक्त) और लक्ष्य (लक्षणारूप वृत्ति से युक्त)।[११२] शक्यत्व जाति में रहता है, व्यक्ति में नहीं। प्रत्येक व्यक्ति में पृथक् शक्यत्व मानने में गौरव है। लक्ष्य पदार्थ वह है जो लक्षणाजन्य ज्ञान में विषय हो। लक्षणा तीन प्रकार की है - जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा।[११३] तीसरे प्रकार की लक्षणा से ही 'तत्त्वमसि' महावाक्य का अर्थ जाना जाता है। वेदान्त परिभाषाकार ने इस मत पर होने वाली संभावित आपत्तियों पर विचार कर उनका निराकरण भी किया है।

## अर्थापत्ति प्रमाण

भाट्ट मीमांसकों की भांति वेदान्ती भी अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं। जिस प्रकार प्रत्यक्ष शब्द प्रमा और प्रमाण का बोधक है, उसी प्रकार अर्थापत्ति शब्द भी प्रमा और प्रमाण दोनों का बोधक है। अर्थापत्ति का ही अपर नाम अन्यथा अनुपपत्ति है। वेदान्त परिभाषा में अर्थापत्ति का लक्षण इस प्रकार दिया गया है -

तत्रोपपाद्य . . . . रात्रिभोजनमुपपादकम्।[११४]

'उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक की कल्पना करना ही अर्थापत्ति प्रमा है।' इन दोनों ज्ञानों में उपपाद्य ज्ञान करण रूप अर्थात् प्रमाण है और उपपादक का ज्ञान प्रमा या फल है। अब प्रश्न यह उठता है कि उपपाद्य और उपपादक क्या है? जिसके बिना जो अनुपन्न (सम्भव न हो) होता है, वह उपपाद्य कहलाता है तथा जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति होती है वह उसका उपपादक कहा जाता है। जैसे, रात्रिभोजन के बिना दिवाअभोजी पुरुष में मोटापन अनुपपन्न है अर्थात् सम्भव नहीं होता, इसलिए मोटापन रात्रिभोजन का उपपाद्य है। और रात्रि भोजन के अभाव में वैसे मोटापन की अनुपपत्ति है, इस कारण रात्रि भोजन उस पुष्टि मोटापन का उपपादन है। इसे और स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। जैसे कोई पुरुष दिन में भोजन नहीं करता है किन्तु उसका शरीर पुष्ट दृष्टिगोचर होता है। यह सर्वथा सत्य है कि भोजन के बिना शरीर पुष्टि संभव नहीं है। इससे यह कल्पना की जाती है कि वह मनुष्य क्योंकि पुष्ट दिखाई देता है, इसलिए वह रात्रि में अवश्य ही भोजन करता होगा। इसी कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं। अन्य प्रकार से यदि किसी कार्य की उपपत्ति नहीं हो सके तो वहाँ जिस कारण की कल्पना कार्य के ज्ञान के लिए की जाती है, उसे ही अन्यथानुपपत्ति भी कहते हैं।

हम पूर्व में उपपाद्य और उपपादक का अर्थ स्पष्ट कर चुके हैं, परन्तु व्यतिरेक द्वारा उसका स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। उपपाद्य का लक्षण परिभाषाकार ने निषेधात्मक रूप से देते हुए कहा है - 'येन बिना यदनुपपन्नं तत्तत्रोपपाद्यम्' - जिसके बिना जिसकी अनुपपत्ति होती है (अयोग्य रूप से प्रतीति होती है), वह उपपाद्य है। इसी बात को मणिप्रभाकार 'उपपाद्यदकाभाव व्यापकी भूताभाव प्रतियोगित्वम्' रूप से व्यतिरेक सहचार बतलाते हुए प्रकट करते हैं। प्रकृत स्थल में मोटापन उपपाद्य है और 'रात्रि' भोजन उपपादक। उपपाद्यरूप मोटापन का अभाव, उपपादक रूप रात्रिभोजन के अभाव का व्यापकीभूत अर्थात् व्यापक है। अर्थात् जहाँ-जहाँ भोजन का अभाव रहता है, वहाँ-वहाँ नियमतः निश्चय रूप से मोटापन का भी अभाव रहता है। अर्थात् रात्रि भोजन के बिना दिन में भोजन न करने वाले पुरुष का शरीर पुष्ट रहना अनुपपन्न है, इसलिए मोटापन को उपपाद्य कहते हैं।

इसी प्रकार - 'यस्याभावेयस्यानुपपत्तिस्तत्तत्रोपपादकम्' - उपपादक का लक्षण व्यतिरेक रूप से किया गया है। अर्थात् जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति होती है, वह उपपादक कहलाता है। उपपादक लक्षण में उपपाद्य जैसा व्यतिरेक सहचार नहीं है, इसीलिए अर्थापत्ति को व्यतिरेक अनुमान से भिन्न स्वतंत्र प्रमाण माना गया है। दिन में भोजन करने वाले पुरुष के मोटापन की जिस रात्रि भोजन के अभाव में अनुपपत्ति होती है, वह रात्रि भोजन नहीं उपपादक है। इसी कारण टीकाकारों ने उपपादक का

लक्षण - 'उपपाद्याभाव व्याप्याभावप्रतियोगित्व' - किया है। उपपाद्य का अभाव उपपादक के अभाव का व्यापक होता है अर्थात् उपपाद्याभाव व्यापक और उपपादकभाव व्याप्त होता है। मोटापन के अभाव का व्याप्य जो रात्रि भोजन का अभाव है, उसका रात्रि भोजन प्रतियोगी है। अतः यहाँ पूर्वोक्त व्यतिरेक सहचार वाला क्रम नहीं है।

जब अर्थापत्ति का अर्थ 'अर्थस्य आपत्तिः अर्थापत्तिः' इस प्रकार षष्ठी तत्पुरुष समास द्वारा करेंगे, तब अर्थापत्ति का 'कल्पना' अर्थ होने के कारण प्रमा रूप अर्थ होगा। यदि इसको बहुब्रीहि समाज से व्युत्पत्यर्थ मानें तो - 'अर्थस्य आपत्तिः यस्मात् तत् अर्थापत्तिः' प्रमाणरूप में आर्थिक होगा। तात्पर्य यह है कि अर्थ अर्थात् उपपादक उसकी आपत्ति (कल्पना) इस अर्थ में अर्थापत्ति पद प्रमा का बोधक होगा, क्योंकि 'अर्थस्य आपत्तिः' ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास घटित होता है। और जिससे अर्थ की कल्पना की जाय, वह उपपाद्य की अनुपपत्ति का ज्ञातरूप 'अर्थापत्ति पद प्रमाण का बोधक है' क्योंकि 'अर्थस्य आपत्तिर्थस्मात् तत' इस बहुब्रीहि समास से अर्थ की कल्पना की जाती है। प्रकृत उदाहरण में रात्रि भोजन कल्पना रूप प्रमा के अर्थ में और उस कल्पना के साधन भूत मोटापन आदि ज्ञान प्रमाण के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[११५]

अर्थापत्ति दृष्टार्थापत्ति एवं श्रुतार्थापत्ति भेद से दो प्रकार की होती है।[११६] जहाँ दृष्ट उपपाद्य की अनुपपत्ति के ज्ञान से उपपादक की कल्पना की जाती है, वह दृष्टार्थापत्ति एवं जहाँ श्रुत उपपाद्य की अनुपपत्ति के ज्ञान द्वारा उपपादक की कल्पना की जाती है, वह श्रुतार्थापत्ति कहलाती है। दिवाअभोजी स्थूल में दृष्टार्थापत्ति है क्योंकि उपपाद्य स्थूलत्व दृष्ट है। यह उदाहरण पूर्व में स्पष्ट कर चुके हैं। परिभाषाकार एक दूसरा भी उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। दृष्ट पदार्थ का प्रथम 'इदंरजतम्' यह रजत है, ऐसा भान होता है। परन्तु किसी आप्त के कहने पर अथवा स्वयं प्रत्यक्ष द्वारा उसे हाथ से स्पर्श करने के पश्चात् 'नेदंरजतम्' यह रजत नहीं है, ऐसा ज्ञान होता है। रजत यदि वास्तविक पदार्थ होता तो उसका निषेध नहीं किया जा सकता था। अतः ऐसी कल्पना का उदय होता है कि यहाँ पर वास्तव में रजत की सत्ता नहीं है अर्थात् रजत सत्य नहीं है। वह सद्भिन्न अर्थात् असत् या मिथ्या है, या इसको इस प्रकार भी कह सकते है - रजत में सत्यत्व का अत्यन्ताभाव है। यहाँ पर रजत और शुक्ति दोनों पदार्थ दृष्ट हैं और निषेधात्मक रूप से सत्यत्वत्यन्ताभाववत्व रूप मिथ्याभाव की कल्पना की जाती है। सत्य पदार्थ का त्रिकाल में भी निषेध होना असम्भव है। अतः दृष्ट विषय द्वारा दृष्टार्थापत्ति से रजत के मिथ्यात्व का निश्चय किया जाता है।[११७]

श्रुतार्थापत्ति[११८] में श्रुत अर्थ की उपपत्ति से उपपादक की कल्पना की जाती है। श्रुत (सुने हुए) वाक्य की स्वार्थानुपपत्ति (अर्थात् वाक्यार्थ की अनुपपत्ति के कारण या

मुख्य अर्थ के असम्भव होने के कारण) द्वारा अन्य अर्थ की कल्पना उपपत्ति हेतु जहाँ की जाती है, उसे श्रुतार्थापत्ति कहते हैं। उदाहरण है – 'तरतिशोकमात्मवित' आत्मवेत्ता पुरुष शोक को पार कर जाता है। यहाँ शोक शब्द का अर्थ 'कर्तृत्वादि समस्तबन्ध' है, और ज्ञान से उसकी निवृत्ति होती है, ऐसा श्रुति का मुख्य आशय है। परन्तु श्रुति का यह अर्थ उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि किसी वस्तु की निवृत्ति उसके ज्ञान से नहीं हुआ करती। पुस्तक का ज्ञान होने पर पुस्तक नष्ट हो जाती हो, ऐसा अनुभव नहीं होता। ज्ञान केवल अज्ञान का ही निवर्तक है, इसलिए श्रुतार्थ की अनुपपत्ति होती है। अतः उसकी उपपत्ति के हेतु समस्त बन्ध ज्ञान-निवर्त्य-ज्ञान से नष्ट होने योग्य है, यह सिद्ध करने के लिए बन्ध अज्ञानमूलक है (अर्थात् शुक्ति रजतादि के समान वास्तविक न होकर अज्ञान से ही भासित होता है) ऐसी कल्पना करनी पड़ती है। तात्पर्य यह है कि यहाँ ज्ञान से शोक की निवृत्ति श्रुत है और शोक मिथ्यात्व बिना उसकी अनुपपत्ति होती है, क्योंकि ज्ञान मिथ्यात्व का ही बाधक होता है। इसलिए अन्य प्रकार के ज्ञान से शोक निवृत्ति की अनुपपत्ति से बन्ध-मिथ्यात्व की कल्पना की जाती है। यहाँ बन्ध-मिथ्यात्व उपपादक और ज्ञान से शोक निवृत्ति उपपाद्य हैं, वह दृष्ट नहीं किन्तु श्रुत हैं, इसीलिए इसको श्रुतार्थापत्ति कहा जाता है। श्रुति वाक्य का उदाहरण देकर ग्रन्थकार लौकिक वाक्य का भी दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। यथा – (गृहे सन् देवदत्तोजीवति) जीवीदेवदत्तोगृहे नेति – देवदत्त जीवित है किन्तु घर में नहीं है, इस वाक्य के सुनने पर जो पुरुष घर में नहीं है, और घर से बाहर भी नहीं है, उसका जीवित रहना असंभव है। इस कारण ऐसी कल्पना करनी पड़ती है कि जीवित होने के कारण जब वह घर में नहीं है तो बाहर ही होगा, इसलिए गृह में असत् देवदत्त के जीवन की अनुपपत्ति से देवदत्त की गृह से बाहर सत्ता की कल्पना की जाती है। यहाँ गृह में असत् देवदत्त का जीवन दृष्ट नहीं किन्तु श्रुत है। अतः श्रुत अर्थ की अनुपपत्ति से उपपादक की कल्पना श्रुतार्थामत्ति कही जाती है। प्रकृत में गृह में असत् (न रहने वाले) देवदत्त का जीवन उपपाद्य है और गृह से बाहर उसकी सत्ता उपपादक है।

श्रुतार्थापत्ति के दो भेद हैं – प्रथम अभिधानानुपपत्ति और दूसरी अभिहितानुपपत्ति।[११६] क्रिया वाचक पदों को कारकों की आकांक्षा रहती है और इसी प्रकार कारकों की क्रिया की अपेक्षा रहती है। बिना इसके केवल क्रियार्थक या कारकार्थक पद विवक्षित अर्थ का बोध नहीं करा सकते। कितनी ही जगह ऐसे पद श्रुत न रहने पर भी वक्ता के तात्पर्य विषयभूत अर्थ की उपपत्ति के लिए उनकी कल्पना करके अन्यव बोध करना पड़ता है। अभिधान का अर्थ है अन्वय और उसकी अनुपपत्ति का अर्थ है अन्वयबोधाभाव। अभिधानानुपपत्ति का अर्थ होगा अन्वय बोधाभाव, जैसे जब हम वाक्य के एक देश (एक भाग) को सुन लेते हैं किन्तु अन्य देश (अन्य भाग) नहीं सुनते

अर्थात् उस एक पद के या अन्य कुछ भाग के अन्वय की अनुपपत्ति होने पर उस पदके साथ अन्वित होने योग्य किसी दूसरे पद की कल्पना (अध्याहार) कहते हैं। इसी अध्याहार रूप कल्पना को अभिधानानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति करते हैं।[१२०] जैसे कोई व्यक्ति व्यग्रता से अथवा अन्य किसी कारण से 'द्वार-द्वार' इतना ही करके चुप हो जाता है। इस समय वहाँ की परिस्थिति का अवलोकन कर उस वक्ता के तात्पर्य विषय भूत अर्थ की उपपत्ति लगाने के लिए 'द्वार' इस कर्मवाचक पद को इस समय 'विधेहि', 'लगाओ-बन्द करो' इस क्रिया वाचक पद की ही आकांक्षा है। यह समझ कर 'विधेहि' पद का अध्याहार करके उस वाक्य को पूर्ण किया जाता है। यहाँ अर्थ का अथवा शब्द का अध्याहार उपपादक और बोध जिसका फल है, ऐसा शब्द प्रयोग उपपाद्य है। इसी प्रकार 'विश्वजिनायजेत' - 'विश्वजित यज्ञ करे' इस वाक्यैक देश को श्रवण करने पर उस योग की सफलता सिद्ध करने के लिए 'स्वर्गकाम' अर्थात् 'स्वर्ग की इच्छा करने वाला' इस पद का अध्याहार कर लिया जाता है।[१२१] श्रुतार्थापत्ति के दो भेदों में से एक अपिधानानुपपत्ति का वर्णन हो चुका है।

जहाँ पर वाक्य से ज्ञात हुआ अर्थ अनुपपन्न है अर्थात् ज्ञात होने पर भी वाक्य से जहाँ प्रमाणान्तर-विरुद्ध अन्य अर्थ की कल्पना होती है, वहाँ पर वाक्यार्थ से बहिर्भूत अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है। इसी कल्पना को अभिहितानुपपत्ति कहते हैं। जैसे 'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' - 'स्वर्ग की कामना रखने वाला (स्वर्गेच्छु) पुरुष ज्योतिष्टोमयाग (यज्ञ) करे।' इस श्रुति वाक्य का आशय यह है कि 'ज्योतिष्टोमयज्ञ स्वर्ग का साधन है।' परन्तु ऐसा ज्ञान नहीं होता, क्योंकि क्रिया क्षणिक होती है और देवता के उद्‌देश्य से हविः प्रक्षेप रूप क्रिया ही यज्ञ है। ज्योतिष्टोमयज्ञ क्षणिक होती है और देवता के उद्‌देश्य से हविः प्रक्षेप रूप क्रिया ही यज्ञ है। ज्योतिष्टोमयज्ञ क्षणिक है क्योंकि यज्ञ होते ही वह कर्म समाप्त (नष्ट) हो जाता है। अनुभव में याग के समाप्त होते ही यजमान स्वर्गस्थ हुआ दिखाई नहीं देता। अतः स्वर्ग का साधन ही जब ऐसा विनाशी है तो उससे स्वर्ग का साधन किस प्रकार होगा? कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य नहीं हो सकता। इस प्रकार से श्रुत्यर्थ जो कि श्रुति से बताया गया है - याग स्वर्ग का साधन है, अनुपपन्न होता है। इसलिए श्रुत्यर्थ की उपपत्ति के लिए वाक्यार्थ से बहिर्भूत अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है। वह पदार्थ अपूर्व ही है। यद्यपि यज्ञ विनाशी है तथापि वह अपने स्थिति क्षण में ही (उत्पन्न होते ही) स्वर्ग के साधन भूत एक विलक्षण अपूर्व (अदृष्ट) को उत्पन्न करता है, तब नष्ट होता है। यह अपूर्व याग और स्वर्ग का मध्यवर्ती व्यापार है। उस व्यापार से युक्त हुए याग से कालान्तर में स्वर्ग रूप फल प्राप्त हो सकता है, जिससे 'याग स्वर्ग का साधन है' इस श्रुत्यर्थ की अनुपपत्ति नहीं हो पाती, क्योंकि व्यापार के कारण व्यापारवान साधन की अन्यथासिद्धि नहीं होती। यहाँ पर योग की स्वर्ग साधनता उपपाद्य है और अन्य प्रकार उसकी

अनुपपत्ति से अपूर्व की कल्पना उपपादक है। यहाँ पर भी स्वर्ग साधनत्व दृष्ट नहीं किन्तु श्रुत है।

नैयायिकों द्वारा प्रतिष्ठापित केवलान्वयि, केवल व्यतिरेकि और अन्वयव्यतिरेकी अनुमान भेदों में से वेदान्ती व्यतिरेकि अनुमान को नहीं मानते। केवलान्वयि भी उनका मान्य नहीं। वे अनुमान को अन्वयि ही मानते हैं। ऐसा मानने का कारण यह है कि वे अर्थापत्ति को स्वतंत्र प्रमाण स्वीकार करते हैं। अनुमान से अर्थापत्ति को भिन्न बतलाते हुए परिभाषाकार ने कहा है कि अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। अनुमान व्याप्ति के आधार पर सम्पन्न होता है। अन्वयव्याप्ति से युक्त अन्वयी अनुमान में अर्थापत्ति का अन्तर्भाव हो नहीं सकता, कारण जो-जो दिवाअभोजी रहते हुए भी पुष्ट रहता है, वह-वह रात्रि भोजी होता है। ऐसा सहचार दर्शन अन्वय रूप से लब्ध नहीं और इसलिए मोटापन और रात्रिभोजन में अन्वय व्याप्ति को ग्रहण नहीं किया जा सकता। साधन से साध्य की अनुमिति अन्वय व्याप्ति से ही होती है। साध्याभाव और साधनाभावरूप व्यतिरेक व्याप्ति से नहीं। ऐसा पूर्व से सिद्ध किया जा चुका है, इसलिए व्यतिरेकी अनुमान में भी अर्थापत्ति का अन्तर्भाव नहीं माना जा सकता। फिर अनुभव भी इस बात का साक्षी है कि अर्थापत्ति प्रमाण से जो रात्रि भोजन का ज्ञान होता है, वह यदि अनुमान से हुआ होता तो 'मैं रात्रि भोजन का अनुमान करता हूँ', ऐसा अनुव्यवसाय हुआ होता। परन्तु ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता, वरन् 'दिवा' अभोजी पुष्ट दिखने वाले पुरुष की पुष्टता से उसके रात्रि भोजनत्व की कल्पना करता हूँ, ऐसा अनुव्यवसाय होता है। अतः अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण मानना चाहिए।[१२२] अर्थापत्ति प्रमाण की सिद्धि हो जाने पर व्यतिरेकी अनुमान व्यर्थ हो जाता है। नैयायिक व्यतिरेकी अनुमान से होने वाले ज्ञान की अनुमिति ज्ञान मानते हैं, वह वस्तुतः अनुमिति ज्ञान नहीं वरन् अर्थापत्ति ज्ञान ही है।[१२३]

## अनुपलब्धि प्रमाण

अनुपलब्धि द्वारा हमें किसी विषय के अभाव का साक्षात् ज्ञान प्राप्त होता है। अनुपलब्धि प्रमाण का लक्षण वेदान्त परिभाषाकार ने इस प्रकार दिया है -

'ज्ञानकरणाजन्या भावानुभावा साधारण कारणमनुपलब्धि रूपं प्रमाणम्। अनुमान-जन्यातीन्द्रियाभावानुभव हेतावनुमानावति व्याप्ति वारणाय अजन्यान्त पदम्। अदृष्टादौ साधारण कारणेऽति व्याप्ति वारणाय असाधारणेति पदम्। अभावस्मृत्यसाधारण हेतु संस्कारेऽतिव्याप्ति वारणाय अनुभवेति विशेषणम्।'[१२४]

ज्ञानरूप करण से उत्पन्न होने वाला जो अभाव का अनुभव है, उसके असाधारण कारण को ही अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं। अनुमान प्रमाण से उत्पन्न होने

वाला जो अतीन्द्रिय अभाव का अनुमिति रूप अनुभव है। उसका कारण अनुमान आदि होता है, उसमें अतिव्याप्ति के निरसन के लिए अनुपलब्धि लक्षण में 'ज्ञानकरणाजन्य' यह पद दिया गया है। अर्थात् जिस प्रकार अनुपलब्धि लक्षण में 'ज्ञानकरणाजन्य' यह पद दिया गया है। अर्थात् जिस प्रकार अनुमिति प्रमा में व्याप्ति ज्ञान, उपमिति प्रमा में सादृश्य ज्ञान तथा शाब्द प्रमा में पद ज्ञान करण होते हैं और उनसे अनुमिति, उपमिति एवं शाब्द प्रमा होती है, उस प्रकार अभाव प्रमा नहीं है क्योंकि अभाव का अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा सम्पन्न नहीं होता। इसीलिए इसको ज्ञानकरणाजन्य (अन्य ज्ञान, जिसके कारण न हों) कहा गया है। अदृष्टादिसाधारण कारणों में अतिव्याप्ति कारण के लिए असाधारण विशेषण का लक्षण में निवेश किया गया है। स्मृति के असाधारण कारण संस्कार में लक्षण की अव्याप्ति न हो, इसलिए अनुभव पद दिया गया है।

प्रत्यक्ष ज्ञान में इसका लक्षण नहीं जाय, इसीलिए इसमें 'ज्ञानकरणाजन्य अनुभवा साधारणकारण' इतना ही न कह कर उसमें 'अभावानुभव' पद और जोड़ा गया है। क्योंकि अभाव प्रत्यक्ष ज्ञान का करण प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाण से ही होता है। अर्थात् घट ज्ञानाभाव के कारण घटाभाव का ज्ञान होता है। उदाहरणस्वरूप - 'यदि अत्र भूतले घटः स्यात्, तर्हि उपलभ्यते नोपलभ्यते तस्मान्नास्ति' - यदि इस भूतल पर घट होता तो दिखाई देता किन्तु दिखाई नहीं देता इसलिए वह नहीं है - इसी प्रकार अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। अतः इसे प्रत्यक्ष ज्ञान में अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। अनुमान आदि प्रमाणों के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि घटादि पदार्थों के अभाव का ज्ञान जिस प्रकार अनुपलब्धि प्रमाण से होता है, वैसे ही अतीन्द्रिय धर्माधर्म आदि पदार्थों का अभाव भी अनुपलब्धि से ही ज्ञात हो सकता है। अतः उभयत्र अनुपलब्धियों के समान होने पर ज्ञानकरणाजन्य पद का कोई प्रयोजन नहीं।

इसी बात का समाधान करने के लिए अनुपलब्धि की व्याख्या परिभाषाकार ने इस प्रकार की है -

'धर्माधर्माद्यनुपलब्धिसत्त्वेऽपि तदभावानिश्चयेनयोग्यानुपलब्धेरेवाभावग्राहकत्वात्'[१२५] धर्माधर्म की अनुपलब्धि होने पर उनके अभाव का निश्चय नहीं हो पाता, इसलिए योग्यानुपलब्धि ही अभावग्राहक (अभाव की ज्ञापिका) है।

योग्यानुपलब्धि का स्वरूप स्पष्ट करते हुए परिभाषाकार ने आगे कहा है कि अनुपलब्धि का अर्थ है ज्ञानाभाव। उपलब्धि को ज्ञान कहते हैं और उपलब्धि (ज्ञान) के अभाव को अनुपलब्धि। इस अभाव में योग्यता कैसी है? इसी के समाधान में

वेदान्ती कहता है - 'अनुपलब्धेर्योग्यता च - तर्कितप्रतियोगिसत्त्वप्रसज्जित प्रतियोगित्वम्' अर्थात् अभाव के प्रतियोगी की तर्क से अनुपलब्धि के प्रतियोगी की उपलब्धि की प्राप्ति कर सकना ही अनुपलब्धि की योग्यता है। तात्पर्य यह है कि तर्कित प्रतियोगी के सत्त्व (अस्तित्व) से प्राप्त हुआ प्रतियोगित्व ही अनुपलब्धि की योग्यता है, अर्थात् 'यदि यहाँ होता' इस रीति से तर्कित अभाव के प्रतियोगी का सत्त्व उसके योग से अनुपलब्धि का प्रतियोगी होता तो 'वह उपलब्ध हुआ होता' - इस रीति से प्राप्त होता है। इसी ज्ञान को योग्यता कहते हैं। जिसका अभाव ग्रहण किया जाता है, उसके प्रतियोगी के अधिकरण में कल्पित (कदाचित हुआ हो इस आकार में कल्पना किया हुआ) - सत्त्व (सत्ता) के योग से अनुपलब्धि का प्रतियोगी रूप उपलम्भ अर्थात् उपलब्धि (तो दिखाई देता, इस ज्ञान के योग्य होना) ही अनुपलब्धि की योग्यता है। उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है - जैसे, स्पष्ट प्रकाश वाले भूतल पर - 'यहाँ यदि घट होता तो दिखाई देता' ऐसा कह सकते हैं, पर 'जब वह नहीं दिखाई देता तो नहीं हैं।' इस प्रकार के घटाभाव का जो स्पष्ट प्रकाश से युक्त भूतल पर प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वह अनुपलब्धि प्रमाण से ही होता है। किन्तु अंधकार में यदि ऐसा तर्क किया जाता - 'घट होता तो दिखाई देता' पर ऐसा उपादान सम्भव नहीं क्योंकि अंधकार में घट का प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए वहाँ पर स्थित घटाभाव का ज्ञान अनुपलब्धि द्वारा नहीं होता। इसी प्रकार पिशाच का प्रत्यक्ष ज्ञान न होने पर 'स्तम्भ में' यदि वह होता तो उसका स्तम्भ के समान ही प्रत्यक्ष हुआ होता, परन्तु वह होता ही नहीं, इसलिए स्तम्भ में पिशाच का अभाव योग्यानुपलब्धि द्वारा नहीं हो सकता। 'आत्मा में भी धर्माधर्मादि यदि होते तो दिखाई देते, ऐसा ज्ञानापादन नहीं हो सकता क्योंकि धर्माधर्म आदि पदार्थ परोक्ष होने के कारण इन्द्रिय प्रत्यक्ष योग्य नहीं होते, इसलिए उनके अभाव का ज्ञान भी योग्यानुपलब्धि द्वारा नहीं होता। सारांश यह है कि जिन पदार्थों में इन्द्रिय प्रत्यक्ष की योग्यता रहती है, उन्हीं के अभाव को योग्यानुपलब्धि द्वारा जाना जा सकता है। अतीन्द्रिय परोक्ष या कल्पित पदार्थों का इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं होने के कारण उनका अभावकामी ज्ञान अनुमानादि अन्य प्रमाणों से ही होता है। केवल अनुपलब्धि अभाव के प्रत्यक्ष में कारण नहीं होती, वरन् प्रत्यक्ष योग्य अनुपलब्धि ही अभाव प्रमाण कहीं जाती है।[१२६]

अभाव चार प्रकार का होता है - (१) प्रागभाव (२) प्रध्वंसाभाव (३) अत्यन्ताभाव और (४) अन्योन्याभाव।

मृत्पिण्डादि कारणों में घट रूप कार्य का उत्पत्ति से पूर्व जो अभाव है, वह प्रागभाव कहलाता है। वह 'भविष्यति' - अर्थात् होगा इत्याकारक प्रतीति का विषय होता है।

मुग्दर प्रहार के पश्चात् जो अभाव होता है, वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है। नैयायिक इसकी सादि और अनन्त मानते हैं परन्तु वेदान्ती नहीं, कारण ऐसा मानने पर प्रध्वंसाभाव और ब्रह्म दो अविनाशी मानने पड़ेंगे।

जहाँ पर जिस वस्तु की तीनों कालों में प्रतीति न होती हो, वहाँ उस वस्तु का अत्यन्ताभाव होता है, जैसे वायु में रूप का अभाव।

यह नहीं है, ऐसी प्रतीति का विषय जो अभाव है, वह अन्योन्याभाव कहलाता है। जैसे, यह घट पट नहीं है।

## संदर्भ-सूची

१. 'अनधिगताबाधित विषय ज्ञानत्वम् प्रमात्वं', वेदान्त-परिभाषा, अध्याय १।
२. 'प्रमाकरणं प्रमाणम्', वेदान्त-परिभाषा, अध्याय १।
३. तैत्तिरीय उपनिषद्, २.१।
४. वहीं।
५. 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति', तै.उ. २.१।
६. छान्दोग्य उपनिषद्, ४.१.१ 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्'।
७. प्रश्नोपनिषद्, ५.५।
८. बृहदारण्यक उपनिषद्, ४.४.२१।
९. नेह नानास्ति किंचन।
१०. 'बोधं बोधं प्रति विदित', केन उपनिषद् २.४।
११. श्वेताश्वतर उपनिषद्, १.३।
१२. श्वेताश्वतर उपनिषद्, २.८ से १६।
१३. वहीं, ४.२० और कठोपनिषद् २.३.९ (कुछ अन्तर)
१४. केन उपनिषद्, १.६।
१५. कठोपनिषद् २.१.१ (पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयंभू)।
१६. वहीं, २.३.१२।
१७. कठ उपनिषद्, १.२.९।
१८. छान्दोग्य उपनिषद्, ६.१३.२।
१९. वहीं, ६.८.२।
२०. वहीं, ६.१.४।
२१. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. १.१.२।
२२. वहीं (कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्त्तुंशक्य कर्म)।

२३. वहीं।

२४. वहीं, १.१.४ (प्रत्यक्षादि प्रमाण विषय वस्तु ज्ञान व द्वस्तु तन्त्रा)।

२५. ब्रह्मसूत्र, शा.भा., २.२.२६।

२६. वहीं, १.१.४ (वेद्यवेदितृवेदनाभेदः)।

२७. वहीं, २.२.२८ (विज्ञानस्योत्पत्तिप्रर्ध्वसानेकत्वादिविशेषवत्त्वाभ्युपगमात्, अतः प्रदीपवद्विज्ञानस्यापि व्यतिरिक्तावगम्यत्वमस्माभिः प्रसाधितम्)।

२८. माण्डूक्य कारिका, शां.भा., ४.१।

२९. भारतीय दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन् भाग २, पृष्ठ ४८२।

३०. बृहदारण्यक उपनिषद्, शां.भा. ३.३.१ (प्रस्तावना)।

३१. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. २.१.१८।

३२. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, डॉ. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, भाग १, पृष्ठ ४८४।

३३. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., प्रस्तावना (तस्मादविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च)।

३४. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. १.१.२, पृष्ठ ३८।

३५. वहीं (न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादव एवं प्रमाण ब्रह्म जिज्ञासायाम्, किन्तु श्रुत्यादयो नुभवादयश्च यथासंभवमिह प्रमाणम् अनुभवावसानत्वाद्भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य) पृष्ठ ३९।

३६. श्रीमद्भगवद्गीता, शां.भा. २.२१ पृष्ठ ४६ (शास्त्राचार्य उपदेश शमदमादि संस्कृत मन आत्मदर्शने करणम् तथा च तदधिगमाय अनुमाने आगमे च सति ज्ञानं न उपपद्यते इति साहसम् एतत्)।

३७. वेदान्त परिभाषा, प्रत्यक्ष परिच्छेद, पृष्ठ १८ (तानिचि प्रमाणानि षट्)।

३८. श्रीमद्भगवद्गीता, २.१४ और उस पर शांकरभाष्य।

३९. वहीं।

४०. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. २.२.२८ पृष्ठ ४४७ (उपलभ्यते हि प्रति प्रत्ययं बाह्योऽर्थः स्तम्भः कुड्यं घटःपट इति)।

४१. The six ways of knowing, D.M. Datta, page 98 (In epistemology Samkara and many of his followers advocate a theory of direct realism, which chiefly distinguishes the Advaitins from their opponents, the Buddhists).

४२. केन उपनिषद्, शां.भ. १.३ (स्वविषयव्यञ्जनसामर्थ्यम्)।

४३. वहीं, १.३।

४४. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. २.३.३२ (तस्माद्यस्याव्रधानानवधानाभ्यामुपलब्ध्यनुपलब्धी भवतस्वन्मनः)।

४५. बृहदारण्यक उपनिषद्, १.५.३।

४६. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., १.१.९।

४७. श्रीमद्भगवद्गीता, शां.भा., २.६७।

४८. केन उपनिषद् शां.भा. १.६ (मनः सर्वकरण साधारणं)।

४९. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. १.१.२ पृष्ठ ४१ (स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणि, न ब्रह्मविषयाणि। सति हीन्द्रियविषयत्वे ब्रह्मण इदं ब्रह्मणा संबद्धं कार्यमिति गृह्येत)।

५०. बृहदारण्यक उपननिषद्, शां.भा. २,१.२० पृष्ठ ४६३।

५१. वहीं, पृष्ठ ४७४ (न अग्निना शीत आदित्यो न तपति इति वा दृष्टान्त शतेनापि प्रतिपादयितुं शक्यम्। न च प्रमाणं प्रमाणान्तरेण विरुध्यते . . .)।

५२. श्रीमद्भगवद्गीता, शां.भा. १८.६६ पृष्ठ ४७३।

५३. वेदान्त परिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र, प्रयोजन परिच्छेद, ३५६ (पूर्वाचार्याणामयमाशयः। संविदापरोक्ष्यं न करण -)।

५४. विशेषोत्पत्तिनिबन्धनम् किन्तु प्रमेय विशेषनिबंधनमित्युपादितम्। . . . अन्येषां त्वेवमाशयः करणविशेषनिबन्धनमेव ज्ञानानां प्रत्यक्षत्वं, न विषयविशेष-निबन्धनम्)।

५५. पंचपादिका, पृष्ठ ५७।

५६. वहीं, पृष्ठ ५८।

५७. वहीं, विवरण, प्रकाशात्मा, पृष्ठ ४०३।

५८. कल्पतरु परिमल, अप्पयदीक्षित, पृष्ठ ५५।

५९. भामती, १.१.१ पृष्ठ ५७ (न चैष साक्षात्कारो शब्दस्य प्रमाणस्य फलम् अपितु प्रत्यक्षस्य तस्यैव तत्फलत्वनियमात्। अन्यथा कुटजबीजादूपि वरांकुरोत्पत्तिप्रसंगात्)।

६०. वेदान्तकल्पतरु १.१.१ पृष्ठ ५५-५६ (तत्रापरोक्षप्रमाकरणादेव तत्साक्षात्कारः। . . . शब्दस्तु नापरोक्षप्रमाहेतुः क्लृप्तः)।

६१. कल्पतरुपरिमल, १.१.१ पृष्ठ ५६ (स्वाविषयविषयकज्ञानाजन्यंज्ञानत्वं ज्ञानापरोक्ष्यमिति निर्वक्तव्यम्)।

६२. कल्पतरुपरिमल, १.१.१ पृष्ठ ५६।

६३. वेदान्त परिभाषा, प्रत्यक्ष परिच्छेद, पृष्ठ ३७।

६४. वे.प. प्रत्यक्ष परिच्छेद, पृष्ठ ४१ (अहं सुखी इत्यादि ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वम्)।

६५. वहीं, पृष्ठ ७१ (तत्र प्रत्यक्षं द्विविधम् सविकल्प निर्विकल्पक भवात्)।

६६. वे.प. पृष्ठ ८८।

६७. वहीं।

६८. वहीं, पृष्ठ १०२।

६९. वहीं, पृष्ठ १०५।

७०. वहीं, पृष्ठ १७७-१८०।

७१. बृहदारण्यक उपनिषद्, शां.भा. २.१.२० पृष्ठ ४६४।

७२. वहीं, १.२.१ पृष्ठ ५३ (न प्रत्यक्षानुमानयोर्विरुद्धाव्यभिचारिता, प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानस्य)।

७३. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. १.१.६ पृष्ठ ३४६।

७४. वहीं, २.१.४ पृष्ठ ३४४।

७५. बृहदारण्यक उपनिषद्, शां.भा. ४.३.६ पृष्ठ ८८३।

७६. गौड़पादकारिका, शां.भा. २.४ पृष्ठ ८६।

७७. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. २.१.११ पृष्ठ ३५७ (सर्वतर्काप्रतिष्ठायां च लोकव्यवहारोच्छेदप्रसंगः ....)।

७८. वहीं, (श्रुत्यर्थविप्रतिपत्तौ चार्थाभासनिराकरणेन सम्यगर्थनिर्धारणं तर्कणेव वाक्यवृत्तिनिरूपणरूपेणक्रियते)।

७६. वहीं, अनुमान परिच्छेद, पृष्ठ १३५ (अनुमितिकरणमनुमानम् अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानजन्या)।

८०. वहीं, पृष्ठ १३७ (तत्संस्कारोऽवान्तरव्यापार।)।

८१. वेद प. अनुमान परिच्छेद पृष्ठ १४६।

८२. वहीं, पृष्ठ १४८, १४६।

८३. वहीं, पृष्ठ १५१ (अवयवाश्च त्रय एव प्रसिद्धाः)।

८४. वे.प., पृष्ठ २२६-२३०।

८५. वेदान्त परिभाषा, पृष्ठ २३१। न चेदं प्रत्यक्षेणं संभवति, गोपिण्डस्य तदेन्द्रियासन्निकर्षात्।

८६. शिखमणि, पृष्ठ २२८, न च गोविसदृश . . . सम्युपगमात्।

८७. वहीं, पृष्ठ २३१-२३३। (१) नाप्यनुमानेन गवयनिष्ठगोसादृश्य स्यात्लिंगत्वात्। (२) नापि 'मदीयागौरेतद्गवयसदृशी। . . . इतिवाच्यम्।'

८८. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. २.१.६ पृष्ठ ३४६ (रूपाद्यभावाद् हि नायमर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः लिंगाद्यभावाच्चं नानुमानादीनां आगममात्रं समधिगम्य एवं त्वयमर्थो)।

८६. केन उपनिषद्, शां.भा. १.४। (प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणेर्न परः प्रत्याययितुं शक्यः आगमेन तु शक्यते एव प्रत्याययितुम्)।

६०. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. १.१.३ पृष्ठ ४३ (महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोयबृहितस्य प्रदीपवत्सर्वाथवि द्योतिवः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म)।

६१. वहीं, पृष्ठ ४५ (अप्रत्यनेनैव लीलान्यायेन पुरुष निःश्वासवद्यस्मान्महतो भूताद्योनेः संभवः)।

६२. वहीं, १.३.२६ (वेदशब्दे नित्यत्वमपि प्रत्येतव्यम्)।

६३. वहीं।

६४. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. १.१.३ पृष्ठ ४५ (ऋग्वेदादि शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत् स्वरूपाधिगमे। शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादि कारणं ब्रह्माधिगम्यते)।

६५. श्रीमद्भगवद्गीता, शां.भा. ३.१५ पृष्ठ ६१ (ब्रह्मवेदः स उद्भवः कारणं यस्य तत् कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि)।

६६. वहीं, पृष्ठ ६१।

६७. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. २.१.१. पृष्ठ ३४० (वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिप रूपविषये)।

६८. वहीं, १.३.२८ पृष्ठ २४३।

६६. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. २.१.१ पृष्ठ ३३८ (विप्रतिपत्तौ च स्मृतिनाम् अवश्य कत्तव्येऽन्यतरपरिग्रहेऽन्यतरपरित्यागे च क्षुत्यनुसारिण्यः स्मृतयः प्रमाणम्)।

१००. वहीं, १.१.४ पृष्ठ ६३।

१०१. वहीं, २.१.४ पृष्ठ ३४४ (श्रुतिरैतिह्यमात्रेण स्वार्थाभिध्यनात्)।

१०२. वहीं, १.१.४ पृष्ठ ६० (श्रुतयोमोसप्रतिबन्ध निवृत्तिमात्रमेवात्मज्ञानस्य फलं दर्शयन्ति)।

१०३. केन उपनिषद्, शां.भा. २.३।

१०४. बृहदारण्यक उपनिषद् शां.भा. १.४.७ पृष्ठ २०६।

१०५. बृहदारण्यक उपनिषद्, १.४.१० पृष्ठ २४३।

१०६. वहीं, पृष्ठ २५५ (विज्ञानस्य च मिथ्याज्ञाननिवर्तकत्वव्यतिरेकेणाकरकत्वमित्यवोचाम। न च वचनं वस्तुतः सामर्थ्यजनकम्। ज्ञापकं हि शास्त्रं न कारकमिति स्थितिः)।

१०७. Revelation and Reason in Advaita Vedanta, K. Satchidananda Murty, p. 103.

१०८. वे.प. आगम परिच्छेद, पृष्ठ १७१ (पदार्थानां परस्पर जिज्ञासाविषयत्वयोग्यत्वमाकांक्षा)।

१०९. वहीं, पृष्ठ १८१ (योग्यता च तात्पर्यविषयी भूत संसगोबाधः)।

११०. वहीं, पृष्ठ १८३ (आसत्तिश्चाव्यवधानेनः पद जन्यपदार्थोपस्थितिः)।

१११. वे.प. आगम परिच्छेद, पृष्ठ २२७ (तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं तात्पर्यम्)।

११२. वहीं, पृष्ठ १८७ (पदार्थश्च द्विविधा-शक्योलक्ष्यश्चेति)।

११३. वहीं, पृष्ठ २०४।

११४. वेदान्त परिभाषा, पृष्ठ ३०७-३०९।

११५. वहीं, पृष्ठ ३१०, रात्रिभोज . . . प्रयोगः।
मणिप्रभा - पृष्ठ ३१०, अर्थकल्पना . . . लक्षणत्वसति।

११६. वहीं, पृष्ठ ३१०, साचार्थापत्ति . . . चेति।

११७. वहीं, पृष्ठ ३११, तत्र दृष्टार्था . . . कल्पयतीति।

११८. वहीं, पृष्ठ ३११, श्रुतार्थापत्ति . . . कल्पयति।

११९. वहीं, पृष्ठ ३११, श्रुतार्थापतिश्चद्विविध . . . उपपत्तिश्च।

१२०. वहीं, पृष्ठ ३११, तत्र, यत्र . . . पदाध्याहारः।

१२१. वहीं, पृष्ठ ३१३, अभिहिता . . . कल्प्यते।

१२२. वहीं, पृष्ठ ३१४, न चेयमर्था . . . कल्पयामिति।

१२३. वहीं, पृष्ठ ३१५ एवमर्थापत्ते . . . कल्पयामीति।

१२४. वहीं, पृष्ठ २८८।

१२५. वहीं, पृष्ठ २९३।

१२६. वहीं, पृष्ठ ३१८-३१९, अनुपलब्धेयोग्यता . . . गम्यत्वम्।

❑❑❑

# भ्रम-सिद्धान्त

यहाँ जो वस्तु नहीं है, वहाँ उसका निश्चयात्मक ज्ञान एवं जो जिस प्रकार का नहीं है उसे वैसे निश्चित करना भ्रम अथवा विपर्यय है। रस्सी सर्प प्रतीत होती है, सीप चाँदी दिखाई देती है, मरुस्थल में जल का आभास होता है आदि। भारत के लगभग सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने इसके विषय में विचार किया है और उस सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। इन भ्रान्तिविषयक सिद्धान्तों को 'ख्यातिवाद' कहते हैं। ख्यातिवाद के अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए आचार्यों ने अन्य सिद्धान्तों का खण्डन भी किया है।

शंकराचार्य का भ्रान्तिविषयक सिद्धान्त 'अनिर्वचनीयख्याति' कहलाता है। उसे भली-भाँति समझने के लिए हमें विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा प्रतिपादित भ्रम-सिद्धान्तों पर विचार करना होगा और उन सिद्धान्तों की दुर्बलता भी समझनी होगी। हम उनका अलग-अलग विवेचन करेंगे।

## (१) अख्यातिवाद

अख्यातिवाद का सिद्धान्त प्रभाकर मीमांसकों का है। उन्होंने उसे 'विवेकख्याति' नाम भी दिया है। इस सिद्धान्त के अनुसार सभी ज्ञान सत्य हैं। भ्रम किसी मिथ्या वस्तु का ज्ञान नहीं है, वरन दो वस्तुओं के पृथक् ज्ञान को एक दूसरे से गड़बड़ा देने से होता है। रज्जु में सर्प-ज्ञान को भ्रम कहते हैं। यहाँ हमें रज्जु का प्रत्यक्ष और सर्प का स्मृति ज्ञान होता है। यहाँ विवेक न रह जाने पर हम रज्जु को ही सर्प मान लेते हैं। यह भ्रम किसी दोष के कारण होता है। 'प्रभाकर' इसे 'स्मृति-प्रमोष' अर्थात् स्मृति में बाधा या आवरण उत्पन्न होना मानते हैं। उनके अनुसार किसी ज्ञान को मिथ्या मानना उसे ज्ञान न मानने के समान है।

यह मत मान्य नहीं हो सकता। यदि सर्प को हम स्मृति मानें तो प्रश्न होगा कि वह हमें दिखाई क्यों देता है। यदि स्मृति होते हुये भी दिखाई देना मानें तो स्मृति और प्रत्यक्ष में अन्तर नहीं रहेगा।

यदि प्रभाकर मीमांसक यह मानें कि भ्रम के समय स्मृति का सर्प दिखाई नहीं देता है, तो यह अनुभव विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त स्मृति का अनुभव जैसा होता है वैसा ही सर्प प्रतीत होना चाहिए। उसे सामने मान कर हम डर नहीं सकते हैं।

स्मृति का सर्प परिचित होता है और भ्रम का सर्प अपरिचित है। इस कारण हम यह नहीं मान सकते कि हमें स्मृति का सर्प दिखाई देता है। इसलिए नैयायिक और वेदान्ती वही मानते हैं कि भ्रम के समय शुक्ति (इदं रूप में) और चांदी दोनों

हमारी चेतना में आते हैं, तभी हम कहते हैं कि 'यह रजत है'। न रजत स्मृति रूप है और न कहा जा सकता है कि केवल शुक्ति हमारी चेतना में आती है।

गंगेश का मत है कि भ्रांति में हमें दोनों वस्तुओं का ज्ञान होता है, एक का नहीं। शुक्ति का ज्ञान सामान्य प्रत्यक्ष रूप में होता है और रजत का ज्ञान 'ज्ञान-लक्षण सन्निकर्ष' से होता है।

इसके अतिरिक्त अख्यातिवाद का सिद्धान्त इसलिए भी त्रुटिपूर्ण है कि वह ज्ञान व्यक्ति को कर्म में प्रवृत्त नहीं कर सकता। एक ही वस्तु में शुक्ति और रजत का सत्य ज्ञान एक साथ नहीं हो सकता। यदि दोनों को आगे-पीछे मानें, तो न शुक्ति ज्ञान कर्म के लिए प्रेरित करेगा क्योंकि वह लोभ उत्पन्न नहीं कर सकता और न उसके बाद होने वाला स्मृति रूप रजत ज्ञान कर्म के लिए प्रेरित कर सकता है, क्योंकि वह स्मृति रूप है, प्रत्यक्ष रूप नहीं।

## (२) विपरीत ख्यातिवाद

यह मत भाट्टमीमांसकों का है। उनका मत है कि किसी-किसी समय मिथ्या विषय भी प्रत्यक्ष सा भासित होने लगता है। जब हम रस्सी में सर्प का प्रत्यक्ष करते हैं और कहते है कि 'यह सर्प है' तो यहाँ उद्देश्य और विधेय दोनों यथार्थ हैं। जो रस्सी वर्तमान है, वह सांप की कोटि में ले आई जाती है। वस्तुतः सत्ता दोनों की है। भ्रम इस बात को लेकर होता है कि हम दो यथार्थ किन्तु पृथक् वस्तुओं में उद्देश्य-विधेय का सम्बन्ध स्थापित कर देते हैं। भ्रम इसी सम्बन्ध या संसर्ग को लेकर होता है, न कि विषयों को लेकर जो वास्तविक पदार्थ हैं। ऐसे भ्रम के कारण लोग विपरीत आचरण करते हैं। इसे विपरीत-ख्यातिवाद इसीलिए कहा जाता है कि इसके कारण अकार्य में कार्यता का भान होता है।[1]

कुमारिल भट्ट का मत वास्तव में नैयायिकों के भ्रम विषयक मत से मिलता-जुलता है। अतः इसकी समीक्षा भी नैयायिकों के भ्रम विषयक सिद्धान्त के समान ही समझनी चाहिए।

## (३) असत्ख्यातिवाद

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक माध्यमिक हैं। उनके अनुसार जिस वस्तु की भ्रान्त-प्रतीति होती है, वह असत् है। अतः असत् वस्तु का सत् के समान भासित होना असत्ख्याति है। यदि हमें चाँदी का भ्रम है तो इसका अर्थ है कि बाह्य जगत् में चाँदी नहीं है, फिर भी हमारी आँखों को चाँदी की सत्ता प्रतीत होती है इसलिए माध्यमिक सम्प्रदाय मानता है कि यथार्थ में वस्तु की कोई सत्ता नहीं होती, फिर भी

वह सत्यवत् प्रतीत होती है। समस्त जगत् की प्रतीति भी इसी प्रकार की है। उसे माध्यमिक शून्य कहते हैं। बाह्य जगत् की वस्तुएँ ही नहीं वरन् आन्तरिक विज्ञान भी शून्य है।

ज्ञाता विज्ञान और ज्ञेय बाह्य वस्तुएँ दोनों शून्य होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि किसी वस्तु का बोध कैसे होता है। माध्यमिक उसकी व्याख्या संस्कार से करते हैं। हम अपने संस्कारों के कारण बाहर वस्तु न होते हुए भी देखते हैं। संस्कार पूर्व प्रत्यक्ष के कारण निर्मित होते हैं और वह पूर्व प्रत्यक्ष भी उसके पूर्व संस्कार के कारण था। इस प्रकार संस्कार और प्रत्यक्ष अन्योन्याश्रित हैं और दोनों ही निःस्वभाव और शून्य हैं।[२] चन्द्रकीर्ति मध्यमकशास्त्र की एक कारिका पर टीका करते हुए लिखते हैं कि द्रष्टा के अभाव में द्रष्टव्य और दर्शन भी नहीं हैं। अतः विज्ञान स्पर्श, वेदना और तृष्णा चतुष्टय भी नहीं है।[३] अतः अनुभव जगत् अज्ञानजन्य प्रतीतियों से उत्पन्न भ्रम मात्र है। उसमें सत् कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

जयन्त भट्ट इस मत का खण्डन करते हैं। उनका तर्क है कि यदि भ्रम की वस्तु किसी अन्य देश-काल में देखी हुई वस्तु है तो उसे विपरीत ख्याति मानना चाहिए। असत् ख्याति नहीं। दूसरी स्थिति में, यदि भ्रम की वस्तु कुछ भी नहीं है, फिर भी दिखाई देती है, ऐसा असत्ख्यातिवादी मानते हैं, तब तो आकाश-कुसुम दिखाई भी देना चाहिए क्योंकि कोई अस्तित्वहीन वस्तु चेतना में नहीं आती, अतः उसका भ्रम भी नहीं हो सकता।

यदि माध्यमिक यह कहें कि अस्तित्वहीन वस्तुएँ वासनाभ्यास से चेतना में आ सकती हैं, तो वस्तुएँ न होने पर वासना ही निर्मित न होगी। किसी भी काल में वस्तुएँ न होने पर वासनायें उत्पन्न होना असंगत है।

प्रभाचन्द्र[५] का आक्षेप भी कुछ इसी प्रकार का है।

## (४) आत्मख्यातिवाद

इस सिद्धान्त का प्रतिपादक बौद्धों का योगाचार सम्प्रदाय है। इनके दर्शन में क्षणिक विज्ञान मात्र की सत्ता स्वीकार की जाती है। इसके अतिरिक्त न कोई बाह्य पदार्थ है और न नित्य आत्म-तत्त्व। बाहर जो कुछ जगत् दिखाई दे रहा है, वह हमारे विज्ञान का ही प्रक्षेप है। विज्ञान एक विशाल सागर के समान है, जिसमें अविराम गति से लहरें उठती रहती हैं। इस तरंगायित विज्ञान में नानारूप जगत् की प्रतीति होती है।

विज्ञान से बाहर कोई स्वतंत्र वस्तु न मान्य होने के कारण शुक्ति में रजत की भ्रांति का कारण शुक्ति नहीं मानी जा सकती। रजत की प्रतीति का कारण विज्ञान में

स्थित वासनायें हो सकती हैं। अनादि अविद्या के कारण रजत की वासनायें उत्पन्न हुईं और वासना ही बाहर जगत् में रजत की भ्रांति का प्रक्षेप करती है। इस प्रकार भ्रांति का कोई बाहर कारण नहीं है वरन् वह आत्मगत है। योगाचार सम्प्रदाय भ्रांतिम को वासना के कारण विज्ञान के प्रक्षिप्त मानता है, इसलिए उसे आत्मख्यातिवाद कहते हैं। इस मत के अनुसार विज्ञान के रूप में शुक्ति और उस पर अध्यस्त रजत दोनों सत्य हैं किन्तु बाह्य पदार्थ के रूप में वे दोनों असत्य हैं।

इस मत में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि बाह्य पदार्थ न मानने के कारण यथार्थ ज्ञान और भ्रांति में भेद नहीं किया जा सकता। जैसे रजत की कल्पना मिथ्या है वैसे ही शुक्ति भी कल्पना है और मिथ्या है। मिथ्या शक्ति पर मिथ्या रजत की भ्रांति नहीं कही जा सकती।

इनके अतिरिक्त यदि विज्ञान ही ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के भेद से विद्यमान है और उसके बाहर कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है तो ज्ञान यही होगा कि 'मैं रजत हूँ', किन्तु 'यह रजत है' ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता।

अद्वैत वेदान्ती विद्यारण्य स्वामी ने इस मत का खण्डन किया है। रजत की भ्रांति में रजत की उत्पत्ति होती है या नहीं? एक विशेष की रजत होने के कारण क्या कह सकते हैं, इसकी उत्पत्ति नहीं होती है अथवा अन्य सामान्य रजत के समान इसकी भी उत्पत्ति होती है। प्रथम विकल्प में उसका ज्ञान नहीं होना चाहिए। यदि उसकी सत्ता प्रतीत होती है तो उसकी उत्पत्ति अवश्य होनी चाहिए। यदि उत्पत्ति होती है तो बताना होगा कि वह विज्ञान से उत्पन्न होता है अथवा किसी वस्तु से? उसकी उत्पत्ति किसी वस्तु से नहीं कही जा सकती, क्योंकि योगाचार विज्ञान के स्वतंत्र किसी वस्तु की सत्ता नहीं मानते। यदि कहें कि ज्ञान से ही इसकी उत्पत्ति होती है तो बताना होगा कि वह शुद्ध ज्ञान से उत्पन्न होता है या अशुद्ध ज्ञान से? विशुद्ध ज्ञान से उसकी उत्पत्ति इसलिए नहीं मानी जा सकती क्योंकि वह निर्वाण स्वरूप है। यदि कहें कि यह मलिन ज्ञान उत्पन्न होता है तो यह बताना होगा कि वह ज्ञान उसी भ्रान्त रजत से मलिन हुआ है अथवा किसी दूसरे ज्ञान से? पहला पक्ष सम्भव नहीं है। विज्ञान क्षणिक होने के कारण वह जिस क्षण उत्पन्न किया जायेगा और जिस क्षण उत्पन्न होगा वे दोनों पृथक् होंगे। अतः रजत दिखाई न देगा। दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है। यदि दूसरे ज्ञान से रजत के भ्रान्त ज्ञान की उत्पत्ति मानें तो यह नहीं बताया जा सकेगा कि वह ज्ञान रजत की भ्रान्ति क्यों उत्पन्न करता है। यदि कहा जाय कि अशुद्ध ज्ञान से ही रजत की भ्रान्ति होती है तो उस ज्ञान का कारण रजत ही है या रजत से पृथक् कोई वस्तु? यदि रजत से ही वह ज्ञान उत्पन्न मानें तो रजत की सत्ता वास्तविक माननी होगी। इसे योगाचार सम्प्रदाय मानता नहीं है। यदि उस ज्ञान का कारण रजत नहीं

है तो भ्रामक ज्ञान नहीं उत्पन्न होगा। अतः आत्मख्यातिवाद से भ्रान्ति की व्याख्या नहीं हो सकती।

## (५) अन्यथाख्यातिवाद

भ्रम विषयक नैयायिकों का सिद्धान्त अन्यथाख्यातिवाद कहलाता है। उनके अनुसार भ्रान्ति की उत्पत्ति प्रस्तुत वस्तु और समझी वस्तु का गलत संयोग है। 'अन्यथा' का अर्थ है 'अन्य प्रकार से' और 'अन्य स्थान से'। भ्रम में ये दोनों ही बातें होती है। प्रस्तुत वस्तु अन्य प्रकार से दिखाई देती है और दिखाई देने वाली वस्तु अन्य स्थान में विद्यमान होती है।

शुक्ति और रजत दोनों ही सत् है; किन्तु दोनों का संयोग गलत है, इसलिए भ्रम है। शुक्ति को रजत समझ लिया जाता है और रजत अन्य स्थान अर्थात् बाजार में होता है। इसमें त्रुटि का कारण प्रत्यक्ष-कर्ता का मन है। बाहर वस्तुओं में कोई गड़बड़ी नहीं है। गंगेश का कथन है कि 'भ्रम में हम एक सत् वस्तु को कोई दूसरी वस्तु मान लेते हैं जो अन्यत्र विद्यमान होती है।' वात्स्यायन और उद्योतकर इस त्रुटि का कारण मानसिक गड़गड़ी मानते हैं।

शुक्ति को देख कर रजत की स्मृति आ जाने से 'ज्ञान-लक्षण-प्रत्यक्ष' होता है। यह अलौकिक प्रत्यक्ष का एक प्रकार है। इस प्रकार नैयायिक रजत का प्रत्यक्ष भी सत्य मानते हैं। भ्रम और यथार्थ ज्ञान में अन्तर मानना आवश्यक है, इसलिए नैयायिक कहते है कि जो वस्तु व्यवहार में आये वह सत् है और जो व्यवहार में न आये, वही असत् है, भ्रम है।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध आक्षेप तो यह हो सकता है कि शुक्ति और रजत दोनों सत्य होने पर दोनों का सम्बन्ध मिथ्या कैसे हो सकता है? वह सम्बन्ध भी सत्य होगा और भ्रान्ति नहीं हो सकती है।

दूसरे, यदि सत्य कहीं अन्यत्र है तो हम उसका स्मरण मात्र कर सकते हैं; उसे प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। उसे अलौकिक प्रत्यक्ष का एक प्रकार 'ज्ञानलक्षणप्रत्यक्ष' मानना त्रुटिपूर्ण है। क्या सभी स्मृतियाँ ज्ञानलक्षणप्रत्यक्ष होती हैं। यदि होती हैं तो उनमें कोई अन्तर नहीं होगा और यदि कुछ ही होती हैं तो उसका क्या कारण है, यह बताना होगा। इसके अतिरिक्त इस असाधारण प्रत्यक्ष और अनुमान में भी भेद बताना होगा।

## (६) सदसत्‌ख्यातिवाद

सांख्यदर्शन के अनुसार भ्रम एक अंश में सत् और दूसरे अंश में असत् है। इस प्रकार यह सत् और असत् का संयोग है। 'यह रजत है', इस भ्रान्त ज्ञान में 'यह'

शुक्ति का वाचक है और 'वह' सत् है। 'रजत' की प्रतीति असत् है क्योंकि वहाँ रजत नहीं है, फिर भी रजत दिखाई देता है। परीक्षा करने पर रजत का बाध भी हो जाता है, इसलिए वह मिथ्या है। इस प्रकार भ्रम में सत् और असत् दोनों वस्तुयें सम्मिलित होती हैं।

विज्ञानभिक्षु भी यही सिद्धान्त मानते हैं, किन्तु उनकी व्याख्या भिन्न प्रकार की है। उनके अनुसार रजत 'सत्' है क्योंकि वह रजत-विक्रेता की दुकान पर मिलने वाली सत् वस्तु है। किन्तु शुक्ति में उसका आरोप 'असत्' है। इस प्रकार रजत ही 'सत्' और 'असत्' दोनों है और उसका भ्रम ही सदसत्ख्याति है।

इस मत के अनुसार सांख्य रजत की प्रतीति असत् मानते हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि यदि रजत असत् है तो वह दिखाई कैसे देता है? आकाश कुसुम या शशश्रृंग कभी देखे नहीं जाते। यदि असत् रजत भी दिखाई दे सकता है तो वह किस कारण? इसका स्पष्टीकरण सांख्यमत में नहीं किया गया है। असत् वस्तु के सत् प्रतीत होने का कारण मानसिक है या कोई बाह्य कारण है, यह बताना चाहिए।

विज्ञानभिक्षु रजत को ही सत् और असत् दोनों मानते हैं। मध्यम परिहार के नियम से यह स्वीकृत नहीं है। अन्यत्र विद्यमान रजत भले ही सत् हो किन्तु शुक्ति में देखा गया रजत उन्हें असत् ही मान्य है। अतः उन्हें भी यह बताना होगा कि असत् वस्तु की सत् प्रतीति क्यों होती है?

## (७) सत्ख्यातिवाद

रामानुज इस सिद्धान्त के समर्थक हैं। प्राचीन सांख्य और प्रभाकर के मीमांसा दर्शन में भी यही मत माना गया है। इनके अनुसार शुक्ति में रजत की प्रतीति भ्रान्ति नहीं है। वह आंशिक सत्य है। यदि पूर्ण सत्य ज्ञात हो तो भ्रान्ति नहीं हो सकती। आंशिक सत्य को पूर्णसत्य बनाना ही भ्रम का निवारण है। सत्य का ज्ञान भ्रम का बाध नहीं करता, वरन् उसे पूर्णता प्रदान करता है।

रामानुज के अनुसार जगत् की सभी वस्तुयें त्रिवृत्तकरण या पंजीकरण से निर्मित हुई है, अतः उन सब में सभी पंचमहाभूतों के गुण विद्यमान हैं। उनका अनुपात भिन्न-भिन्न हो सकता है। सीप में जब हम पंचमहाभूतों के गुण उचित अनुपात में नहीं देख पाते, वरन् केवल वही गुण देखते हैं जिनसे रजत की उत्पत्ति होती है, तो हम उस वस्तु को रजत मान लेते हैं। यदि हम वहाँ उपस्थित अन्य गुणों को भी देख लें तो हमें सीप का ज्ञान हो जाता है। अतः सीप को रजत समझना हमारा अधूरा ज्ञान है, भ्रम नहीं। सभी ज्ञान यथार्थ होते हैं - 'यथार्थ सर्वविज्ञानम्' - भ्रम नाम का कोई ज्ञान नहीं है।

रामानुज और प्रभाकर में इस मत के विषय में कुछ भेद है। प्रभाकर दृष्ट शुक्ति और स्मृत रजत में भेद नहीं करते हैं। रामानुज शुक्ति में ही रजत के कुछ यथार्थ गुण मानते हैं। इसके अतिरिक्त प्रभाकर के अनुसार सत्य अर्थक्रियाकारी है। भ्रान्त रजत भी जब तक व्यवहार में कार्यकारी है, वह सत्य ही है। रामानुज ऐसा नहीं मानते। वे ज्ञान के प्रकाशात्मक पक्ष को महत्व देते हैं। अतः सत्‌ख्यातिवाद के यथार्थ समर्थक रामानुज ही हैं।

यह मत भी तर्क-संगत नहीं है। अन्य दार्शनिकों ने इसका खण्डन किया है। यदि भ्रम का विषय भी सत्य ही है तो वह भ्रम ही नहीं है। रामानुज स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि भ्रम ज्ञान नहीं होता है। ऐसा मानने से व्यवहार में कठिनाई आती है। यदि हम शुक्ति रजत लेकर रजत-विक्रेता से उसका आंशिक मूल्य प्राप्त करना चाहें तो उसे आंशिक सत्य मान कर वह कुछ भी मूल्य न देगा।

मरुस्थल में प्रतीत होने वाले जल में आंशिक सत्यता कैसे मानी जा सकती है? संभव है पंचीकरण के कारण बालुका में जल का अंश भी विद्यमान हो किन्तु बालू में जल नहीं देखा जा सकता है। पंजीकृत वस्तु में पांचों गुण अलग-अलग नहीं दिखाई देते हैं। यदि वे अलग हों तो निश्चय ही इतने सूक्ष्म होंगे कि उन्हें देखा नहीं जा सकता। अर्वृत्तीकृत पंचभूत अगोचर होने के कारण ही उनका पंचीकरण मान कर उन्हें स्थूल रूप में देखा जाता है। गोचर रूप धारण करने पर उनमें पृथक् तत्त्व नहीं देखे जा सकते। अतः बालू में जल का एक अंश सत्य रूप में देखना कुतर्क मात्र है।

इसके अतिरिक्त, यह विचित्र बात है कि बालू में जल के सूक्ष्म अंश दूर से स्पष्ट दिखाई देते हैं, वरन् वही प्रधान बन जाते हैं और निकट से देखने पर वे बिल्कुल नहीं दिखाई देते है। यदि बालू में जल का सत्यांश है तो उसे निकट से अधिक स्पष्ट दिखाई देना चाहिए। पुनः बालू में अग्नि का भी अंश है। वह तो प्रकाशवान होता है। उसे तो बालू में रात्रि के समय भी दिखना चाहिए किन्तु वह कभी नहीं दिखाई देता।

रामानुज के अनुसार शुक्ति में अग्नि तत्त्व रजत रूप भासित होता है। प्रश्न है कि अग्नि तत्त्व रजत ही क्यों दिखाई देते हैं? वे दीपक या जुगनू रूप क्यों नहीं दिखाई देते? उनमें तो अति स्पष्ट रूप से विद्यमान है।

यह कहना उचित नहीं है कि शुक्ति में रजत प्रतीत होती है, वही अग्नि और रजत होने का प्रमाण है। इसमें अन्योन्याश्रय दोष है। शुक्ति में अग्नि होने से वह रजत भासित होती है और क्योंकि रजत भासित होती है, इसलिए शुक्ति में अग्नि का होना सिद्ध है।

शुक्ति और रजत में समानता से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि शुक्ति में रजत

तत्त्व आंशिक रूप में विद्यमान है, क्योंकि ऐसा नियम नहीं है कि जहाँ समानता देखने में आये, वहाँ एक वस्तु में दूसरी वस्तु के कुछ अंश होने चाहिए।

रामानुज के अनुसार सभी ज्ञान सत्य हैं, भले ही वह आंशिक सत्य हों। कोई ज्ञान आंशिक सत्य होने का यह निहितार्थ है कि उसका शेष अंश असत्य है। यदि किसी वस्तु में असत्य का अंश अधिक है, तब उसे असत्य या भ्रम ही मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त सत्य और असत्य के अंश मिलाये नहीं जा सकते हैं।

## अनिर्वचनीय ख्यातिवाद

अद्वैत-वेदान्त उपर्युक्त किसी सिद्धान्त से सहमत नहीं है। उसने इन सभी सिद्धान्तों का खण्डन किया है। उसका अपना मत अनिर्वचनीय ख्यातिवाद कहलाता है। तुलना करने से स्पष्ट हो जायेगा कि यही सिद्धान्त सर्वाधिक वैज्ञानिक और तर्कसंगत है।

शंकराचार्य ने भ्रम की व्याख्या अध्यास-सिद्धान्त से की है। उसी दृष्टि से उन्होंने अन्य दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित भ्रम सिद्धान्तों को देखा है। यद्यपि उन्होंने उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले आचार्यों का नाम नहीं लिया है, किन्तु सिद्धान्तों का उल्लेख अवश्य किया है। उनमें से पहला मत है 'अन्यत्रान्यधर्माध्यासः'[६] अर्थात् एक में दूसरे के धर्म के आरोप को अध्यास कहते हैं। यह आत्मख्यातिवाद का सूचक है। इसके प्रतिपादक विज्ञानवादी हैं। इस मत में क्षणिक विज्ञान के अतिरिक्त बाह्य कुछ नहीं है, तो भी अनादि अविद्या के कारण विज्ञान ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप में पृथक्-पृथक् भासित होता है। यही भ्रम है। विज्ञानरूप आत्मा का धर्म-आकर विशेष जो रजत आदि है, उसकी बाह्य असत् शुक्ति आदि में प्रतीति ही अध्यास है।

'अन्यत्रान्यधर्माध्यास' न्याय और वैशेषिक मत का भी सूचक हो सकता है। उनका मत अन्यथाख्यातिवाद है। उनके मत में भ्रमस्थल से भिन्न बाजार आदि स्थान में अनुभूत रजत आदि की अन्यत्र शुक्ति आदि प्रतीति अध्यास है। इस मत में भ्रम के आधार और आधेय दोनों बाह्यवर्ती हैं, मानसिक नहीं।

शंकराचार्य द्वारा उद्धृत दूसरा भ्रम-सिद्धान्त इस प्रकार है - 'यत्र यदध्यासस्त द्विवेकाग्रहनिबन्धनो भ्रम'[७] अर्थात् जिसमें जिसका अध्यास है, उसके भेद को न ग्रहण करना भ्रम है। यह मत सांख्य और मीमांसकों के अख्यातिवाद का सूचक है। इसके अनुसार 'यह रजत है' इस प्रकार के भ्रम में दो ज्ञान होते हैं - 'इदं' अंश का नेत्रों से प्रत्यक्ष ज्ञान और रजत आदि का स्मृति ज्ञान। ये दोनों ज्ञान सत्य हैं और इनके विषय भी सत्य हैं। उनके मत में कोई भी ज्ञान मिथ्या नहीं है। भ्रम का कारण अविवेक है और वही विवेक से बाधित होता है।

तीसरा मत है – 'यत्र यदध्यासः तस्यैव विपरीतधर्मत्वकल्पनामाचक्षते'[८] अर्थात् जिसमें जिसका अध्यास है, उसमें विरुद्ध धर्मत्व की कल्पना को अध्यास कहते हैं। यह मत माध्यमिकों का हो सकता है, जिसे असत्ख्यातिवाद कहते हैं। उनके अनुसार शुक्ति में रजत का अध्यास है और रजत की कल्पना अत्यन्त असत् है।

शंकराचार्य इन तीनों मतों का विश्लेषण कर निर्णय निकालते हैं कि सभी मतों में 'अन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरित'[९] अर्थात् अन्य में अन्य धर्म की प्रतीति रूप लक्षण का व्यभिचार नहीं होता है। यद्यपि सभी पक्षों में अधिष्ठान और अध्यारोप का किस प्रकार सम्बन्ध होता है, इस विषय में उनका विवाद है किन्तु अन्य से अन्य का अवभास होना सभी स्वीकार करते हैं।

शंकराचार्य अपनी परिभाषा पर इस प्रकार देते हैं – 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः'[१०] अर्थात् स्मृति रूप पूर्वदृष्ट का अन्य (अधिष्ठान) में अवभास (प्रतीति) ही अध्यास है। इसमें भी एक अधिष्ठान माना गया है और उस पर एक अध्यारोप स्वीकार किया गया है। अधिष्ठान रूप शुक्ति है और उस पर अध्यारोपित रजत है। यह रजत स्मृतिरूप पूर्वदृष्ट है, किन्तु जिस समय अविद्या के कारण रजत सत्य प्रतीत होता है, वह स्मृति नहीं प्रतीत होता है। उसे सत् नहीं कह सकते क्योंकि उसका बाध होता है। वह असत् भी नहीं है क्योंकि आकाश कुसुम जैसा न होकर प्रत्यक्ष दिखाई देता है। उसे सत् और असत् दोनों भी नहीं माना जा सकता क्योंकि इन दोनों रूपों का परस्पर विरोध है। शंकर ऐसी वस्तु को अनिर्वचनीय मानते हैं जो न सत् है, न असत् और न उभयात्मक। भ्रम भी ऐसा ही होने के कारण अनिर्वचनीयख्याति कहलाता है। रजत एक अवभास है, इसलिए उसकी प्रातिभासिक सत्ता मानी जाती है।

प्रत्यक्ष ज्ञान में अन्तःकरण की वृत्ति नेत्र द्वारा बाहर निकल कर दृष्टा विषय का आकार धारण करती है, जिससे विषय का आवरण नष्ट होता है और उसका ज्ञान उत्पन्न होता है। परन्तु जब शुक्ति आदि को देखने पर अन्तःकरण की वृत्ति शुक्ति रूप धारण करती है तो तिमिर आदि दोष के कारण अज्ञान का आवरण भंग नहीं होता। उसी समय पूर्वदृष्ट वस्तु का संस्कार उदित होकर रजत की स्मृति आती है और शुक्ति की अविद्या क्षुब्ध होकर तमोगुण के कारण रजत की प्रतीति करती है। इस प्रकार भ्रमस्थल में रजत आदि विषय और उनका ज्ञान एक ही समय उत्पन्न होते हैं।

विद्यारण्य स्वामी ने भ्रम का विस्तृत विश्लेषण किया है। वे कहते हैं, अविद्या आवरण और विक्षेप रूपा है। दृष्टान्त में शुक्ति का न प्रतीत होना आवरण और रजत का भासित होना विक्षेप, दोनों ही अविद्या के कार्य हैं। 'यह रजत है' इस बोध में 'इदं' अंश सीप में होता है और यह सत्य होता है, क्योंकि इसका बाध नहीं होता। सीप

का यहपन और सत्यता असत् रजत को यहपन और सत्यता प्राप्त हो जाती है। जब हम रजत देखते हैं तो उसमें भासित होने वाला यहपन सीप का होता है। रजत में जो सत्यता भासित होती है, वह भी सीप की होती है।

अविद्या सीप को सम्पूर्ण रूप से नहीं ढकती अर्थात् उसकी इदंता और सत्यता नहीं की जाती है। अविद्या का दूसरा कार्य विक्षेप है। उससे रजत की कल्पना उत्पन्न होती है। यद्यपि रजत स्वतः मिथ्या है किन्तु सीप की इदंता और सत्यता पाकर वह स्वयं सत्य प्रतीत होता है और हम कहते हैं – 'यह रजत है'। अविद्या के नष्ट होने पर आवरण और विक्षेप दोनों नहीं रहते हैं। इससे 'यह सीप है', इस प्रकार का बोध उत्पन्न होता है।[११]

अद्वैतवाद के इस अनिर्वचनीयख्यातिवाद पर रामानुज ने अनेक आपत्तियाँ उठाई हैं और उसे तर्कसंगत नहीं माना है। इसका कारण दृष्टिभेद है। रामानुज की आपत्तियाँ कहाँ तक उपयुक्त हैं, इस प्रश्न पर हम विचार करेंगे।[१२]

रामानुज के अनुसार अनिर्वचनीयख्याति भी अन्यथाख्याति से पृथक् नहीं है। इस बात को मानना कि भ्रम की वस्तु अनिर्वचनीय है, इस तथ्य को भी स्वीकार करता है कि एक वस्तु अन्य वस्तु के समान भासित होती है। अनिर्वचनीय वस्तु भ्रम के समय सत् प्रतीत होती है।

अद्वैत-वेदान्त इसे स्वीकार नहीं करता। अनिर्वचनीयख्याति और अन्यथाख्याति में तालमेल नहीं है। अन्यथाख्याति के अनुसार सीप में चाँदी की प्रतीति है, वह बाजार आदि में अन्यत्र होती है। अनिर्वचनीयख्याति में यह माना जाता है कि रजत अन्यत्र नहीं होता है वरन् अविद्या के कारण विक्षेप से उत्पन्न होता है। अविद्या के रहने तक वह सत् प्रतीत होता है, किन्तु अविद्या के नष्ट होने पर रजत का बोध हो जाता है।

दूसरी आपत्ति यह है कि यदि भ्रम काल में वस्तु अनिर्वचनीय ज्ञात होती है, तो वह नहीं होगा और यदि कहें भ्रम काल में वह अनिर्वचनीय नहीं होता है किन्तु ज्ञान होने पर ही वैसा ज्ञात होता है, तब यह अन्यथाख्याति ही है क्योंकि भ्रम वस्तु उस समय सत् ही ज्ञात होती है।

इस आपत्ति में अनिर्वचनीय वस्तु में अनिर्वचनीयत्व का कोई स्थायी गुण मान लिया गया है, जबकि ऐसा नहीं है। एक ही वस्तु एक काल में सत् और दूसरे में असत् दिखाई देती है। वह न सत् दिखाई देते समय अनिर्वचनीय है और न असत् दिखाई देते समय। एक ही वस्तु सत् और असत् नहीं हो सकती, इसलिए उसे अनिर्वचनीय कहते हैं।

तीसरी आपत्ति यह हो सकती है कि कोई वस्तु सत् या असत् ही होगी।

अनिर्वचनीय जैसी कोई वस्तु नहीं होती है, क्योंकि तर्क का मध्यम परिहार का नियम उसे स्वीकार नहीं करता है।[१३] शंकराचार्य कहते हैं कि तर्कसिद्ध न होकर भी अनुभव में आने के कारण ही अनिर्वचनीय है। यह 'सर्वलोकप्रत्यक्षः' है।[१४]

चौथी आपत्ति यह की जाती है कि हम जो कुछ देखते हैं वह सत् ही होता है, असत् ज्ञान या भ्रम ज्ञान जैसी कोई वस्तु नहीं है। इसके उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं – 'मिथ्याप्रत्ययरूपः . . . सर्वलोकप्रत्यक्षः'[१५] अर्थात् मिथ्याप्रत्ययरूप भ्रम सर्व सामान्य के अनुभव में आता है, अतः यह नहीं कह सकते कि भ्रम ज्ञान जैसा कुछ नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि भ्रम नहीं है, तो भ्रम निवृत्ति भी नहीं है, किन्तु व्यवहार में यथार्थ ज्ञान होने पर सभी जन स्वीकार करते हैं कि उसके पूर्व उन्हें भ्रम था।

पाँचवीं आपत्ति यह की जाती है कि भ्रम की वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती, इसलिए भ्रम की वस्तु का ज्ञान भी सम्भव नहीं है। यदि कहें कि भ्रम ज्ञान होने के बाद भ्रान्त रजत की उत्पत्ति हो जाती है, तो ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि बिना रजत देखे उसका ज्ञान नहीं हो सकता। अनिर्वचनीयख्याति के समर्थक इसके उत्तर में कह सकते हैं कि भ्रम की वस्तु देख कर या न देख कर भ्रम नहीं होता। भ्रम का अधिष्टान कुछ दूसरा ही होता है। उसे हम देखते हैं, जैसे भ्रान्त रजत के दृष्टान्त में हम सीप देखते हैं, किन्तु सीप के उन सभी धर्मों को ग्रहण नहीं कर पाते, जिनके कारण हमें वह सीप रूप में ज्ञात हो। हम सीप के केवल उन्हें धर्मों को ग्रहण कर पाते हैं जो रजत में भी विद्यमान होते हैं। उन धर्मों के साथ हम अपनी कल्पना से रजत के शेष धर्म उन प्राप्त धर्मों के साथ जोड़ कर उसी को रजत मान लेते हैं। अतः भ्रान्त केवल मानसिक सृजन होता है। इसीलिए शंकराचार्य ने 'स्मृतिरूप' माना है।

छठवीं आपत्ति यह की गई है कि इन्द्रिय दोष के कारण भ्रम की वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि इन्द्रियों से तो ज्ञान ग्रहण किया जाता है, किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है। इसके उत्तर में कह सकते हैं कि अनिर्वचनीयख्यातिवाद किसी वस्तु को स्वस्थ दोषपूर्ण इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं मानता है। दोषपूर्ण इन्द्रियां ग्रहीत ज्ञान को दूषित या विक्रित तो कर ही सकती हैं, जैसे पाण्डुरोग में चंद्रमा पीला दिखाई देता है। न वास्तविक चन्द्रमा पीला ही हो जाता है और न पीले रंग का चन्द्रमा ही निर्मित होता है, केवल नेत्र में पित्तदोष से सफेद रंग पीले में पर्णित होकर अन्तःकरण में भासित होता है।

## अनिर्वचनीय ख्यातिवाद की विशिष्टता

हम ख्यातिवाद के विभिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख और उनका विवेचन पहले कर चुके हैं। उनकी पुनरावृत्ति यहाँ अपेक्षित नहीं है। फिर भी, अब हम इस स्थिति में

हैं कि अन्य ख्यातिवाद के सिद्धान्तों से अनिर्वचनीयख्यातिवाद की तुलना कर उसकी विशिष्टता समझ सकते हैं।

अख्यातिवाद भ्रम को निरालम्ब मानता है। आधुनिक मनोविज्ञान भ्रम और विभ्रम में भेद करता है। विभ्रम तो निरालम्ब हो सकता है किन्तु भ्रम नहीं। रज्जु में सर्प, सीप में रजत की प्रतीति निरालम्ब नहीं है। अनिर्वचनीयख्याति में इस प्रकार की त्रुटि नहीं की गयी है।

इसी से मिलता-जुलता सिद्धान्त माध्यमिकों का है। वे असत्ख्याति स्वीकार करते हैं। उसके अनुसार बाहर कोई वस्तु नहीं है किन्तु हमारा मन उसकी उत्पत्ति करता है। यह भी विभ्रम ही कहलायेगा। भ्रम तभी हो सकता है, जब हम एक वस्तु को देखें किन्तु उसे वैसा न जान कर कुछ अन्य ही समझें। असत्ख्याति ऐसे किसी भ्रम को नहीं मानती है, इसलिए उसकी व्याख्या भी नहीं करती है।

आत्मख्यातिवाद भी इससे बहुत दूर नहीं है। उसमें भी भ्रम को मानसिक प्रक्षेप ही माना गया है। भ्रम या उसका अधिष्ठान बाहर कदापि नहीं होता है। यह भी विभ्रम ही है।

इन मतों के बिल्कुल विपरीत रामानुज का सत्ख्यातिवाद है। उसके अनुसार भ्रम वस्तु भी सत्य है। शुक्ति रजत में भी रजत के तत्त्व विद्यमान हैं, अतः वह सत्य है। भ्रम ज्ञान जैसा कुछ नहीं है। यह भी अत्युक्ति है। दो वस्तुओं की समानता का अर्थ है उनमें कुछ गुणों का समान रूप से विद्यमान होगा। उसका यह अर्थ नहीं कि दो वस्तुयें एक ही आधार में समान रूप से सत्य होकर विद्यमान हैं। सीप तो सीप है और चाँदी भी चाँदी ही है। सीप में चाँदी को सत्य रूप से स्वीकार करना उचित नहीं है। अनिर्वचनीय ख्यातिवाद इस प्रकार सामान्य अनुभव की उपेक्षा नहीं करता है। सांख्य का सत्असत्ख्यातिवाद उपर्युक्त सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत है। उसके अनुसार भ्रान्त रजत में 'यह' शुक्ति का वाचक है और वह सत् है, किन्तु रजत की प्रतीति असत् है। वहाँ रजत नहीं है। इस प्रकार भ्रम में सत् और असत् दोनों के अंश विद्यमान हैं। किन्तु यहीं तर्कीय दोष आ जाता है। एक ही वस्तु सत् और असत् दोनों लक्षणों से युक्त नहीं हो सकती। वेदान्त इस तर्कीय दोष से बचने के लिए भ्रम को सत्-असत् का युग्म नहीं मानता, वरन् उसे अनिर्वचनीय कहता है। दोनों सिद्धान्तों ने समस्या को सही रूप में समझने का प्रयास किया है किन्तु सांख्य अपनी व्याख्या में तर्क के दोष में फंस जाता है, वेदान्त नहीं।

न्याय दर्शन भी भ्रम में सत्-असत् की समस्या को हल करने का प्रयास करके तर्कीय दोष से बचे रहने का प्रयास करता है। इसके लिए वह अन्यथाख्याति का प्रतिपादन करता है और अन्यत्र प्रत्यक्ष होते हुए वस्तु को अपने निकट किसी अन्य

वस्तु में देखना स्वीकार करता है। वह शुक्ति में उस रजत को देखता है जो बाजार में किसी दुकान पर दूर रखा हुआ है। स्पष्ट है कि एक तर्कीय दोष से बचने के लिए न्याय अन्य अव्यावहारिक कल्पना में फंस जाता है।

अनिर्वचनीयख्याति में कोई अव्यावहारिक तथ्य लाने का प्रयास नहीं किया गया है। हम सामान्य रूप में भ्रम को जिस रूप में पाते हैं, उसी रूप में उसकी व्याख्या की गयी है। उसमें भ्रम वस्तु की व्यावहारिक सत्ता न मान कर बुद्धिजन्य स्वीकार किया गया है, इसलिए असत् वस्तु के उत्पन्न होने की विधि या प्रक्रिया बताना आवश्यक नहीं है। बुद्धि के बदलने और प्रमाण प्राप्त होने पर भ्रम की निवृत्ति हो जाती है, इसलिए भ्रान्त अवस्था में वस्तु सत् प्रतीत होते हुए भी उसके बाध होने पर वह असत् सिद्ध हो जाती है। अतः एक ही काल में वह वस्तु सत् और असत् नहीं होती है। फिर भी वह भ्रम-वस्तु किस प्रकृति की है - आग्रहपूर्वक यह प्रश्न करने पर उत्तर दिया जाता है कि वह अनिर्वचनीय है। 'अनिर्वचनीय' शब्द को लक्ष्य बना कर अन्य मतावलम्बियों ने जो आक्षेप किये हैं, वे निराधार हैं। अद्वैत-वेदान्त में भ्रम होने की प्रक्रिया का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। वह आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के भी विपरीत नहीं है। यहाँ भ्रम और विभ्रम में भी अन्तर समझा गया है। भ्रम की व्याख्या भ्रम मान कर ही की गयी है, उसे विभ्रम नहीं मान लिया गया है।

इसके अतिरिक्त अनिर्वचनीयख्यातिवाद अद्वैत-वेदान्त की तत्त्वमीमांसा के भी अनुरूप है। शंकर ने पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक तीन प्रकार की सत्तायें मानी हैं। व्यावहारिक सत्ता में जो स्थान प्रातिभासिक सत्ता का है, वही स्थान पारमार्थिक सत्ता में व्यावहारिक सत्ता का है। भ्रान्त सर्प प्रातिभासिक सत्ता के अन्तर्गत आता है। उसके प्रति हमारी सत्य बुद्धि तभी तक रहती है, जब तक हमें सामने उपस्थित व्यावहारिक सत्ता में स्थित रस्सी का ज्ञान नहीं होता है। प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त होने पर प्रातिभासिक सर्प विलीन हो जाता है और उसके साथ उसका भय आदि विकार भी समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार श्रुति प्रमाण से नित्य सत्य वस्तु की उपलब्धि होने पर व्यावहारिक जगत् का बाध हो जाता है और उस जगत् में उत्पन्न होने वाले भय, चिन्ता, क्लेश और दुःख भी निवृत्त हो जाते हैं।

इन सभी पक्षों पर विचार करने के बाद हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अद्वैत-वेदान्त द्वारा प्रतिपादित अनिर्वचनीय ख्यातिवाद, जो भ्रम की समस्या की व्याख्या एक सीमा तक सफलतापूर्वक करता है, निश्चय ही अन्य सिद्धान्तों की तुलना में उपयुक्त सिद्धान्त हो सकता है। यद्यपि दर्शन में कोई भी सिद्धान्त पूर्णतः निर्दोष नहीं माना जाता है, फिर भी तुलनात्मक दृष्टि में उस सिद्धान्त को अधिक तर्कसंगत कह सकते हैं।

## संदर्भ-सूची

१. शास्त्रदीपिका, १/१/५।

२. तन्मृषा मोषधर्म यद्भगवानित्यभाषत
सर्वे च मोषधर्माणः संस्कारस्तेन ते मृषा। - नागार्जुन, मध्यमकशास्त्र १३.१

३. 'इह द्रष्टुरभावाद् द्रष्टव्यदर्शने अषि न स्त इत्युक्तम्। अतः कुतो विज्ञानादिचतुष्टयं विज्ञानस्पर्शवेदनातृष्णाटव्यम्? तस्मान्न सन्ति विज्ञानादीनि।' - प्रसन्नपदा, पृष्ठ ४५

४. Indian Psychology, Perception, J.N. Sinha, p. 285

५. प्रमेयकमल मार्तण्ड, पृष्ठ १३।

६. ब्रह्मसूत्र शां.भा., अध्यासभाष्य पृष्ठ ७।

७. वहीं।

८. वहीं।

९. वहीं, पृष्ठ ६।

१०. वहीं, पृष्ठ ४।

११. विद्यारण्य स्वामी, पंचदशी, अध्याय-६ श्लोक ३३-३७।

१२. Jadunath Sinha, Indian Psychology, p. 293.

१३. रमाकान्त त्रिपाठी, चतुःसूत्री, पृष्ठ ६।

१४. ब्रह्मसूत्र शां.भा., अध्यास भाष्य, पृष्ठ १८।

१५. वहीं, पृष्ठ १८।

❑❑❑

# अध्याय-६

# प्रामाण्यवाद

ज्ञान की वैधता एवं अवैधता का निश्चय किस प्रकार होता है? किस कसौटी के द्वारा हम यह जानते हैं कि अमुक कथन सत्य है अथवा असत्य। इस सम्बन्ध में पश्चिमी दार्शनिकों ने मुख्यतः तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। ये सिद्धान्त हैं – संवादिता सिद्धान्त, संसक्तता सिद्धान्त और अर्थक्रियावादी सिद्धान्त। ज्ञान की वैधता को निश्चित करने के लिए वस्तुवादी विचारक संवादिता के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार यदि हमारा कथन बाह्य तथ्यों से संवादिता रखता है तो वह सत्य है अन्यथा असत्य। मेरा यह कथन 'लाल गाय कमरे में है' तभी सत्य है, जब कमरे में गाय है और वह लाल भी है। यदि कमरे की गाय लाल नहीं है अथवा कमरे में गाय नहीं है तो मेरा उपर्युक्त कथन असत्य होगा। अतः वस्तुवादिओं के अनुसार हमारे ज्ञान की वैधता एवं अवैधता बाह्य दशाओं पर ही निर्भर करती है। संसक्तता का सिद्धान्त प्रत्ययवादी दार्शनिकों की देन है। इस सिद्धान्त के अनुसार कोई भी कथन तभी सत्य होगा, जब उसका तत्संबन्धित अन्य कथनों से सामंजस्य है। अतः कोई भी विशेष ज्ञान तभी वैध है, जब वह सम्पूर्ण अनुभव के साथ संगति रखता हो। अर्थक्रियावादी दार्शनिक अर्थक्रियाकारित्व के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार वैध ज्ञान की कसौटी उसकी उपयोगिता में है। मेरा यह ज्ञान कि 'लोटे में जल है' तभी वैध है, जब उससे प्यास बुझे अन्यथा वह ज्ञान अवैध है। लगभग इसी रूप में ये तीनों सिद्धान्त विभिन्न भारतीय दर्शनों में भी खोजे जा सकते है। न्याय दर्शन संवादिता सिद्धान्त में विश्वास करता है, बौद्ध दर्शन अर्थक्रियावाद के पक्ष में है जबकि वेदान्त संसक्तता के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। इसके अतिरिक्त भारतीय दार्शनिकों ने ज्ञान की इस समस्या से संबंधित एक अन्य समस्या पर भी गहरा विचार किया है। वह समस्या है कि 'हमें अपने ज्ञान की वैधता अथवा अवैधता का ज्ञान किस प्रकार होता है?' सामान्य रूप से यह प्रश्न ज्ञान के स्वरूप से संबंधित है। प्रश्न यह है कि ज्ञान स्वरूपतः स्वप्रकाश है या पर-प्रकाश? कुछ भारतीय दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान का स्वभाव प्रत्यक्ष-योग्य है, जबकि कतिपय अन्य विचारकों के लिए उसका स्वभाव परोक्ष है। इस प्रकार प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से ज्ञान के स्वभाव भेद की कल्पना ही स्वतः प्रामाण्यवाद एवं परतःप्रामाण्यवाद की चर्चा का मूलाधार है।

स्वतः प्रामाण्यवाद के अनुसार ज्ञान की वैधता एवं अवैधता को जानने के लिए बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान मात्र स्वप्रत्यक्ष है अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमिति, शाब्द, स्मृति आदि किसी रूप में हों किन्तु वह स्वरूप के विषय में साक्षात्कार रूप ही होता है। ज्ञान वेद्य या अवेद्य न होकर केवल स्ववेद्य है या स्वप्रतयक्ष है। वह अपने स्वरूप को उसी प्रक्रिया से अभिव्यक्त करता है, जिससे कि अन्य विषय उसके द्वारा प्रकाशित या अभिव्यक्त होते हैं। स्वयं के ज्ञान के लिए उसे किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं हुआ करती।

परतः प्रामाण्यवाद स्वतःप्रामाण्यवाद का विरोधी है। परतः प्रामाण्यवाद मानता है कि ज्ञान की वैधता एवं अवैधता को जानने के लिए बाह्य साधनों की आवश्यकता है। परतः प्रामाण्यवादी ज्ञान के स्वप्रकाशत्व में विश्वास नहीं करते। उनके अनुसार ज्ञान का स्वभाव प्रत्यक्ष होने का है किन्तु वह अपने आप प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। उसकी प्रत्यक्षता अन्याश्रित है। अतः ज्ञान चाहे प्रत्यक्ष हो, अनुमिति हो, शाब्द हो अथवा स्मृति आदि अन्य कोई भी हो, वे सभी स्वविषयक अनुव्यवसाय के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से ग्रहीत होते है।

प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक स्वतः प्रामाण्यवाद एवं परतः प्रामाण्यवाद के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं किन्तु वे एक दूसरे से पूर्णतः सहमत नहीं हैं। सांख्य दार्शनिक पूर्ण रूप से स्वतः प्रामाण्य में विश्वास करते हैं। इनके अनुसार ज्ञान की वैधता एवं अवैधता का निश्चय बाह्य कारणों द्वारा नहीं होता है। बौद्धों का कहना है कि ज्ञान की अवैधता स्वतः सिद्ध है, जबकि उसकी वैधता को सिद्ध करने के लिए बाह्य कारणों की आवश्यकता होती है। मीमांसक एवं वेदान्ती बौद्धों के विपरीत हैं। वे मानते हैं कि ज्ञान की वैधता स्वतः सिद्ध है, जबकि उसकी अवैधता बाह्य कारणों से सिद्ध होती है।

## नैयायिकों का परतः प्रामाण्यवाद

न्याय दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान की वैधता एवं अवैधता बाह्य कारणों द्वारा ही ज्ञात होती है। वे मानते हैं कि ज्ञान वस्तु को प्रकाशित करता है। ज्ञान को वस्तुओं को प्रकाशित करने के लिए स्वयं प्रकाशित होने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान दृष्टि की भांति है। दृष्टि सभी वस्तुओं को प्रकाशित करती है। उसे स्वयं प्रकाशित होने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान की क्रिया में ज्ञान नहीं अपितु केवल उसका विषय ही सदैव ज्ञेय बनता है।

नैयायिकों के अनुसार वैध ज्ञान में वस्तु के वास्तविक गुण प्रकाशित होते हैं और

अवैध ज्ञान वस्तु में ऐसे गुणों का ग्रहण है जो उसमें नहीं हैं। अतः नैयायिक संवादिता को ही सत्य ज्ञान की कसौटी मानते हैं। ज्ञान स्वयं से न वैधता को प्रगट करता है और न अवैधता को। ज्ञान का प्रामाण्य उसको उत्पन्न करने वाली दशाओं के गुणों पर निर्भर है और उसका अप्रामाण्य उसको उत्पन्न करने वाली दशाओं के दोषों पर आधारित है। इस प्रकार ज्ञान का प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य परतः है, स्वतः नहीं। उदाहरण के लिए इन्द्रिय एवं वस्तु के संयोग से ज्ञान होता है, किन्तु यदि इन्द्रिय में कोई दोष है अथवा वस्तु अस्पष्ट है तो ज्ञान अवैध होगा। इसके विपरीत यदि ज्ञान की कारक इन्द्रिय में कोई दोष नहीं है और वस्तु का आकार भी स्पष्ट है तो ज्ञान का वैध होना निश्चित है।

अब प्रश्न यह है कि हमें ज्ञान की वैधता एवं अवैधता का ज्ञान किस प्रकार होता है? ज्ञान की वैधता की कसौटी क्या है? न्याय-मंजरी के रचयिता जयन्त भट्ट प्रवृत्ति-सामर्थ्य को ज्ञान की कसौटी मानते हैं।[१] यदि ज्ञान में तत्सम्बन्धित क्रिया को सफल बनाने की सामर्थ्य है तो वह ज्ञान वैध है, अन्यथा अवैध। इस प्रकार प्रवृत्ति विसंवाद अवैध ज्ञान की कसौटी है, जबकि प्रवृत्ति सामर्थ्य वैध ज्ञान को निश्चित करती है। वात्सायन मानते हैं कि ज्ञान का कारक प्रमाण है और उसकी वैधता का निश्चय प्रवृत्ति सामर्थ्य से ही होता है।[२]

भ्रम, विभ्रम एवं स्वप्न का ज्ञान सफल क्रिया का आधार नहीं बन सकता। नैयायिकों की मान्यता है कि ज्ञान की वैधता स्वतः प्रामाण्य नहीं है वरन् सफल क्रिया के आधार पर अनुमानगम्य है। सफल क्रिया का तात्पर्य फल-ज्ञान से है। उदाहरणार्थ, किसी स्थान विशेष पर जल का ज्ञान सभी सत्य है, जब उस प्रत्यक्ष विशेष पर चलने से कथित स्थान पर जल प्राप्त हो जाय। यदि हमारी उस क्रिया के फलस्वरूप उस स्थान पर जल प्राप्त नहीं होता तो वह ज्ञान अवैध है। इस प्रकार नैयायिक मानते हैं कि जिस वस्तु का हमें ज्ञान हो रहा है, उसकी प्राप्त करने की क्रिया द्वारा यदि वह प्राप्त हो जाय तो उस ज्ञान में प्रवृत्ति सामर्थ्य विद्यमान है और इस कारण वह ज्ञान वैध है।

इस सम्बन्ध में यह प्रश्न किया जा सकता है कि प्रवृत्ति सामर्थ्य की परीक्षा किस प्रकार की जाय? हम यह किस प्रकार जानें कि सफल क्रिया से उत्पन्न भाव सत्य है अथवा असत्य? क्या उस भाव को वैध सिद्ध करने के लिए अन्य दशाओं की आवश्यकता नहीं है? इन प्रश्नों का उत्तर देते हुये नैयायिकों का कहना है कि फल-ज्ञान की वैधता की परीक्षा आवश्यक नहीं है क्योंकि फल-ज्ञान के पश्चात् हमें किसी प्रकार की शंका ही नहीं रहती। उससे हमारे उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त फल-ज्ञान से सम्बन्धित वस्तु का सत्यापन उसकी कतिपय

विशेषताओं से ही हो जाता है। उदाहरणार्थ, जल के ज्ञान का सत्यापन उसको छूने से, नहाने से एवं पीने इत्यादि से हो जाता है।

यहाँ पर पूर्वपक्षी कह सकता है कि यदि किसी वस्तु के ज्ञान की वैधता की परीक्षा बाह्य साधनों द्वारा ही संभव है तो यह प्रक्रिया हमें अनवस्था दोष में ले जायेगी। इस आलोचना का उत्तर देने के लिए जयन्त[३] मनुष्य के सार्वभौमिक अनुभव का सहारा लेते हैं। वे मानते हैं कि हमारा व्यवहार पूर्वपक्षी के विचार का समर्थन नहीं करता। यदि हम किसी वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और उसे प्राप्त कर लेते हैं तो हम अपने उस अनुभव की सत्यता की पुनः परीक्षा नहीं करते। लोटे में रखे हुये जल से जब हमारी प्यास बुझ जाती है तो हम अपने उस अनुभव की पुनः परीक्षा करना उचित नहीं समझते। इस प्रकार जयन्त भट्ट सिद्ध करते हैं कि ज्ञान की वैधता का बाह्य प्रमाणीकरण हमें अनवस्था दोष पर नहीं ले जाता।

पूर्वपक्षी कह सकता है कि नैयायिकों के ज्ञान की वैधता के सिद्धान्त में परस्पराश्रय दोष है। ज्ञान की वैधता का ज्ञान सफल क्रिया पर आधारित है और सफल क्रिया स्वयं उस वैधता के ज्ञान पर निर्भर है।[४] व्यवहार में यह देखा जाता है कि जब तक हमें किसी वस्तु का सही ज्ञान नहीं होगा, तब तक उसे प्राप्त करना कठिन है। किन्तु नैयायिक यह भी मानते हैं कि उस वस्तु की प्राप्ति ही सही ज्ञान का निश्चय करती है। इस प्रकार ज्ञान की वैधता का ज्ञान एवं सफल क्रिया एक दूसरे पर निर्भर हैं। उन्हें एक दूसरे का आधार नहीं बनाया जा सकता। इसीलिए ज्ञान की वैधता कभी ज्ञात नहीं हो सकती।

इस आलोचना के उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि यह कहना उचित नहीं है कि ज्ञान की वैधता का पूर्व-ज्ञान हुये बिना सफल क्रिया नहीं हो सकती। वस्तुओं के प्रति हमारी प्रवृत्ति के लिए उनका सही ज्ञान अनिवार्य नहीं है। कभी-कभी वस्तुओं के सही ज्ञान के अभाव में भी उनकी प्राप्ति के लिए हम क्रिया करते हैं। इसके अतिरिक्त सफल क्रिया वस्तुओं के सही ज्ञान पर निर्भर हो सकती है किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उसके लिए ज्ञान की वैधता का ज्ञान अनिवार्य है। जयन्त यह भी कहते हैं कि सत्य ज्ञान के होने का तात्पर्य उस ज्ञान की सत्यता के ज्ञान से नहीं है।[५] ऐसा ज्ञान भी हमारी क्रिया का आधार हो सकता है, जिसकी सत्यता अथवा असत्यता का हमें ज्ञान नहीं है।

नैयायिक यह भी मानते हैं कि यदि ज्ञान और उसकी वैधता के कारण समान दशायें ही हैं, तो भ्रम भी वैध ज्ञान हो जायेगा। भ्रम भी ज्ञान का एक प्रकार है और उस ज्ञान की दशाओं द्वारा ही उत्पन्न होता है। इसलिए भ्रम भी वैध ज्ञान के समान होगा। अतः यदि ज्ञान की दशाएं ही उसकी वैधता को निर्धारित करती हैं तो अवैध

अथवा मिथ्या ज्ञान असंभव हो जायेगा। और यदि ज्ञान और उसकी अवैधता समान दशाओं से ही उत्पन्न होती है तो वैध ज्ञान असंभव हो जायेगा। इस प्रकार नैयायिक यह सिद्ध करते हैं कि ज्ञान की वैधता एवं अवैधता के निर्धारक बाह्य कारक ही हैं। स्वतः प्रामाण्यवाद का सिद्धान्त तर्कसंगत नहीं है।

प्रामाण्यवाद से संबंधित सांख्य सिद्धान्त[६] नैयायिकों के सिद्धान्त से पूर्णरूपेण भिन्न है। नैयायिक ज्ञान की वैधता एवं अवैधता का ज्ञान बाह्य दशाओं पर निर्भर मानते हैं। सांख्य दार्शनिक ज्ञान की वैधता एवं अवैधता के ज्ञान को ज्ञान में ही निहित मानते हैं। इसीलिए नैयायिक पूर्णरूपेण परतः प्रामाण्यवादी हैं और सांख्य पूर्णतः स्वतः प्रामाणवादी। न्यायमञ्जरीकार ने सांख्यों के विचारों की प्रभावपूर्ण आलोचना की है।

सांख्यों के स्वतः प्रामाण्यवाद का आधार उनका सत्कार्यवाद है।[७] सत्कार्यवाद की मान्यता है कि कार्य कारण में अपनी उत्पत्ति के पहले विद्यमान रहता है। एक कारण वही कार्य उत्पन्न कर सकता है जो उसमें पहले से विद्यमान है अन्यथा किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो जायेगा। इस कार्य-कारण सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान की वैधता एवं अवैधता कार्यरूप होने के कारण उस ज्ञान अर्थात् अपने कारण में ही निहित होनी चाहिये। अतः ज्ञान की वैधता एवं अवैधता स्वतः प्रकाशवान है।

सांख्यों के उपर्युक्त सिद्धान्त के विरुद्ध नैयायिकों का कहना है कि कारणता के जिस सिद्धान्त पर ज्ञान की वैधता एवं अवैधता का सिद्धान्त आधरित है, वह कारणता का सिद्धान्त ही असिद्ध है। यदि कार्य कारण में अपनी उत्पत्ति से पहले ही विद्यमान है तो कारणता का अर्थ ही क्या है।[८] कारणता का तात्पर्य है कारण से नये कार्य की उत्पत्ति। और नैयायिक यह भी कहते हैं कि यह कथन 'वैधता एवं अवैधता ज्ञान में ही निहित है' स्वयं में व्याघातपूर्ण है। एक ही वस्तु में दो विरोधी गुण नहीं रह सकते।

व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी सांख्य-मत सही नहीं है। यदि ज्ञान की वैधता स्वतः प्रकाशवान है तो तत्सम्बन्धित क्रिया असफल नहीं होनी चाहिये। इसी प्रकार यदि ज्ञान की अवैधता स्वप्रकाशवान है तो कोई क्रिया होनी ही नहीं चाहिये। उदाहरण के लिए रज्जु में सर्प का ज्ञान या तो वैध है अथवा अवैध। यदि वैध है तो ठीक से प्रत्यक्ष करने पर उसे खंडित नहीं होना चाहिये और यदि अवैध है तो उस ज्ञान के प्राप्त होने पर हमें डरना नहीं चाहिये। जीवन में उपर्युक्त सभी प्रकार के अनुभव होते हैं, अतः ज्ञान की वैधता एवं अवैधता को ज्ञान में ही निहित नहीं माना जा सकता है और न उन्हें स्वतः प्रकाशवान कहा जा सकता है।

यद्यपि नैयायिक प्रायः अन्य सभी सिद्धान्तों की आलोचना करते हैं, किन्तु उनके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि उनका अनुव्यवसाय सिद्धान्त, जिस पर उनका

परप्रकाशवाद आधारित है, तर्कसंगत नहीं मालूम पड़ता क्योंकि इस बात को मान लेने पर भी कि एक ज्ञान का दूसरे अनुगामी ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष होता है, यह प्रश्न तुरन्त उपस्थित हो जाता है कि फिर द्वितीय ज्ञान अर्थात् अनुव्यवसाय का उद्भव क्या उस समय होता है जबकि प्रथम ज्ञान अर्थात् व्यवसाय अभी अस्तित्व में है या कि उस समय जबकि व्यवसाय विनष्ट हो चुका है? पहला विकल्प संभव नहीं है क्योंकि न्याय-वैशेषिक के अनुसार ज्ञान एक साथ न होकर क्रमानुगत होते हैं। दूसरा विकल्प भी असंभव है क्योंकि यदि अनुव्यवसाय की उत्पत्ति उस समय होती है जबकि व्यवसाय नष्ट हो चुका है, तो फिर अनुव्यवसाय द्वारा ज्ञान किसका होगा? यदि यह अनअस्तित्ववान व्यवसाय का प्रत्यक्ष करता है, तो यह प्रत्यक्ष यथार्थ न होकर भ्रमात्मक ही है। यदि यह कहा जाय कि अनुव्यवसाय ठीक उसी समय अस्तित्व में आता है जिस समय कि व्यवसाय विनष्ट होता है और इस प्रकार प्रथम ज्ञान का प्रत्यक्ष द्वितीय ज्ञान से हो जाता है, तो यह भी उचित नहीं है क्योंकि ऐसी अवस्था में ज्ञान को ज्ञानान्तरवैद्य मानने से अनावस्था दोष उत्पन्न हो जाता है। जब तक एक भी ज्ञान स्वयं-संवेदी नहीं माना जाता, तब तक पूर्व-पूर्व ज्ञानों का बोध करने के लिए उत्तर-उत्तर ज्ञानों की कल्पना करनी ही होगी क्योंकि जो भी ज्ञान अज्ञात रहेगा, वह स्व-पूर्व ज्ञान का वेदक नहीं हो सकता और इस प्रकार प्रथम ज्ञान के अज्ञात रहने पर उसके विषय का बोध नहीं हो सकेगा। एक ज्ञान के जानने में ही जब इस प्रकार अनेक ज्ञानों का प्रवाह चलता रहेगा, तो फिर ज्ञान की विषयान्तर में प्रवृत्ति होने का कोई प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता।[९] अतः यह स्वविरोधी स्थिति बिना अपना हल पाये ही शेष बनी रहती है। वस्तुतः इस प्रकार की मान्यता से सम्पूर्ण ज्ञान की संभावना ही असिद्ध हो जाती है, क्योंकि इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रथम ज्ञान में विश्वास करने का कोई कारण शेष नहीं रह जाता। यद्यपि यह दैनिक अनुभव की बात है कि ज्ञान होने के तथ्य में कोई सन्देह नहीं प्रकट करता। साथ ही एक प्रकार से देखा जाय तो न्याय-वैशेषिक में भी ज्ञान के स्वप्रकाशत्व के स्वभाव को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया गया है, क्योंकि वहाँ यदि व्यवसाय को नहीं, तो कम से कम अनुव्यवसाय को तो स्व-ज्ञेय माना ही गया है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि नैयायिकों का प्रवृत्ति-सामर्थ्य का सिद्धान्त बौद्धों के अर्थक्रियाकरित्व के समान प्रतीत होता है। बौद्ध दार्शनिक किसी वस्तु का अस्तित्व उसकी कार्य करने की क्षमता से ही निश्चित करते हैं। यदि इस लोटे में रखे जल से प्यास बुझती है तो वह जल है अन्यथा नहीं। किन्तु बौद्धों के अनुसार उपयोगी ज्ञान ही वैध है जबकि नैयायिक ज्ञान की सत्यता के लिए संवादित्व एवं उपयोगिता दोनों को आवश्यक मानते हैं। नैयायिकों के लिए सत्य ज्ञान वस्तुगत प्रमाणीकरण एवं आत्मगत उपयोगिता पर निर्भर करता है।[१०]

## वेदान्तियों का स्वतः प्रामाण्यवाद

स्वतः प्रामाण्यवादी ज्ञान को स्व-प्रकाश मानते हैं। इन स्व-प्रकाशवादियों ने यह प्रतिपादित किया है कि ज्ञान प्रदीप या सूर्य की भाँति है जो स्व-प्रकाशन की एक ही क्रिया द्वारा स्वयं तथा अन्य पदार्थों अर्थात् दोनों को एक साथ ही उद्घाटित करता है और जो स्व-प्रकाश के इस संदर्भ में किसी भी अन्य प्रकाश से स्वतंत्र है। यह सोचना अविवेकपूर्ण है कि कोई भी प्राकृतिक प्रकाश जो अन्य विषयों को प्रकाशित करता है, स्वयं अप्रकाशित रहता है और अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा करता है। अतः स्व-प्रकाशत्व का विकल्प पर-प्रकाशत्व न होकर अप्रकाशत्व है। वस्तुतः चयन स्व-प्रकाशत्व एवं पर-प्रकाशत्व के मध्य न होकर स्व-प्रकाशत्व और जड़त्व के मध्य है। जो स्व-प्रकाश नहीं है, वह प्रकाशी भी नहीं है। अतः ज्ञान को स्व-प्रकाशी न मानने पर वह भी किसी अचेतन या जड़ वस्तु के समान हो जायेगा और फिर उसकी व्याख्या ही नहीं हो सकेगी। इसीलिए वेदान्त परिभाषा के रचयिता ने कहा है कि 'सभी प्रमाज्ञानों में प्रमात्व स्वयं उत्पन्न होता है और स्वयं जाना भी जाता है।'[११] अद्वैत-वेदान्तिओं के अनुसार जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न हुआ है, उसी सामग्री से उस ज्ञान में प्रमात्व भी उत्पन्न होता है और स्वयं से जाना भी जाता है। प्रमात्व की उत्पत्ति में अन्य सामग्री अपेक्षित नहीं है।

श्री रामानुज का मत अद्वैत-वेदान्तिओं से कुछ भिन्न है। वे मानते हैं कि ज्ञान कभी स्व-प्रकाशी होता है और कभी नहीं होता।[१२] किन्तु ऐसा मानने से उनका सिद्धान्त तर्कसंगत नहीं रह जाता। यह कथन कि ज्ञान कुछ परिस्थितियों में स्व-प्रकाशी नहीं होता है, वस्तुतः स्वप्रकाशत्व के पक्ष को पूर्णतया छोड़ देना है क्योंकि कोई भी वस्तु उस गुण या धर्म को ग्रहण नहीं कर सकती जो कि स्वरूपतः अपना न हो और न उस धर्म अर्थात् स्वरूप को छोड़ सकती है जो उसका अपना होता है। यह तर्क देना कि ज्ञान अपने आपको कुछ निश्चित अवस्थाओं और विशेष कालों में प्रकाशित करता है, या तो ज्ञान एवं उसके रूपान्तरों के मध्य के भेद को छोड़ देना है या फिर 'ज्ञान' पद का अत्यन्त शिथिल एवं अनिर्धरित रूप में प्रयोग करना है। साथ ही स्व-प्रकाशत्व को कुछ समय के लिए स्वीकार करना तथा नित्य रूप से अस्वीकृत करना इसलिए भी युक्ति-युक्त नहीं है कि यदि ज्ञान केवल वर्तमान क्षण में ही प्रकाशित होता है तथा किसी भी अन्य विषय की भांति अपना विषय बन सकता है, तो उसे वस्तुतः उस विषय से स्वरूपतः भिन्न नहीं कहा जा सकता जो अचेतन अथवा जड़ है।

अद्वैत-वेदान्तिओं के अनुसार ज्ञान, चाहे वह शब्द हो, अनुमिति अथवा प्रत्यक्ष,

एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका लक्ष्य सत्यता पर पहुँचना है। और यह सत्यता ज्ञान से बाह्य न होकर उसकी स्वरूपगत विशेषता है। यदि कोई ज्ञान किसी समय सत्यता को उद्घाटित नहीं करता तो इसका तात्पर्य यह है कि उस ज्ञान में बाधक विद्यमान है। इस प्रकार ज्ञान की असत्यता बाह्य निर्धारित है। ज्ञान की असत्यता उन दशाओं की उपज है जो सत्यता के मार्ग में बाधा बनती है। ये दशायें पूर्णतया बाह्य हैं। ज्ञान की सत्यता ज्ञान को निर्धारित करने वाली दशाओं से ही उत्पन्न होंती है। ज्ञान की सत्यता को निर्धारित करने वाली बाह्य दशा केवल एक है - ज्ञान की अवरोधक दशा की अनुपस्थिति। किन्तु यह एक निषेधात्मक दशा है। अतः ज्ञान की सत्यता के निर्धारण में कोई बाह्य विधायक दशा कार्य नहीं करती।[१३]

अद्वैत-वेदान्ती इस तथ्य पर बल देते हैं कि स्वयं ज्ञान में उसकी सत्य की कसौटी निहित है। यह अन्तर निरीक्षण द्वारा जानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त उन व्यक्तियों का व्यवहार जो ज्ञान होते ही उसकी सत्यता की परख की अपेक्षा न रख कर कार्यरत हो जाते हैं, अनुमान इत्याद साधनों से ज्ञान की सत्यता का निर्धारण करने का लेशमात्र भी प्रयत्न नहीं करते। इन बाह्य साधनों से संदेह अथवा असत्यता का निर्धारण भले ही होता हो, किन्तु सत्यता सदैव ज्ञान में ही निहित रहती है।

अद्वैत-वेदान्तिओं के इस स्वतः प्रामाण्यवाद के विरुद्ध नैयायिकों की एक आपत्ति यह है कि ज्ञान के स्व-प्रकाशन का सिद्धान्त ज्ञान के विषय और विषयी को एक ही बना डालती है। किन्तु एक ही वस्तु विषय और विषयी दोनों नहीं हो सकती। इस आपत्ति के विरुद्ध अद्वैत-वेदान्ती कहते हैं कि विषय और विषयी के मध्य इस प्रकार की कोई असंगति होती ही नहीं क्योंकि विषयी और विषय यदि तात्त्विक रूप से नितान्त भिन्न वस्तुयें होतीं, तो न तो स्वचेतना सम्भव हो सकती थी और न ज्ञान ही किसी अन्य प्रकार से संभव हो सकता था।[१४] अद्वैत-वेदान्ती इस उपपत्ति का समर्थक नहीं है कि एक ही वस्तु विषय और विषयी दोनों बन जाती हैं। उनके अनुसार स्वप्रकाशित होने का तात्पर्य एक विषय की भांति प्रकाशित होना कदाचित नहीं है।

वेदान्त परिभाषाकार[१५] ने माना है कि प्रमात्व का आश्रय प्रमा है। प्रमा का ज्ञान जिन सामग्रियों द्वारा होता है, उन्हीं सामग्रियों से तद्गत प्रमात्व का भी ज्ञान होता है। प्रमात्व का आश्रय वृत्तिज्ञान है, जिसका ग्रहण साक्षी द्वारा होता है। 'यह ज्ञान प्रमारूप है, भ्रमरूप नहीं' ऐसा ज्ञान भी साक्षी से ही गृहीत होता है। यदि पीछे से कोई दोष मालूम पड़ता है तो उसमें अप्रमात्व का ग्रहण माना जायेगा। इससे ज्ञान के प्रमात्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

दार्शनिकों के एक वर्ग विशेष में यह भ्रान्त धारणा सामान्य रूप से प्रचलित रही है कि ज्ञान के इस स्वतः प्रकाशत्व का सिद्धान्त वस्तु जगत् की विषयनिष्ठता को

समाप्त कर देता है, किन्तु यह वस्तुस्थिति को उलटे रूप से ग्रहण करना है। इसके ठीक विपरीत ज्ञान के स्वतः प्रकाशत्व का सिद्धान्त वस्तु जगत् की विषयनिष्ठता को समाप्त कर देता है, किन्तु यह वस्तुस्थिति को उलटे रूप से ग्रहण करना है। इसके ठीक विपरीत ज्ञान के स्वतः प्रकाशत्व का सिद्धान्त ज्ञान के विषय की विषयनिष्ठता की पूर्ण बाह्यता के विश्वास के अनुरूप है। इसके लिए ज्वलंत उदाहरण शंकराचार्य हैं। शंकर ने ज्ञान के स्वप्रकाशत्व सिद्धान्त एवं ज्ञान के विषय की विषयनिष्ठता दोनों को, विज्ञानवाद के अपने विरोध[१६] में तनिक भी शिथिल हुये बिना, मान्यता प्रदान की। इस कथन, कि ज्ञान का ग्रहण अपरोक्ष रूप से एवं ज्ञात विषय के साथ-साथ होता है, का यह अर्थ कदापि नहीं है कि ज्ञान और उसका अतिरिक्त मानसिक आधार या विषय दोनों एक और तादात्म्यक हैं। वस्तुतः ज्ञान के स्वतः ज्ञेयत्व या स्वप्रकाशत्व के ज्ञानमीमांसीय सिद्धान्त का सत्ता के संबंध में प्रतिपादित मानसिक अहंवाद के तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्त से किसी भी रूप में तादात्म्य नहीं हो सकता।

अद्वैत-वेदान्तिओं के स्वतः प्रकाशत्व के सिद्धान्त के विरोध में यह कहा जा सकता है कि यदि ज्ञान स्वतः प्रकाशवान है तो ज्ञान होने पर हम सदैव निश्चयात्मक कथन क्यों नहीं करते? किसी वस्तु का ज्ञान होने पर जब हम उसका कथन करते हैं तो प्रायः 'संभवतः', 'यदि', 'लेकिन' एवं 'लगभग' इत्यादि शब्दों का प्रयोग क्यों करते हैं? हम उस वस्तु के विषय में निश्चयात्मक कथन नहीं करते। यह कहने की अपेक्षा कि 'मैं उस वस्तु को जानता हूँ' यह कहते हैं कि 'संभवतः मैं उस वस्तु को जानता हूँ।'

इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के विभिन्न कथन उसके अनुभव की व्याख्यायें मात्र होते हैं और ये व्याख्यायें देश, काल तथा परिस्थिति के अनुरूप होती हैं। ज्ञान के स्वप्रकाशवान होने पर भी, मनुष्य हर परिस्थिति में निश्चयात्मक कथन नहीं करता। यदि परिस्थिति निश्चयात्मक कथन की मांग करती है तो उस प्रकार का कथन भी होता है। प्रत्येक परिस्थिति में निश्चयात्मक कथन न होने का तात्पर्य यह नहीं है कि ज्ञान स्वप्रकाशवान नहीं है।

तब प्रश्न यह है कि ज्ञान के स्वप्रकाशवान होने का तात्पर्य क्या है? क्या हमें ज्ञान की चेतना उसी प्रकार होती है जैसे वस्तु की? अद्वैत-वेदान्तिओं के अनुसार ज्ञान की चेतना एवं वस्तु की चेतना में भेद है। वस्तु ज्ञात हो सकती है अथवा अज्ञात, किन्तु 'ज्ञान' को अज्ञात कहना व्याघातपूर्ण है।[१७] वस्तु ज्ञान द्वारा प्रकाशित होती है किन्तु ज्ञान स्वप्रकाशवान है। ज्ञान प्रकाश के समान है, जो वस्तु एवं स्वयं दोनों को प्रकाशित करता है। जिस प्रकार हम यह नहीं कह सकते कि प्रकाश को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता है, उसी प्रकार यह भी नहीं कह सकते कि ज्ञान किसी अन्य ज्ञान द्वारा जाना जाता है।[१८]

स्वतः प्रामाण्यवाद के संबंध में मीमांसकों के विचारों की संक्षिप्त विवेचना अप्रसांगिक न होगी। मीमांसक एवं अद्वैत-वेदान्ती दोनों स्वतः प्रामाण्यवाद को स्वीकार करते हैं किन्तु इन दोनों संप्रदायों में कुछ मतभेद भी हैं। मीमांसा दर्शन के अन्तर्गत दो मुख्य सम्प्रदाय हैं - प्रभाकर मिश्र सम्प्रदाय एवं कुमारिल भट्ट सम्प्रदाय। इन दोनों सम्प्रदायों के विचारों की संक्षिप्त विवेचना करना उचित है।

प्रभाकर मानते हैं कि संवित (ज्ञान) स्वयं प्रकाश है और संवित के स्वयं प्रकाश होने से संवित को उत्पन्न करने वाली सामग्री ही उसमें निहित प्रमात्व को ग्रहण करती है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है, वही सामग्री उस ज्ञान में रहने वाले प्रामाण्य का भी ज्ञान कराती है। अतः प्रभाकर मानते हैं कि ज्ञान के प्रामाण्य को सिद्ध करने के लिए किसी बाह्य सामग्री की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार प्रभाकर स्वतः प्रामाण्यवादी है। किन्तु इनकी एक अन्य मान्यता अटपटी प्रतीत होती है। इन्होंने केवल ज्ञान को ही स्व-प्रकाश माना है, आत्मा को नहीं। यह निश्चय ही एक असाधारण धारणा है कि ज्ञान को, जिसे आत्मा का एक गुण माना गया है, स्वप्रकाश माना जाय, जबकि आत्मा को इसके रिक्त तथा स्वयं की ही अभिव्यक्ति के लिए अपने ही गुण पर निर्भर प्रस्तावित किया जाय। ऐसा लगता है कि द्रव्य और गुण के मध्य सही सम्बन्ध के विश्लेषण पर विचार न करने से ही ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई है।

कुमारिल भट्ट के अनुसार जब हमें 'व्यय घटः' का ज्ञान है तो घट विषय में 'ज्ञातता' उत्पन्न हो जाती है। ऐसी ज्ञातता ही घट ज्ञान में रहने वाले प्रामाण्य की अनुमिति में सामग्री बनती है। अर्थात् 'ज्ञातता' रूप लिंग से घट ज्ञान में प्रामाण्य का निश्चय होता है।[१९] कुमारिल 'ज्ञातता' को विषयगत धर्म मानते हैं। यह 'ज्ञातता' ज्ञान होने के पश्चात् ज्ञान से ही उत्पन्न होती है। श्री भट्ट इसको एक विशेष पदार्थ मानते हैं। अतः 'ज्ञातता' के द्वारा ज्ञान में प्रामाण्य का ग्रहण मानने के कारण यह सम्प्रदाय भी स्वतः प्रामाण्यवादी के रूप में जाना जाता है।

भाट्टमीमांसकों के इस 'ज्ञातता' सिद्धान्त की बड़ी कटु आलोचना हुई है। श्रीधर का कथन है कि ज्ञान का विषय होने के लक्षण के अतिरिक्त 'ज्ञातता' और कुछ नहीं है। विषय-ज्ञान-वाद की परिभाषा करना कठिन है। यदि इसका यह अर्थ लिया जाय कि विषय से ज्ञान उत्पन्न होता है, तो ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्य अवस्थाओं को भी, जो ज्ञान को उत्पन्न करती हैं, विषय मानना होगा। फिर, यह संभव नहीं है कि किसी विषय में उस समय कोई धर्म उत्पन्न हो सके जबकि विषय विद्यमान नहीं है। ज्ञातता विषयों का एक धर्म है, यद्यपि इसे भूत और भविष्य के विषयों में उत्पन्न नहीं किया जा सकता, जिनका कि ज्ञान होता है। इस प्रकार का तर्क कि विषय ज्ञातता रूपी नये धर्म को ज्ञान उत्पन्न होने के बाद ग्रहण कर लेता है, जैसे कि पाक क्रिया चावल के

अन्दर पक्वता का धर्म उत्पन्न कर देती है, टिक नहीं सकता, क्योंकि हम पक्वता को चावल के अन्दर, जो तण्डुल (कच्चे चावल) से ओदन (पके हुए चावल) के रूप में परिवर्तित हुआ है, स्पष्ट अनुभव करते हैं। किन्तु विषय के अन्दर इस ज्ञातता रूपी धर्म का अनुभव नहीं होता। साथ ही जब किसी विषय का ज्ञान होता है तो कहा जाता है कि उसके अन्दर एक विशिष्ट धर्म, जिसे 'ज्ञातता' कहते हैं, उत्पन्न होता है। और इस प्रकार जब इस 'ज्ञातता' का ज्ञान हो गया तो उसके अन्दर एक और 'ज्ञातता' उत्पन्न होगी, और इस प्रकार इस क्रम का कहीं अन्त नहीं होगा अर्थात् अनवस्था दोष बना रहेगा। इस अनवस्था दोष से बचने के लिए 'ज्ञातता' को स्वप्रकाश मानना ही पड़ेगा। और यदि 'ज्ञातता' को ही स्वप्रकाश मानना है तो फिर ज्ञान को ही स्वप्रकाश क्यों न मान लिया जाय।[२०]

यह युक्ति दी जाती है कि विषय का अस्तित्व भूत, वर्तमान और भविष्य तक रहता है, किन्तु इसके अस्तित्व का वर्तमान से संबंध-रूप में बोध होता है। ज्ञातता विषय की वह अवस्था है जो वर्तमान से निर्णीत होती है, और इस लिंग को धारण करने से ही हम ज्ञान का अनुमान करते हैं। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि वर्तमान से निर्णीत होने का सम्बन्ध विषय से है और वह ज्ञान से उत्पन्न नहीं होता, बल्कि जाना भर जाता है। यदि यह तर्क दिया जाय कि ज्ञान का अनुमान विषयों के ज्ञान या संवेदन से होता है[२१] तो पूछा जा सकता है कि ज्ञान समवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहता है अथवा विषय में? विषय में यह रह नहीं सकता क्योंकि वह अचेतन अथवा जड़ है। यदि यह आत्मा में रहता है तो फिर ज्ञान उससे भिन्न कौन-सी वस्तु है, जिसका अनुमान विषयों के ज्ञान या संवेदन से होता है। यदि यह कहा जाय कि विषयों के ज्ञान या सवंदेन से जिसका अनुमान होता है, वह ज्ञाता की क्रिया (ज्ञात व्यापार) के रूप में इसका कारण है, तो हम पूछ सकते हैं कि यह कारण नित्य है अथवा अनित्य? यदि अनित्य है तो उसका कारण क्या है। यदि यह मन के आत्मा के साथ सम्पर्क में सहायक होता है, तो क्यों न इन सबको ज्ञान का कारण मान लिया जाय। आत्मा की क्रियाशीलता के रूप में एक मध्यस्थ कारण की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि यह मान लिया जाय कि यह क्रिया नित्य है, और ज्ञानों का कभी-कभी प्रकट होना सहायक कारणों के नाते है, तो क्योंकि ये ज्ञान को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त है, इसलिए आत्मा की क्रिया की कल्पना करना आवश्यक है।[२२] इस प्रकार भाट्ट मीमांसकों ने 'ज्ञातता' की परिकल्पना में गाड़ी को घोड़े के आगे रखने की भूल की है। उनके तर्क में उत्तर को पूर्व में रखने का हेत्वाभास निहित है क्योंकि 'ज्ञातता' को ज्ञान का कारण नहीं कार्य होना चाहिए।[२३]

प्रभाचन्द्र प्रश्न करते हैं कि यह 'ज्ञातता' अर्थ का धर्म है अथवा ज्ञान का धर्म है? यह अर्थ-धर्म नहीं हो सकती। यह केवल ज्ञान के समय को छोड़ कर अन्य किसी

समय में अर्थ (विषय) के अन्दर नहीं रहती और यह 'ज्ञातता' आत्मा की निजी निधि के रूप में प्रतीत भी होती है। यह ज्ञान-धर्म भी नहीं हो सकती, क्योंकि वह ज्ञान जिसका इसे धर्म माना जाय, भाट्ट मीमांसकों के मत से प्रत्यक्ष योग्य नहीं है। जो प्रत्यय योग्य नहीं है, वह ज्ञानों का अधिष्ठान नहीं हो सकता। दूसरी ओर यदि 'ज्ञातता', जो ज्ञान स्वभाव की है, प्रत्यक्ष योग्य है तो ज्ञान को भी प्रत्यक्ष योग्य मानना होगा। यदि ज्ञातता अर्थ स्वभाव है तो इसका तात्पर्य केवल विषय की अभिव्यक्ति (अर्थ प्राकट्य) है। विषय अभिव्यक्त नहीं हो सकता, यदि ज्ञान जिससे विषय व्यक्त होता है, अपने आप में अनभिव्यक्त है।[२४]

भाट्ट मीमांसकों के इस मत कि यदि ज्ञान को प्रत्यक्ष योग्य माना जाय तो इसे भी एक विषय मानना होगा, इसे जानने के लिए एक अन्य की आवश्यकता होगी और इस प्रकार इस क्रम का कहीं अन्त न होने से अनवस्था दोष आ जायेगा, का खण्डन करते हुये प्रभाचन्द्र ने कहा है कि प्रमाता, प्रमाण और प्रमिति, प्रमेय (विषय) के समान ही प्रत्यक्ष योग्य है। यह आवश्यक नहीं है कि जिसे प्रत्यक्ष किया है, वह सदैव प्रत्यक्ष के विषय के रूप में होता है, ज्ञान के विषय के रूप में नहीं। इसीलिए ज्ञान का प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष के साधन के रूप में भी हो सकता है। जब भाट्ट मीमांसक आत्मा की प्रत्यक्ष योग्यता को मान लेते हैं, जो मात्र ज्ञान कर्त्ता है, तो वे जान की प्रत्यक्ष योग्यता को भी स्वीकार कर सकते हैं जो प्रमेय (विषय) की अभिव्यक्ति का साधन है। यदि आत्मा प्रत्यक्ष योग्य है तो यह बाह्य विषय को स्वयं ज्ञान सकती है। यदि यह कहा जाय कि कर्ता साधन के बिना कर्म नहीं कर सकता, तो आभ्यन्तर और बाह्य इन्द्रियाँ ज्ञान के साधन बन सकती हैं। इसके अतिरिक्त यदि साधन के बिना कोई क्रिया संभव नहीं, तो आत्मा के स्वतःज्ञान में कौन सा साधन है? यदि आत्मा के ज्ञान में आत्मा साधन है, तो यह पदार्थों के ज्ञान में भी साधन का कार्य कर सकती है। यदि यह स्वीकार कर लिया गया कि आत्मा और प्रमिति (फलज्ञान) का प्रत्यक्ष होता है, यद्यपि वे चेतना में ज्ञान के विषय के रूप में प्रकट नहीं होते, तो यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि ज्ञान के साधन का भी ज्ञान के विषय के रूप में नहीं बल्कि साधन के रूप में प्रत्यक्ष होता है। फिर साधन रूप ज्ञान (कारण ज्ञान) कर्त्ता तथा फलज्ञान से सर्वथा भिन्न नहीं है, और इसलिए यदि अन्य दो प्रत्यक्ष योग्य हैं तो यह प्रत्यक्ष के अयोगय नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, आत्मा और ज्ञान, जिसके द्वारा आत्मा पदार्थ को जानती है, हमारे अनुभव में साक्षात् प्रकट होते हैं और इसलिए वे चेतना के विषय माने जाने चाहिए (प्रतीयमानत्वं हि ग्राह्यत्वं तदेव कर्मत्वम्)। जो कुछ चेतना में प्रकट होता है वह उसका विषय है। 'मैं घड़े को जानता हूँ' इस ज्ञान में विषयी अपने विषय में सचेत है कि वह घड़े के ज्ञान से युक्त है। विषयी का घट-सम्बन्धी ज्ञान उतना ही प्रत्यक्ष का विषय है, जितना कि आत्मा और घट। जिस प्रकार किसी विषय

के प्रत्यक्ष का निषेध नहीं हो सकता, उसी प्रकार उसके ज्ञान के प्रत्यक्ष का भी निषेध नहीं हो सकता। यदि घट के ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है तो स्वयं घट का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इस प्रकार यदि ज्ञानोत्पादक क्रिया प्रत्यक्ष के अयोग्य है तो यह किसी प्रमाण द्वारा भी यथार्थ सिद्ध नहीं की जा सकती।[२५]

इसी प्रकार उदयनाचार्य,[२६] केशवमिश्र,[२७] शिवादित्य,[२८] वरदराज,[२९] वेंकटनाथ,[३०] वेदान्तदेशिक[३१] और भास्कराचार्य[३२] आदि ने भी ज्ञातता की प्राक्कल्पना का खण्डन करके भाट्ट मीमांसकों के 'ज्ञाततानुमेयंज्ञानम्' सिद्धान्त को निरर्थक बतलाया है।

यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या कोई ज्ञान की स्वतः प्रामाणिकता के सिद्धान्त को मानते हुये भी, विवेकपूर्ण रीति से ज्ञान की स्वप्रकाशता या स्व-ज्ञेयता के सिद्धान्त को अस्वीकृत कर सकता है? यदि थोड़ा सा ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों ही सिद्धान्त एक दूसरे के पूरक हैं। यह कहना कि ज्ञान स्वतः प्रमाणिक है, वस्तुतः यही कहना है कि वह स्वप्रकाशी है। अतः स्वतः प्रमाणत्व का अर्थ स्वतोजेयत्व ही है। जिस प्रकार जब किसी व्यक्ति को किसी विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तब वह सन्देह नहीं करता कि क्या उसे उस विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ है, उसी प्रकार जब कोई व्यक्ति कुछ जानता है तो वह यह सन्देह भी नहीं करता कि क्या उसने वस्तुतः कुछ जाना भी है। इसका कारण यह है कि दोनों ही अवस्थाओं में ज्ञान अपनी अभिव्यक्ति को स्वतः अपने साथ लेकर चलता है। ज्ञान यदि स्वप्रकाशी न हो और अपने बोध के लिए उसे किसी अन्य परिस्थितियों पर निर्भर रहना पड़े तो उसकी स्वतः प्रामाणिकता को भी साक्षात् एवं अपरोक्ष रूप से स्थापित नहीं किया जा सकता। वस्तुतः यदि स्वतः प्रमाणत्व एवं स्वतः प्रकाशत्व की धारणाओं में कोई भेद करना ही है, तो केवल यही कहा जा सकता है कि ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य ज्ञान की स्वतः ज्ञेयता को पूर्व मान्यता प्रदान करता है। जो स्वतः ज्ञेय नहीं है, वह स्वतः प्रामाण्य भी नहीं हो सकता क्योंकि जो अपने ज्ञेयत्व के लिए पश्चात् ज्ञानों और अनुमानों पर निर्भर है, वह स्वयं अपनी प्रामाणिकता का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं ले सकता।

निष्कर्ष यह है कि ज्ञान-विषयक वह मत अधिक तर्कसंगत एवं संतोषजनक है जिसमें यह माना जाता है कि ज्ञान उत्पन्न होने के साथ ही स्वतः ज्ञात हो जाता है। ज्ञान न तो किसी उत्तरवर्ती मानसिक प्रत्यक्ष या अनुव्यवसाय द्वारा ज्ञात होता है, जैसा कि न्याय वैशेषिक में माना गया है और नये अनुमान द्वारा ही ज्ञेय बनता हैं, जैसा कि भाट्ट मीमांसक प्रतिपादित करते है। ज्ञान और उसके ज्ञान के मध्य कोई मानसिक क्रिया नहीं होती। अज्ञात ज्ञान किसी विषय को अभिव्यक्त नहीं कर सकता और जब अनवस्था दोष से बचने के लिए ज्ञान को किसी अन्तर्वर्ती अवस्था पर स्वतः प्रकाश मानना ही पड़ता है, तो प्रथम अवस्था में ही उसे स्वतः प्रकाश मान लेने में कोई दोष

नहीं है। ज्ञान को स्व-प्रकाशत्व के स्तर से केवल पर-प्रकाशत्व के स्तर पर लाना, वस्तुतः ज्ञान को असंभव बनाना है। साथ ही, ज्ञान यदि स्व-प्रकाश न हो तो साक्षात् या अपरोक्ष ज्ञान की कोई संभावना नहीं हो सकती और सारा ज्ञान इस अर्थ में सदैव के लिए परोक्ष होने के लिए बाध्य हो जायेगा कि उसे स्वज्ञान के लिए हमेशा ही अन्य उपकरणों पर आधारित होना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में निरपेक्ष या पूर्ण ज्ञात की संभावना का सदैव के लिए निषेध हो जायेगा।

## संदर्भ-सूची

१. प्रवृत्तिसंवाद ज्ञानजनमना प्रामाण्यनिश्चयः तस्मात परतः प्रमाण्यम्, न्याय-मंजरी, पृष्ठ १७४।
२. Indian Theory of Knowledge, By C.D. Bijalwan, p. 56.
३. Ibid, p. 57.
४. Nyaya Theory of Knowledge, By S.C. Chatterji, p. 83.
५. न्याय-मंजरी, पृष्ठ १७३।
६. सांख्य-कारिका, ११।
७. Nyaya Theory of Knowledge, p. 86.
८. Ibid.
९. न्यायविनिश्चय, पृष्ठ ३२।
१०. Indian Theory of Knowledge, By C.D. Bijalwal, p. 56.
११. एवमुक्तानां प्रमाणानां प्रमाण्यम्-स्वतः एवोत्पद्यते ज्ञायते च। वेदान्त-परिभाषा, पृष्ठ ३२२।
१२. श्रीभाष्य, १/१/१।
१३. The Six Ways of Knowing by D.M. Datta, p. 334.
१४. खण्डन-खण्ड-खाद्य, पृष्ठ ६२।
१५. वेदान्त-परिभाषा, पृष्ठ ३३०।
१६. देखिये शारीरिक भाष्य, तर्कपाद, विज्ञानवाद की आलोचना।
१७. The Six Ways of Knowing by D.M. Datta, p. 137.
१८. वहीं।
१९. वेदान्त-परिभाषा, व्याख्याकार, विद्यानन्दजिज्ञासु, पृष्ठ ३२४।
२०. न्यायकन्दली (प्रशस्तपादभाष्य सहित), पृष्ठ २३३।
२१. वहीं, पृष्ठ २३४।
२२. न्यायकंदली (प्रशस्तपाद भाष्य सहित, बनारस संस्कृत विश्वविद्यालय १९६३) पृष्ठ २३२-३५।
२३. वहीं, पृष्ठ २३२।
२४. प्रमेयकमलमार्तण्ड, (जावा जी एडीसन, बम्बई, १९१२) पृष्ठ ३१, ३२।

२५. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृष्ठ ३१, ३२।
२६. न्यायकुसुमांजलि (चौखम्भा, १६६२) पृष्ठ १५८-६३।
२७. तर्कभाषा (मोतीखाल बनारसीदास, वाराणसी, १६६८), पृष्ठ १८७-१६५।
२८. सप्तपदार्थी (विजयानगरम् संस्कृत सीरीज, बनारस, १८६३) पृष्ठ ८०।
२६. तार्किकरक्षा (बनारस, १६०३), पृष्ठ ५२।
३०. तत्त्वमुक्ताकलाप (बनारस, १६००), पृष्ठ ३६४।
३१. न्यायसिद्धाज्जन (बनारस संस्कृत विश्वविद्यालय, १६६६) पृष्ठ ४८८-५०२।
३२. ब्रह्मसूत्र, भास्करभाष्य, पृष्ठ ६-७।

□□□

# अध्याय-७

# सत् सम्बन्धी विचार

## (क) परम तत्त्व

जगत् में हम वस्तुओं और व्यक्तियों का नानात्व देखते हैं और उसी के साथ कहीं-कहीं एकत्व भी दिखाई देता है। घट, सुराही, सकोरे आदि के मूल में एक मिट्टी विद्यमान है। कुर्सी, मेज, पलंग आदि का कारण एक लकड़ी है। कंकण, कंठा, पेमूर आदि में एक ही तत्त्व स्वर्ण स्पष्ट दिखाई देता है। नानात्व के बीच इस प्रकार घनत्व देखकर सहज ही प्रश्न उठता है कि इस प्रकार के कितने तत्त्व हैं, जिनसे जगत का नानात्व उत्पन्न हुआ है? यह प्रश्न विश्व के प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद में ही उठाया गया था। 'अद्धा वेद के इह प्रवोचत्'[१] आदि प्रश्न अनेक बार उपस्थित होते हैं और ऋषि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से किसी एक तत्त्व को खोजने का प्रयास करते हैं। पुरुष सूक्त में भी परम तत्त्व को एक पुरुष मानकर जगत् के नानात्व को उसके अंग-उपांग के रूप में कल्पित किया गया है।[२]

उपनिषदों के ऋषि परमतत्व के प्रश्न पर एकनिष्ठ होकर चिन्तन करने लगे :

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः<br>
केन प्राणाः प्रथमः प्रैति युक्तः।<br>
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति<br>
चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति।।[३]

अर्थात् किस से प्रेरित होकर मन कार्य करता है, प्राण का प्रथम संचालक कौन है, वाणी किस से प्रेरित होकर बोलती है और चक्षु तथा श्रोत्रों को कौन प्रवृत्त करता है? अन्य उपनिषदों में भी यह प्रश्न उपस्थित कर परमतत्त्व का अनुसंधान किया गया है, जैसे 'कतय एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म'[४] अर्थात् शाकल्य ने प्रश्न किया - 'एक देव कौन है?' और याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया - 'प्राण, वह ब्रह्म है।' छान्दोग्य उपनिषद में आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से वही प्रश्न इस प्रकार पूछा - 'येनाश्रम श्रुतं भक्तामतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति'[५] अर्थात् क्या तुमने वह आदेश पूछा, जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है और अविज्ञात विशेष रूप से ज्ञात हो जाता है? श्वेतकेतु इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका, तो उसके पिता ने स्वयं

मृत्तिका, स्वर्ण और लौह से बनी नाना रूप वस्तुओं का दृष्टान्त देकर 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'[६] कहा और सत् स्वरूपं एक परमतत्व का निरूपण किया।

कुछ उपनिषदों, जैसे ईशावास्य में यह प्रश्न स्पष्ट सुनाई नहीं देता किन्तु उपनिषद् की विषयवस्तु से ज्ञात होता है कि इस प्रश्न को ध्यान में रख कर ही परमसत् का निरूपण किया गया है।

उपनिषदों के ऋषियों ने परमतत्त्व का प्रश्न परम सत् से जोड़ रखा था। वे नानात्व को नाम रूप मात्र अर्थात् इन्द्रियगोचर प्रतीति मात्र मान कर मूल में एक ऐसे तत्त्व को देखते हैं जो नामरूप रहित है और उसमें नामरूप उत्पन्न करने की शक्ति है। उन्होंने ऐसे तत्त्व को सत् कह कर उससे उत्पन्न होने वाले नाम रूपों और नानात्व को निहितार्थ (इम्प्लीकेशन) से असत् मान लिया। यदि आभूषण में स्वर्ण ही सत् है और विकास वाणी पर अवलम्बित नाममात्र है तो वह असत् ही सिद्ध होता है।

स्वर्णाभूषणों और मृत्तिका-घट दृष्टान्तों से जिस सत्-असत् के विवेक का ज्ञान होता है, वह अविकारी और विकारी का ही भेद है। अविकारी ही नित्य और अव्यय है। इसके विपरीत विकारी, अनित्य और व्यय है। प्रथम सत् है और द्वितीय असत्। इस परिभाषा को सभी साधारण व्यक्ति मानते हैं, तभी तो वे रस्सी को सत् और उस पर भासित होने वाले सर्प को असत् घोषित करते हैं। सर्प तभी तक वैसा भासित होता है, जब तक हम उसे प्रकाश में नहीं देखते। प्रकाश में उसकी अनित्यता सिद्ध हो जाती है और हम उसे असत् घोषित कर देते हैं।

साधारण व्यक्ति सत् की इस परिभाषा को सीमित क्षेत्र में ही प्रयोग करता है। यदि वह समस्त जगत् और उसमें अपने शरीर-मन-बुद्धि को सम्मिलित कर सत् की इसी परिभाषा रूपी कसौटी पर कसे तो देखेगा कि सभी नामरूप विकार हैं, अतः अनित्य और व्यय हैं। वे सत् नहीं हैं। उनके मूल में विद्यमान एक तत्त्व अविकारी है। वही सत् है।

सत्य की यह अव्यक्त परिभाषा योगवासिष्ठ, विष्णुपुराण और गौड़पादकारिका आदि ग्रन्थों में व्यक्त रूप धारण कर लेती है। इन ग्रन्थों में यह परिभाषा शब्द-बद्धरूप में उपलब्ध होती है जैसे 'आदावन्ते च यन्नित्यं तत्सत्यं'[८] अर्थात् जो आदि और अन्त में नित्य है, वह सत्य है। 'यत्तु कालान्तरेणापि नान्यां संज्ञामुपैति'[९] अर्थात् जो कालान्तर में भी अन्य संज्ञा (नाम) नहीं प्राप्त करता (वह सत्य है); 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमाने पि तत्तथा'[१०] अर्थात् जो आदि और अन्त में नहीं है, वह वर्तमान में भी वैसा ही है।

सत्य की यह बहुश्रुत परिभाषा शंकर ने भी स्वीकार की। उनके अनुसार सत् और असत् का विभाग बुद्धि के अधीन है।[११] अतः अपनी बुद्धि के अनुसार ही

सत्-असत् का निर्णय करना चाहिए। सर्वत्र सत्-बुद्धि और असत्-बुद्धि ऐसी दो बुद्धियाँ उपलब्ध होती हैं। जिस पदार्थ को विषय करने वाली बुद्धि नष्ट नहीं होती, वह असत् है। सभी जगह समानाधिकारण में अर्थात् एक ही अधिष्ठान में सबको दो बुद्धियाँ उपलब्ध होती हैं। जैसे, घड़ा है, कपड़ा है, हाथी है, इस तरह सब जगह दो-दो बुद्धियाँ उपलब्ध होती हैं। इन दोनों बुद्धियों में से घटादि को विषय करने वाली बुद्धि नष्ट हो जाती है, परन्तु सत् बुद्धि नष्ट नहीं होती। अतः घटादि बुद्धि के विषय अर्थात् समान भासित होने वाले घटादि रूप असत् हैं, क्योंकि उनका विषय करने वाली बुद्धि का व्यभिचार हो जाता है, किन्तु उसकी सत् बुद्धि नष्ट नहीं होती। वह वस्त्रादि अन्य वस्तुओं में दिखाई देती है। यदि कहा जाय कि सत् बुद्धि की भाँति घट-बुद्धि भी तो दूसरे घट में दीखती है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वस्त्रादि में घट-बुद्धि नहीं देखी जाती है।

घट के नष्ट होने पर घट-बुद्धि नष्ट होती है, किन्तु यह न समझना चाहिए कि उसके साथ सत्-बुद्धि भी नष्ट हो गयी, क्योंकि वस्त्रादि में वह घट-बुद्धि विद्यमान रहती है। शंकर सत्-बुद्धि के नष्ट होने की भाँति का कारण बताते हुए कहते हैं कि 'विशेषण विषया एव सा सद्-बुद्धि'[१२] अर्थात् सत्-बुद्धि केवल विशेषण को ही विषय करने वाली है। यहाँ उदाहरण में घट विशेष्य है और अस्तित्व विशेषण है। जब घट-विशेष्य का अभाव हो गया, तो बिना विशेष्य के विशेषण की अनुपपत्ति होने पर बुद्धि में ऐसा प्रतीत होता है मानो सत्-बुद्धि भी नष्ट हो गयी। पर विशेष्य का अभाव होने से सत्-बुद्धि का अभाव नहीं होता। अतः शंकर का निर्णय है कि 'य द्विषयाबुद्धिः न व्यभिचरित तत् सत्'[१३] अर्थात् जिस पदार्थ को विषय करने वाली बुद्धि नष्ट नहीं होती, वह सत् है। 'सतोऽन्यत्वे अनृतत्वे'[१४] अर्थात् जो वस्तु सत् से अन्य है, वह असत् या अनृत है।

इसी सिद्धान्त के आधार पर शंकर 'परमार्थ' की भी परिभाषा देते हैं। 'एकरूपेण ह्यवस्थिता योऽर्थःस परमार्थः'[१५] अर्थात् जो पदार्थ जैसा है, उसी रूप में रहे तो वह परमार्थ है। इसके विपरीत 'न हि वस्तुवृत्तेन विकारों नाम कश्चिदस्ति'[१६] अर्थात् विकार नाम की कोई वस्तु यथार्थ रूप में नहीं है। 'विकारोऽनृतम्'[१७] विकार असत् है। विकार का यही लक्षण है कि उसका विषय करने वाली बुद्धि व्यभिचरित हो जाती है। 'अदृश्ये दृश्यं नाम द्रष्टव्यं विकारः'[१८] अर्थात् अदृश्य में देखे जाने वाले दृश्य विकार कहलाते हैं।

## (ख) निर्गुण ब्रह्म

नामरूपात्मक विकारों का निषेध करने पर जो अविकारी, शाश्वत्, नित्य वस्तु प्राप्त होती है, वही शंकर का सत् या परमार्थ है। इसका नाम है ब्रह्म।

परमतत्त्व को ब्रह्म करने का यह कारण है कि 'निरतिशयं भूमाख्यं बृहत्वाद्ब्रह्मेति विद्धि'[१९] अर्थात् अपने बृहत्व के कारण निरतिशय या भूमा ही ब्रह्म कहलाता है। 'बृहति बृहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति'[२०] अर्थात् बढ़ा हुआ है तथा बढ़ाता है, इसलिए परब्रह्म कहा जाता है।

ब्रह्म का स्वरूप निर्धारित करने के लिए शंकर उसके लक्षण बताते हैं और लक्षण तथा विशेषण के बीच भेद स्पष्ट करते हैं। 'समान जातीयेभ्य एवं निवर्तकानि विशेषणानि विशेस्यस्य'[२१] अर्थात् विशेषण अविशेष्य का उसके सजातीय पदार्थों से ही व्यावर्तन करने वाले होते हैं। 'लक्षणं तु सर्वगत एवं'[२२] अर्थात् उसे सभी से व्यावृत्त कर देता है। अतः ब्रह्म के लक्षण बता देने से वह जगत् आदि से पृथक होकर ज्ञान का विषय बन जाता है। उसके लक्षण बताते हुए शंकर कहते हैं - 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति ब्रह्मणो लक्षणार्थ वाक्यम्'[२३] अर्थात् सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म - यह वाक्य ब्रह्म का लक्षण करने के लिए है। ब्रह्मसूत्र में 'ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय ब्रह्मणो लक्षणमुक्तम् - जन्माद्यस्य यतः'[२४] अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासा की प्रतिज्ञा पर 'जन्माद्यस्ये यतः' इस सूत्र से उसका लक्षण कहा गया है। इन्हीं लक्षणों का उल्लेख शंकर ने अपने भाष्यों में अनेक बार किया है। जैसे, तत्त्वोपदेश में 'सत्यं ज्ञानमनन्तं च ब्रह्मलक्षणपुच्यते'[२५] अपरोक्षानुभूति में 'ब्रह्म सच्चिदानन्द लक्षणः'[२६] और तैतिरीय उपनिषद् भाष्य में 'यतो यस्माद्वा इमानि ब्रह्मादीनि स्तम्बपर्यन्तानि भूतानि जायन्ते . . . तदेतद्र ब्रह्मणो लक्षणम्'[२७] अर्थात् जिससे ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसके आश्रय से ये जन्म लेने के अनन्तर जीवित रहते हैं, प्राण धारण करते और बृद्धि को प्राप्त होते हैं तथा विनाशकाल उपस्थित होने पर जिसके प्रति प्रयाण करने वाले अर्थात् जिस ब्रह्म के प्रति गमन करने वाले ये जीवन उसमें प्रवेश करते हैं अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और लयकाल में प्राण उसकी तद्रूपता का त्याग नहीं करते, यही उस ब्रह्म का लक्षण है। कहीं-कहीं लक्षण के स्थान में शंकर ने 'लिंग' शब्द का भी प्रयोग किया है जैसे 'ब्रह्मलिंगमभिहितं भवति'[२८] अर्थात् स्रष्टत्व आदि से ब्रह्मलिंग का अभिधान होता है।

आगे चल कर वेदान्त-परिभाषा आदि में लक्षणों के 'स्वरूप' और 'तटस्थ' जो भेद किये गये हैं,[२९] वे शंकर की रचनाओं में स्पष्ट रूप से नहीं मिलते हैं किन्तु इतना निश्चय है कि शंकर ने इन दोनों प्रकार के लक्षणों को मान्यता दी है जैसा कि हम ऊपर दिये गये उद्धरणों में स्पष्ट देखते हैं।

सत्य, ज्ञान और अनन्त - यही तीन लक्षण ब्रह्म का बोध कराने के लिए विशेष रूप से क्यों कहे गये हैं, इस प्रश्न का समाधान करते हुए शंकर कहते हैं कि ब्रह्म का 'सत्य' लक्षण तो यह सूचित करता है कि वह सदा एक रूप में विद्यमान है। 'जो पदार्थ जिस रूप से निश्चय किया गया है, उससे व्यभिचरित न होने के कारण वह सत्य कहलाता है। जो पदार्थ जिस रूप से निश्चित किया जाय और फिर वह उस

रूप से व्यभिचरित हो जाय तो वह मिथ्या कहा जाता है। इसलिए विकास मिथ्या है और ब्रह्म सत्य है। अतः 'सत्यं ब्रह्मेति ब्रह्म विकारन्निवर्तयति'[३०] अर्थात् सत्य ब्रह्म है - यह वाक्य ब्रह्म को विकाराभाव से निवृत्त करता है।

ब्रह्म का निरूपण करने के लिए यही एक लक्षण पर्याप्त नहीं है, क्योंकि 'इससे ब्रह्म का कारणत्व प्राप्त होता है। विकार स्वयं असत् है। वे असत् से ही उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। उनकी उत्पत्ति के लिए अधिष्ठान रूप में सत् वस्तु होना अपेक्षणीय है। इस तर्क से यदि ब्रह्म कारण है तो मृत्तिका के समान उसकी जड़ता का प्रसंग उपस्थित होता है। इस मिथ्या धारण का प्रत्याख्यान करने के लिए 'ज्ञानं ब्रह्मं' यह वाक्य कहा गया। जगत् के कारणरूप ब्रह्म में जड़ता की आशंका कर उसका निवारण करने के लिए ही ब्रह्मसूत्र 'ईक्षतेर्नाशब्दम्'[३१] (ईक्षण के कारण प्रधान जगत् का कारण नहीं है) ऐसा कहते हैं।

किन्तु यहाँ 'ज्ञान' शब्द का अर्थ ज्ञप्ति या बोधमात्र समझना चाहिए। 'ज्ञानं ज्ञप्तिरवबोधः, भावसाधनों ज्ञान शब्दों न तु ज्ञानकर्तृ' अर्थात् ज्ञान ज्ञप्ति यानी अवबोध को कहते हैं, यह शब्द भाववाचक है, उसका अर्थ ज्ञानकर्ता नहीं है। ज्ञानकर्ता रूप से विकार को प्राप्त करने वाला ब्रह्म सत्य और अनन्त नहीं हो सकता। जो किसी से विभक्त न हो, वही अनन्त हो सकता है। ज्ञानकर्ता होने पर तो वह ज्ञेय और ज्ञान से विरक्त होगा, इससे उसकी अनन्तता सिद्ध नहीं हो सकेगी। अतः 'ज्ञानं ब्रह्मेति कर्तृत्वादि कारक निवृत्यर्थ मृदादिवदचिद्रूपतानिवृच्यर्थ च प्रयुज्यते'[३२] अर्थात् ज्ञानं ब्रह्म इस प्रकार ब्रह्म में ज्ञान का लक्षण उसके कर्त्तृत्वादि कारकों की निवृत्ति तथा मृत्तिका आदि के समान उसकी जड़रूपता की निवृत्ति के लिए प्रयोग किया जाता है।

ब्रह्म का लक्षण 'ज्ञान' बताने से यदि लौकिक ज्ञान के समान उसमें अन्तवत्त्व की आशंका की जाय तो उसका निवारण करने के लिए 'अनन्तं ब्रह्म' इस प्रकार कहा जाता है। 'इस प्रकार ये सत्यादि शब्द एक-दूसरे की सन्निधि से एक-दूसरे के नियम्य और नियामक होकर सत्यादि शब्दों के वाच्यार्थ से ब्रह्म को अलग रखने वाले और उसका लक्षण करने में उपयोगी होते हैं।'[३३]

ब्रह्म सत् होने के कारण अव्यय, नित्य, शाश्वत्, अमृतस्वरूप, अखण्ड और अविनाशी हैं,[३४] ज्ञानस्वरूप होने के कारण चेतन, संविद्रूप, प्रकाश स्वरूप और बोध स्वरूप है तथा अनन्त होने के कारण वह सर्वव्यापी, भूमा, पूर्ण और आनन्दस्वरूप है।[३५]

इसके अतिरिक्त शंकर ने उसका वर्णन निषेधमुख से भी किया है जैसे, वह नाम-रूपगुणदोष रहित है, देशकालविषयातिवर्ति है, वाणी का अविषय और अगोचर है, षट्विकार रहित, अपरिणामी और निश्चल है। वह कार्यकारणभाव से परे और निरंजन है।

## (ग) ईश्वर

यह परमार्थ सत् ब्रह्म माया के सकाश से सगुण ब्रह्म या अपर ब्रह्म कहलाता है। यही ब्रह्म जगत् का कारण है और ईश्वर नाम से प्रसिद्ध है। 'न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणमीश्वरं मुक्तवान्यतः . . . उत्पत्यादि संभावयितुं शक्यम्'[३६] अर्थात् पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त जगत् की यथोक्त विशेषण विशिष्ट ईश्वर को छोड़ कर अन्य से उत्पत्ति आदि की सम्भावना नहीं की जा सकती।

ईश्वर सर्वज्ञ है और उसे ज्ञान के लिए शरीर और इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं है। वह सूर्य के समान नित्य प्रकाशस्वरूप होने के समान नित्य ज्ञानस्वरूप है।[३७] 'तस्य समस्त जगत्कारणस्य ब्रह्मणों व्यापित्वं नित्यत्वं सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं सर्वात्मत्वमित्येवं जातीयका धर्मा उक्ता एवं भविन्त।'[३८] अर्थात् समस्त जगत् के कारणरूप उस ब्रह्म के सर्वव्यापकत्व, नित्यत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तित्व, सर्वात्मकत्व इस प्रकार के धर्म भी कहे जाते हैं। ईश्वर अन्तर्यामी है, यह निश्चय करते हुए शंकर कहते हैं - 'यों न्तर्याम्यधिदैवादिषु श्रूयते स परमात्मैव स्यात्'[३९] अर्थात् अधिदेव आदि में जो अन्तर्यामिरूप से सुना जाता है, वह परमात्मा ही है। वह शरीर और इन्द्रिय रहित ईश्वर अन्तर्यामी कैसे होता है - इसका समाधान करते हुए शंकर कहते हैं, 'यान्नियच्छति तत्कार्यकरणैरेव तस्य कार्यकरणवत्वोपपत्ते'[४०] अर्थात् जिनका वह नियमन करता है, उनके शरीर और इन्द्रियों से ही वह शरीर और इन्द्रियवाला हो सकता है। उसका भी दूसरा नियन्ता हो, इस प्रकार अनवस्था दोष यहाँ सम्भव नहीं हैं, क्योंकि वस्तुतः भेद का अभाव है। भेद होने पर ही अनवस्था दोष की उपपत्ति होती है। इसलिए परमात्मा ही अन्तर्यामी है। यहाँ शंकर सगुण ब्रह्म या ईश्वर के लिए 'परमात्मा' शब्द का प्रयोग करते हैं। उसकी अपनी सार्थकता है। सब प्राणियों की आत्मा ही परमात्मा है। परमात्मा होने से ही वह सबके अन्तर्तम में स्थित होकर उनका नियमन करती है। नियमन करना कार्य ब्रह्म की ही उपाधि हो सकती है। अतः वही ईश्वर है।

वह परमात्मा सत्य संकल्प है। 'सत्यसंकल्पत्वं हि सृष्टिस्थिति संहारेष्वप्रतिबद्ध-शक्तित्वात्परमात्मन एवावकल्पते'[४१] अर्थात् जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय में अप्रतिहत शक्ति होने से परमात्मा ही सत्य संकल्प हो सकता है। इस प्रकार जगत् और जीव की अपेक्षा रख कर शंकर ने ईश्वर के सृष्टा और नियन्ता आदि लक्षण बताये हैं। जीव के लिए वह उपास्य भी है।

यह ईश्वर ब्रह्म से भिन्न तत्व नहीं है। माया की उपाधि सहित ब्रह्म ही ईश्वर और माया की उपाधि से रहित ईश्वर ब्रह्म है। शरीर एवं इन्द्रियों से रहित होते हुये भी वह सर्वज्ञ है एवं सब वस्तुओं का कारण है। जिस प्रकार सूर्य का स्वरूप ही प्रकाश

है। उसी प्रकार शाश्वत् ज्ञान ईश्वर का स्वरूप है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि विश्व की उत्पत्ति के पूर्व ईश्वर के ज्ञान का विषय क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में शंकर का कहना है कि इस विश्व के अविकसित नामरूप ही उसके ज्ञान के विषय रहते हैं।[४२]

शंकर ब्रह्म के ज्ञान को परा-विद्या कहते हैं, जबकि ईश्वर के ज्ञान को अपरा-विद्या अथवा सगुण-विद्या की संज्ञा देते हैं।[४३] ईश्वर का ज्ञान ब्रह्म के ज्ञान से भिन्न है। ब्रह्म के ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होती है क्योंकि ईश्वर के ज्ञान में विश्व का ज्ञान भी निहित रहता है, जिसके कारण हम मुक्ति से वंचित रहते हैं।

ईश्वर और ब्रह्म में भेद दिखलाने का तात्पर्य यह नहीं है कि शंकर दो भिन्न-भिन्न तत्वों का प्रतिपादन करते हैं। ब्रह्म एवं ईश्वर ब्रह्म के ही दो पक्ष हैं। ब्रह्म ही परम सत् है। ईश्वर मूलतः ब्रह्म ही है। डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार ईश्वर ब्रह्म एवं विश्व के मध्य का तत्त्व है क्योंकि वह दोनों के स्वरूप में भागीदार है। ईश्वर ब्रह्म से एकता रखते हुये भी विश्व से सम्बन्धित है।[४४]

शंकर मानते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व किसी भी युक्ति द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दी जाने वाली सभी युक्तियाँ अपर्याप्त हैं। ईश्वर अनुमान इत्यादि प्रमाणों के द्वारा भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए एकमात्र प्रमाण श्रुति ही है।[४५] किन्तु शंकर की रचनाओं में ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए तीन युक्तियाँ उपलब्ध होती हैं।

## (१) कार्य-कारण युक्ति

शंकर के अनुसार ईश्वर ने ही इस विश्व की रचना की है। वही इसे धारण करता है और वही इसका विघटन करने वाला है। ईश्वर सर्वशक्तिवान एवं सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिवान ही इस विश्व का कारण हो सकता है।[४६] ईश्वर का कोई कारण नहीं है वरन् ईश्वर समस्त विश्व का कारण है। ईश्वर विश्व का उपादान कारण एवं निमित्त कारण दोनों है। शङ्कर वैशेषिक दर्शन की भाँति परमाणुओं को विश्व का उपादान कारण नहीं मानते। वे सांख्य की भाँति प्रकृति को भी उपादान कारण स्वीकार नहीं करते। अविकसित एवं अभेदयुक्त विश्व के नामरूप जो इस विश्व के बीजरूप हैं और अविद्यात्मक हैं, ईश्वर के स्वरूप को निर्मित करते हैं। वे ही इस विश्व के कारक सूक्ष्म तत्त्वों के कारण हैं।

ईश्वर इस विश्व का निमित्त कारण होने के नाते नाम-रूप के अभेदयुक्त बीजों में विभेदीकरण करता है। सूक्ष्म तत्त्वों की रचना करके एक विशेष अनुपात में उन्हें

एक दूसरे से मिलाता है और इस प्रकार स्थूल तत्त्वों को उत्पन्न करता है। वही इस सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाला है। वह आकाश, सूर्य एवं चन्द्रमा इत्यादि को धारण किये है। जिस प्रकार एक जादूगर अपने जादू द्वारा रचित संसार को अपनी इच्छाशक्ति से अपने में समेट लेता है, उसी प्रकार प्रलय के समय ईश्वर इस समस्त विश्व को अपने में ही समेट लेता है। ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दी गयी इस कार्य-कारण युक्ति के विरुद्ध अपने पूर्वपक्षी की ओर से शंकर ने स्वयं कुछ आपत्तियाँ उठा कर उनका उत्तर भी दिया है। सर्वप्रथम इस युक्ति के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि ईश्वर और विश्व के स्वरूप में भेद है। ईश्वर शुद्ध, चेतन, अविकारी एवं अपरिवर्तनशील है, किन्तु यह विश्व अशुद्ध, अचेतन, विकारी एवं परिवर्तनशील है। अतः ईश्वर विश्व का कारण नहीं हो सकता क्योंकि कार्य एवं कारण का स्वरूप समान होना चाहिए।[४८] सोने के आभूषणों का कारण मिट्टी नहीं हो सकती क्योंकि इन दोनों के स्वरूप में भेद है।

इस आपत्ति का उत्तर देते हुए शंकर कहते हैं कि कार्य एवं कारण के स्वरूप में समानता होना आवश्यक नहीं है। स्वरूपतः अचेतन बाल, नाखून इत्यादि चेतन मनुष्य से उत्पन्न होते हैं। चेतन बिच्छू अचेतन गोबर से उत्पन्न हो जाता है। और यदि यह कहा जाय कि बिच्छू, गोबर, नाखून, बाल एवं मनुष्य में पृथ्वी का तत्व समान रूप से विद्यमान है तो शंकर कहते हैं कि ईश्वर और विश्व में भी तो अस्तित्व का तत्त्व समान रूप से विद्यमान है।[४६] इस प्रकार शंकर यह सिद्ध करते हैं कि कार्य एवं कारण के स्वरूप में समानता आवश्यक नहीं है।

शंकर मानते हैं कि प्रलय के समय विश्व समिट कर ईश्वर में ही विलीन हो जाता है। इस पर आपत्ति करते हुये पूर्वपक्षी कह सकता है कि विश्व का स्थूल्य, सावयवत्व, अचेतनता, अशुद्धता एवं सीमितता इत्यादि यदि ईश्वर में विलीन होते है तो वे ईश्वर के स्वरूप को दूषित कर देंगे। इसके उत्तर में शंकर का कहना है कि यह आवश्यक नहीं है। जब कार्य कारण में विलीन होता है तो कार्य के गुण कारण में नहीं आते। सोने के आभूषण जब सोने में विलीन होते हैं तो आभूषणों के गुण सोने में नहीं आते। अतः जब विश्व ईश्वर में लीन होता है तो विश्व के गुण ईश्वर को दूषित नहीं करते।[५०]

ईश्वरकारणवाद के विरुद्ध यह भी आपत्ति की जा सकती है कि यदि ईश्वर विश्व का कारण है तो वह पक्षपाती है क्योंकि इस विश्व में कुछ व्यक्ति गरीब हैं, कुछ अमीर, कुछ दुःखी हैं तो कुछ सुखी। यदि एक ईश्वर ही हम सबका कारण है तो यह भेद क्यों? इन भेदों से यह सिद्ध होता है कि ईश्वर कुछ व्यक्तियों के साथ पक्षपात करता है। इस आलोचना के उत्तर में शंकर कहते हैं कि व्यक्तियों में भेद उनके कर्मों

के अनुसार है। जिसके जैसे कर्म होते हैं, ईश्वर उसको, निष्पक्षरूप से, वैसा ही फल देता है। अतः ईश्वर को पक्षपात करने वाला सिद्ध नहीं किया जा सकता।

यह भी कहा जा सकता है कि जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु की रचना करता है तो वह कुछ उपकरणों का सहारा लेता है। जैसे कुम्हार घड़ा बनाने के लिए कुछ उपकरणों का प्रयोग करता है। ईश्वर अशरीरी है, अतः वह विश्व की रचना करने के लिए किन उपकरणों का प्रयोग करता है? इसका उत्तर देने के लिए शंकर परिणामवाद का सहारा लेते हैं। जैसे दूध दही में परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार ईश्वर की प्रकृति अथवा भाषा विश्व में परिवर्तित होती है।[५१]

पूर्वपक्षी यह भी कह सकता है कि विश्व की रचना में ईश्वर का उद्‌देश्य क्या है? संसार का प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी उद्‌देश्य से प्रेरित होकर ही कार्य करता है। बिना उद्‌देश्य के कोई भी व्यक्ति किसी प्रकार का भी कार्य नहीं करता, अतः इस विश्व की रचना में भी ईश्वर का कुछ न कुछ उद्‌देश्य अवश्य है। और यदि ईश्वर का कुछ उद्‌देश्य है तो वह अपूर्ण है क्योंकि जो पूर्ण है, उसका कोई उद्‌देश्य नहीं होता।[५२] इस आलोचना के उत्तर में शंकर का कहना है कि विश्व की रचना में ईश्वर का कोई उद्‌देश्य नहीं है। ईश्वर क्रीड़ा अथवा लीलावत विश्व की रचना करता है। जिस प्रकार बालक की क्रीड़ा का कोई उद्‌देश्य नहीं होता, उसी प्रकार ईश्वर की रचना का कोई उद्‌देश्य नहीं है।

प्रलय की अवस्था में विश्व एवं ईश्वर में अभेद की स्थिति हो जाती है क्योंकि विश्व ईश्वर में विलीन होता है। इस दशा में अनेक भोक्ता एवं भोग-विषय भी ईश्वर से अभेद की स्थिति को प्राप्त होते हैं किन्तु जब पुनः सृष्टि होती है, तब सभी भोक्ता एवं भोग-विषय अलग-अलग हो जाते हैं। प्रश्न यह है कि प्रलयकाल की अभेद की स्थिति में यह विभेदीकरण किस प्रकार होता है? इसका क्या कारण है? इस प्रश्न के उत्तर में शंकर का कहना है कि जिस प्रकार हमारी आत्मा सुषुप्ति की अवस्था में अभेद की स्थिति को प्राप्त होती है, किन्तु जगने पर पुनः भेद की स्थिति को प्राप्त होती है, उसी प्रकार जो आत्मायें मुक्त नहीं हैं, जिनके कर्मों का क्षय नहीं हुआ है, वे फिर संसार-चक्र में आ जाती हैं।

## (२) उद्‌देश्यपरक युक्ति

शंकर मानते हैं कि विश्व में एकता, व्यवस्था, सामंजस्य एवं क्रम सर्वत्र दिखलाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक स्थान पर समायोजन एवं अनुकूलन भी विद्यमान है। विभिन्न प्रकार के जीवधारिओं के अवयवों में समायोजन है। यह समायोजन समस्त प्रकृति में भी विद्यमान है। इसका कारण क्या है? शंकर के अनुसार प्रकृति इसका

कारण नहीं हो सकती क्योंकि वह अचेतन है। इसका कारण कोई बुद्धियुक्ति विवेकशील कर्त्ता ही हो सकता है।[५३] मनुष्य भी इसका कारण नहीं हो सकता क्योंकि उसकी बुद्धि एवं विवेक सीमित है। अतः एक असीमित बुद्धि एवं विवेकयुक्त तत्त्व ही इसका कर्त्ता हो सकता है और वह तत्त्व ईश्वर है।

## (३) नीतिपरक युक्ति

शंकर कर्म के नियम में विश्वास करते हैं। मनुष्य जिस प्रकार के कर्म करता है, उसी प्रकार का फल मिलता है। मनुष्य के कार्यों में विविधता है, इसीलिए भिन्न-भिन्न फल प्राप्त होते हैं। प्रश्न यह है कि मनुष्य को कर्मों के अनुसार फल कैसे प्राप्त होता है? मनुष्य अपने कर्मों का फल स्वयं नहीं ले सकता, क्योंकि ऐसी स्थिति में वह अपने बुरे कर्मों का फल भी अच्छा ही ले लेगा। इस सम्बन्ध में मीमांसकों का कहना है कि हमारे कर्म ही एक अदृश्य (अपूर्व) शक्ति को जन्म देते हैं और यह अपूर्व ही उचित समय पर उन कर्मों का फल देता है। शंकर मीमांसकों के इस मत से सहमत नहीं हैं।[५४] उनका कहना है कि अचेतन होने के कारण अदृश्य हमारे कर्मों का फल नहीं दे सकता है। वह किसी चेतन शक्ति के निर्देशन में ही कार्य कर सकता है। अतः एक निष्पक्ष चेतन शक्ति ही हमारे कर्म एवं पुण्य के अनुसार फल देती है। वह निष्पक्ष चेतन शक्ति ईश्वर है।[५५] इसके अतिरिक्त शंकर यह भी मानते हैं कि विधि एवं निषेध का ज्ञान देने वाले वेद भी उसी ईश्वर की कृति हैं। वेद ईश्वर की सांस से उत्पन्न हुये हैं। ईश्वर की इच्छा ही नैतिक मापदण्ड हैं। उसकी इच्छा वेदों से ही ज्ञात होती है।[५६]

सुरेश्वराचार्य परमतत्त्व ब्रह्म को प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से सिद्ध मानते हैं।[५७] प्रत्यक्ष में जो सत्ता दिखाई देती है, वह परमतत्त्व की ही है –

असाधारणरूपेषु व्यावृत्तेष्वितरेतरम्।
बहुष्वेकं यदा भाति प्रत्यक्षं कारणं तु तत्।।[५८]

अर्थात् परस्पर व्यावृत्त अनन्त असाधारण रूपों में सभी में जो एक आभासमान है, वही इन सबका कारण है।

परमतत्त्व यदि सदात्मक है और वह सबकी आत्मा है तो वह सर्वदा उपलब्ध क्यों नहीं होती, इस शंका का उत्तर देते हुए सुरेश्वर कहते हैं कि विद्यमानतामात्र अभिव्यक्ति की प्रयोजक नहीं। सत् व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूपों में रह सकता है। जो उपलब्ध हो, वही सत् नहीं है। पृथक-पृथक कार्यों के रूप में सर्वदा व्यक्त न रहने पर भी वह विद्यमान रहता है।[५९]

पद्मपाद के अनुसार ब्रह्म में वस्तुतः धर्म-धर्मी भाव न होने पर भी उनकी

पृथक्वत् कल्पना की जाती है।[६०] सत्य-ज्ञान-आनन्द आदि ब्रह्म के अभेद रूप हैं, इसलिए इनको एक-दूसरे से भी पृथक् नहीं किया जाता है। संक्षेपशारीरिक में सर्वज्ञात्म मुनि कहते हैं कि सत्य में ज्ञान और ज्ञान में सत्यता है। आनन्द में ज्ञान और ज्ञान में आनन्द है। आनन्द में सत्यता और सत्यता में आनन्द है। सत्य, ज्ञान और आनन्द में कोई भेद नहीं है। ये सब अभिन्न हैं क्योंकि एक ब्रह्म के ही ये सब लक्षण हैं।[६१] सर्वज्ञात्म का ध्यान निरन्तर निर्गुण ब्रह्म की ओर ही है। सगुण ब्रह्म और उसकी उपासना की वे उपेक्षा करते हैं।[६२] निर्गुण ब्रह्म और उसके ज्ञान के साधन श्रवण आदि पर उन्होंने ऐसी शंकाओं का समाधान किया है, जिनकी ओर शंकर का ध्यान नहीं गया था।

विद्यारण्य 'पंचदर्शी' में परमतत्व का प्रतिपादन सच्चिदानन्द स्वरूप करते हैं और उसके प्रमाण में श्रुति, युक्ति और अनुभव उपस्थित करते हैं। शब्द-स्पर्श आदि वैद्य पदार्थ विचित्रता के कारण पृथक् हैं किन्तु उनका ज्ञान उनसे पृथक् एक रूप है। वह एकरूप संवित् (बोध) जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओं में निरन्तर अनुभव की जाती है। यह निरन्तरता दिन, मास, वर्ष, युग, कल्पनादि में अविच्छिन्न बनी रहती है। 'नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयंप्रभा'[६३] - यह स्वयं प्रकाशस्वरूप चैतन्य सदा एक ही है और इसका कभी उदय और नाश नहीं होता। यह परमप्रेमास्पद होने के कारण परम आनन्दस्वरूप है।[६४]

इत्थं सच्चित्परानन्द आत्मा युक्त्या तथाविधम्।
परं ब्रह्म, तयोश्चैक्यं श्रुत्यन्तेषूपदिश्यते।।[६५]

अर्थात् इस प्रकार युक्ति से आत्मा को सत्, चित और परानन्द स्वरूप सिद्ध कर दिया। पर ब्रह्म भी ऐसा ही (सच्चिदानन्द) है। श्रुतियों (उपनिषदों) में उक्त दोनों की (आत्मा और ब्रह्म की) एकता का उपदेश सुनते हैं।

इस परमतत्व में स्वगत, सजातीय या विजातीय कोई भेद नहीं है।[६६] अनुमान ही जिनका एकमात्र सहारा है। वे बौद्ध आदि श्रुतियों का आदर नहीं करते और अचिन्त्य सदात्मा को भ्रान्ति से निरात्मा मान बैठते हैं।[६७]

विद्यारण्य ने सत् की परिभाषा इस प्रकार की है - 'सत्यत्वं बाधराहित्यं'[६८] - सत् उसी को कहते हैं जिसका बाध न हो। इस सकल जगत् के बाध का जो एकमात्र साक्षी है, उसके बाध का साक्षी कोई नहीं हो सकता। वह निर्बाध होने के कारण सत् है।

अनन्तला का बाध करने वाले देश, काल और वस्तु - ये तीन परिच्छेद हैं, किन्तु परमतत्त्व व्यापक, नित्य और सर्वात्मा होने के कारण अपरिच्छिन्न और अनन्त है।[६९] देश, काल और वस्तुयें मायकि हैं। वे सद्वस्तु का परिच्छेद नहीं कर सकती हैं।

ईश्वर और जीव के भेद मायाकृत उपाधि के कारण ही हैं, वस्तुतः नहीं हैं।[७०] माया (सत्वप्रधान) की उपाधि से 'ब्रह्मवै ईश्वरतां ब्रजेत्'[७१] ब्रह्म की ईश्वरता को प्राप्त होता है जो चराचर जगत् का नियन्ता है और मलिनसत्त्व की उपाधि से 'कोशोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मवै जीवताम्'[७२] - पंचकोशों की विविक्षा से ब्रह्म ही जीवता को प्राप्त होता है।

कूटस्थ को भी ब्रह्म का एक रूप मान कर विद्यारण्य परमतत्त्व के चार उपाधि भेद मानते हैं।[७३]

'कूटस्थौ ब्रह्म जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा।'

अर्थात् एक ही चित्-कूटस्थ, ब्रह्म, जीव तथा ईश - इन चार रूपों में है। जो चेतन दोनों देहों का अधिष्ठान होने से दोनों से अवच्छिन्न है, उसे कूटस्थ कहते हैं। बुद्धि उस कूटस्थ में कल्पित है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित चेतन प्राण धारण करने पर जीव कहलाता है। जीव और कूटस्थ में अन्योन्याध्यास होने से जीव कभी भी कूटस्थ को पृथक् करके नहीं जानता है। यही अवधि अविद्या है। माया की उपाधि से ईश्वर अन्तर्यामी, सर्वज्ञ और जगत् योनि है।[७५] युक्ति से यह समझना चाहिए कि सुषुप्ति के समय जो आनन्दमय अनुभव होता है, वही सर्वेश्वर है। वेदों में इसी को ईश्वर या अन्तर्यामी कहते हैं। व्यष्टि में जीव का जो आनन्दमय कोश है, वह सब जीवों का समष्टिरूप में ईश्वर है। वही सृष्टि का आविर्भाव और तिरोभाव करता है।[७६] वह अपने में विलीन हुए समस्त जगत् को फैलाये हुए चित्रपट के समान प्राणियों के कर्मों के अनुसार आविर्भूत कर देता है। वही प्राणियों के भोगदायी कर्मों के क्षीण हो जाने पर अपने चित्रों को अपने भीतर छिपा लेने वाले संकोचित वस्त्र के समान इस सम्पूर्ण जगत को अपने आप में छिपा लेता है।[७७]

विद्यारण्य ईश्वर और ब्रह्म में भी अन्योन्याध्यास मानते हैं। अपात दृष्टि से उनकी पृथकता का बोध नहीं होता है। 'ब्रह्मेश्योरैक्यं पश्यन्त्यापातर्शिनः'[७८] किन्तु विचार करने से ज्ञान होता है कि ब्रह्म असंग है, उससे सृष्टि नहीं हो सकती। जगत् का सृजन मायावी ईश्वर ही कर सकता है। जिस ब्रह्म के विषय में श्रुति कहती है 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह',[७९] वह निर्गुण ब्रह्म की असंगता सिद्ध करती है। सृष्टिकर्ता ईश्वर के विषय में अन्य श्रुति इस प्रकार है - 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्ती-स्मंश्चान्यो मायया संनिरुद्ध'।[८०] इससे स्पष्ट है कि मायी ईश्वर जगत् की रचना करता है।[८१]

ईश्वर के तीन रूप हैं - ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट्। व्यष्टि में जीव का प्राज्ञ, तेजस और वैश्व रूप ही समष्टि में ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट् रूप है। यह समस्त जगत्, ब्रह्मा से स्तम्बपर्यन्त, उसी विराट रूप ईश्वर का शरीर है।[८२] ये जीव के सभी रूप, ईश्वर के विविध रूप और समस्त सृष्टि माया कल्पित है, अतः समस्त भेद भी कल्पित हैं।

ईक्षणादि प्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता।
जाग्रदादिविभोक्षान्तः संसारो जीव कल्पितः।।[८३]

अर्थात् ईक्षण से लेकर प्रवेश पर्यन्त कही गयी सृष्टि ईश्वर कल्पित है और जाग्रत आदि अवस्थाओं से मोक्षपर्यन्त संसार जीव की रचना है। किन्तु जो लोग असंग ब्रह्म तत्त्व को नहीं जानते, वे वृथा ही माया कल्पित जीव और ईश्वर के विषय में परस्पर कलह करते हैं।[८४]

मधुसूदन सरस्वती के अनुसार परमतत्त्व ब्रह्म ही है, वही आप्ततत्त्व भी है। वे आत्मा और अनात्मा को दृष्टा और दृश्य रूप में विभक्त करते हैं। आत्मा देशकालवस्तु अपरिच्छिन्न है, इसलिए अविनाशी और नित्य है। अनात्मा घटादि के समान परिच्छिन्न है। वह निश्चय ही विनाशी है। अभाव चार प्रकार के हैं – प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव। अनात्म पदार्थ इन अभावों की श्रेणी में आते हैं। आत्मा का किसी प्रकार अभाव नहीं है। 'सद्रूपस्यात्मनः सर्वत्रानुगमाच्च नात्यन्ताभावसंभवः'[८५] अर्थात आत्मा सद्रूप और सर्वत्र विद्यमान है, इसलिए उसका अत्यन्त अभाव सम्भव नहीं है। अन्य अभावों का भी आत्मा में होना तर्क से खण्डित किया गया है।

आत्मा एक होते हुए भी उपाधियों के कारण पृथक्वत् भासित होता है। 'कि तु स्वप्रकाशबोधरूपे आत्मनि अद्वैतऽप्यनाद्यनिर्वचनीयाऽविद्याकल्पिता'[८६] अर्थात स्वप्रकाश और बोधरूप होते हुए भी अद्वैत आत्मा में अनादि, अनिर्वचनीय अविद्या कल्पित है। इसी अविद्या की उपाधि से आत्मा ईश्वर, जीव और साक्षी रूप में कहा जाता है। 'आत्मा पारमार्थिक एकः सर्वदैकरूपोप्यौपाधिक भेदेन विविधः ईश्वरो जीवः साक्षी चेति'[८७] अर्थात् आत्मा पारमार्थिक एक और सर्वदा एकरूप रहने वाला है किन्तु भेद से ईश्वर, जीव और साक्षी तीन रूपों में है। कारणीभूत अज्ञान की उपाधि से आत्मा ही ईश्वर है और अन्तःकरण तथा उसके संस्कारों से अविच्छन्न अज्ञान से उपहित आत्मा जीव है। साक्षी का रूप स्पष्ट करते हुए मधुसूदन कहते हैं – 'अविद्या प्रतिबिम्बेश्वर पक्षे बिम्ब-चैतन्यं, बिम्बेश्वर पक्षे च बिम्बप्रतिबिम्ब मुखानुगतमुखस्वरूपवत् जीवेश्वरानुगतं सर्वानुसंन्धातृ चैतन्य, साक्षीत्युच्यते'[८८] अर्थात् अविद्या प्रतिबिम्बित ईश्वर की पक्ष में बिम्बचैतन्य साक्षी है और बिम्ब को ईश्वर मानने के पक्ष में वह बिम्ब ही साक्षी है जो जीव और ईश्वर दोनों में अनुगत है, जैसे एक मुख दर्पण में प्रतिबिम्ब रूप हो और दूसरा मुख अपने कंधों पर रखा हुआ। जीव अपनी उपाधि के अवान्तर भेद से विश्व, तेजस और प्राज्ञ भेद वाला है। साक्षी सबका दृष्टा और सर्वानुगत 'तुरीय' कहलाने वाला एकविध ही है। साक्षी की उपाधि एकरूप होने से जीव की उपाधि-भेद से उसमें कोई भेद नहीं होता।

आत्मगत अध्यात्म, समष्टिगत अधिदेव और भौतिक जगत् अधिभूत कहलाता है। परमतत्व अविद्या की उपाधि से इन तीनों रूपों को प्राप्त हुआ है। उसका विस्तार करते हुए मधुसूदन कहते हैं - अध्यात्म विश्व, अधिभूत विराट और अधिदैव विष्णु है। अध्यात्म जाग्रत, अधिदैव पालन और अधिभूत सत्व गुण है। अध्यात्म तैजस, अधिभूत हिरण्यगर्भ, अधिदैव ब्रह्म है। अध्यात्म स्वप्न, अधिदैव सृष्टि, अधिभूत रजोगुण है। इसी प्रकार अध्यात्म प्राज्ञ, अधिभूत अव्याकृत और अधिदैव रुद्र है तथा अध्यात्म सुषुप्ति, अधिदैव प्रलय और अधिभूत तमोगुण है। उस परमतत्त का मायाकृत प्रपञ्चविस्तार इतना ही है। इन सब भेदों की साक्षी नित्य विद्यमान आत्मा है, जिसका अभाव कदापि सम्भव नहीं है।[८६]

सुरेश्वर भी नानात्व के मूल में एक परम सत् स्वीकार करते हैं। वह अद्वय, निर्विकार सत्, चित, आनन्द लक्षणों से युक्त ब्रह्म है।

तदेतदद्वयं ब्रह्म निर्विकार कुबुद्धिभिः।
जात्यन्धगजदृष्ट्येव कोटिशः परिकल्प्यते।।[६०]

अर्थात् वह ब्रह्म अद्वय और निर्विकार है। कुबुद्धियों ने उसकी कोटियों प्रकार से वैसे ही अपर्याप्त कल्पनायें की हैं जैसे जन्मान्ध लोग हाथी को देख कर अर्थात् छूकर कल्पनायें करते हैं। तर्क जाल में फंस कर वे एक-दूसरे का खण्डन करते हैं :

इमं प्राश्निकमुद्दिश्य तर्कज्वारमृशातुराः।
त्वाच्छिरस्क वचोजालैर्मोहयन्तीतरेतरम्।।[६१]

अर्थात् इसी (ब्रह्म) को उद्देश्य बना कर तर्क ज्वार से आतुर हुए तार्किक अपने वचन जालों से एक-दूसरे को भ्रान्ति में डालते हैं। वस्तुतः वह परमतत्त्व हमारे अनुभव से ही सिद्ध है। उस विषय में तर्क करने की आवश्यकता ही नहीं है।

नामादिभ्यः परोभूमा निष्कलोऽकारको क्रियः।
स एवात्मवतामात्मा स्वतस्सिद्धः स एव नः।।[६२]

अर्थात् नामरूप के परे भूमा, निष्कल, अकारक और अक्रिय लक्षणों से युक्त आत्मरूप से अनुभव में आने वाला जो हमारी आत्मा है, वह स्वयं सिद्ध है।

ब्रह्मत्मैक्य ही वेदान्त का विषय है, दूसरा कोई विषय नहीं है।[६३] अतः सुरेश्वर परमसत् के लिए ब्रह्म और आत्मा दोनों शब्दों का प्रयोग करते है। वह असंग है, इसलिए उसमें शोकमोहादि नहीं है। इसे 'संविद्' (अपने अस्तित्व की चेतना) भी कहते हैं। सब कल्पनाओं का आश्रय यही संविद् है।[६४]

संविदेका स्वतः सिद्धा प्रत्यगपैकलक्षणा।
भावाभवादिरूपाय व्यवहाराय कल्पते।।[६५]

अर्थात् संविद् एक और स्वतः सिद्ध है। वह प्रत्यक्रूप (आत्मा) है। यही भाव और अभाव रूप व्यवहारों की कल्पना का आधार है।

यही ब्रह्म स्वाश्रय और स्वविषयक अविद्या से मुक्त होकर जगत् का कारण है :

यत्सद्रपं पर ब्रह्म संविन्मात्रं सतत्त्वकम्।
अविज्ञातात्मयाथात्म्यं जगतः कारणं हि तत्।[६६]

अर्थात् वह ब्रह्म सत् और परम् है तथा स्वप्रकाश ज्ञानमात्र स्वरूप है। वही अविज्ञात आत्मयाथात्म्य (स्वाश्रय और स्वविषयक अविद्या से मुक्त होकर) जगत् का कारण है। इस कथन से स्पष्ट है कि आश्रय ब्रह्म है, न कि ईश्वर या जीव। 'अपने ही अज्ञान से सत् ब्रह्म जगत् का उत्पादक (प्रभविष्णु) और नाशक (ग्रसिष्णु) कहलाता है। अज्ञान के बिना उसमें सर्वशक्तिमत्त्व बन ही नहीं सकता।'[६७] तात्पर्य यह है कि ब्रह्म में असंगत्व स्वाभाविक है और कारणत्व आदि अज्ञानोपाधिक है। अज्ञान और तज्जन्य शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण आदि में प्रविष्ट हुआ एवं ब्रह्म ही अनेक देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि शरीरों का अभिमानी होकर अनेक कहलाता है।

कोई कहते हैं विराट् जीव है, कोई कहते हैं वह परमात्मा है। सुरेश्वर के अनुसार विवक्षाभेद से दोनों ही मत युक्त हैं। सोपाधिक विवक्षा में विराट् जीव ही है और निस्पाधिक विवक्षा में वह परमात्मा है, जीव नहीं। अन्य सब जीवों के विषय में भी यही मत ठीक है।[६८]

अद्वितीय आत्मवस्तु के स्वभाव की अपेक्षा से यह अज्ञान और उसका कार्य न स्वतः सिद्ध है, न परतः सिद्ध, किन्तु अज्ञान और उसके कार्य का कथन अज्ञान की ही दृष्टि से है। तमः प्रधान होकर परमात्मा जड़ जगत् का कारण है और चित्प्रधान होकर वह चेतनों का कारण है। उन प्राणियों के किये हुए उन-उन भावना, ज्ञान और कर्मों से देव तिर्यक् मनुष्य आदि विलक्षणता भी बन सकती है।[६६]

ईश्वर अज्ञान प्रधान होकर नियम्य जगत् का नियामक (अन्तर्यामी) है। इन्हीं कार्यों में चित्प्रधान होता हुआ ईश्वर साक्षिता को प्राप्त होता है। इसलिए उपाधि से अन्तर्यामी और साक्षी का भेद होते हुए भी अद्वैत की हानि नहीं है।[१००] अन्तर्यामी के प्रभाव से अव्यक्त जगत् देश, काल, आदि की व्यवस्था से व्यक्त होता है। वह जब कर्म का उद्‌बोधन करता है तो सृष्टि होती है और जब कर्म का उद्‌बोधन नहीं करता तो प्रलय होती है।[१०१] ईश्वर ही समबुद्धि से उपहित होकर हिरण्यगर्भ, रजोगुण से उपहित होकर हरि और तमोगुण से उपहित होकर शिव कहा जाता है, वैसे ही देव, मर्त्य आदि शरीर रूप उपाधियों से वही देव मर्त्यादि कहा जाता है।[१०२]

अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम्।
अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते।।[१०३]

अर्थात् इस द्वैतरूप इन्द्रजाल का उपादान कारण जो अज्ञान है, उसी का आश्रयण करके ब्रह्म कारण कहा जाता है।

मण्डन मिश्र के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ है – 'ब्रह्मसिद्धि' और 'स्फोटसिद्धि'। इनमें उन्होंने परम तत्त्व का जो निरूपण किया है, वह कई बातों में शंकर और सुरेश्वर से भिन्न है। यद्यपि शंकर के शिष्यों में उनकी भी गिनती है, किन्तु इसका प्रभाव केवल इतना है वे भी अद्वैत-वेदान्ती हैं, अन्यथा उनका चिन्तन बहुत कुछ स्वतंत्र है। उन्होंने उपनिषदों का तात्पर्य निर्णय करने में अपनी स्वतंत्र बुद्धि का प्रयोग किया है। इसके परिणामस्वरूप वे कई बातों में शंकर से विपरीत जा पड़े हैं।

ब्रह्मसिद्धि के मंगलाचरण श्लोक में परमसत् स्वरूप ब्रह्म की वन्दना मण्डन इस प्रकार करते हैं :

आनन्दमेकममृतमजं विज्ञानमक्षरम्।
असर्व सर्वमभवं नमस्यामः प्रजापतिम्।।[१०४]

अर्थात् जो आनन्दस्वरूप, एक, अमृत, अज, विज्ञान, अक्षर और असर्व होकर भी सर्व है, उस प्रजापति को नमस्कार करता हूँ।

इनमें से अधिकांश लक्षण अन्य अद्वैत-वेदान्तियों को भी मान्य हैं किन्तु उनके प्रतिपादन में मण्डन ने कुछ विशेष तर्कों का प्रयोग किया है। यहाँ हम उनके 'एक' शब्द पर विचार करेंगे। मण्डन ने तर्क काण्ड में इस पर विस्तृत विवेचन किया है। पूर्वपक्षी की ओर से आपत्ति है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से भावों का नानात्व उपलब्ध होता है, अतः 'अद्वय' में कोई प्रमाण नहीं है। इसके उत्तर में मण्डन ने श्रुति का उद्धरण तो दिया ही है, साथ ही तर्क का प्रयोग भी किया है। सत् एक अद्वितीय है, उसे भेद सह्य नहीं है। वह द्रष्टा-दृश्य भेद के परे और दोनों का प्रकाशक तथा आधार है। निरपेक्ष आत्मा ऐसी द्रष्टा है, जिसमें न स्वतः परिवर्तन या विकार होता है और न किसी विकारी दृश्य से उसका सम्बन्ध हो सकता है। 'नानात्वे तु विविक्त स्वभावयोरसंसृष्टपरस्पर स्वरूपयोरसंबद्धयोः कीदृशी दृष्ट्रटश्यभावः'।[१०५]

मण्डन ने एकत्व और नानात्व के मध्य चार प्रकार के सम्बन्ध स्वीकार किए हैं। प्रथमतः, दोनों पृथकरूप से सत् हो सकते हैं, जैसा मीमांसक मानते हैं। दूसरे भर्तृहरिप्रपंच और जैनमत के अनुसार सत् एक और नाना दोनों ही हो सकता है। वह एक दृष्टि से एक और दूसरी दृष्टि से अनेक हो सकता है। तीसरे केवल नानात्व ही सत् है और एकत्व आभाव मात्र है जैसा विज्ञानवादी मानते हैं। और चौथे, एकत्व ही सत् है और नानात्व आभासमात्र है जैसा अभेदवादी वेदान्ती मानते हैं। इनमें से तीन प्रथम विकल्पों का खण्डन कर मण्डन ने चौथा मत तर्क के द्वारा स्थापित किया है।

दर्पणादौ मुखस्येव भेदाऽभेदावलम्बनः।
भेदावलम्बनोऽभेदो न तथा तदभावतः।।[१०६]

अर्थात् दर्पणों में प्रतिबिम्बित अनेक मुखों का भेद बिम्ब के अभेद पर अवलम्बित है। इसके विपरीत अभेद भेद पर अवलम्बित नहीं है, क्योंकि उन (भेदों का) का अभाव है। अभाव पर कुछ भी अवलम्बित कैसे हो सकता है।

सत् का दूसरा लक्षण 'अक्षर' भी ध्यान देने योग्य है। अक्षर का अर्थ अविनाशी तो है ही क्योंकि वह सत् है, किन्तु उसका दूसरा अर्थ 'ओम्' अक्षर भी उतना ही सटीक है। मण्डन वाग्ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं और प्रमाण रूप में उपनिषद् वाक्यों की एक लम्बी सूची उद्धृत करते हैं, जैसे, 'ओमित्यात्मानं ध्यायार्थ', 'ओमिति ब्रह्म, ओमितीदं सर्वम्', 'ओंकार एवेदं सर्वम्', 'वागेव विश्वा भुवनानि जसे बागेवेदं बुभुजे वागुवाच' आदि।[१०७] स्फोटवाद इस मत का समर्थन करता है, अतः मण्डन स्फोटवाद का आश्रय ही नहीं लेते वरन् उसके प्रतिपादन के लिए 'स्फोटसिद्धि' नाम का स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखा है। शंकर स्फोटवाद का खण्डन करते हैं, किन्तु मण्डन शंकर का विरोध कर भर्तृहरि का समर्थन करते हैं जो स्फोटवादी हैं। अतः मण्डन को शब्दाद्वैतवादी कहते हैं।

अद्वैत-वेदान्त में प्रायः दो सम्प्रदाय स्वीकार किये गये हैं - भावाद्वैतवादी और अभावाद्वैतवादी। भावाद्वैतवाद का तात्पर्य है - परमसत् ब्रह्म एक, निरपेक्ष और भावरूप है।[१०८] उपनिषदों के 'अद्वितीयम्', 'नेतिनेति' वाक्य ब्रह्म के अतिरिक्त किसी दूसरी भावरूप सत्ता का निषेध करते है और ब्रह्म में प्रपञ्चाभाव प्रतिपादित करते हैं। श्रुतियों के निषेधात्मक वाक्य ब्रह्म से भिन्न किसी अभावात्मक सत्ता का निषेध नहीं करते। अन्य अद्वैत-वेदान्ती, जो अपने मत में अधिक दृढ़ हैं, ब्रह्म से भिन्न भाव या अभाव रूप किसी सत्ता को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। उन्हें अभावाद्वैतवादी कह सकते हैं।

भावाद्वैतवाद 'मण्डनमत' के नाम से प्रसिद्ध है। मण्डन स्वयं 'भावाद्वैतवाद' शब्द का कहीं प्रयोग नहीं करते किन्तु उनके तर्कीय निर्णयों से इसी का प्रतिपादन होता दिखाई देता है। 'द्विविधा धर्माः भावरूपा अभावरूपाश्चेति तत्राभावरूपा नाद्वैतं विध्नन्ति, यथा एकममृतमजम्'[१०९] अर्थात् धर्म दो प्रकार के हैं - भावरूप और अभावरूप। उनमें से अभाव रूप धर्म अद्वैत में विघ्न नहीं डालते, जैसे एकमृतमजम्' (अमृत अज एक है, दूसरा नहीं है) श्रुति वाक्य में स्वीकार किया गया है।

अभावरूप धर्म है 'प्रपञ्चाभाव' और अविद्याध्वंश। ये दोनों अभाव ब्रह्मज्ञान की स्थिति में रह सकते हैं। वे ज्ञान में बाधक नहीं हैं। मण्डन अविद्या की निवृत्ति और विद्या का ग्रहण समतुल्य मानते हैं - 'अविद्या संसारः, विद्यैव चाबिद्यानिवृत्तिः

यद्यग्रहणम् विद्या न हि शुक्तिकाज्ञानोत्पादादन्या रजतज्ञान निवृत्तिः'[११०] अर्थात् अविद्या ही संसार है, विद्या ही अविद्या की निवृत्ति है अथवा अविद्या का अग्रहण ही विद्या है। शुक्तिका के ज्ञानोपादन से भिन्न रजतज्ञान निवृत्ति कुछ नहीं है। इसका तात्पर्य है कि अविद्याध्वंश विद्या के समुल्य भावरूप है। 'भावाद्वैत का प्रतिपादक मण्डन का वचन इस प्रकार है – 'प्रपंचस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते।'[१११]

सुरेश्वर मत के विपरीत मण्डन अविद्या का आश्रय ब्रह्म को नहीं मानते। यदि अविद्या का आश्रय और विषय ब्रह्म ही हो तो ब्रह्म-ज्ञान होने पर भी ब्रह्म की अविद्या बनी रहेगी और मुक्ति संभव न होगी। अतः मण्डन के मत से अविद्या जीव में ही है और वह अपनी अविद्या से निवृत्त होकर विद्यास्वरूप ब्रह्मभाव प्राप्त कर सकता है।[११२] जीव के लिए भी अविद्या स्वाभाविक नहीं। वह तत्वतः ब्रह्म ही है, इसलिए वह विद्या के द्वारा अविद्या से मुक्त हो सकता है।[११३]

## संदर्भ-सूची


१. ऋग्वेद, १०.१३६.६।
२. वहीं, पुरुषसूक्त, १०.६०.११।
३. केन उपनिषद् १।
४. बृहदारण्यक उपनिषद्, ३.६.६।
५. छान्दोग्य उपनिषद्, ६.१.३।
६. वहीं, ६.२.१।
७. वहीं, ६.१.५।
८. योगवासिष्ठ, ५.५.६।
६. विष्णुपुराण, २.१३.१००।
१०. गौड़पाद कारिका, २.६।
११. श्रीमद्भगवद्गीता, शां.भा. २.१६ पृष्ठ ३५।
१२. वहीं, पृष्ठ ३६।
१३. वहीं, पृष्ठ ३५।
१४. छान्दोग्य उपनिषद्, शां.भा. ६.३.२ पृष्ठ ६१०।
१५. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., २.१.११।
१६. वहीं, २.१.१४।
१७. तैत्तिरीय उपनिषद्, शा.भा., २.१।
१८. वहीं, २.७, पृष्ठ १७७।
१६. केन उपनिषद् शा.भा. १.५।

२०. श्वेताश्वतर उपनिषद् शां.भा. १.१, पृष्ठ ६६।
२१. तैत्तिरीय उपनिषद्, शां.भा. २.१ पृष्ठ १०३।
२२. वहीं।
२३. वहीं, पृष्ठ १०१।
२४. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. १.४.१ पृष्ठ २८१।
२५. तत्त्वोपदेश १८।
२६. अपरोक्षानुभूति, २४।
२७. तैत्तिरीय उपनिषद्, शां.भा. ३.१ पृष्ठ २१५-२१६।
२८. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. १.३.४१ पृष्ठ २७७।
२६. वेदान्त-परिभाषा, प्रकरण ७ पृष्ठ २०३।
३०. तैत्तिरीय उपनिषद् शां.भा. २.१ पृष्ठ १०४।
३१. ब्रह्मसूत्र, १.१.५।
३२. तैत्तिरीय उपनिषद्, शां.भा. २.१ पृष्ठ १०७।
३३. वहीं, पृष्ठ ११२।
३४. श्रीमद्भगवद्गीता, शां.भा. २.३०
बृहदारण्यक उपनिषद्, शां.भा. ४.४.२५।
श्वेताश्वतर उपनिषद्, शां.भा. ६.१६।
३५. छान्दोग्य उपनिषद् शां.भा., ७/२३/१।
३६. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., १/१/२, पृष्ठ ३६।
३७. वहीं, १.१.५ पृष्ठ ८६।
३८. वहीं, १.२.१ पृष्ठ १४८।
३६. वहीं, १.२.१८ पृष्ठ १७५।
४०. वहीं, पृष्ठ १७६।
४१. वहीं, १.१.२, पृष्ठ १५१।
४२. वहीं, १.१.५, १.१.२।
४३. मुंडक उपनिषद्, शां.भा, १.१.४-५।
४४. इण्डियन फिलासोफी, भाग २, पृष्ठ ५५७।
४५. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., १.१.२।
४६. वहीं, १.४.५।
४७. वहीं, १.२.२२।
४८. वहीं, २.१.४।
४६. वहीं, २.१.६।
५०. वहीं, २.१.१६।

५१. वहीं, १.२.२४।
५२. वहीं, २.१.३२।
५३. वहीं, २.१.२।
५४. वहीं, ३.२.३८।
५५. वहीं, १.२.१३।
५६. वहीं, १.१.३।
५७. बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक, १.२.१०।
५८. बृहदारण्यकवार्तिकसार, १.२.४६ पृष्ठ ६४१।
५९. वहीं, १.२.७७।
६०. पंचपादिका, अध्यासनिरूपण।
६१. संक्षेपशारीरिक, अध्यास, श्लोक १८८।
६२. वहीं, ४.६२।
६३. पंचदशी, १०३ से ७, पृष्ठ २ से ४।
६४. वहीं, १.८, पृष्ठ ५।
६५. वहीं, १.१०, पृष्ठ ७।
६६. वहीं, २.२१, पृष्ठ ४२।
६७. वहीं, २.३१, पृष्ठ ४६।
६८. वहीं, ३.२९, पृष्ठ ६१।
६९. वहीं, ३.३५, पृष्ठ ६४।
७०. वहीं, ३.३७, पृष्ठ ६५।
७१. वहीं, ३.४०, पृष्ठ ६७।
७२. वहीं, ३.४१, पृष्ठ ६७।
७३. वहीं, ६.१८, पृष्ठ १३६।
७४. वहीं, ६.२२, पृष्ठ १४०।
७५. वहीं, ६.१५७, पृष्ठ १८६।
७६. वहीं, ६.१८२, पृष्ठ १९९।
७७. वहीं, ६.१८३, पृष्ठ १८४।
७८. वहीं, ६.१९४।
७९. तैत्तिरीय उपनिषद्, २.४।
८०. श्वेताश्वतर उपनिषद्, ४.९।
८१. पंचदशी, ६.१९६ व १९७।
८२. वही, ६.२०५, पृष्ठ २०७।

८३. वहीं, ६.२१३, पृष्ठ २०६।

८४. वहीं, ६.२१४, पृष्ठ २१०।

८५. सिद्धान्तबिन्दु १.१, पृष्ठ १०-११।

८६. वहीं, १.१, पृष्ठ ११।

८७. वहीं, ३.८, पृष्ठ ५३।

८८. वहीं, ३.८, पृष्ठ ५३।

८९. वहीं, ३.८, पृष्ठ ७६।

९०. नैष्कर्म्यसिद्धि, २.९३, पृष्ठ ९१।

९१. नैष्कर्म्यसिद्धिः २.५६, पृष्ठ ८०।

९२. वहीं, २.५७, पृष्ठ ७६।

९३. बृहदारण्यक वार्तिकसार, १.६ पृष्ठ १८।

९४. वहीं, १.१२८, पृष्ठ ११५।

९५. वहीं, १.४५६, पृष्ठ ४४७।

९६. वहीं, १.२.११६, पृष्ठ ६८६।

९७. वहीं, १.२.११७, पृष्ठ ६९०।

९८. वहीं, १.४.८६ से ९१, पृष्ठ ८७७।

९९. वहीं, १.४.२९२, पृष्ठ ९३१।

१००. वहीं, १.४.३०६, पृष्ठ ९३४।

१०१. वहीं, १.४.३१७, पृष्ठ ९३५।

१०२. वहीं, १.४.३२८, पृष्ठ ९३७।

१०३. ब्रह्मसिद्धि, ब्रह्मकाण्ड, पृष्ठ १।

१०५. वहीं, पृष्ठ ७-८।

१०६. वहीं, तर्ककाण्ड, पृष्ठ ७२।

१०७. ब्रह्मसिद्धि, ब्रह्मकाण्ड, पृष्ठ १७।

१०८. वहीं, Introduction by S. Kuppuswami Shastri p. XII, "According to this view there is only one absolute reality of a positive Kind, Viz. Brahman."

१०९. वहीं, पृष्ठ ४।

११०. वहीं, नियोगकाण्ड, पृष्ठ १२१।

१११. वहीं, सिद्धिकाण्ड, ३ पृष्ठ १५७।

११२. वहीं, ब्रह्मकाण्ड, पृष्ठ १०।

११३. वहीं, पृष्ठ ११।

❑❑❑

# (ब) जीव-निरूपण

सर्वव्यापी परमात्मा शरीर-मन-बुद्धि के संघात में व्याप्त होकर उनसे स्वभावतः तादात्म्य कर लेता है। इससे बुद्धि में अहंकार की प्रतीति होती है और इस अवस्था में वह जीव कहलाता है। शंकर जीव की परिभाषा इस प्रकार देते हैं –

जीवो बुद्धयाद्युपाधि परिच्छेदाभिमानी।[१]

अर्थात् जीव बुद्धि आदि की उपाधियों से परिच्छन्न होने का अभिमानी है।

वही जीव अपने आपको शरीर मानने के कारण 'शारीरः'[२] कर्म में प्रवृत्त होने के कारण 'कर्त्ता', सुख-दुःख में लिप्त होने के कारण 'भोक्ता', पाप कर्म करने के कारण 'पापी', बुद्धिगत सीमित ज्ञान से घिरा रहने से 'अल्पज्ञ' और राग-द्वेष कृत कल्पित संसार में निमग्न रहने के कारण 'संसारी' कहलाता है। यद्यपि आत्मा असंग और निर्लेप है, उस पर शरीरादि के विकार और कर्मों से उत्पन्न पाप-पुण्य का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, किन्तु अध्यास के कारण उसे अपने स्वरूप की विस्मृति हो जाती है और वह अपने को बद्ध मानता है।

बद्ध जीव स्वयं में क्या है – यह बताना कठिन है। शंकर उसका परिचय देते हुए कभी उसे परमात्मा का आभास, कभी परमात्मा का प्रतिबिम्ब और कभी उसे परमात्मा का ही अवच्छिन्न रूप कहते हैं। अध्यास भाष्य में उन्होंने जीव को अध्यास-जन्य आभास माना है।[३] जीव की तात्कालिक पहचान उसका कर्तृत्व और भोक्तृत्व अभिमान है। इसका कारण अविद्या है। अविद्या के रहने तक ही कर्त्तत्वादि अभिमान है और जीव-भाव है। अविद्या अध्यास के अतिरिक्त कुछ नहीं है। 'अध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते'[४] – अध्यास में आत्मा अैर अनात्मा के विरुद्ध धर्मों का मिथुनीकरण होता है।[५] आत्मा शुद्ध निर्विकार सत् वस्तु है। उसका अनात्मा से संसर्ग संभव न होने पर भी अध्यास या अज्ञान के कारण होता हुआ सा भासित होता है। इसी परिणामस्वरूप आत्मा में जीव भाव की प्रतीति होती है।

तात्पर्य यह है कि जीव न आत्मा है और न उससे अन्य कोई वस्तु। 'न स एव साक्षात् नापि वस्त्वन्तरम्।'[६] फिर वह क्या है? आत्मा ही अनात्मा की उपाधियों में अपने स्वरूप लक्षणों को भूल कर अनात्मा के लक्षण अपने मान कर जीव कहलाता है। इस स्थिति का वर्णन अवच्छेद, प्रतिबिम्ब या आभास का दृष्टान्त देकर किया जाता है।

जीव शुद्ध आत्मा का ही आभास रूप है। इसका दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए शंकर कहते हैं :-

स्थाणौ पुरुषवद् भ्रान्त्या क्रेता ब्रह्माणि जीवता।[७] अर्थात् जैसे स्थाणु (ठूँठ) में पुरुष की प्रतीति भ्रांति से होती है, वैसे ही ब्रह्म में जीव भाव भ्रान्ति से प्रतीत होता है।

पञ्चकोशादियोगेन तत्तन्मय इव स्थितः।
शुद्धात्मा नीलवस्त्रादि योगेन स्फको यथा।[८]

अर्थात् शुद्धात्मा पञ्चकोशादि के योग से तन्मय होता है और उनके गुणों को उसी प्रकार ग्रहण-सा कर लेता है, जिस प्रकार नीलवस्त्र के निकट स्फटिक मणि नील-सी प्रतीत होती है।

इन दृष्टान्तों में पुरुष और नीलिमा आभास मात्र हैं तथा स्थाणु और स्फटिक निर्विकार रहते हुए भी परिच्छिन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार कूटस्थ आत्मा निर्विकार रहते हुए भी अनात्मा से परिच्छिन्न होकर जीव का आभास उत्पन्न करता है। इस व्याख्या के अनुसार अहं की मिथ्या प्रतीति ही जीव है। जैसे अज्ञान दशा स्थाणु भासित न होकर पुरुष ही भासित होता है और ज्ञान दशा में पुरुष का बाध हो जाता है, केवल स्थाणु ही उपलब्ध होता है, वैसे ही अज्ञान दशा में अहंकार रूप जीव अनुभव में आता है किन्तु ज्ञान की अवस्था में विलीन हो जाता है और सत्स्वरूप आत्मा का बोध होता है।

भ्रान्त्या प्राप्तो जीवभावो न सत्यो
मोहापाये नास्त्यवस्तुस्वभावत्।[९]
रज्जवां सर्पो भ्रान्तिकालीन एव
भ्रान्तेर्नाशे नैव सर्पोऽपितद्वत्।।[१०]

अर्थात् भ्रम से जो जीवभाव की प्राप्ति हुई है, वह वास्तविक नहीं है क्योंकि वह अवस्तुरूप होने से, मोह दूर हो जाने पर स्वभाव से नहीं रहता है। जैसे भ्रम की स्थिति पर्यन्त ही रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है, भ्रम के नाश होने पर फिर सर्प प्रतीत नहीं होता है।

पुनः जीवभाव की व्याख्या प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त द्वारा की गई है।

घटोदके बिम्बितमर्कबिम्ब
मालोक्य मूठो रविमेय मन्यते।
तथा चिदाभासमुपाधिसंस्थं
भ्रान्त्याहमित्येव जड़ोऽभिमन्यते।[११]

अर्थात् जिस प्रकार मूढ़ पुरुष घड़े के जल में प्रतिबिम्बत सूर्यबिम्ब को देख कर उसे सूर्य ही समझता है, उसी प्रकार उपाधि में स्थित चिदाभास को आज्ञानी पुरुष भ्रम से अपना ही मान बैठते हैं।

यह प्रतिबिम्ब भी आभास मात्र है। प्रतिबिम्ब कोई तात्त्विक सत्ता नहीं है। यह अहंकार रूप, विकारी और सत्स्वरूप को छिपाने वाला है।

अहङ्कर्तर्यस्मिन्नहमिति मति मुञ्च सहसा
विकारात्मन्यात्मप्रतिफलजुषि स्वस्थितिमुषि।[१२]

अर्थात् इस विकारात्मक, आत्मप्रतिबिम्बयुक्त और स्वरूप को छिपाने वाले अहंकार में अहंबुद्धि को शीघ्र ही त्याग दो।

आभाव एवं चैष जीवः पस्यात्मनो
जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः ।[१३]

अर्थात् जलगत सूर्यप्रतिबिम्ब आदि के समान इस जीव को परमात्मा का आभास समझना चाहिए।

प्रतिबिम्ब बिम्ब के समान ही होता है किन्तु इसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। इसके अतिरिक्त वह अपने अधिष्ठान के विकारों से विकृत होता है। जल में प्रतिबिम्बित सूर्य में सूर्य के कुछ लक्षण भासित होते हैं किन्तु उनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वे लक्षण बिम्ब रूप सूर्य से प्राप्त होते हैं। जल के हिलने से प्रतिबिम्ब हिलता भी है। इसी प्रकार बुद्धि में भासित चैतन्य एक ओर आत्मा पर आश्रित है और दूसरी ओर बुद्धि की गुणवत्ता पर। निर्मल बुद्धि में यह चैतन्य स्पष्ट प्रतिबिम्बित होती है। किन्तु क्षुब्ध बुद्धि में वह अपने को विक्षुब्ध अनुभव करता है। बुद्धि के लय होने पर बुद्धिगत चिदाभास भी उपलब्ध नहीं रहता है।

शंकर इस जीव को परमात्मा का अवच्छेद भी मानते हैं। अवच्छेद का दृष्टान्त घटाकाश है।

घटाकाशं महाकाश इवात्मानं परमात्मनि।
विलाप्याखण्डभावेन तूष्णी भव सदा मूने।।[१४]

अर्थात् हे मुनि ! जैसे घटाकाश का नाश होने पर वह महाकाश में मिल जाता है, वैसे ही जीवात्मा को परमात्मा में लीन करके सर्वदा अखण्ड भाव से मौन होकर रहो।

यथकाशे दृशीकेशो नानोपाधिगतो विभुः।
तद्भेदाद्भिन्नवद्भाति तत्राशे केवलो भवेत्।।[१५]

अर्थात् जैसे सर्वव्यापक आकाश विभिन्न नानाविध उपाधियों के कारण अनेक प्रतीत होता है और उन उपाधियों के नष्ट होने पर एक हो जाता है, उसी प्रकार विभिन्न उपाधियों के कारण अनेक प्रतीत होने वाली एक ही सर्वव्यापक सत्ता उन उपाधियों के नष्ट हो जाने पर एक हो जाती है।

अवच्छेदः कल्पितः स्यादवच्छेद्यं तु वास्तवम्।
तस्मिन् जीवत्वमारोपात् ब्रह्मत्वं तु स्वभावतः।।[१६]

अर्थात् अवच्छेद कल्पित है किन्तु अवच्छेद्य सत्य है। इसलिए जीवत्व तो आरोपित है किन्तु ब्रह्म सत्य है।

शंकर ने इन तीनों प्रकारों से परमात्मा और जीव का सम्बन्ध तथा जीव का स्वरूप निरूपित किया, किन्तु उनके अनुयायियों ने इनमें से किसी एक को प्रधानता देकर अपना मतवाद स्थापित करने का प्रयास किया। विवरण-प्रस्थानवादी प्रतिबिम्बवाद, भामती-प्रस्थानवादी अवच्छेदवाद और वार्तिक-प्रस्थानवादी आभासवाद की स्थापना करते हैं। ये अपने मत के समर्थन में तर्क देते हैं तथा अन्य मतों का खण्डन करते हैं।

प्रतिबिम्बवाद और अवच्छेदवाद के प्रतिपादक आचार्य एक-दूसरे के मतों का खण्डन करने में अधिक रुचि रखते हैं। आभासवादी इन दोनों मतों का खण्डन तो करते हैं किन्तु स्वयं प्रतिबिम्बवाद के अधिक निकट दिखाई देते हैं। वे आभास का अर्थ जलगत् प्रतिबिम्ब ही मानते हैं। सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि जलमात्र में सूर्यबिम्ब जैसे प्रतिबिम्ब रूप से प्रविष्ट होता है, वैसे ही वस्तुतः अप्रविष्ट स्वभाव वाले तत्त्व का जगत् में प्रवेश सूर्यप्रतिबिम्ब के समान ही कल्पित है।[१७] किन्तु वे जीवों की अनेकता का कारण बताते हुए घटाकाश का भी दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं।

स्वाभासवत्मैनैवेतत् स्वात्माज्ञानजभूमिषु।
इतं बहुत्वमेकं सत् वियद् यद्वत् घटादिषु।।[१८]

अर्थात् ब्रह्म अपने आभासरूप से ही अज्ञानज भूमियों में (अविद्य के कार्यभूत अन्तःकरणों में) एक होकर भी अनेकत्व को प्राप्त होता है जैसे आकाश घटों की उपाधि में विभक्त-सा भासित होता है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि सुरेश्वर प्रतिबिम्ब और अवच्छेद दोनों में ही आभास को प्रधानता देते हैं। परमात्मा का प्रतिबिम्ब जैसे आभास मात्र है, वैसे ही उसका अवच्छेद भी आभास ही है। परमतत्त्व के ही अविद्याकार्य में आभास को जीव कहते हैं और इसे आभास रूप कहने में इसके मिथ्यात्व का ही संकेत है।

प्रतिबिम्बवादी और अवच्छेदवादी अपने-अपने दृष्टान्तों से जीव के रूप का अधिक उपयुक्त निरूपण सम्भव मानते हैं। प्रतिबिम्बवादी विद्यारण्य अपने मत को श्रुति, स्मृति और सूत्र समर्थित मानते हैं और उसके समर्थन में तर्क उन्होंने स्वयं दिये हैं।

न च जीवस्य प्रतिबिम्बत्वे मानाभावः
श्रुतिस्मृतिसूत्रेभ्यस्तत्सिद्धः। 'रूपं रूपं
प्रतिरूपो बभूव' इति श्रुतिः। 'एकधा बहुधा
चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' इति स्मृतिः।
'अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्' इति सूत्रम्।[१९]

अर्थात् जीव को प्रतिबिम्ब रूप मानने में प्रमाण का भी अभाव नहीं है क्योंकि श्रुति, स्मृति तथा वेदान्तसूत्रों से उसकी सिद्धि होती है। 'वह प्रति शरीर में प्रतिबिम्ब रूप में हो गया।' यह श्रुति है। 'स्वयं एक ही है तो भी जल में चन्द्रादि की भांति वह नाना प्रकार का दिखाई देता है' ऐसी स्मृति है और 'उसके नानाभाव में सूर्यक अर्थात् जलप्रतिबिम्ब की उपमा दी गयी है' ऐसा सूत्र है।

प्रतिबिम्बवाद में एंक बड़ा गुण यह है कि उसमें जीव और परमात्मा दोनों की स्थिति का प्रतिपादन हो जाता है। विद्यारण्य लिखते हैं, 'जीव को अवच्छेद मानने पर जीवोपाधि के मध्य में ब्रह्म के भी रहने से उसमें द्विगुण चैतन्य कैसे होगा क्योंकि अवच्छेदवाद में आकाश का घटरूप उपाधि में द्विगुण होना देखा नहीं गया है। यदि ब्रह्म की जीवावच्छेद उपाधि में सत्ता न मानें तो ब्रह्म का सर्वव्यापकत्व तथा सकलनियामकत्व उत्पन्न नहीं हो सकेगा।'[२०] तात्पर्य यह है कि यदि घटाकाशदृष्टान्त में जीव को अविचिछन्न माना जाता है तो जैसे घट में अवच्छिन्न आकाश की ही वृत्ति है, उसमें अनवच्छिन्न आकाश की वृत्ति नहीं देखी जाती, वैसे ही दृष्टान्तिक में नहीं है क्योंकि यहाँ तो चेतन की दो वृत्तियाँ हैं - एक तो अवच्छिन्न जीव की वृत्ति है और द्वितीय अन्तर्यामी की है। यह द्विगुणित चैतन्य की वृत्ति प्रतिबिम्ब पक्ष में ही बन जाती है, उपाधि में द्विगुणित चैतन्य की वृत्ति के न मानने से ब्रह्म की सर्वान्तर्यामिता से विरोध होगा, अतः अवच्छेदवाद में द्रष्टान्तिक वैषभ्य आता है। प्रतिबिम्बवाद में यह दोष नहीं है :

प्रतिबिम्बपक्षे तु द्विगुर्ण कृत्य वृत्तिर्व
दोषाय, जगमध्ये स्वाभाविक जानुमात्राकाशस्य
प्रतिबिम्बित विशालाकाशस्य च वृत्तेः।
तस्मादहङ्कारोपाधिकृतो ब्रह्मप्रतिबिम्बो जीवः।[२१]

अर्थात् प्रतिबिम्बपक्ष में चैतन्य की द्विगुणित वृत्ति के होने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि जल के अन्दर स्वभावतः रहने वाले घुटने तक के आकाश की और दूसरे जल में प्रतिबिम्बत महाकाश की वृत्ति देखी जाती है। इसलिए अहंकाररूप उपाधि द्वारा कृत ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही जीव है।

प्रतिबिम्बवादी आचार्यों में भी प्रतिबिम्ब के माध्यम को लेकर मतभेद उत्पन्न हुए हैं। विद्यारण्य के अनुसार माया में चित्प्रतिबिम्ब ईश्वर है और नाना अविद्याओं में चित्प्रतिबिम्ब जीव है।

मायाबिम्बो वशीकृत्य ता स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः।
अविद्यावशगस्त्वन्य स्तद्वै चित्र्यादनेकधा।।[२२]

अर्थात् माया में पड़ा प्रतिबिम्ब उसे अपने वश में रखता है और सर्वज्ञ ईश्वर

बनता है तथा दूसरा जीव अविद्या के परवश होकर उसकी विचित्रता के कारण अनेक हो गया है।

सर्वज्ञात्म मुनि ने महानारायणयोपनिषद् का यह मंत्र माना है – 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः'[२३] और अविद्या में चैतन्य का प्रतिबिम्ब ईश्वर का स्वरूप कहा है तथा अन्तःकरण में उसी चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव का स्वरूप स्वीकार किया है।[२४]

वाचस्पति मिश्र प्रतिबिम्बवाद में दोष मानते हैं और अवच्छेद के कारण जीवभाव की उत्पत्ति मानते हैं। 'यह सत्य है कि प्रत्यगात्मा स्वयं प्रकाश होने के कारण अविषय और अनंश है, तो भी अनिर्वचनीय अनादि अविद्य परिकल्पित बुद्धि, मन, स्थल शरीर और इन्द्रियों द्वारा किया गया अवच्छेद ही है। अनवच्छिन्न होकर भी अवच्छिन्न के समान, एक व अभिन्न होते हुए भी भेदयुक्त के समान, निष्क्रिय-असंग होते हुए भी कर्त्ताभोक्ता की तरह, किसी का विषय न होते हुए भी मैं प्रतीति के विषय की तरह जाना जा रहा हूँ। यह उसी प्रकार है जैसे वस्तुतः सीमा से असंस्पृष्ट भी आकाश घड़े, सकोरे या अन्य पात्रों या कक्ष भित्तियों से घिरा होने पर उन-उन सीमाओं के अनरूप अनेक भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, उन-उन सीमाओं के अनुरूप अनेक विध गुण-धर्मों वाला भी अनुभव में आता है।'[२५]

इस प्रकार जीव के स्वरूप निर्धारण में वाचस्पति की दृष्टि निरन्तर उसके निर्विकार परमात्मा स्वरूप पर ही टिकी है। वे अन्यत्र कहते हैं –

> न जीव आस्मनोऽन्यः नापि तद्विकारः, किंत्वात्मै-
> वाविद्योपाधान कल्पितावच्छेदः आकाश इव
> घटमणिकादिकल्पितावच्छेदौ घटाकाशो मणिकाकाशों
> न तु परमाकाशादन्यस्तद् विकारो वा।[२६]

अर्थात् जीव न तो परमात्म तत्त्व से अन्य है, न उसका विकार या अवयव है किन्तु आत्मा ही अविद्यारूप उपाधि से कल्पित अवच्छेद वाला होकर जीव है। जैसे, आकाश घट-मणिका आदि से कल्पित अवच्छेद वाला होकर घटाकाश, मणिकाकाश कहलाता हुआ वास्तविक आकाश से भिन्न या उसका विकार नहीं होता है।

घट रहने पर भी घटाकाश परमाकाश से पृथक् नहीं होता है। यह ज्ञान की दृष्टि से जाना जाता है। अज्ञान में ऐसा प्रतीत होता है मानो घटाकाश पृथक् है। इसी प्रकार अज्ञान में जीवभाव है और परमात्मा से पृथकता भासित होती है किन्तु ज्ञान में परामात्मरूप अनुभव होता है। उपाधि के बनने-बिगड़ने से कुछ अन्तर नहीं पड़ता।

यह मतभेद शंकर के परवर्ती आचार्यों में ही है, शंकर ने स्वयं इनमें से किसी मत का आग्रह नहीं रखा है। उनके मत से तो सभी दृष्टान्त अधूरे हैं। न वे द्राष्टान्तिक

के साथ पूर्ण रूप से घटित होते हैं और न उसकी आवश्यकता है। यदि दोनों में पूर्ण सादृश्य हो, तब तो दृष्टान्त-द्राष्टान्तिक भाव का उच्छेद हो जायगा। वे प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त का दोष स्वयं जानते हैं, फिर भी उसे उपयुक्त मानते हैं :

युक्त एव त्वयं दृष्टान्तः
विविक्षितांश संभवात्।[२७]

अर्थात् यह (जलगत सूर्यप्रतिबिम्ब का) दृष्टान्त तो युक्त ही है, क्योंकि इसमें विविक्षितांश संभव है।

इस दृष्टान्त से जो समानता ग्रहण करने योग्य है, उसका उल्लेख करते हुए शंकर कहते हैं कि बुद्धि और ह्रास का भागी होना सारूप्य है। जलगत सूर्य प्रतिबिम्ब जल की वृद्धि होने पर बढ़ता है, जल के ह्रास होने पर क्षीण होता है, जल के हिलने पर हिलता है, जल के भिन्न होने पर भिन्न होता है। इस प्रकार जल के धर्मों का अनुयायी होता है, परन्तु परमार्थतः सूर्य वैसा नहीं है। ब्रह्म अविकृत, एकरूप होता हुआ भी देह आदि उपाधि के अन्तर्भाव से वृद्धि और ह्रास आदि उपाधि के धर्मों को प्राप्त-सा होता है।[२८]

इस प्रकार शंकर ने यहाँ प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त का तो समर्थन किया है, किन्तु वे प्रतिबिम्बवाद का समर्थन नहीं करते। उन्हें इस बात का ध्यान है कि आत्मा मूर्त नहीं है और उपाधियाँ इससे पृथग्भूत और दूरदेशस्थ नहीं हैं क्योंकि आत्मा सर्वगत और सबसे अभिन्न है। वाचस्पति इसी दोष के कारण प्रतिबिम्बवाद का खण्डन करते हैं और विद्यारण्य इन दोषों का निवारण करने का प्रयास करते हैं। किन्तु जब शंकर इसे सीमित अर्थ में स्वीकार करते हैं तो वाचस्पति उस पर कोई टीका किये बिना आगे बढ़ जाते हैं।[२९] उन्हीं का अनुसरण करते हुए कल्पतरु[३०] और परिमलकार[३१] भी चुप रहते हैं और शंकर का खण्डन नहीं करते।

शंकर ने अपने भाष्यों में अनेक बार घटाकाश का दृष्टान्त देते हुए जीव के अवच्छिन्न रूप का प्रतिपादन किया है। वह भी सप्रयोजन है। वे कहते हैं, ईश्वर से अन्य कोई संसारी जीव नहीं है। देहादि संघात रूप उपाधि के साथ उसका सम्बन्ध वैसे ही दृष्ट है जैसे आकाश का घट आदि से।[३२] अथवा, जैसे अपरिच्छिन्न आकाश घट आदि उपाधियों की अधीनता से अपरिच्छिन्न-सा भासता है, वैसे ही देहादि उपाधियों से परिच्छिन्न हुआ सा परमात्मा अज्ञानियों को जीव रूप में भासता है।[३३] किन्तु जीव का अन्तर्यामी होना इष्ट नहीं है, क्योंकि वह घटाकाश के समान परिच्छिन्न है। उसे पृथ्वी आदि के भीतर रह कर नियमन करने की सामर्थ्य नहीं है। वह सामर्थ्य अपरिच्छिन्न ईश्वर में ही है।[३४]

कहीं-कहीं शंकर ने प्रतिबिम्ब और अवच्छेद के दृष्टान्तों का प्रयोग एक साथ किया है, जैसे जल में प्रतीत होने वाला सूर्य का अंश प्रतिबिम्ब, जलरूप निमित्त का

नाश होने पर सूर्य को ही प्राप्त होकर फिर नहीं लौटता वैसे ही उस परमात्मा का अंशभूत जीव उस परमात्मा से संयुक्त होकर फिर नहीं लौटता है। अथवा जैसे घट आदि उपाधि से परिच्छिन्न घटादि का आकाश महाकाश का ही अंश हैं और वह घट आदि निमित्त के नाश होने पर आकाश को ही प्राप्त हो जाता है, फिर लौटता नहीं, वैसे ही इसके विषय में समझना चाहिए।[३५] जीव का उपाधियाँ त्याग कर परमात्मा के साथ एकीकृत होने में दोनों दृष्टान्त एक-समान उपयोगी हैं। तात्पर्य यह है कि शंकर अपने को इनमें से किसी एक 'वाद' के साथ प्रतिबद्ध नहीं करते, वरन् अपने प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट करने के लिए जो भी दृष्टान्त उपयोगी पाते हैं, वही प्रस्तुत कर देते हैं।

इस प्रकार, 'अस्त्यात्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपञ्जराध्यक्षः कर्मफलसम्बन्धी'[३६] अर्थात् शरीर और इन्द्रिय रूपी पञ्जर का स्वामी और कर्मफल का सम्बन्धी जीव नामक आत्मा है। इसके सम्बन्ध में प्रश्न हो सकता है कि क्या यह आकाश आदि के समान ब्रह्म से उत्पन्न होता है अथवा ब्रह्म के समान उत्पन्न नहीं होता है? इस विषय में श्रुतियों में परस्पर विरोधी कथन मिलते हैं। एक श्रुति अनुसार परमात्मा से जीव की उत्पत्ति होती है :

अग्नेर्विस्फुलिंगवदेतस्मात्परमात्मनः
सर्वे जीवात्मनो व्युच्चरन्ति।[३७]

अर्थात् जैसे अग्नि से चिंगारियाँ निकलती हैं वैसे इस परमात्मा से सब जीव निकलते हैं।

इसके विपरीत जीव की अनुत्पत्ति सूचक श्रुतियों को भी उद्धृत किया जा सकता है :

स एव इह प्रवष्टि आनखाग्रेभ्य अज आत्मा।[३८]

अर्थात यह इस शरीर में नख के अग्रभाग पर्यन्त प्रविष्ट है। वह आत्मा अज है।

शंकर जीवोत्पत्ति सूचक श्रुति का शाब्दिक अर्थ स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि परमात्मा के एक अवयव के फूट कर अलग हो जाने से परमात्मा में क्षति की प्राप्ति होगी तथा उसके जाने पर परमात्मा के अन्य देशस्थ अवयव-समुदाय में छेद की भी प्राप्ति होगी और इस प्रकार परमात्मा की निश्छिद्रता का प्रतिपादन करने वाले वाक्य से विरोध होगा। परमात्मा से शून्य देश का अभाव होने के कारण आत्मा के अवयवभूत विज्ञानात्मा (जीव) को संसारित्व की प्राप्ति होने पर अवयवान्तर के ह्रास और वृद्धि के कारण परमात्मा को हृदय शूल के समान दुःख की प्राप्ति होगी।[३९] अग्नि और स्फुलिंग का दृष्टान्त तो जीवात्मा और परमात्मा के एकत्व की प्रतीति के लिए

है। अग्नि की चिंगारी अग्नि ही होती है, इसलिए लोक में वह अग्नि के साथ एकत्व-प्रत्यय के योग्य देखा गया है।[४०] अग्नि की चिंगारियों के समान परमात्मा से विभक्त जीव उसी की जाति वाला है। यहाँ देहेन्द्रियादि गहनवन में प्रविष्ट होने पर असंसारी होकर भी अपनी परमात्मस्वरूपता को न जानने के कारण सांसारिक धर्मों का अनुवर्तन करता है। आचार्य द्वारा उससे ऐसा कहने पर कि 'तू अग्नि से विस्फुलिंग के समान परब्रह्म से च्युत हुआ है', उसका ब्रह्म प्रत्यय दृढ हो जाता है।[४१]

इसके अतिरिक्त, निरवयव और असंसारी परमात्मा के संसारीरूप एक देश की कल्पना करना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि स्वयं परमात्मा में देश नहीं है।[४२] जैसे आकाश का विभाग घट आदि सम्बन्ध निमित्तक भासता है, वैसे बुद्धि आदि उपाधि के निमित्त से इसमें प्रविभाग (जीव) भासता है। जो भी कहीं पर जीव की उत्पत्ति और प्रलय का श्रवण है, वह भी इस उपाधि के सम्बन्ध से जाना जाता है।

उपाध्युत्पत्त्या स्योत्पत्तिस्तत्प्रलयने च प्रलयः।[४३]

अर्थात् उपाधि की उत्पत्ति से इसकी उत्पत्ति और उसके प्रलय से प्रलय है। परमात्मा और जीव के लक्षण भेद भी उपाधि निमित्तक हैं। संक्षेप में, जीव तत्त्वतः परमात्मा ही है, किन्तु उपाधियों की उत्पत्ति के साथ जीवभाव की उत्पत्ति होती है और उपाधियों के लय हो जाने से जीवभाव भी नष्ट हो जाता है। उपाधि के कारण जीव में परिच्छिन्नत्व और उसी कारण उत्क्रान्ति, गति और अगति का श्रवण होता है।[४४]

यद्यपि परमात्मा विभु है किन्तु वही उपाधिग्रस्त होकर जीवभाव में उसी आकार का है, जिस आकार की उपाधि है। शंकर ने जैन-दर्शन में मान्य जीव के माध्यम परिमाण का खण्डन किया है और अनेक तर्क दिये हैं।[४५] जीव विभु इसलिए नहीं हो सकता कि सर्वव्यापी सत्ता में उत्क्रमण, गति और अगति सम्भव नहीं है, जैसे आकाश में। परिशेष से जीव अणुरूप है। इसके समर्थन में श्रुतियाँ भी हैं :

एवो पुरात्मा चेतसा वेदितव्यो
यस्मिन्प्राणः पञ्चवधा संविवेश।[४६]

अर्थात् यह अणु आत्मा केवल विशुद्ध विज्ञान से जानने योग्य है, जिस शरीर में प्राण पांच प्रकार का होकर प्रविष्ट है। ऐसा ज्ञात होता है कि प्राण के सम्बन्ध से 'आत्मा' शब्द का अर्थ जीव ही है और वह अणु रूप है।

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञयेः।[४७]

अर्थात् सौ भागों में विभक्त किया हुआ जो केश के अग्रभाग का सौवां भाग है, उसके समान जीव को जानना चाहिए। यहाँ दृष्टान्त के द्वारा जीव को अणु रूप कहा है।

आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः।[४८]

अर्थात् लकड़ी के झण्डे में लगे लोहे की (आरा की) नोक के समान आकार वाला आत्मा देखा गया है। इस दूसरे दृष्टान्त से भी जीव का अणुरूप ही कहा गया है।

इसी आधार पर शंकर भी जीव को अणु रूप मानते हैं। 'अकर्त्ता, अभोक्ता, असंसारी, नित्य मुक्त होते हुए आत्मा का कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि रूप सांसारित्व बुद्धि आदि उपाधि के धर्मों के अध्यास के कारण ही है। इसलिए तद्गुणसारत्व होने से बुद्धि के परिणाम से इसका परिणाम व्यपदेश है और बुद्धि की उत्क्रान्ति आदि से जीव की उत्क्रान्ति आदि का व्यपदेश है। इसके परिमाण और उत्क्रमण आदि स्वाभाविक नहीं हैं।'[४९]

जीव में अणुत्व गौण है और अनन्तता पारमार्थिक है। दोनों मुख्य नहीं हो सकते। जीव का अणुत्व मुख्य और पारमार्थिक मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि उस दशा में वह अपनी उपाधि त्याग कर विभु नहीं होगा और न परमात्मा से एकत्व लाभ होगा।

आत्मा बुद्धि के संयोग से ही जीव है। शंकर के अनुसार, 'जब तक यह आत्मा संसारी है, और इसका तत्त्वज्ञान से संसारित्व निवृत्त नहीं होता, तब तक इसका बुद्धि के साथ सम्बन्ध समाप्त नहीं हो सकता। जब तक बुद्धिरूप उपाधि का सम्बन्ध है, तब तक जीव में जीवत्व और संसारित्व है। वास्तव में बुद्धि उपाधि के सम्बन्ध से परिकल्पित स्वरूप से व्यतिरिक्त जीव नाम ही नहीं है। . . . तात्पर्य यह है कि यह आत्मा स्वतः न ध्यान करता है और न चलता ही है, परन्तु बुद्धि के ध्यानस्थ होने पर वह ध्यान करता सा प्रतीत होता है और बुद्धि के चलने पर वह चलता सा ज्ञात होता है। आत्मा का यह बुद्धिरूप उपाधि के साथ सम्बन्ध मिथ्याज्ञान पुरासर है। मिथ्याज्ञान की निवृत्ति यथार्थ ज्ञान के बिना नहीं होती। इसलिए जब तक ब्रह्मात्म ज्ञान नहीं होता, तब तक यह बुद्धि रूप उपाधि सम्बन्ध निवृत्त नहीं होता है।'[५०]

अनेक स्थलों में शंकर 'बुद्धि' को ही जीव की उपाधि मानते हैं, जैसा कि ऊपर के उद्धरणों में देखा जा सकता है, किन्तु 'बुद्धि' के साथ वे 'आदि' शब्द भी जोड़ते हैं। बुद्धि आदि से उनका क्या तात्पर्य है इसका उल्लेख करते हुए वे कहते हैं, 'आत्मा का उपाधिभूत वह अन्तःकरण भिन्न-भिन्न स्थलों पर - मन, बुद्धि, विज्ञान और चित्त - इस तरह अनेक प्रकार से कहा जाता है। कहीं वृत्ति विभाग से संशय आदि वृत्ति वाले को मन कहते हैं और निश्चय आदि वृत्ति वाले को बुद्धि कहते हैं।'[५१]

बुद्धि आदि की उपाधि वाले जीव में ही कर्त्ताभाव (कर्म करने की स्वतंत्रता) होता है। जीव के कर्त्ता होने पर ही शास्त्र अर्थवान होता है। कर्त्ता न होने पर वह उत्पन्न नहीं होगा।[५२] स्वप्न की अवस्था में जीव विहार करता है, इससे भी उसका कर्तृत्व

सिद्ध होता है।[५३] इसके अतिरिक्त जीव का कर्तृत्व इससे भी सिद्ध होता है कि वह इन्द्रियों का प्रयोग करता है। कर्त्ता समर्थ होता हुआ भी करण का ग्रहण क्रियाओं में प्रवृत्त होता हुआ देखा जाता है।[५४]

जीव का कर्त्तृत्व स्वाभाविक है अथवा उपाधि निमित्तक है? इस पर विचार करते हुए शंकर कहते हैं – 'आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर आत्मा का मोक्षाभाव प्रसंग होगा। आत्मा का कर्तृत्व स्वाभाविक होने पर जैसे अग्नि की उष्णता से उनका मोक्ष नहीं होता, वैसे ही आत्मा का कर्तृत्व से भी मोक्ष न होगा। . . . अतः उपाधि धर्म के अध्यास से ही आत्मा में कर्तृत्व है, स्वाभाविक नहीं और विद्या अवस्था में कर्तृत्व, भोक्तृत्व निवृत्त हो जाता है। जैसे बढ़ई हाथ में बसूला ग्रहण कर लकड़ी काटता है और उसका त्याग कर कर्म से निवृत्त हो जाता है, वैसे ही आत्मा भी मन आदि कारणों का ग्रहण अथवा त्याग करता है।'[५५]

शंकर के मतानुसार, 'अविद्या अवस्था में जो यह उपाधि निमित्तक जीव में कर्तत्व कहा गया है, वह ईश्वर की अपेक्षा से है। . . . कर्मों का अध्यक्ष, सम्पूर्ण भूतों का अधिष्ठान साक्षी चेतयिता परमात्मा ही अपनी अनुज्ञा से कर्म करवाता है और उसके अनुग्रह हेतुक विज्ञान से मोक्ष सिद्धि हो सकती है। . . . यद्यपि लोक में कृषि आदि कर्मों में ईश्वर कारण रूप से प्रसिद्ध नहीं है, तो भी सम्पूर्ण प्रवृत्तियों में ईश्वर प्रयोजक कर्त्ता है।[५६] शंकर के शब्दों में –

परायत्तेऽपि हि कर्तृत्वे करोत्येव जीवनः
कुर्वन्तं हि तमीश्वरः कारयति।[५७]

अर्थात् ईश्वर से प्राप्त कर्तृत्व होने पर भी जीव करता है, करते हुए उसको ईश्वर कराता है। जीवकृत धर्माधर्म के वैषम्य की अपेक्षा करने वाला ही ईश्वर मेघ के समान केवल निमित्त रूप से तत्-तत् फलों को विषय रूप से विभक्त करता है, जैसे लोक में अपने-अपने असाधारण बीजों से जायमान अनेक प्रकार के गुच्छ, गुल्म, ब्रीहि, यब आदि के प्रति साधारण कारण पर्जन्य होता है। पर्जन्य के न होने से उनमें रस, पुष्प, फल, पत्र आदि का वैषम्य उत्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार जीव कृत प्रयत्न की अपेक्षा करने वाला ईश्वर उनके शुभ और अशुभ का विधान करे, यह युक्त है। 'निरतिशय उपाधि सम्पन्न ईश्वर हीन उपाधि सम्पन्न जीवों पर शासन करता है, इसमें कुछ भी विरुद्ध नहीं है।'[५८]

ईश्वर कर्म का प्रेरक होते हुए भी, जैसे जीव संसार दुःख का अनुभव करता है वैसे परमेश्वर अनुभव नहीं करता। इसका कारण बताते हुए शंकर कहते हैं, 'जीव अविद्या के आवेश के बल से देह आदि में आत्मभाव-सा प्राप्त कर तत्कृत दुःख से 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार अविद्याकृत दुःख के उपयोग का अभिमान करता है, वैसे

परमात्मा को देह आदि में आत्मभाव अथवा दुःखाभिमान नहीं है। जीव को उपाधि के अभिमान से ही दुःखाभिमान है, पारमार्थिक नहीं।'[५६]

आत्मा अन्तःकरण की उपाधि से तादात्म्य कर जीवभाव को प्राप्त होता है, किन्तु इसके साथ उसे अपने सत् स्वरूप का अज्ञान भी होना चाहिए। शंकर अविद्या को जीव की 'कारणोपाधि' मानते हैं। इसके कारण वह अन्तःकरण में अहंभाव रखते हुए कर्त्ता-भोक्ता भाव स्वीकार करता है। कर्म करने के लिए उसे इन्द्रियों की और स्थूल शरीर की अपेक्षा होती है। ये सब उपाधियाँ एक साथ मिल कर 'कार्य-करण' संघात कहलाती हैं।

नानोपाधिवशादेव जातिवर्णाश्रमादयः।
आत्मन्यारोपितास्तोये रसवर्णादिभेद्वत्।।
पंचीकृतमहाभूतसम्भवं कर्मसंचितम्।
शरीर सुखदुःखानां भोगायतनमुच्यते।।
पंचप्राणमनोबुद्धि दशेन्द्रियसमन्वितम्।
अपंचीकृतभूतोत्थं सूक्ष्मागं भोगसाधनम्।।
अनाद्यविद्यानिर्वाच्या कारणोपाधिरुच्यते।
उपाधि त्रितयादन्यमात्मानभवधारयेत्।।[६०]

अर्थात् नाना उपाधियों के वश होकर ही जाति, वर्ण, आश्रय आदि भाव आत्मा पर आरोपित कर दिये जाते हैं, जैसे जल में रस, वर्ण भेद आरोपित हों। पूर्व संचित कर्म के अनुसार पञ्चीकृत पञ्चभूत निर्मित स्थूल शरीर प्राप्त होता है, जो सुख-दुःखों का भोग करने के लिए भोगायतन है। अपञ्चीकृत सूक्ष्म भूतों से उत्पन्न पंचप्राण, दस इन्द्रियां, मन और बुद्धि से मिल कर बना सूक्ष्म शरीर भोग साधन है। अनिर्वचनीय और अनादि अविद्या ही कारण शरीर है। आत्मा इन तीनों शरीरों की उपाधियों से अन्य है।

इन तीन शरीरों से युक्त आत्मा कर्म करता है और फल भोगता है। ये तीनों शरीर अनात्मा हैं और जीव के लिए उपाधि हैं। आत्मा के ऊपर ये आवरण के समान पड़े हैं अथवा केश के समान उसे आच्छादित करते हैं। शंकर के मतानुसार बन्धन की निवृत्ति के लिए आत्मा और अनात्मा का विवेक करना चाहिए और मूँज में से सींक के समान अपने सत् स्वरूप को पंचकोश अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कहलाते हैं। अन्नमय कोश स्थूल शरीर है, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोश सूक्ष्म शरीर है तथा आनन्दमय कोश कारण शरीर है।

इस जीव की जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थायें हैं। जाग्रत अवस्था में उसे वैश्वानर, स्वप्न अवस्था में तेजस और सुषुप्ति में प्राज्ञ कहते हैं। माण्डूक्य[६२] आदि

उपनिषदों में इसका उल्लेख है, जिसे शंकर ने भी स्वीकार किया है। तीनों शरीरों और तीनों अवस्थाओं से पृथक्निश्प्रपञ्च, शांत, शिव आत्मा है। वही तुरीय है।[६३]

योऽयमात्मा स्वयंज्योतिः पञ्चकोशविलक्षणः।
अवस्थात्रयसाक्षी सन्निर्विकारों निरञ्जनः।।[६४]

अर्थात् जो आत्मा स्वयं-प्रकाश, अन्नमय आदि पाँचों कोशों से पृथक् तथा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का साक्षी होकर भी निर्विकार और निर्मल है (उसे जानो)।

यहाँ 'साक्षी' शब्द का प्रयोग जीव के अर्थ में नहीं। शंकर ने जीव और साक्षी में भेद माना है।

## साक्षी

साक्षी के सम्बन्ध में आचार्य बहुत मतभेद रखते हैं। उपनिषदों में साक्षी परमात्म रूप मिलता है तो शंकर में उसका स्तर घटता दिखाई देता है और मधुसूदन सरस्वती तक पहुँच कर वह उपाधिग्रस्त अज्ञानी जीव का पर्याय बन जाता है।

उपनिषदों में 'साक्षी' शब्द का अधिक प्रयोग नहीं मिलता, यद्यपि उसके पर्याय 'द्रष्टा' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'साक्षी' का उल्लेख श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार है :

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।।[६५]

अर्थात् समस्त प्राणियों में स्थित एक देव है, वह सर्वव्यापक, समस्त भूतों का अन्तरात्मा, कर्मों का अधिष्ठाता, समस्त प्राणियों में बसा हुआ, सबका साक्षी, सबको चेतनत्व प्रदान करने वाला, शुद्ध और निर्गुण है।

शंकर ने इस 'साक्षी' का अर्थ इस प्रकार किया है : 'सर्वेषा भूताना साक्षी सर्वद्रष्टा' अर्थात् समस्त भूतों का साक्षी यानी सर्वद्रष्टा। प्रमाणरूप में उन्होंने पाणिनि सूत्र उद्धृत करना भी आवश्यक समझा, जो इस प्रकार है, 'साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायाम्' (५.२.९१) अर्थात् 'साक्षी' शब्द का अर्थ द्रष्टा है।[६६]

उपर्युक्त मन्त्र के अनुसार जो ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में वास करता है और उनके कर्मों का अध्यक्ष है, वही 'साक्षी' है। इसी भाव को व्यक्त करने वाला इसी उपनिषद् का यह श्लोक भी है :

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिवाकशीति।[६७]

अर्थात् सदा परस्पर मिल कर रहने वाले दो सखा सुपर्ण (पक्षी) एक ही वृक्ष को आश्रित किये हुए हैं। उनमें से एक उसके स्वादिष्ट फलों को भोगता है और दूसरा उन्हें न भोगता हुआ देखता रहता है।

शरीर रूपी वृक्ष पर विज्ञानात्मा (जीव) और परमात्मा ही दो पक्षी के समान हैं। एक अविद्यावश भोगों में फंसा है और दूसरा नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वरूप रहते हुए सभी जीवों को देखता रहता है अर्थात् उनका साक्षी है। 'अभिवाकशीति' का अर्थ है - 'सर्वमपि पश्यन्नास्ते' - सभी को देखता रहता है।[६८] श्वेताश्वतर में उपर्युक्त उद्धृत मन्त्र के आगे आने वाले मन्त्र (४.७) में 'उस सभी को देखने वाले' को 'ईश' कहा गया है और उस की महिमा का उल्लेख हुआ है। इससे स्पष्ट है कि 'साक्षी' वही ईश्वर है जो सबके हृदय में वास करने वाला एक है।

शंकर ने 'साक्षी' शब्द का बहुत प्रयोग किया है और उसका परिचय इस प्रकार दिया है।

पद्मनामपि कोशानां निषेधे युक्तितः श्रुते।।
तन्निषेधावधिः साक्षी बोधरूपोऽवशिष्यते।।[६९]

अर्थात् श्रुति के अनुकूल युक्तियों से पाँच कोशों का निषेध कर देने पर उनके निषेध की अबाध रूप बोध स्वरूप साक्षी बना रहता है।

इस परिभाषा में इतना स्पष्ट है कि साक्षी उपाधियों की निषेधावधि है। शंकर यह भी कहते हैं कि 'ये सब (अहंकार आदि) जिसके द्वारा अनुभव किये जाते हैं और जो स्वयं अनुभव नहीं किया जा सकता। अपनी सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा उस सबके साक्षी को ही अपना आत्मा जानना चाहिए, जिस-जिस के द्वारा जो-जो अनुभव किया जाता है, वह सब उसी के साक्षित्व में कहा जाता है। बिना अनुभव किये पदार्थ में किसी का भी साक्षी होना नहीं माना जाता। अपना तो यह आत्मा स्वयं ही साक्षी है, क्योंकि वह स्वयं अपने आप से ही अनुभव किया जाता है। इसलिए इससे परे कोई और अपना साक्षात् अन्तरात्मा नहीं है।'[७०]

ब्रह्मसूत्र के अध्यास-भाष्य में शंकर एक स्थल पर 'सत्यानृते मिथुनीकृत्य'[७१] दूसरे स्थान पर 'प्रत्यभष्मन्यष्यनात्माध्यास'[७२] और तीसरे स्थान पर 'अहं प्रत्वचिनम् अज्ञेय-स्वप्रचार साक्षिणि प्रत्यगात्मन्यध्यस्य'[७३] शब्दा का प्रयोग कर अध्यास के दोनों पक्षों का निरूपण करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जो 'सत्य' है, 'प्रत्यगात्मा' है,

वह साक्षी है और जो 'अनृत' है 'अनात्मा' है, वही अहं प्रत्यय वाला अन्तःकरण है। यद्यपि सरल शब्दों में यह कह सकते हैं कि परमसत् का अन्तःकरण के साथ अध्यास होता है, किन्तु परमसत् आत्मा से पृथक कोई भिन्न वस्तु नहीं है। यह संकेत करने के लिए शंकर उसे 'प्रत्यगात्मा' भी कहते हैं। सामान्य जनों में प्रत्यगात्मा भी अज्ञान वस्तु जानी जाती है और उस मान्यता का निवारण करने के लिए वे ही उसे 'साक्षी' नाम देते हैं। साक्षी वह चेतन सत्ता है जो अन्तःकरण की वृत्तियों की द्रष्टा है और वही हम स्वयं हैं।

अहं प्रत्यय विषय कर्तृ व्यतिरेकेण तत्साक्षी
सर्वभूतस्थः सम एकः कूटस्थनित्यः पुरुषः।[७४]

अर्थात् 'मैं' प्रत्यय विषय के कर्ता से भिन्न उसका साक्षी सब भूतों में स्थित, सम, एक, कूटस्थ, नित्य सबका आत्मा पुरुष है।

सुरेश्वरराचार्य इस मत का समर्थन करते हैं कि साक्षी जीव से भिन्न हैं :

कर्त्रादिकारकार्ण्यास्मिन्नसाधारणरूपतः।
अतदर्मक, आभान्ति ह्यागमापायसाक्षिणि।।
साक्षिरूपं स्वतः सिद्धं तेनैष्वव्यभिचारतः।
कर्त्रादि तु तमोऽन्तस्य रूपं धर्माद्यपेक्षया।।[६६]

अर्थात् जीव-पदार्थ जड़-मिश्र चैतन्य है। इसी से वह ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता आदि है। कर्ता होना विकारयुक्त होना है। साक्षी तटस्थ ही हो सकता है। वह स्वतः सिद्ध है। उसमें व्यभिचार नहीं होता।

इस उद्धरण से जीव और साक्षी के धर्मों की विलक्षणता स्पष्ट हो जाती है। साक्षी में अवस्था परिवर्तन नहीं होता, इसके विपरीत जीव जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में व्यभिचरित होता है। साक्षी स्वयं कर्ता नहीं है किन्तु जीव के कर्मों को देखता है। जीव कर्म करता है। अपने कर्मो के फल का भोक्ता जीव है, साक्षी नहीं। जीव अनेक हैं किन्तु साक्षी एक है।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि साक्षी ही परमात्मा है। सुरेश्वर का तर्क है कि कूटस्थ परब्रह्म में साक्षित्व असंगत है क्योंकि इसे (साक्षी को) द्वितीय-संगीति की नियत अपेक्षा है। 'कूटस्थस्य न साक्षित्वं द्वितीयासंगतेर्भवेत्'।[७६] यदि न जीव और न ब्रह्म ही साक्षी है तो क्या वह कोई तीसरी सत्ता है? इसके उत्तर में सुरेश्वर कहते हैं :

अज्ञानमात्रोपाधित्वादविद्यामुषितात्मभिः।
कौटस्थ्यान्निर्द्वयोऽप्यात्मा साक्षीत्यध्यस्यते जड़ैः।।[७७]

अर्थात् केवल अज्ञान से उपहित कूटस्थ आत्मा साक्षी है। 'उपहित' से तात्पर्य

यह है कि साक्षी में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद अज्ञान का सूचक हैं, किन्तु साक्षी चिन्मात्रस्वरूप ही है।

शंकर 'साक्षी' शब्द का प्रयोग करते हुए उसमें द्वैत-बोध का लक्ष्य नहीं करते। उनकी दृष्टि साक्षी के कूटस्थ रूप पर ही रहती है। उसमें जो साक्षित्व की उपाधि है, उस के लिए जीव के विकार ही उत्तरदायी हैं, वह स्वयं नहीं।

सर्वज्ञात्म मुनि ने साक्षी के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, उससे साक्षी के विषय में यह ज्ञान होता है कि वह देखता कैसे है :

तमसा विनिर्मितमिदं सकलं
चतुरः न पश्यति परः पुरुषः।
अविकारि बोधवपुरद्वयकः
कारणैर्विना सकलसाक्षित्मया।।[७८]

अर्थात् अज्ञान-विनिर्मित इस समस्त प्रपञ्च को कूटस्थ, अद्वितीय, चेतनस्वरूप, अविकारी, दृश्य से भिन्न, परम पुरुष इन्द्रियादि कारणों के बिना सबका साक्षी होकर ही देखता है।

इससे स्पष्ट है कि साक्षी की उपाधि इतनी ही है कि वह अज्ञान-विनिर्मित प्रपञ्च का द्रष्टा है। उसके ऊपर अज्ञान का प्रभाव नहीं है। वह स्वयं अविकारी ही है और अद्वितीय भी है क्योंकि अज्ञानरचित प्रपञ्च उसका विरोधी कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं है। उसका देखना भी इन्द्रियों और बुद्धि से देखना-जानना जैसा वृत्त्यात्मक नहीं है। वह सूर्य के समान सबका अन्तर्बाह्य प्रकाशक है।

भामतीकार साक्षी में विद्यमान उदासीनता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए कहते हैं 'अन्तःकरणप्रचारसाक्षिणि चैतन्योदासीनताभ्यां'[७९] अर्थात् अन्तःकरण की वृत्तियों का साक्षी चैतन्य ही है और वही उदासीन द्रष्टा होने के कारण साक्षी कहलाता है।

चित्सुखाचार्य जीव को प्रमातृ मानते हैं, क्योंकि वह इन्द्रियों के द्वारा विषयों को जानने वाला है, किन्तु साक्षी ऐसा द्रष्टा है जो इन्द्रिय या अन्तःकरण का प्रयोग नहीं करता वरन् उनकी बदलती हुई दशाओं को उनसे पृथक् रह कर देखता है। सुषुप्ति अवस्था में बुद्धि आदि के लय हो जाने पर वह विद्यमान रहती है और अज्ञान को प्रकाशित करता है।[८०]

उक्त लक्षणों से युक्त साक्षी की सत्ता बुद्धि आदि से पृथक है, इसे शंकराचार्य ने तर्क के द्वारा सिद्ध किया है। विज्ञानवादी बौद्ध विज्ञान के अतिरिक्त पदार्थों का अभाव मानते हैं। उनका खण्डन करते हुए शंकर ने बाह्य पदार्थों की सत्ता सिद्ध की है और विज्ञान की सत्ता का प्रकाशक विज्ञान से पृथक् साक्षी की स्थापना की है।

द्वयोविज्ञानयोः पूर्वोत्तरकालयोः स्वसंवेदनेनैवो-
पक्षीणयोरितरेतरग्राह्यग्राहकत्वानुपपत्तिः,
ततश्च विज्ञानभेद प्रतिज्ञा क्षणिकत्वादिधर्म
प्रतिज्ञा स्वलक्षणसामान्यलक्षण वास्यवासकत्व
अविद्योपल्पवसदसद्धर्मबन्धमोक्षादिप्रतिज्ञाश्च
स्वशास्त्रगतास्ताहीयेरन्।[८१]

अर्थात् स्वसंवेदन से ही उपक्षीण पूर्व और उत्तरकालीन दोनों विज्ञानों का परस्पर ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं हो सकता क्योंकि इससे विज्ञान-भेद की प्रतिज्ञा, क्षणिकत्व आदि धर्म की प्रतिज्ञा, स्वलक्षण, सामान्यलक्षण, वास्यवासकभाव, अविद्या संसर्ग से सदसद्धर्म और ब्रनध, मोक्ष आदि स्वशास्त्रगत प्रतिज्ञाओं की हानि होगी।

अतः विज्ञान का प्रकाशक विज्ञान से भिन्न होना चाहिए। इससे अनवस्था दोष की सम्भवना का निराकरण करते हुए शंकर कहते हैं, 'विज्ञान के ग्रहण मात्र में ही विज्ञान के साक्षी के ग्रहण की आकांक्षा उत्पन्न न होने से अनवस्था की शंका नहीं हो सकती। साक्षी और प्रत्यय-ज्ञान में स्वभाव के वैषम्य से उपलब्ध और अपलभ्यभाव उपपन्न होता है।'[८२]

इसके अतिरिक्त शंकर साक्षी को स्वयंसिद्ध मानते हैं :

स्वयंसिद्धस्य च साक्षिणोऽप्रत्याख्येयत्वात्।[८३]

अर्थात् साक्षी स्वयंसिद्ध है क्योंकि उसका प्रत्याख्यान नहीं हो सकता। उसकी सिद्धि के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकर का तर्क चित्सुखाचार्य ने दोहराया है, 'मानसप्रत्यक्षवेद्यत्वे इच्छादेः कर्मकर्तृभावस्य एव बाधकत्वात्'[८४] अर्थात् इच्छा आदि को मानस प्रत्यय का विषय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें कर्म-कर्तृ विरोध है। एक ही स्थान पर कर्मत्व तथा कर्तृत्व दोनों नहीं हो सकते।

अप्पयदीक्षित ने ईश्वर की दो रूप माने हैं - एक साक्षी और दूसरा जगत्-कारण। साक्षी ईश्वर का उदासीन रूप है और जीव के अधिक अन्तरंग है :

प्रमेश्वरस्यैव रूपभेदः कश्चिज्जीव
प्रवृत्तिनिवृत्योरनुमन्ता स्वयंमुदासीनः
सारी नाम। स च कारणत्वादि धर्माना-
स्पदत्वाद् अपरोक्षो जीवगतमज्ञानाद्य
वभस्यंश्च जीवस्यान्तरंग।[८५]

अर्थात् साक्षी परमेश्वर का ही एक रूपभेद है, जो जीव की प्रवृत्ति और निवृत्ति

का अनुमन्ता और स्वयं उदासीन है। वह जगत्-कारण आदि धर्मों से रहित है, अपरोक्ष है, जीव के ज्ञान और अज्ञान का निरन्तर अवभासक है और जीव के प्रति अधिक अन्तरंग है।

स्वामी विद्यारण्य द्वारा साक्षी के विस्तृत विवेचन में उपर्युक्त लगभग सभी आचार्यों के मतों का समन्वय हो गया है। पंचदशी का नाटकदीप प्रकरण साक्षी-विषयक ही है। उसमें साक्षी की परिभाषा इस प्रकार है :

कर्त्तारं च क्रियां तद्वद् व्यावृत्तविषयानपि।
स्फोरयेदेकयत्नेन यो सौ साक्ष्यत्र चिद्वपुः।।[८६]

अर्थात् जो एक ही यत्न से कर्ता, क्रिया और विभिन्न विषयों को प्रकाशित करता है, उस चैतन्यरूप सत्ता को साक्षी कहते हैं। वह 'भीसयते सर्व नृत्यशालास्यदीपवत्' - नृत्यशाला में रखे हुये दीप की भांति सबको प्रकाशित करता है।

साक्षी अहंकार बुद्धि, विषय आदि सबको प्रकाशित करता है और उनके लय हो जाने पर उनके अभाव को प्रकाशित करता हुआ स्वयं पूर्ववत् जगमगाता रहता है। उसका प्रकाशित होना या द्रष्टा होना 'ज्ञप्तिरूप' है।[८७] वह स्थिर और स्थायी है तथा बाहर भीतर सबका प्रकाशक है।[८८] देश की अपेक्षा से वह सर्वगत है और साक्ष्य की अपेक्षा से साक्षी, किन्तु वह स्वतः 'वाग्बुद्ध्यगोचर' (वाणी और बुद्धि का अविषय) है।[८९] उसके ज्ञान के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है।[९०]

विद्यारण्य ने अन्यत्र साक्षी को कूटस्थ कहा है :

अन्तःकरणतद्वृत्तिसाक्षीत्यादावनेकधा।
कूटस्थ एव सर्वत्र पूर्वाचार्यैर्विनिश्चितः।।[९१]

अर्थात् पूर्व आचार्यों ने सर्वज्ञ कूटस्थ को ही अन्तःकरण वृत्ति का साक्षी इत्यादि अनेक प्रकार से कहा है। तात्पर्य यह है कि कूटस्थ ही अहंकार, बुद्धि और विषयों का प्रकाशक होने से साक्षी कहलाता है।

क्रमाद् विच्छिद्य विच्छिद्य जायन्ते वृत्तयोऽखिलाः
सर्वा अपि बिलीयन्ते सुप्तिमूर्छासमाधिषु।।[९२]
सन्ध्योऽखिलवृत्तीनामभवाश्चावभासिताः
निर्विकारेण येनासौ कूटस्थ इति चोच्यते।।[९३]

अर्थात् समस्त वृत्तियाँ क्रम से उत्पन्न और लय होती हैं। वे सब सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधि अवस्थाओं में लीन हो जाती हैं। जो समस्त वृत्तियों की संधियाँ और उनके अभाव को प्रकाशित करता है, वह निर्विकार होने से कूटस्थ कहलाता है।

इसीलिए, शंकर जहाँ साक्षी और अन्तःकरण के बीच अध्यास होने से जीवभाव की प्रतीति मानते हैं, वहाँ विद्यारण्य कूटस्थ और चिदाभास के मध्य अध्यास मानते हैं और इस अध्यास में कूटस्थ आच्छादित होकर चिदाभास ही जीवरूप में भासित होता है :

कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिबिम्बकः।
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते।।
जलव्योम्ना घटाकाशो यथा सर्वास्तिरोहितः।
तथा जीवने कूटस्थः सोऽन्योऽन्याध्यास उध्यते।।[६४]

अर्थात् कूटस्थ में बुद्धि कल्पित है। उस बुद्धि में चेतना का जो प्रतिबिम्ब है, वह जब प्राणों को धारण करता है तो 'जीव' कहलाता है। जैसे जलाकाश से सम्पूर्ण घटाकाश ढक जाता है, वैसे ही इस जीव ने समस्त कूटस्थ को ढक लिया है। इसी तिरोधान को (शांकरभाष्य में) अन्योन्याध्यास कहा गया है।

डॉ. राधाकृष्णन प्रमातृ जीव से पृथक् साक्षी चैतन्य को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार अद्वैत-वेदान्त में नित्य चैतन्य ही उसे समय साक्षी कहलाता है, जब वह अन्तःकरण उपहित होता है और वह विषयों को प्रकाशित करता है, उपाधि के विद्यमान होने मात्र से परम चैतन्य साक्षी हो जाता है।[६५] यह मत समस्त अद्वैतवादियों की साक्षी विषयक व्याख्या का सामान्यीकृत रूप है, किन्तु दासगुप्त साक्षी को जीव के साथ संयुक्त कर 'जीवसाक्षी' के रूप में मानते हैं। उन्होंने विषयी के तीन रूप माने हैं - (१) आत्मा जो कि परम सत् है, (२) जीव या अन्तःकरण विशिष्ट आत्मा जो जीवसाक्षी है और (३) अन्तःकरण, जो अविद्या की रचना है।[६६] यहाँ जीव भाव के साथ ही साक्षी माना गया है। दासगुप्त जीव के दो पक्षी करते हुए एक कर्त्ताजीव और दूसरा साक्षीजीव निर्धारित करते हैं। जब जीव अन्तःकरण की वृत्तियों को प्रकाशित करता है किन्तु उनसे तादात्म्य नहीं करता है तो वह जीव साक्षी है। ऐसा प्रतीत होता है कि साक्षी में जो साक्षित्व की उपाधि है, उसके कारण ही दासगुप्त उसे 'साक्षी जीव' की संक्षा देते हैं।

हिरियन्ना भी 'जीवसाक्षी' शब्द का प्रयोग करते हैं। उसकी विशेषतायें हैं - दीपक के समान नित्य प्रकाशवान्, सुषुप्ति में भी प्रकाशित, अन्तःकरण की उपाधि से प्रभावित, परिच्छिन्न और वैयक्तिक। एक साक्षी के द्वारा जाग्रत-स्वप्न सुषुप्ति की जो अवस्थायें प्रकाशित होती हैं, वे अन्य साक्षी से प्रकाशित नहीं होती हैं।[६७] इसका तात्पर्य है कि साक्षी अनेक हैं और वे जीव से पृथक् नहीं हैं। किन्तु हिरियन्ना साक्षी को जीव की तीनों अवस्थाओं में विद्यमान भी मानते हैं।[६८] इससे जीव से साक्षी की पृथकता भी सिद्ध होती है। ये दो स्वतः विरोधी कथन हैं।

वेंकटरमन अय्यर का कथन है कि साक्षी ज्ञाता और ज्ञेय दोनों का प्रकाशक है किन्तु ज्ञाता विषयों का ही ज्ञाता होता है, वह साक्षी को नहीं जान सकता। साक्षी प्रमाण का विषय नहीं है।[९९]

जे.एन. सिन्हा के अनुसार शंकर आत्मा और साक्षी में भेद नहीं करते किन्तु परवर्ती अद्वैतवादियों ने इनमें भेद माना है।[१००] ऊपरी दृष्टि से यह कथन ठीक प्रतीत हो सकता है, किन्तु शंकर के द्वारा प्रयोग किये गये 'आत्मा' और 'साक्षी' शब्दों को ध्यानपूर्वक देखें तो स्पष्ट होगा कि शंकर 'साक्षी' में साक्षित्व की उपाधि स्वीकार करते हैं, किन्तु शुद्ध आत्मा में यह उपाधि सदा विद्यमान नहीं है।

## एक जीव अथवा अनेक जीव

अद्वैत-वेदान्त में जीवों की संख्या के विषय में दो मत हैं – अनेक जीववाद और एकजीववाद। उपनिषदों के अधिकांश स्थलों और शंकर प्रभृत आचार्यों ने जीव की अनेकता ही मानी है किन्तु एकजीववादी आचार्य उपनिषदों में, अधिक नहीं तो दो-चार स्थलों में ही, एक जीव की मान्यता खोज लेते हैं और जीव के एक ही होने के पक्ष में अपने तर्क देते हैं।

अधिकांश उपनिषदों के मन्त्र अनेक जीववाद का ही पोषण करते हैं। अग्नि और स्फुलिंग का दृष्टान्त जीवों की अनेकता स्पष्ट प्रतिपादित करता है। यह दृष्टान्त कई उपनिषदों में दिया गया है, 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्यच्चरन्त्येवमेव अस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः . . . व्युच्चरन्ति'[१०१] अर्थात् जैसे अग्नि से क्षुद्र स्फुलिंग निकलते हैं, वैसे ही इस आत्मा से सब प्राण व्युच्चारित होते हैं।

यथ सुदीप्तात्यावकात् विस्फुलिंगाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तदाक्षराद् विविधाः सोभ्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति।।[१०२]

अर्थात् जिस प्रकार सुदीप्त अग्नि से उसी के समान रूप वाली हजारों स्फुलिंग निकलती हैं, हे सौम्य ! उसी प्रकार अक्षर से अनेक भाव (जीव) प्रकट होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं।

प्रश्नोपनिषद् में, 'प्रजापतिः मिथुनमुत्पादयते . . . ऐतौ में बहुधा प्रजाः करिष्यत इति'[१०३] अर्थात् प्रजापति ने मिथुन उत्पन्न किया और यह माना कि इस मिथुन से नाना प्रकार की प्रजाएँ उत्पन्न होंगी।

ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता में भी 'भूतानाम्' कह कर सैकड़ों बार जीव की अनेकता मानी गई है। शंकर व्यवहार में जीव की अनेकता और परमार्थ में एक

अद्वितीय परमात्मा स्वीकार करते हैं : 'देहभेदानुवृत्तया बहुवचनं न आत्मभेदाभिप्रायेण'[१०४] अर्थात् बहुवचन का प्रयोग देहभेद के विचार से किया गया है, आत्मभेद के अभिप्राय से नहीं। 'परमार्थतस्तु न जीवों नाम बुद्धयुपाधिसम्बन्धपरिकल्पितस्वरूप व्यपिरेकेणास्ति'[१०५] अर्थात् परमार्थ दृष्टि से बुद्धि उपाधि के सम्बन्ध से परिकल्पित स्वरूप से पृथक् जीव नाम है ही नहीं। व्यवहार में तो जीव की अनेकता और हर व्यक्ति में अपना जीवभाव 'सर्वलोक प्रत्यक्ष'[१०६] है। शंकर का तर्क भी है, 'न हि एकस्य मुमुक्षत्वं फलार्थित्वं च युगपत् संभवति'[१०७] अर्थात् एक ही पुरुष में मुमुक्षत्व और फल की इच्छा यह दोनों एक साथ नहीं हो सकते। अब तक ज्ञाननिष्ठा में स्थित बहुत से महापुरुष परम शुद्धि को प्राप्त होकर मुक्त हो गये।[१०८] अन्य जीव अब भी संसार-चक्र में पड़े हैं। उनके कर्मानुसार किसी को उच्च्व गति और किसी को अधोगति प्राप्त होती है। शंकर के अनुयायी भामती-प्रस्थानवादी आचार्यों ने अनेक जीववाद स्पष्टतः माना है।

इसके विपरीत एकजीववाद का मत है। वेदान्त परिभाषाकर दोनों मतों के भेद का आधार इस प्रकार बताते हैं : 'एक जीववादे विद्याप्रतिबिम्बो जीवः, अनेकजीववादे अन्तःकरणप्रतिबिम्बः'[१०९] अर्थात् एकजीववाद के पक्ष में अविद्या में प्रतिबिम्बित जीव है और अनेकजीववाद के पक्ष में अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित जीव है। अविद्या एक है, अतः उसमें प्रतिबिम्बित जीव भी एक ही है, किन्तु अन्तःकरण अनेक हैं अतः उनमें प्रतिबिम्बित चैतन्य अनेक जीव रूप धारण करता है।

प्रकाशानन्द ने 'एकजीववाद' का ही पक्ष लिया है और उपनिषद् के इस मन्त्र को आधार माना है :

अजामेकां लोहित शुक्तकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।[११०]

अर्थात् अपने अनुरूप बहुत-सी प्रजा उत्पन्न करने वाला एक लोहित, शुक्ल और कृष्ण वर्णा अजा को एक अज सेवन करता हुआ भोगता है और दूसरा अज उस भुक्त भोगा को त्याग देता है।

यहाँ 'अजा हि एका' में 'हि' का प्रयोग कर एक अविद्या पर बल दिया है। उसकी उपाधि से एक ही जीव है। 'अन्य अजः' अविद्या से मुक्त ब्रह्म है।[१११] एकजीव ही स्वप्न में देखे जाने वाले शरीरों के समान निर्जीव है। समस्त विश्व उस एक जीव से ही कल्पित है।

मधुसूदन सरस्वती एकजीववाद का प्रतिपादन करते हुए लिखते है, 'अविद्या ............................................................ बुद्धिः।'[११२] अर्थात् अविद्या

के वशीभूत होकर एक ही ब्रह्म संसरण करता है, वही जीव है, और उसी को प्रत्येक शरीर में अहंकारानुभूति होती है। विभिन्न शरीरों में अनुभव होने वाले अहंकार 'जीवाभास' है। जीव कभी सोता नहीं है, जीवाभास ही सोते और जागते हैं। गुरु और शिष्य दोनों ही जीवाभास हैं, किन्तु स्वप्न-कल्पित शिष्यों को स्वप्न-द्रष्टा गुरु तब तक उपदेश देता रहता है, जब तक वह जागता नहीं।

ब्रह्म नित्य मुक्त है, उसमें अविद्या नहीं है, किन्तु अविद्या रूप बन्ध का वह आविद्यक है। यह बन्ध उसे उसी प्रकार बाधक नहीं होता जैसे मृगतृष्णा का जल मरुभूमि को गीला नहीं करता है। अनेक शरीरों में एक ही जीव सर्वत्र अहम्-अहम् का अनुभव करता है। जीवाभासों में, फिर भी 'अहं-त्व' का निर्वाह हो सकता है। एक अन्तःकरण के अभेद का अध्यास जिस जीवाभास को है, वह दूसरे अन्तःकरण के अभेद-भ्रम वाले जीवाभास को त्वम् कह सकता है। तात्पर्य यह है कि अविद्या-अवच्छिन्न जीव एक है और अन्तःकरण अवच्छिन्न जीवाभास अनेक हैं। अन्तकरण का परकोटा जीवाभासों के संस्कारों को सीमित रखता है। अविद्यावच्छिन्न जीव को सब जीवों के कृत्याकृत्य का भान एवं अनुसंधान होता ही है। मोक्ष अवस्था में तत्त्व-साक्षात्कार हो जाने पर कार्यसहित मूल अज्ञान नष्ट हो जाता है, जिससे कि कोई अन्तःकरण रहता ही नहीं कि जिसके भेद से विरोधाभास उपस्थित हो। शास्त्र प्रमाण्य की दृढ़ता पर एकजीववादी का अटल विश्वास है कि भले ही अभी तक कोई मुक्त हुआ हो अथवा न हुआ हो, किन्तु तत्त्वज्ञान से मुक्ति अवश्य होगी।

इस एकजीववाद में शुद्ध चैतन्य को साक्षी नहीं माना जाता, अपितु अविद्या, वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य साक्षी कहलाता है।[११३] अविद्या का शुद्ध एवं निर्दोष चैतन्य से प्रकाश मानने पर पारमार्थिकत्व की आपत्ति होती है, किन्तु साक्षिभस्य मानने पर उक्त आपत्ति निरस्त हो जाती है और मोक्ष में भी अविद्या के भान की आपत्ति दूर हो जाती है।

एकजीववाद के मत को उद्धृत करते हुए दासगुप्त लिखते हैं, 'कुछ वेदान्ती एक जीव और एक शरीर में विश्वास रखते हैं। उनके अनुसार यह समस्त जगत् और प्राणी उसी जीव की कल्पनायें हैं। यह कल्पित जगत् और ये कल्पित प्राणी तब तक बने रहेंगे, जब तक वह विराट-जीव कल्पना करता रहेगा। इन प्राणियों की मुक्ति और बन्धन भी काल्पनिक हैं।'[११४]

प्रो. मलकानी ने इस एकजीववाद का समर्थन किया है।[११५] वे कहते हैं कि अद्वैत दर्शन में ईश्वर की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। सृष्टि के पूर्व ईश्वर है ही नहीं। सृष्टि के बाद ही उसकी अपेक्षा से ईश्वर है। सृष्टि के पूर्व केवल ब्रह्म है। दर्शन में इस प्रकार के ईश्वर की आवश्यकता नहीं है, धर्म में उपासना के लिए भले ही उसकी आवश्यकता समझी जाय। हम बिना किसी आपत्ति के स्वीकार कर सकते हैं कि ब्रह्म

ही अविद्या के घेरे में जगत् का नानात्व प्रतिभासित करता है और उसी से समस्त अनुभवों की व्याख्या हो जाती है।

इस प्रकार, एकजीववाद में भले ही लाघव गुण दिखाई दे किन्तु वह अनेक जीववाद की रूपरेखा से बाहर नहीं निकल सकता। उसमें भी अन्तःकरण को उपाधि से जीवाभास स्वीकार करना पड़ता है अन्यथा हमारे वर्तमान अनुभव की व्याख्या नहीं हो सकती। ईश्वर के स्थान में वह एक जीव कह कर कोई विशेष उपलब्धि नहीं कर लेता। एकजीववाद में कल्पित जीवाभास से मुक्ति की समस्या उत्पन्न होती है। उसमें जीवन मुक्ति का अभिमत उपपन्न नहीं है।

## संदर्भ-सूची


१. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., १.३.२८।
२. वहीं, १.२.६।
३. वहीं, प्रस्तावना, पृष्ठ १८।
४. वहीं, पृष्ठ १२।
५. वहीं, पृष्ठ ३।
६. वहीं, २.३.५१ पृष्ठ ५३२।
७. आत्मबोध, ४५।
८. वहीं, १५।
९. विवेक चूड़ामणि, १६३।
१०. वहीं, १६६।
११. वहीं, २२०।
१२. वहीं, ३०६।
१३. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., २.३.५० पृष्ठ ५३२।
१४. विवेक चूड़ामणि, २८६।
१५. आत्मबोध, १०।
१६. परदृश्य-विवेक, ३३।
१७. बृहदारण्यक-भाष्य वात्तिक, १.४.६०८।
१८. वहीं, १.४.१२७।
१९. प्रकरण-प्रमेह-संग्रह, १.१. पृष्ठ २३१।
२०. वहीं, १.१ पृष्ठ २३२।
२१. वहीं, १.१ पृष्ठ २३३।
२२. पंचदशी, १.१६-१७ पृष्ठ १०.११।

२३. महासारायणोपनिषद्, ८८ (श्रीमती उर्मिला शर्मा)।
२४. संक्षेपशारीरक, १.३२७।
२५. भामती, १.१.१ पृष्ठ ३८।
२६. भामती, १.४.२२, पृष्ठ ४१०।
२७. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., ३.२.२० पृष्ठ ६२१।
२८. वहीं, ३.२.२० पृष्ठ ६२१।
२९. भामती, ३.२.२० पृष्ठ ७१०।
३०. वेदान्त कल्पतरू, ३.२.२० पृष्ठ ७१६।
३१. कल्पतरुपरिमल, ३.२.२० पृष्ठ ७१०।
३२. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., १.१.८ पृष्ठ ८७।
३३. वहीं, १.२.६ पृष्ठ १५५।
३४. वहीं, १.२.२० पृष्ठ १७७।
३५. भगवद्गीता, शां.भा० १.५७ पृष्ठ ३७०।
३६. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., २.३.१७।
३७. बृहदारण्यक उपनिषद्, २.१.२०।
३८. वहीं, १.४.७।
३९. बृहदारण्यक उपनिषद्, शां.भा., २.१.२० पृष्ठ ४७३।
४०. वहीं, पृष्ठ ४७५।
४१. वहीं, पृष्ठ ४७८।
४२. वहीं, पृष्ठ ४७९।
४३. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., २.३.१७ पृष्ठ ४९८।
४४. वहीं, २.३.१९, पृष्ठ ५०१।
४५. वहीं, २.२.३४ पृष्ठ ४५६।
४६. मुण्डक उपनिषद्, ३.१.९।
४७. श्वेताश्वतर उपनिषद्, ५.९।
४८. वहीं, ५.८।
४९. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., २.३.२९ पृष्ठ ५०६।
५०. वहीं, २.३.३० पृष्ठ ५११।
५१. वहीं, २.३.३२ पृष्ठ ५१३।
५२. वहीं, २.३.३३ पृष्ठ ५१४।
५३. वहीं, २.३.३४ पृष्ठ ५१४।
५४. वहीं, २.३.३८ पृष्ठ ५१७।

५५. वहीं, २.३.४० पृष्ठ ५१६।
५६. वहीं, २.३.४१ पृष्ठ ५२३।
५७. वहीं, २.३.४२ पृष्ठ ५२४।
५८. वहीं, २.३.४५ पृष्ठ ५२७।
५६. वहीं, २.३.४६ पृष्ठ ५२७।
६०. आत्मबोध, ११ से १४।
६१. विवेक चूड़ामणि, १५४, १५५।
६२. माण्डुक्य उपनिषद्, ३, ४, ५।
६३. वहीं, शां.भा., ७।
६४. विवेक चूड़ामणि, २१३।
६५. श्वेताश्वेतर उपनिषद्, ६.११।
६६. वहीं, शां.भा., ६.११ पृष्ठ २४३।
६७. श्वेताश्वतर उपनिषद्, ४.६।
६८. वहीं, शां.भा., ४.६ पृष्ठ १६१।
६६. विवेक चूड़ामणि, २१२।
७०. वहीं, २१६, २१७, २१८।
७१. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. अध्यास, पृष्ठ ३।
७२. वहीं, पृष्ठ १२।
७३. वहीं, पृष्ठ १७।
७४. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., १.१.४ पृष्ठ ७०।
७५. बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक, १.४.६६८-६६६।
७६. वहीं, १.४.३७४।
७७. वहीं।
७८. संक्षेप शारीरिक, २.२६।
७६. भामती, पृष्ठ ४५।
८०. तत्त्व-प्रदीपिका, पृष्ठ ३८१-३८२।
८१. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., २.२.२८ पृष्ठ ४४६।
८२. वहीं, पृष्ठ ४५०।
८३. वहीं, २.२.२८ पृष्ठ ४५०।
८४. तत्त्व-प्रदीपिका, पृष्ठ ५८८ (उर्मिला शर्मा)।
८५. सिद्धान्तलेश-संग्रह, पृष्ठ १८४-१८५ (उर्मिला शर्मा)।
८६. पंचदशी, १०.६ पृष्ठ ४२०।

८७. वहीं, १०.१३ पृष्ठ ४२१।
८८. वहीं, १०.१५ पृष्ठ ४२२।
८९. वहीं, १०.२३ पृष्ठ ४२४।
९०. वहीं, १०.२५ पृष्ठ ४२५।
९१. वहीं, ८.२५ पृष्ठ ३५५।
९२. वहीं, ८.२०-२१ हपृष्ठ ३५३।
९३. वहीं, ६.२३-२४ पृष्ठ १४०-१४१।
९४. वहीं।
९५. Indian Philosophy, Vol. II, page 601.
९६. A History of Indian Philosophy, Vol. I, page 480.
९७. Outlines of Indian Philosophy by M. Hiriyanna, page 359, 360.
९८. वहीं, पृष्ठ ३५५।
९९. Advaita Vedanta, page 215.
१००. A History of Indian Philosophy, Vol. II, page 449.
१०१. बृहदारण्यक उपनिषद्, २.१.२०।
१०२. मुण्डक उपनिषद्, २.१.१।
१०३. प्रश्न उपनिषद्, १.४।
१०४. गीता, शां.भा., २.१२ पृष्ठ ३३।
१०५. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., २.३.३० पृष्ठ ५१८।
१०६. वहीं, प्रस्तावना, पृष्ठ १८।
१०७. गीता, शां.भा., ४.११ पृष्ठ ११०।
१०८. वहीं, ४.१० पृष्ठ ११०।
१०९. वेदान्त-परिभाषा, विषय परिच्छेद, पृष्ठ ३३४।
११०. श्वेताश्वतर उपनिषद्, ४.५ पृष्ठ १८६।
१११. वेदान्त सिद्धान्त-मुक्तावली, पृष्ठ १६ (उर्मिला शर्मा)।
११२. अद्वैत-सिद्धि, पृष्ठ ४७०।
११३. अद्वैत-सिद्धि, अविद्याप्रतीतिविचार, पृष्ठ ५६१।
११४. A History of Indian Philosophy, page 477.
११५. Metaphysics of Advaita Vedanta, page 190.

❑❑❑

## अध्याय-८

# शंकर-वेदान्त में जगत्-निरूपण

परम सत् का अनुसंधान करने के लिए हमें सद्यः उपलब्ध जगत् और जीव की परीक्षा करना अनिवार्य होता है। यदि यही नानात्व सत्य सिद्ध होता है तो अन्य किसी सत् की खोज करना व्यर्थ है। इसके विपरीत, यदि जगत् की सत्ता में संशय उत्पन्न होता है तो किसी अन्य सत् वस्तु के होने की संभावना पर विचार किया जा सकता है।

उपनिषदों के ऋषि जगत् के विषय में जो कुछ उद्घोषणा करते हैं, वह अपने आपको ब्रह्मभाव में स्थित रखते हुए करते हैं। उन्हें सर्वत्र एकमात्र ब्रह्म ही दिखाई देता है। जगत् की सत्ता पर उन्होंने कोई बल नहीं दिया है। उनकी दृष्टि में वह उपेक्षणीय है, अथवा वह है ही नहीं। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार, जैसे घट विकार मात्र है, सत्य केवल मिट्टी है, वैसे ही यह सब जगत् वाचारम्भण मात्र अर्थात् नामरूप है।[१] श्वेताश्वतर उपनिषद् में जगत् का स्वरूप निर्धारित करने के लिए 'माया' की उद्भावना की गयी है और ईश्वर को माया का स्वामी माना गया है। उसका उल्लेख इस प्रकार है :

> मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
> तस्यावयवभूर्तस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।।[२]

अर्थात् प्रकृति को माया जानना चाहिए और महेश्वर को मायावी। उसी के अवयवभूत (कार्य-करण संघात) से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है।

इस मंत्र से स्पष्ट है कि जगत् माया का विस्तार है किन्तु माया स्वतंत्र नहीं है। उसका नियंता ईश्वर है। नियम्य और नियामक सम्बन्ध को अधिक स्पष्ट करने के लिए श्रुति कहती है :

> यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
> यस्मिन्निदं स च वि चैति सर्वम्।
> तमीशानं वरदं देवमीऽयं
> नियाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति।।[३]

अर्थात जो अकेला ही प्रत्येक योनि का अधिष्ठाता है, जिसमें यह सब सम्यक्

प्रकार से लीन होता है, फिर विविध रूप हो जाता है, उस सर्वनियन्ता वरदायक स्तवनीय देव का साक्षात्कार करके साधक इस परम शान्ति को प्राप्त होता है।

इस मंत्र में माया का रूप निर्धारित हो जाता है। 'यह सब' माया ही है जो उसमें लीन होकर एक हो जाती है।

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्
तस्मिश्चान्यो मायया संनिरुद्धः।।[४]

अर्थात् मयावी ईश्वर ही यह सब उत्पन्न करता है और उसमें ही माया से अन्य सा होकर बंधा हुआ है।

ऐतरेय उपनिषद् में जीव की व्याख्या भी की गयी है। माया शक्ति के द्वारा समस्त जगत् का विस्तार हुआ। जगत् के अन्तर्गत ही शरीर, मन, बुद्धि आदि भी है, किन्तु जीव की उत्पत्ति माया के परिणाम से नहीं बतायी है। परमात्मा स्वयं मूर्धसीमा को ही विदीर्ण कर शरीर में प्रवेश कर गया – 'स एतमेव सीमानं विदार्येतया द्वारा प्रापद्यत्'।[५] वृहदारण्यक भी इसका समर्थन करता है – 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' अर्थात् वह नख के अग्र भाग से लेकर शिखा तक इस शरीर में प्रवेश किए हुए है। इसी से मिलते-जुलते शब्द तैत्तिरीय उपनिषद् में भी हैं – 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'[७] अर्थात् उसे रच कर वह उसी में अनुप्रविष्ट हो गया।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि शरीरों की रचना तो माया या प्रकृति के द्वारा हुई है, अर्थात् यह नामरूपात्मक सृष्टि है, किन्तु जीव इस प्रकार की सृष्टि नहीं है। वह तो शरीर में विद्यमान परमात्मा की ही सत्ता है। जीव स्वतः परमात्मा के सृजन का परिणाम नहीं है। वह अपने वास्तविक स्वरूप में परमात्मा ही है।

जीव का उल्लेख दो रूपों में मिलता है, एक तो मन-बुद्धि के माध्यम से नानात्व देखने वाला और उसी में मोहित होकर सुख-दुःखों के फल को भोगने वाला और दूसरा अपने परमात्म रूप को जान कर उसी में असंग भाव से विद्यमान रहने वाला है। पहली अवस्था में जिसे जीव कहते हैं, वही दूसरी अवस्था में परमात्मा है :

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च।।[८]

अर्थात् सम्पूर्ण स्थावर-जंगम जगत् का स्वामी यह हंस (परमात्मा) देहाभिमानी होकर नव द्वार वाले (देहरूप) पुर में बाह्य विषयों को ग्रहण करने के लिए चेष्टा करता है।

तमक्रतुं पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्।[९]

अर्थात् वह अक्रतु (विषयभोग संकल्प शून्य) विधाता की कृपा से महिमामय आत्मा को ईश रूप में देखता है और शोक रहित हो जाता है।

इन्हीं दो रूपों का वर्णन दो पक्षियों के दृष्टान्त से भी किया जाता है। 'सदा परस्पर मिल कर रहने वाले दो सखा सुपर्ण (पक्षी) एक ही वृक्ष को आश्रित किये हुए हैं। उनमें से एक उसके स्वादिष्ट फलों को भोगता है और दूसरा उन्हें न भोगता हुआ देखता रहता है।'[१०]

गौड़ापादाचार्य अजातवादी हैं। वे परमार्थ दृष्टि से जगत् की सत्ता नहीं मानते। उपनिषद् का वाक्य 'नेह नानास्ति किंचन'[११] अर्थात् यहाँ नानावल्तु कुछ नहीं है, उद्धृत करते हैं। हमें आँखों से और मन-बुद्धि से जो कुछ प्रतीत होता है, वह माया की रचना है।[१२] जगत की मायिक रचना और उसकी मिथ्या प्रतीत को स्वप्न के समान माना है।

यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः<br>
तथा जाग्रद् द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः।।[१३]

अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न काल में मन माया से ही द्वैताभास रूप से स्फुरित होता है, उसी प्रकार जाग्रत् काल में भी वह माया से ही द्वैताभास रूप से स्फुरित होता है। वस्तुतः न जगत् है और न वह उत्पन्न ही हो सकता है। तर्क से भी जगत् की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती। सर्वत्र ब्रह्म ही है जो भ्रांति से नामरूपात्मक जगत् प्रतीत होता है :

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते।<br>
एतत्तदुत्तयं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते।।[१४]

अर्थात् कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि उसका कोई कारण नहीं है। जिस अजन्मा ब्रह्म में किसी की उत्पत्ति नहीं होती, वही सर्वोत्तम सत्य है।

जीव भाव में जो विखण्डित चेतना प्रतीत होती है, उसका कारण मन की कल्पना है। मन के अमन हो जाने पर जीव अपने वास्तविक स्वरूप को पाकर जरामरणादि सम्पूर्ण विकारों से रहित देखता है।[१५]

## शंकर के अनुसार जगत् का स्वरूप

शंकर जगत् की उतनी उपेक्षा नहीं करते, जितनी गौड़पाद या कुछ उपनिषदों ने की है। उन्होंने, व्यावहारिक दृष्टि से ही सही, उस पर विस्तृत विचार किया है। जगत् का विस्तार, उसके घटक, उसकी उत्पत्ति का कारण आदि विभिन्न पक्षों का उल्लेख करते हुए शंकर ने जगत् की व्याख्या की है।

जगत् का विस्तार बताते हुए शंकर लिखते हैं - 'जगतो नामरूप क्रियाकारक फलजातस्य'[१६] अर्थात् समस्त नामरूप, क्रिया, कारक और उनके फल जगत् के अन्तर्गत आते हैं। नाम रूप वे समस्त वस्तुयें हैं जो हम अपने आसपास देखते या सुनते हैं। अपना शरीर भी ऐसा ही है। शरीर के अन्दर प्राण, अन्तःकरण आदि भी नाम रूप हैं। इस प्रकार जगत् आन्तरिक और बाह्य दो प्रकार का हो सकता है। अन्तःकरण में अहंकार वृत्ति भी जगत् आन्तरिक और बाह्य दो प्रकार का हो सकता है। अन्तःकरण में अहंकार वृत्ति भी जगत् का एक अंश है। उसी में कर्त्ताभाव अनुभव होता है। कर्त्ता के द्वारा किये गये कर्मों की गणना भी जगत् में ही होती है। कर्म संचित होकर प्रारब्ध बनते हैं और प्रारब्ध सुख-दुःख रूप फल उत्पन्न करता है। यह सब जगत् का ही रूप है।

शंकर ने जगत् को चर और अचर रूप में भी विभाजित किया है। प्राणियों के शरीर यद्यपि पंचभूतों से निर्मित पर्वत आदि अचर या स्थावर जगत् हैं। संक्षेप में समस्त जगत् को 'ईक्षणात् प्रवेशपर्यन्तः' कह सकते हैं। ऐतरेय उपनिषद् में प्रथम मंत्र में 'ईक्षण' से सृष्टि का विस्तार प्रारम्भ होता है। इसके उपरान्त, लोक, देवता, इन्द्रियाँ, शरीरादि उत्पन्न होते हैं। अन्त में वह (परमात्मा) मूर्छा को विदीर्ण कर उसमें प्रवेश कर गया।[१७] यहाँ तक समस्त नानात्व जगत् की रचना है। शंकर ने इस विस्तृत सृष्टि का वर्णन विवेकचूड़ामणि में सविस्तार किया है।[१८]

इस जगत् की रचना तीन गुण–सत्व, रजस् और तमस् – से हुई है :

रजस्तमः सत्त्वमिति प्रसिद्धा
गुणास्तदीयाः प्रथितैः स्वकार्यैः।[१९]

अर्थात् सत्व, रजस् और तमस् उसके (माया के) तीन गुण हैं और उन तीनों गुणों के अपने-अपने कार्य हैं। उन गुणों का निरूपण शंकर इस प्रकार करते हैं :

विक्षेपशाक्ती रजसः क्रियात्मिका
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।
रागादयोऽस्याः प्रभवन्तिनित्यं
दुःखादयो ये मनसो विकाराः।।[२०]

अर्थात् क्रियारूप विक्षेप शक्ति रजोगुण की है, जिससे सनातन काल से समस्त क्रियाएँ होती आयी हैं और जिससे रागादि और दुःखादि, जो मन के विकार हैं, सदा उत्पन्न होते रहते हैं।

एषावृतिनमि तमोगस्य
शक्तिर्यया वस्त्ववभासतेऽन्यथा।

सैषा निदानं पुरुषस्य संसृते -
विक्षेपशक्तेः प्रसरस्य हेतुः।।[२१]

अर्थात् जिसके कारण वस्तु कुछ-की-कुछ प्रतीत होने लगती है, वह तमोगुण की आवरण शक्ति है। यही पुरुष के संसार का आदि कारण है और यही विक्षेप शक्ति के प्रसार का भी हेतु है।

सत्वं विशुद्धं जलवत्तथापि
ताभ्यां मिलित्वा सरणाय कल्पते।
यत्रात्मबिम्बः प्रतिबिम्बितः सन्
प्रकाशयत्यर्क इबाखिलं जड़म्।[२२]

अर्थात् सत्त्वगुण जल के समान शुद्ध है, तथापि रज और तम से मिलने पर वह भी पुरुष के संसार-बंधन का कारण होता है, इसमें प्रतिबिम्बित होकर आत्मबिम्ब सूर्य के समान समस्त जड़ पदार्थों को प्रकाशित करता है।

यही तीनों गुण मिल कर माया का अव्यक्त रूप निर्धारित करते हैं, जिसके व्यक्त होने पर समस्त जगत् का विस्तार होता है।

## संसार का स्वरूप

शंकर के अध्येताओं ने प्रायः शंकर द्वारा निरूपित जगत् को ही संसार माना है। अधिकांश विद्वानों ने जगत् और संसार को पर्यायवाची माना है। वे इसका भेद नहीं कर सके हैं, किन्तु शंकर ने इन दोनों शब्दों का प्रयोग भिन्न संदर्भों में किया है और उनके मन में इन दोनों का निहितार्थ भी भिन्न है। इतना ही नहीं, उन्होंने इन दोनों की परिभाषायें भी स्वतंत्र रूप से दी हैं। शंकर द्वारा गयी गयी 'जगत्' की परिभाषा पर हम विचार कर चुके हैं, अब हम यहाँ 'संसार' की परिभाषा प्रस्तुत करते हैं :

क्रियाकारकफलभेदो हि संसारः[२३]

अर्थात् क्रिया, कारक और फलरूप भेद ही संसार है। फल सुख और दुःख है। इन फलों को भी संसार कह सकते हैं :

सुखदुःखसंभोगः संसार पुरुषस्य च
सुखदुःखानां संभोक्तृत्वं संसारित्वम्।[२४]

अर्थात् सुख-दुःखों का भोग ही संसार है और पुरुषों में जो सुख-दुखों का भोक्तृत्व है, वही उसका संसारित्व है।

क्रिया, कारक और सुख-दःख रूप फल तो संसार का रूप निर्धारित करते हैं किन्तु इसके कारण पर विचार करते हुए शंकर कहते हैं -

सत्याम् अपि अविद्याया सुख-दुःख मोहेषु गुणेषु भुज्यमानेषु यः संग आत्मभावः संसारस्य स प्रधानं कारणं जन्मनः।[२५]

अर्थात् यद्यपि संसार का कारण अविद्या है, तो भी भोगे जाते हुए सुख-दुःख और मोहरूप गुणों में जो आसक्त हो जाता है, वह जन्मरूप संसार का प्रधान कारण है।

अविद्या गुणेषु स संग कामः
संसारस्य कारणम्।[२६]

अर्थात् अविद्या और गुणों का संग ये दोनों ही संसार के कारण हैं।

आभासस्य चाविद्याकृत्वात्तदाश्रयस्य संसारस्य अविद्याकृतत्वोपपत्तिः[२७]

अर्थात् आभास (जीव) अविद्याकृत होने से उसके आश्रित संसार में भी अविद्याकृतत्व उत्पन्न है।

इसका तात्पर्य यह है कि अविद्या, गुणों का संग, कर्त्ताभाव, विषयों की कामना, उनको प्राप्त करने की योजना, कर्म में प्रवृत्ति, उनके फलस्वरूप सुख-दुःख की प्राप्ति, और उनका भोग सब मिला कर संसार है। संक्षेप में, अविद्या काम-कर्म ही संसार है। इसका वर्णन एक चक्र के रूप में भी किया जाता है। त्रिगुणात्मक वासना से कामना और कर्म उत्पन्न होते हैं तथा कर्म से वासनाएँ पुष्ट होती है। ये वासगम पुनः कर्म में प्रवृत करती हैं। यह संसार-चक्र अविराम गति से चलता रहता है, जैसे बीज और वृक्ष का चक्र चलता है।

वासनावृद्धितः कार्य कार्यवृद्धया च वासना।
वर्धते सर्वथा पुंसः संसारो न निवर्तते।[२८]

अर्थात् वासना के बढ़ने से कार्य बढ़ता है और कार्य के बढ़ने से वासना बढ़ती है और मनुष्य का संसार समाप्त नहीं होता है।

यह संसार ही जीव का बंधन है। इससे बंधे रहने के कारण ही उसे बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्र में गिरना होता है। शंकर ने इस सन्दर्भ में संसार-चक्र, संसार-सागर, संसार-कूप, संसार-बंधन आदि शब्दों का प्रयोग किया है। यह संसार जीव की रचना है और उसी के प्रयास से इसकी निवृत्ति होती है।

संसारबन्धविच्छित्यै तद्द्वयं प्रदहेद्यतिः।
वासनावद्धिरेताभ्यां चिन्तया क्रियया बहिः।।[२९]

अर्थात् संसार-बन्धन को काटने के लिए यति दोनों का नाश करे। विषयों की चिन्ता और बाह्य क्रिया से ही वासना की वृद्धि होती है।

स्पष्ट है कि यह संसार जगत् से भिन्न है। भले ही संसार की सत्ता जगत् के अन्तर्गत हो किन्तु संसार जगत् का पर्याय नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का संसार अपना अलग है, किन्तु जगत् सब जीवों का एक है। जीव के बन्धन का हेतु संसार है, जगत् नहीं। मुक्तजीव संसार से निवृत्त हो जाता है और उसके संसार का लय हो जाता है। किसी जीव का संसार नष्ट होने से जगत् का कुछ नहीं बिगड़ता। जगत् न बन्धन का कारण है और न वह दुखदायी है। किसी जीव के आत्मभाव प्राप्त करने से जगत् नष्ट हो जाता है।

हम यह भी कह सकते हैं कि ब्रह्म रूपी सत् वस्तु पर नामरूपात्मक जगत् अध्यारोपित है। परमार्थ दृश्टि से जगत् कुछ नहीं है, किन्तु व्यवहार दृष्टि से मनुष्य से स्वतंत्र उसकी सत्ता है। जगत् प्राप्त कर जीव अपनी अविद्या की कल्पना से अहं और मम का सृजन करता है और उसे जगत् के एक अंश पर अध्यारोपित करता है। यह जीव का सृजन और उसका अध्यारोपण ही संसार है। जैसे प्रलय काल में जगत के नष्ट होने पर ब्रह्म का विनाश नहीं होता, वह असंग रूप से विद्यमान रहता है, उसी प्रकार ज्ञानी जीव का संसार सिमट कर लय हो जाता है किन्तु उसके नष्ट होने से जगत् की वस्तुओं का कुछ नहीं बिगड़ता। जगत् वस्तुगत और इन्द्रियानुभविक सत्ता है जबकि संसार आत्मगत और मनोवैज्ञानिक सृष्टि है। प्रत्येक जीव का संसार उसके साथ चलता है। एक शरीर छोड़ कर जब वह दूसरा शरीर धारण करता है तो उसका संसार उसके साथ बंधन बन जाता है और नया शरीर मिलने पर उस शरीर तथा उससे सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं पर आरोपित हो जाता है।

## जगत् की उत्पत्ति

उपनिषदों के अनुसार इस जगत् की उत्पत्ति के पूर्व एकमात्र अद्वितीय सत् ही था।[३०] सत् के पूर्व असत् होने की सम्भावना का निषेध किया गया है। असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सत् ही ब्रह्म है। वह 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरुन्जनम्'[३१] अर्थात् निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निर्मल, निर्लेष है और 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः[३२] अर्थात् दिव्य, अमूर्त, बाहर-भीतर वर्तमान और अजन्मा है। उसने ईक्षण किया और नामरूपात्मक जगत् का विस्तार किया, सत् स्वरूप ब्रह्म के अतिरिक्त सृष्टि की उत्पत्ति में कोई सहयोगी कारण नहीं है। संक्षेप में सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है :

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजो सृजत।
तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदयोऽसृजत।
ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता।
अन्नमसृजन्त। तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि।
. . . अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्।[३३]

अर्थात् उस सत् ने ईक्षण किया 'मैं बहुत हो जाऊँ' - अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊं - इस प्रकार ईक्षण कर उसने तेज उत्पन्न किया। उस तेज ने ईक्षण किया 'मैं बहुत हो जाऊँ - नाना प्रकार से उत्पन्न होऊँ' - इस प्रकार ईक्षण कर उसने जल की रचना की। उस जल ने ईक्षण किया 'हम बहुत हो जायँ - अनेक रूप से उत्पन्न हों।' उसने अन्न की रचना की। 'उनमें से एक-एक देवता को त्रिवृत्-त्रिवृत् करूँ, ऐसा विचार कर उस देवता ने इस जीवात्मरूप से ही उन तीन देवताओं में अनुप्रवेश कर नामरूप का व्याकरण किया।'

इसी क्रम से समस्त लोक-लोकान्तर और जरायुज आदि चार प्रकार के जीवों की रचना हुई। लगभग सभी उपनिषदों में, कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार से, सृष्टि का यही क्रम अपनाया गया है। सृष्टि प्रारम्भ सत् के ईक्षण से होता है और जैसे-जैसे नामरूप व्यक्त होते हैं। उनमें वह सत् व्याप्त होकर जीवभाव उत्पन्न करता है। उसमें पुनः ईक्षण होता है और सृष्टि आगे बढ़ती है। इस विकास-प्रक्रिया के अगणित पद हो सकते हैं। ऋषियों ने उनका उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा, क्योंकि सृष्टि-विस्तार के मूल में सर्वत्र एक ही सिद्धान्त काम करता है।

गौड़पाद की दृष्टि में ईक्षण के द्वारा नामरूपों की उत्पत्ति कहने भर को है। जिन लोगों में जगत् के प्रति सत्यत्व बुद्धि है, उन्हीं के लिए श्रुति जगत् की उत्पत्ति का निरूपण करती है, किन्तु ऐसा करने में उसे कोई उत्साह नहीं है। जितने में श्रोता का सन्तोष हो और उसकी बुद्धि जगत् से हट कर सत् में स्थित हो जाय, उतना ही जगत् के विषय में कहना श्रुति को इष्ट है :

उपलम्भात्समाचारदस्तिवस्तुत्ववादिनाम्।
जातिस्तु देशिता बुद्धैरजातेस्त्रसतां सदा।।[३४]

अर्थात् वस्तुओं की उपलब्धि और वर्णाश्रमादि आचार के कारण जो पदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हैं तथा अजाति से भय मानते हैं, विद्वानों ने सर्वदा उन्हीं के लिए जाति का उपदेश दिया है।

तात्पर्य यह है कि वस्तुओं का अस्तित्व मानने वाले दृढ़ आग्रही, श्रद्धालु और मन्द विवेकशील पुरुषों को तत्त्वज्ञान के उपाय रूप से उस जाति का उपदेश दिया है।

अभी वे भले ही उसे स्वीकार कर लें परन्तु वेदान्त का अभ्यास करते-करते उन्हें स्वयं ही अजन्मा और अद्वितीय आत्म-तत्त्व का बोध हो जायेगा। श्रुतियों ने सृष्टि का विस्तार परमार्थ बुद्धि से नहीं किया। उनका उद्देश्य वस्तुओं के भेद को सत्य सिद्ध करना नहीं है, वरन् सत् में बुद्धि को अवतरित करना है।[३५]

शंकर भी इसी मत का समर्थन करते हैं, किन्तु वे समझते हैं कि अधिक लोगों में जगत् के प्रति सत्यत्व बुद्धि ही है और उन्हें सृष्टि-रचना का विस्तार बताये बिना उसके कारणभूत सत् में रुचि नहीं होगी। उन्होंने उपनिषदों पर भाष्य लिखते हुए और अपने स्वतंत्र ग्रन्थों में सृष्टि-रचना का विस्तृत विवरण दिया है किन्तु उसका उद्देश्य एक व्यवस्थित सृष्टि विज्ञान का निरूपण करना नहीं है वरन् ब्रह्मात्मैक्यभाव सिद्ध करना है।

जगत्-रचना के सम्बन्ध में शंकर का मत जानने के लिए ब्रह्मसूत्र के ईशति-अधिकरण पर उनका भाष्य और 'पंचीकरण' नाम का उनका प्रकरण ग्रन्थ देखना चाहिए। किन्तु 'पंचीकरण' की रचना शंकर ने ही की है - इस बात पर सभी विद्वान एक मत नहीं हैं। यदि हम उसे शंकर का प्रामाणिक ग्रन्थ न मान कर छोड़ भी दें, तो भी उनकी अन्य रचनायें पंचीकरण में व्यक्त मत का ही समर्थन करती हैं। शंकर की प्रतिज्ञा इस प्रकार है :

जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य . . .
जन्मस्थितिभंग यतः सर्वज्ञात्
सर्वशक्तेः कारणाद् भवति तद्ब्रह्मेति।[३६]

अर्थात् जो नामरूप से अभिव्यक्त हुआ है, उस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय जिस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् कारण से होते हैं, वह ब्रह्म है।

इसी ब्रह्म को शंकर सृष्टि की अपेक्षा से 'ईश्वर' नाम देते हैं और लिखते हैं :

यथोक्त विशेषणमीश्वरं मुक्त्वान्यतः
प्रधानादचेतनात्, अगुभ्योऽभावात्
संसारिणो वा उत्पत्त्यादि संभवयितुं शक्यम्।[३७]

अर्थात् यथोक्त विशेषण विशिष्ट ईश्वर को छोड़ कर अन्य से - अचेतन प्रधान, परमाणुओं, शून्य अथवा संसारी से उत्पत्ति आदि – की सम्भावना नहीं की जा सकती।

ईश्वर जगत् का निमित्त कारण ही नहीं, उसका उपादान कारण भी है। इस लक्ष्य का निर्णय करने के लिए शंकर उपक्रम के रूप में प्रश्न करते हैं कि ब्रह्म घट, आभूषण आदि के प्रति मिट्टी और स्वर्ण आदि के समान उपादान कारण है या कुम्हार, स्वर्णकार आदि के समान निमित्त कारण?[३८] और इसके उत्तर में उसे निमित्त

और उपादान दोनों कारण सिद्ध करते हैं। अचेतन प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, इसलिए चेतन ईश्वर से सृष्टि मानना अनिवार्य है। इसमें श्रुति और युक्ति प्रमाण दोनों हैं। श्रुति में ईक्षणपूर्वक जगत् की उत्पत्ति कही गयी है और लोक में भी कारकपूर्वक क्रिया के फल की सिद्धि देखी जाती है। किन्तु ईश्वर केवल निमित्त कारण नहीं है। वह उपादान कारण भी है। इसके समर्थन में शंकर श्रुति में प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का अनुरोध मानते हैं।

श्रुति में प्रतिज्ञा है 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्'[३६] अर्थात् क्या तुमने गुरु से वह आदेश पूछा है, जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है और अविज्ञात विशेष रूप से ज्ञात हो जाता है। इसमें ऐसा प्रतीत होता है कि एक के विज्ञात होने से अन्य सब अविज्ञात भी ज्ञात हो जाते हैं। वह सर्व विज्ञान उपादानकारण के विज्ञात होने पर संभव है क्योंकि कार्य उपादान कारण से अभिन्न होता है। किन्तु निमित्तकारण से कार्य अभिन्न नहीं होता, कारण कि लोक में बढ़ई आदि उनके द्वारा निर्मित वस्तुओं से भिन्न देखे जाते हैं। दृष्टान्त भी मृत्पिण्ड का है। एक मृत्पिण्ड के ज्ञान से सब मृत्तिका के विकारों का ज्ञान हो जाता है। इस दृष्टान्त में जैसे मिट्टी उपादान कारण है और घट उसका कार्य है, वैसे ही ईश्वर उपादान कारण है और जगत् उसका कार्य है।

किन्तु यदि तर्क किया जाय कि मिट्टी तो केवल उपादान कारण है, इसी प्रकार ईश्वर की भी केवल उपादान कारण मानना चाहिए, तो इसके उत्तर में शंकर का कथन है कि ईश्वर को निमित्त कारण तो अन्य अधिष्ठाता के न होने कारण समझना चाहिए। जैसे मृत्तिका आदि के अधिष्ठाता कुम्भकार आदि होते हैं वैसे उपादान कारण सत् को अन्य अधिष्ठाता की अपेक्षा नहीं है क्योंकि जगत् की उत्पत्ति के पूर्व चतुर्विध भेद रहित केवल एक अद्वितीय था। उपादान से पृथक् किसी निमित्त कारण को स्वीकार करने पर एक विज्ञान से सर्व विज्ञात सम्भव न होगा। अतः अन्य अधिष्ठाता न होने से ईश्वर निमित्त है और अन्य उपादान न होने से वही उपादान है।

श्रुति के अनुसार सत् में ईक्षण होने से तेज, जल और अन्य की उत्पत्ति हुई और इन तीनों की त्रिवृतीकरण से समस्त जगत् का विस्तार हुआ।[४०] अन्य उपनिषदों में ब्रह्म से पंचभूतों की उत्पत्ति बताई गई है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। . . . तस्माद्वा
एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः।
आकाशाद्वायु। वायोरग्निः। अग्नेरापः।
अद्भ्यः पृथिवी।[४१]

अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है। उस आत्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई।

इन पंचभूतों से औषधियाँ, अन्न और पुरुषों की उत्पत्ति होती है। पंचभूतों से औषधि आदि की उत्पत्ति कैसे होती है? इस प्रश्न के उत्तर में शंकर पञ्चीकरण की कल्पना करते हैं :

यथा तु त्रिवृत्कृते त्रीर्ण्ण रूपाणीत्येव सत्यम्, तथा
पंचीकरणेऽपि समानो न्यायः।[४२]

अर्थात् जिस प्रकार त्रिवृत्करण में तीन रूप ही सत्य हैं, उसी प्रकार पंचीकरण में भी समान नियम समझना चाहिए। हमें इन्द्रियगोचर होकर जो पंचभूत उपलब्ध हैं, वे पंचीकृत हैं। पंचीकृत होने से वे स्थूल हो गये हैं। अतः इनके द्वारा निर्मित शरीर भी स्थूल हैं :

पंचीकृतेभ्यो भूतेभ्यः स्थूलेभ्यः पूर्वकर्मणा समुत्पन्नमिदं
स्थूलं भोगायतनमात्मनः।।[४३]

अर्थात् पंचीकृत स्थूल भूतों से पूर्वकर्मानुसार उत्पन्न हुआ यह शरीर आत्मा का स्थूल भोगायतन है।

अन्तःकरण, प्राण, ज्ञानेन्द्रियाँ, कमेन्द्रियाँ और तन्मात्रायें अपंचीकृत पंचभूतों से निर्मित हैं। उनका एक-दूसरे से विचित्रता का कारण तीन गुण हैं। अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति सत्त्वगुण प्रधान अपंचीकृत पंचभूतों के मिश्रण से हुई। अन्तःकरण में पंचभूत एक साथ हैं, किन्तु इन्द्रियों में एक-एक की प्रधानता है। प्राण में रजस् प्रधान अपंचीकृत पंचभूत उपादान रूप में एक साथ हैं और कर्मेन्द्रियों में वे एक-एक कर विद्यमान हैं। आत्मबोध में उनका उल्लेख इस प्रकार है :

पंचीकृतमहाभूतसम्भवं कर्मसंचितम्।
शरीरं सुखदुःखानां भोगायतनमुच्येत्।।[४४]

अर्थात् पूर्वकर्मों द्वारा निश्चित प्रत्येक व्यक्ति के इस स्थूल शरीर का जन्म पंचीकृत महाभूतों में से हुआ है जो सुख-दुःख रूपी भोगों के अनुभवों का स्थान अथवा भोगायतन कहलाता है।

पंचप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम्।
अपंचीकृत भूतोत्थं सूक्ष्मागं भोगसाधनम्।।[४५]

अर्थात् अपंचीकृत सूक्ष्म भूतों से उत्पन्न पंचप्राण, दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि से मिल कर बना यह सूक्ष्म शरीर भोग का साधन हैं।

अपंचीकृत पंचभूत तन्मात्रा कहलाते हैं - शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। ये पाँच तन्मात्राएँ हैं। इनका पंचीकरण होने के लिए पहले इन सब में विभाजन होता है। प्रत्येक तन्मात्रा दो बराबर भागों में विभाजित हो जाती है।[४६] अब प्रत्येक तन्मात्रा का आधा भाग अविकल्प रहता है। शेष आधा भाग चार बराबर अंशों में बँट जाता है। इस प्रकार यह अंश सम्पूर्ण तन्मात्रा का आठवाँ भाग होता है। इस तरह इस अवस्था में प्रत्येक तन्मात्रा अपने आपको पाँच भागों में बाँट लेती है, एक आधा भाग और चार एकबटे आठ अंश। अब प्रत्येक आधा भाग ज्यों का त्यों रहते हुए शेष तन्मात्राओं के आठवें अंश को अपने में मिला लेता है। इनके मिलने से जो समुच्चय बनता है, उसमें स्थूलता आ जाती है। शब्द तन्मात्रा की अधिकता के कारण उससे आकाश की उत्पत्ति होती है। आकाश में शब्द के साथ-साथ आठवें अंश के रूप में स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की भी तन्मात्रा रहती है। इसी प्रकार वायु में स्पर्श की तन्मात्रा आधी और शब्द, रूप, रस तथा गन्ध की तन्मात्राओं का अंश आठवाँ रहता है। यही नियम अग्नि, जल और पृथ्वी में भी है।

तात्पर्य यह है कि सृष्टि के तीन स्तर हैं - (१) तीनों गुणों की मिश्रित अवस्था, जिनसे जीव की वासना बनती है (कारण शरीर), (२) तीन गुणों से उत्पन्न पाँच तन्मात्राएँ या अपंचीकृत पंचभूत, जिनसे प्राण, अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ बनती हैं (सूक्ष्म शरीर) और (३) पंचीकृत पंचभूत, जिनसे वनस्पति, कीट, पतंग, पक्षी, पशु, मनुष्यों आदि शरीर निर्मित होते हैं (स्थूल शरीर)। अनन्त और असीम परमात्मा चैतन्य का इन शरीरों के संघात में आकाश के समान व्याप्त होना स्वाभाविक है। ऐसा होने पर जो बुद्धि-वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उनमें ज्ञाता-ज्ञेय भेद अनुभव होता है और नानात्व की प्रतीति होती है। इस बुद्धि के लिए परमात्मा परिच्छिन्न है।

परिच्छिन्न इवाज्ञानात्तन्नाशे सति केवलः।
स्वयं प्रकाशते ह्यात्मा मेघापायेऽशुमानिव।।[४७]

अर्थात् अज्ञान के कारण ही आत्मा परिच्छिन्न प्रतीत होता है। जब अज्ञान का नाश होता है तो आत्मा जिसमें नानात्व नहीं है, बादलों के हट जाने पर सूर्य की भाँति स्वयं ही प्रकाशित हो उठता है।

## परिणामवाद एवं असत्कार्यवाद का खण्डन

ईश्वर को ही विश्व का उपादान एवं निमित्त दोनों कारण मानने पर प्रश्न उठता है कि कारणरूप ईश्वर से कार्यरूप विश्व की किस प्रकार उत्पत्ति होती है। कारण से कार्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मुख्यतः दो मत प्रचलित हैं - असत् कार्यवाद एवं सत्कार्यवाद्। असत्कार्यवाद मानता है कि कार्य उत्पत्ति के पहले अपने कारण में विद्यमान नहीं रहता। कार्य एक नवीन उत्पत्ति है। इस सिद्धान्त को आरम्भवाद भी

कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पन्न होने के पूर्व कार्य का कारण में प्रागभाव है। उदाहरणार्थ, उत्पन्न होने के पहले घड़ा मिट्टी में विद्यमान नहीं है। इसके विपरीत सत्कार्यवाद के अनुसार कार्य उत्पन्न होने के पहले अपने कारण में विद्यमान है। कारण–व्यापार के पूर्व कार्य अपने कारण में अव्यक्तरूप से रहता है। इसलिए सत्कार्यवादी मानते हैं कि कारण से कार्य के उत्पन्न होने का तात्पर्य अव्यक्त का व्यक्त होना है। नैयायिक असत्कार्यवादी हैं जबकि सांख्य एवं वेदान्ती सत्कार्यवाद में विश्वास करते हैं।

अत्कार्यवादी होने के कारण शंकर असत्कार्यवाद का खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि यह सिद्धान्त श्रुति-विरुद्ध है। श्रुतियों में असत् से सत् की उत्पत्ति को असम्भव माना गया है।[४८] भगवद्गीता के चौथे अध्याय के अठारहवें श्लोक पर भाष्य करते हुए शंकर ने असत्कार्यवाद को सब प्रमाणों के विरुद्ध माना है।[४९] इसके अतिरिक्त असत्कार्यवाद के खण्डन के लिए शंकर ने कुछ युक्तियाँ भी दी हैं।

शंकर का कहना है कि कार्य तभी उत्पन्न होता है, जब उसका कारण उपस्थित होता है। कारण की अनुपस्थिति में कार्य उत्पन्न नहीं होता। मिट्टी का घड़ा मिट्टी के उपस्थित होने पर ही उत्पन्न होता है, उसकी अनुपस्थिति में नहीं। इससे सिद्ध होता है कि कार्य अपने कारण में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है।[५०] जो वस्तु जिसमें नहीं रहती, वह उत्पन्न नहीं होती। तेल बालू में नहीं है, अतः वह उससे उत्पन्न नहीं होता। किसी विशेष कार्य को उत्पन्न करने के लिए विशेष उपादान की आवश्यकता होती है। दही उत्पन्न करने के लिए दूध आवश्यक है, मिट्टी का घड़ा बनाने के लिए मिट्टी एवं सोने के आभूषणों की उत्पत्ति के लिए सोना आवश्यक है। इससे यह सिद्ध होता है कि ये कार्य इन कारणों में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहते हैं। यदि ऐसा न होता तो मिट्टी से दही और दूध से घड़ा उत्पन्न हो जाता।[५१]

असत्कार्यवादी कहते हैं कि यदि कार्य अपने कारण में उत्पत्ति के पहले विद्यमान है तो उसको उत्पन्न करने के लिए निमित्त कारण एवं अन्य सामग्री की आवश्यकता क्यों होती है? इस प्रश्न के उत्तर में शंकर का कहना है कि निमित्त कारण अपने प्रयत्नों से असत् से सत् उत्पन्न नहीं करता वरन् वह कारण-द्रव्य से कार्य को बाहर लाने में सहायक होता है।[५२] कार्य कारण अर्थात् द्रव्य का एक पक्ष मात्र ही है, उससे भिन्न नहीं।

शंकर के अनुसार सभी क्रियायें किसी न किसी द्रव्य में ही रहती हैं। चलने की क्रिया बिना किसी चलने वाले के नहीं हो सकती। इसी प्रकार उत्पत्ति भी एक क्रिया है, अतः उसको भी किसी न किसी द्रव्य में ही रहना चाहिए। अतः यदि कार्यरूप मिट्टी का घड़ा कारणरूप मिट्टी में उत्पत्ति के पहले विद्यमान नहीं रहता, तो इस का तात्पर्य यह हुआ कि उसकी उत्पत्ति की क्रिया बिना किसी आधार के होती है।

उत्पत्ति की क्रिया घड़े में नहीं रह सकती क्योंकि असत्कार्यवाद के अनुसार घड़ा उत्पत्ति के रहते है ही नहीं। यह क्रिया कारण-रूप मिट्टी में भी नहीं रह सकती क्योंकि मिट्टी उत्पन्न नहीं होती। यह क्रिया कुम्हार एवं अन्य सामग्री में भी नहीं हो सकती क्योंकि ऐसा मानने से इन कारणों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी जबकि यह सामान्य अनुभव का विषय है कि कुम्हार एवं अन्य सामग्री घड़े की उत्पत्ति के पहले ही विद्यमान रहते हैं।[५३] कुम्हार घड़े के साथ उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार शंकर असत्कार्यवाद का निषेध करके सत्कार्यवाद को स्वीकर करते हैं।

सत्कार्यवाद के दो रूप हैं - परिणामवाद एवं विवर्तवाद। परिणामवाद के अनुसार कारण कार्य में परिवर्तित हो जाता है। कारण ही कार्य बन जाता है। दही दूध का परिणाम है। दूध स्वयं दही के रूप में परिवर्तित हो जाता है। स्वर्ण स्वयं आभूषणों में परिवर्तित होता है। विवर्तवाद के अनुसार कारण कार्य में परिवर्तित नहीं होता वरन् कारण कार्यरूप में प्रतीत होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार कारण सत् है जबकि कार्य काल्पनिक है। रज्जु में सर्प विवर्त है क्योंकि रज्जु सर्प में परिवर्तित नहीं होती वरन् रज्जु में सर्प प्रतीत होता है।

अद्वैत-वेदान्त का कार्यकारण सिद्धान्त परिणामस्वरूप से भिन्न है। परिणामवादी कार्यद्रव्य को कारण से भिन्न और अभिन्न दोनों मानते हैं। घड़ा मिट्टी का कार्य है। इसलिए वह मिट्टी से अभिन्न है क्योंकि कार्य कारण में विद्यमान रहता है। अपने व्यापार इत्यादि के कारण कार्य कारण से भिन्न भी है। एक कारण के दो कार्य भी भिन्न होते हैं। घड़े एवं प्याले का कारण मिट्टी ही है, फिर भी प्याला घड़े से भिन्न है। यदि मिट्टी ही दोनों में परिवर्तित होती है तो इन दोनों में भेद क्यों है? यदि इन दोनों में भेद है तो इनकी कारणरूप मिट्टी में भी भेद होना चाहिए। इस प्रकार परिणामवाद युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता।

अद्वैत-वेदान्त के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही अविनाशी, निर्विकार एवं सत् है। यह समस्त विश्व मिथ्या है। ब्रह्म ही इस सबका कारण है किन्तु ब्रह्म विश्व में परिणत नहीं होता वरन् यह विश्व उस पर अध्यारोपित है। विश्व ब्रह्म का अतात्त्विक परिवर्तन है, तात्त्विक परिवर्तन नहीं। किसी द्रव्य के तात्विक परिवर्तन को परिणाम एवं अतात्त्विक परिवर्तन को विवर्त कहा जाता है।[५४]

शंकर सत्कार्यवाद को विवर्तवाद के रूप में ही स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि कार्य कारण से भिन्न नहीं रह सकता। सोने का आभूषण सोने से भिन्न नहीं रहता, इसी प्रकार यह विश्व भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है। यह ब्रह्म में ही है, किन्तु ब्रह्म विश्व में परिवर्तित नहीं होता। ब्रह्म में विश्व प्रतीत होता है। ब्रह्म शुद्ध, चेतन, अविकारी है जबकि विश्व के लक्षण उसके विपरीत हैं। अतः विश्व ब्रह्म पर अध यारोपित है।[५५]

## जगत् की अनिर्वचनीयता

इस विवेचन के उपरान्त अब हम अद्वैत-वेदान्त के अनुसार जगत् का स्वरूप समझने की स्थिति में आ सकते हैं। यह जगत् सत् है या असत्? यह निश्चिय करने के लिए शंकर तीन प्रकार की सत्तायें स्वीकार करते हैं। ये तीनों असत् से पृथक् हैं। वे इस जगत् का कारण न असत् मानते हैं और न कार्यरूप इस जगत् को ही। उनके अनुसार असत् से कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता है - 'यद्यभावादेव घट उत्पद्येत घटार्थिता मृत्पिण्डो नोपादीयेत'[५६] - अर्थात् यदि अभाव से ही घट की उत्पत्ति होती तो घट बनाने की इच्छा वाले को मृत्तिका पिण्ड लेने की आवश्यकता न होती। असत् वस्तु का जन्म माया से अथवा वस्तुतः किसी प्रकार होना सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा देखा ही नहीं जाता।[५७] बिना किसी आश्रय के रज्जु-सर्प अथवा मृग-तृष्णा आदि भी नहीं देखे जाते।[५८] कोई भी निरात्मक (असत् द्वारा) व्यवहार की कल्पना नहीं की जा सकती।[५९] अतः शंकर के अनुसार जगत् की उत्पत्ति न असत् से हुई है और न यह जगत् ही बन्ध्यापुत्र या आकाशकुसुम के समान असत् या आलोक है।

असत् के विपरीत सत् हो सकता है। उसे तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है - प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक। प्रातिभासिक सत्ता असत् होती है किन्तु वह निरात्मक नहीं होती। रज्जु-सर्प का आधार रज्जु, शुक्ति-रजत का आधार शुक्ति और मृगवारि का आधार बालू होती है। सर्प असत् है किन्तु रज्जु जो सर्प के समान भासित होती है, असत् नहीं है। इसके अतिरिक्त, भ्रान्त वस्तुओं की चेतना और भ्रामक या प्रातिभासिक वस्तु समान स्तर के नहीं होते हैं, क्योंकि रस्सी देख पाने पर मिथ्या सर्प का बोध हो जाता है किन्तु सर्प-ज्ञान का बाध नहीं होता। शंकर के शब्दों में 'यद्यपि स्वप्नावस्था में स्थित पुरुष को सर्प का डंसना, जल स्नान आदि कार्य असत्य हैं, तो भी उनका ज्ञानस्वरूप फल सत्य ही है, क्योंकि जाग्रत् पुरुष का भी वह ज्ञान बाधित नहीं होता है। स्वप्न से उठा हुआ पुरुष स्वप्नदृष्ट सर्पदंश, उदकस्नानादि कार्य मिथ्या हैं - ऐसा मानता हुआ भी उस ज्ञान को मिथ्या नहीं मानता।'[६०]

इस प्रकार प्रातिभासिक ज्ञान का विषय मिथ्या होता है, किन्तु उसका ज्ञान और आधार मिथ्या नहीं होते। जाग्रत अवस्था की वस्तुयें इस प्रकार की नहीं हैं। 'स्वप्न की वस्तुओं या प्रातिभासिक वस्तुओं के समान उनका बाध नहीं होता। इससे दोनों प्रकार की वस्तुओं का वैधर्म्य सिद्ध है।'[६१] अतः सहसा यह न मान बैठना चाहिए कि शंकर जगत् की वस्तुओं को स्वप्न के समान असत् मानते हैं। वे स्वयं सावधान करते हुए कहते हैं, 'द्वैतभेद से सत् ही अन्यथारूप से गृहीत होने के कारण कभी किसी पदार्थ की असत्ता नहीं है। जिस प्रकार तार्किक लोग सत् से भिन्न किसी अन्य पदार्थ

की कल्पना कर फिर उत्पत्ति से पूर्व और नाश के पश्चात् उसकी असत्ता बताते हैं, उसी प्रकार हमारे द्वारा कभी कहीं भी सत् से भिन्न किसी नाम अथवा नाम की विषयभूत वस्तु की कल्पना नहीं की जाती। सारे नाम और जो अन्य बुद्धि से कहे जाते हैं, वे सारे पदार्थ सत् ही हैं।'[६२] इसमें सन्देह नहीं कि भ्रान्ति या स्वप्न और जाग्रत व्यवहार के विषयों में कुछ समानता अवश्य है, जैसे वे ज्ञान के विषय हैं, परिवर्तनशील, विनाशी, ससीम आदि हैं और असत् से भिन्न लक्षण वाले हैं; किन्तु दोनों में अन्तर भी स्पष्ट हैं। भ्रान्ति की वस्तुयें केवल हमारे मन की उपज हैं, अतः उनका ज्ञान हमारा व्यक्तिगत है। व्यवहार की वस्तुयें सबके ज्ञान की विषय हैं। इसी भेद के कारण एक को 'प्रातिभासिक सत्ता' और दूसरे को 'व्यावहारिक सत्ता' कहते हैं। 'मृगतृष्णिकाद्यमृतापेक्षयोदकादि सत्यमुच्यते'[६३] अर्थात् मृगतृष्णा आदि अनृत की अपेक्षा से जल आदि को सत्य कहा जाता है।

शंकर जब इस जगत् की तुलना ब्रह्म से करते हैं तो ब्रह्म की तुलना में जगत् मिथ्या सिद्ध होता है, क्योंकि ब्रह्म निरपेक्ष सत् है, निर्विकार, शाश्वत, कूटस्थ और अनन्त है। इसलिए शंकर ब्रह्म को पारमार्थिक सत् कहते हैं। 'एकमेव हि परमार्थसत्य ब्रह्म'[६४] अर्थात् ब्रह्म ही एकमात्र परमार्थ सत्य है। 'परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ताः सर्वे'[६५] अर्थात् परमार्थ अवस्था में सभी वेदान्त समस्त व्यवहार का अभाव कहते हैं। 'न परमार्थचिन्तकानां सृष्टावादरः'[६६] – परमार्थचिन्तन करने वालों का सृष्टि के विषय में आदर नहीं है।

इस प्रकार जगत् न आकाशकुसुम के समान अनृत, व स्वप्न के समान किसी व्यक्ति विशेष की वैयक्तिक रचना और भ्रान्ति है किन्तु वह नित्य सत् भी नहीं है। यह सत् और असत् से पृथक् किसी विशेष प्रकार का है। इसकी परिवर्तनीय, विनाशी और तर्क से व्याघातपूर्ण स्थिति इसे 'सत्' की कोटि में नहीं रहने देती है और इसकी व्यावहारिक उपलब्धि और सभी जनों के ज्ञान का विषय होने के कारण इसे 'असत्' या भ्रान्तिमात्र भी नहीं माना जा सकता है। सत् और असत् दोनों विरोधी पद होने के कारण इसे 'सदसत्' कहना भी उचित नहीं है, इसलिए शंकर इसे अनिर्वचनीय कहते हैं। 'तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये नामरूपे अव्याकृते व्याचिकार्षिते'[६७] अर्थात् सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय है और अव्याकृत होकर नामरूप के द्वारा व्याकृत है।

## संदर्भ-सूची

१. छान्दोग्य उपनिषद्।
२. श्वेताश्वतर उपनिषद्, ४.४.१०, पृष्ठ १९७।

३. वहीं, ४.४.११, पृष्ठ १६८।
४. श्वेताश्वतर उपनिषद्, ६.११।
५. ऐतरेय उपनिषद्, १.३।
६. बृहदारण्यक उपनिषद्, १.४.७।
७. तैत्तिरीय उपनिषद्, २.६.१।
८. श्वेताश्वतर उपनिषद्, ३.३.१८।
६. वहीं, ३.३.२०।
१०. श्वेताश्वतर उपनिषद्, ४.४.६।
११. कठ उपनिषद्, २.१.११।
१२. गौड़पाद, अद्वैत प्रकरण, २४।
१३. वहीं, २६।
१४. वहीं, ४८।
१५. गौड़पाद, अलातशान्तप्रकरण, १०।
१६. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, १.३.२२।
१७. ऐतरेय उपनिषद्, १ से १२, पृष्ठ ५८।
१८. शंकर, विवेक चूड़ामणि, श्लोक ८७ से १२३।
१६. वहीं, ११०।
२०. शंकर, विवेक चूड़ामणि, श्लोक ११३।
२१. वहीं, ११५।
२२. वहीं, ११६।
२३. छान्दोग्य उपनिषद्, शां.भा., ७.२४.१ पृष्ठ ७८८।
२४. श्रीमद्भगवद्गीता, शां.भा., १३.२० पृष्ठ ३३४।
२५. भगवद्गीता, शां.भा., १३.२१, पृष्ठ ३३४।
२६. वहीं, १३.२१, पृष्ठ ३३५।
२७. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., २.२.५०, पृष्ठ ५३२।
२८. विवेक चूड़ामणि, श्लोक ३१४।
२६. वहीं, श्लोक ३१५।
३०. छान्दोग्य उपनिषद्, ६.२.१।
३१. श्वेताश्वतर उपनिषद्, ६.१६।
३२. मुण्डक उपनिषद्, २.१.२।
३३. छान्दोग्य उपनिषद्, ६.२.३ से ६.३.३ तक।
३४. गौड़पाद, अलातशान्तप्रकरण, ४२।
३५. वहीं, अद्वैतप्रकरण, १५।

३६. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., १.१.२, पृष्ठ ३५, ३६
३७. वहीं, पृष्ठ ३७।
३८. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., १.४.२३, पृष्ठ ३२८।
३९. छान्दोग्य उपनिषद्, ६.१.२।
४०. छान्दोग्य उपनिषद्, ६.४.४।
४१. तैत्तिरीय उपनिषद, २.१, पृष्ठ ६७।
४२. छान्दोग्य उपनिषद्, शां.भा., ६.४.४, पृष्ठ ६१६।
४३. विवेक चूड़ामणि, ६०।
४४. आत्मबोध, १२।
४५. वहीं, १३।
४६. वेदान्तपरिभाषा, विषय परिच्छेदः, पृष्ठ ३१४।
४७. आत्मबोध, ४।
४८. शांकरभाष्य, गीता, III, भूमिका।
४९. शांकरभाष्य, गीता, I, १८ (सर्वप्रमाणविरोधात्)।
५०. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., II, I, १५।
५१. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., २.१.१८।
५२. वहीं।
५३. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., २.१.१८।
५४. वेदान्तसार, पृष्ठ ८५।
५५. विवेक चूड़ामणि, २३३।
५६. छान्दोग्य उपनिषद्, ६.२.२, पृष्ठ ५६१।
५७. माण्डूक्यकारिका, शां.भा., ३.२८, पृष्ठ १६५।
५८. वहीं, १.६, पृष्ठ ४६।
५९. भगवद्गीता, ९.४, पृष्ठ २२६।
६०. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., २.१.१४, पृष्ठ ३६६।
६१. वहीं, २.२.२९, पृष्ठ ४५२।
६२. बृहदारण्यक उपनिषद् शां.भा., ६.२.३, पृष्ठ ५६७।
६३. तैत्तिरीय उपनिषद्, शां.भा., २.६, पृष्ठ १७१।
६४. वहीं, पृष्ठ १७१।
६५. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., २.१.१४, पृष्ठ ३७०।
६६. गौड़पादकारिका, शां.भा., १.७, पृष्ठ ४७।
६७. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., १.१.५।

# माया

## (क) शंकर-पूर्व दर्शनों में माया का स्वरूप

अद्वैत-वेदान्त में माया ही एक ऐसी शक्ति मानी गयी है जो जगत् की वस्तुओं और जीवों के नानात्व की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी हो सकती है। ऋग्वेद में इसका प्रयोग इन्द्रजाल या छद्म के अर्थ में किया गया और उपनिषदों में वही जगत् की रचना करने वाली ईश्वरी शक्ति बन गयी। शंकर के अद्वैत-वेदान्त में समस्त जगत् ही मायामय हो गया।

ऋग्वेद संसार का सबसे प्राचीन साहित्य है। उसमें 'माया' शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। उसका सबसे प्रसिद्ध वाक्य है - 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'[१] अर्थात् इन्द्र मायाशक्ति से अनेक रूप धारण कर लेता है। यहाँ माया के साथ शुभ और अशुभ दोनों भाव जुड़े हैं। राक्षस की माया छल करने वाली और धोखा देने वाली है, किन्तु मित्र और वरुण माया के द्वारा ही वर्षा करते हैं, अतः कल्याणकारी भी है।[२] माया के कारण ही सूर्य और चन्द्र अस्त और उदित होते हैं। किन्तु दोनों ही भावों में माया शब्द का प्रयोग किसी रहस्यमय शक्ति का सूचक है।

अथर्ववेद में हम देखते हैं कि माया में उत्पन्न होने का लक्षण है।[३] वहाँ शब्द का प्रयोग करने वाला ऋषि माया की एक रहस्यमयी शक्ति तो मानता ही है, साथ ही उससे उत्पन्न होने वाली रचना (कार्य) को भी माया ही स्वीकार करता है। माया कारण और कार्य दोनों है।

उपनिषदों में ब्रह्म से संसार की उत्पत्ति बताई गई है और वहाँ माया शब्द का प्रयोग उसी सृष्टि के हेतु किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् यद्यपि यजुर्वेद का एक अंश है, फिर भी, उसका ऋषि ऋग्वेद के प्राचीन मंत्र 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' को नये प्रसंग और नये अर्थ में प्रयोग करता है।

> रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
> इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयःशतादशेति।[४]

अर्थात् वह रूप-रूप के प्रतिरूप हो गया। इसका वह रूप प्रतिख्यापन (प्रकट) करने के लिए है। ईश्वर माया से अनेक रूप प्रतीत होता है। शरीर रूप रथ में जोड़े हुए इसके इन्द्रियरूप घोड़े शत और दश हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि कहते हैं :

छन्दासि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि
भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेत -
तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः।।[५]

अर्थात् वेद, यज्ञ, क्रतु, व्रत, भूत, भविष्य और वर्तमान तथा और भी जो कुछ वेद बतलाते हैं, वह सब मायावी ईश्वर इस अक्षर से ही उत्पन्न करता है और उस प्रपंच में ही माया से अन्य-सा होकर बंधा हुआ है।

इससे स्पष्ट है कि समस्त देश-काल और कार्य-कारण सहित जगत् उस परमेश्वर से रचित है जो माया शक्ति का धारण कर्ता है; और माया के कारण ही जीव ब्रह्म से अन्य-सा होकर इस मायामय जगत् में बँधा है। अगले मंत्र में ऋषि अधिक स्पष्ट करते हुए स्वयं कहते हैं -

मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।।[६]

अर्थात् प्रकृति को तो माया जानना चाहिए और महेश्वर को मायावी। उसी के अवयवभूत से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। यहाँ इस बात का भी संकेत मिलता है कि माया अवयवभूत है। यह लक्षण उसके स्वामी महेश्वर में नहीं है। संभव है ऋषि का संकेत माया के अवयवभूत तत्व, रज और तम तीनों गुण ही हों।

प्रश्नोपनिषद् में पिप्पलाद ऋषि कहते हैं -

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको
न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति।[७]

अर्थात् जिनमें न कुटिलता है, न अनृत है और न माया है, उन्हीं को वह निर्विकार ब्रह्मलोक मिलता है। यहाँ माया से तात्पर्य जगत या जगत्-कर्तृ शक्ति नहीं है। पहला अर्थ मानना इसलिए उचित नहीं कि उसके वाचक शब्द 'जिह्मम्' और 'अनृतम्' का प्रयोग स्वयं ऋषि करते हैं। अतः यहाँ माया का तात्पर्य अविद्या ही होना चाहिए, जिससे मुक्त होने पर मनुष्य ज्ञान स्वरूप परम सत् को जान लेता है।

सूत्रकार ने माया की अवधारणा पर विचार नहीं किया है। समस्त सूत्रों में केवल एक बार माया शब्द का प्रयोग किया गया है, वह भी ब्रह्म की शक्ति अथवा सृष्टि के कारण रूप में नहीं, वरन् स्वप्न को मिथ्या कहने के लिए। 'मायायात्रं तु कात्स्र्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्'[८] अर्थात् स्वप्न सृष्टि मायामात्र है, क्योंकि देशकाल आदि समस्त धर्मों से अभिव्यक्त स्वरूप नहीं है। हम अधिक से अधिक इसका अर्थ यह मान सकते हैं कि स्वप्न मायामात्र है तो उपनिषदों में जो मायिक सृष्टि बताई गयी हैं वह स्वप्न के समान है।

भगवद्गीता में भी कई बार माया शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं यद्यपि अजन्मा हूँ और समस्त भूतों का स्वामी हूँ किन्तु प्रकृति को अपने वश में कर अपनी माया से प्रकट होता हूँ।[९] इसका तात्पर्य है कि अधिष्ठान में जब उसके विपरीत लक्षण दिखाई देते हैं तो वह माया के कारण हैं। अजन्मा का जन्म माया से होता है। इसका परिचय कराते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं, 'मेरी माया गुणमयी है और उसे पार करना कठिन है, जो मेरी शरण में आते हैं वही उसके पार जा पाते हैं।'[१०] इस कथन का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि माया में मोहिनीशक्ति है। उसके कारण ऐसी भ्रांति या अविद्या उत्पन्न होती है कि उसमें पड़ा प्राणी अपने प्रयास मात्र से मुक्त नहीं हो सकता। 'गुणमयी' का तात्पर्य सत्व, रज और तम गुणों से युक्त ही है और इन गुणों का वर्णन गीता में बड़े विस्तार से किया गया है।[११] इन गुणों से अन्तर और बाह्य सृष्टि की रचना हुई है। यहाँ माया शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है - (१) जगत् की रचना करने वाली त्रिगुणात्मक प्रकृति और (२) जीव को बंधन में डालने वाली मोहिनी शक्ति। अन्यत्र श्रीकृष्ण स्वयं स्पष्ट करते हैं कि माया ज्ञान को अपहृत कर लेती है।[१२] यह भी कहा गया है कि 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं', अज्ञान से ज्ञान आवृत है। दोनों की एकवाक्यता करने पर माया को अज्ञान ही मानना पड़ता है।

गौड़पाद माया के द्वारा ही जगत् की रचना और जीव का बंधन मान कर इस शब्द का प्रयोग करते हैं। वे अपनी माण्डूक्य कारिकाओं में माया को स्वप्न और गंधर्वनगर के तुल्य मानते हैं :

स्वप्नमायं यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः।।[१३]

अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न और माया देखे गये हैं तथा जैसा गन्धर्वनगर जाना गया है, उसी प्रकार विचक्षण पुरुषों ने वेदान्तों में इस जगत् को देखा है।

इससे स्पष्ट है कि गौड़पाद माया को एक ऐसी शक्ति मानते हैं जो प्रतीत तो सत् होती है किन्तु तत्त्वतः उसका अस्तित्व नहीं है। यह जगत् भी ऐसा ही है। उनके विचार से यह माया आत्मा की ही एक शक्ति है जो अभेद में भेद की प्रतीति उत्पन्न करती है। वे कहते हैं -

कल्पयत्यात्मनात्मानत् आत्मा देवः स्वमायया।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः।।[१४]

अर्थात् स्वयंप्रकाश आत्मा अपनी माया से स्वयं की कल्पना करता है और वही सब भेदों को जानता है - यही वेदान्त का निश्चय है।

इस प्रकार आत्मा माया से नानात्व की कल्पना ही नहीं करता वरन् अपने स्वरूप को भूल कर जीवभाव धारण कर लेता है। वे कहते हैं - 'जिस समय अनादि

माया से सोया हुआ जीव जागता है, उसी समय उसे अज, अनिद्र और स्वप्नरहित अद्वैत आत्मतत्त्व का बोध होता है।'[१५] इसका तात्पर्य है कि माया अनादि है और वह जीव को सुप्तावस्था में डाले रहती है।

गौड़पाद के अनुसार, संक्षेप में, माया आत्मा या ब्रह्म की शक्ति है जो द्वैत का आभास उत्पन्न करती है। उससे एक ओर जगत् का विस्तार होता है और दूसरी ओर जीव उसी के कारण जगत् को सत् समझ कर परम् सत् को भूल जाता है या उसी से पृथक्-सा हो जाता है।

## (ख) शंकर की माया सम्बन्धी अवधारणा

शंकर को माया विषयक अपनी अवधारणा निर्मित करने में उपनिषद्, गीता और गौड़पादकारिका की पृष्ठभूमि उपलब्ध थी। वे अपनी पूर्ववर्ती इन वेदान्त ग्रन्थों से अवश्य प्रभावित हैं। उन्होंने माया शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया है, उसे स्वयं स्पष्ट कर दिया है :

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति –
रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियैव माया
यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते।।
सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो
भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो
महाद्भुतानिर्वचनीय रूपा।।[१६]

अर्थात् जो अव्यक्त नाम वाली त्रिगुणात्मिका अनादि अविद्या परमेश्वर की परा शक्ति है, वही माया है, जिससे यह सारा जगत् उत्पन्न हुआ है। बुद्धिमान जन इसके कार्य से ही इसका अनुमान करते हैं। वह न सत् है, न असत् और न सदसत् उभयरूप है, न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न उपभयरूप है, न अंगसहित है, न अंगरहित है और न सांगानंग उभयात्मिका ही है, किन्तु अत्यन्त अद्भुत और अनिर्वचनीयरूपा प्रसिद्ध है।

मायाभिः प्रज्ञाभिः नामरूपभूतकृत
मिथ्याभिमानैर्वा।[१७]

अर्थात् माया से या प्रज्ञा से अथवा नामरूप उपाधि जनित मिथ्या अभिमान से (इन अर्थों में भी माया का प्रयोग हुआ है)।

इस प्रकार शंकर ने स्वयं माया की विशेषताओं का उल्लेख किया है। अद्वैतवाद

में ब्रह्म ही 'एकेवाद्वितीय' परम सत् है। इसके अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है, किन्तु जगत् का नानात्व भी अनुभव सिद्ध है। इसकी व्याख्या करने के लिए माया का प्रत्यय प्रस्तुत किया जाता है। सर्वप्रथम, इसे ईश्वर की शक्ति स्वीकार किया गया है। ब्रह्म ही माया का स्वामी होने से ईश्वर कहलाता है। अतः माया का प्रत्यय आते ही उसकी उपाधि से ईश्वर-भाव भी उत्पन्न होता है। माया-शक्ति ईश्वर के अधीन और अपृथक् है। दूसरे, यह कहा जा सकता है कि माया का 'आश्रय' और 'विषय' ब्रह्म ही है किन्तु ब्रह्म माया के प्रभाव से अस्पर्श है जैसे जादूगर अपने जादू के कार्यों से अछूता रहता है अथवा जैसे मृगतृष्णा के जल से ऊसर भूमि भीगती नहीं है। तीसरे, माया 'अनादि' है। ब्रह्म की अनादिता से माया की अनादिता भी सिद्ध है। यह किसी काल विशेष में ब्रह्म से उत्पन्न नहीं होती। चौथे, इसे 'अव्यक्त' भी कहते हैं क्योंकि प्रलय काल में केवल ब्रह्म ही विद्यमान रहता है और माया उसी में अव्यक्त भाव से रहती है। माया का अव्यक्त नाम इस बात का भी सूचक है कि वह व्यक्त होकर जगत् का विस्तार कर सकती है। पाँचवें, यह 'अघटनघटनापटीयसी' है। ब्रह्म जैसे अखण्ड, एकरस, अनन्त तत्त्व से कुछ भी उत्पन्न होना तर्क से सिद्ध नहीं होता है कि उसकी माया शक्ति इस अघटनीय कार्य को घटित करने में समर्थ है। छठवें, माया सांख्य की प्रकृति की भांति जड़ है, इसलिए इसे प्रकृति भी कहते हैं किन्तु सांख्य की प्रकृति की भाँति मायिक प्रकृति न सत् है और न स्वतंत्र। सातवें, यह अनिर्वचनीय है। इसे सत्, असत्, उभयात्मक या ब्रह्म से भिन्न, अभिन्न उभयात्मक या सांग, अनंग, उभयात्मक नहीं कह सकते हैं। आठवें, व्यवहार में यह सत् प्रतीत होती है और परमार्थ में इसका बाध हो जाता है। नवें, यह ब्रह्म की विवर्त है, जैसी रस्सी पर सर्प की भ्रांति या सीप में चाँदी की प्रतीति। दसवें, यह 'भावरूप' है किन्तु सत् नहीं। वह केवल अभाव रूप नहीं है, इसलिये इसे भावरूप माना जाता है। ग्यारहवें, यह आवरण और विक्षेप रूप है। माया अपनी आवरण शक्ति से ब्रह्म को आच्छादित-सा कर लेती है, वस्तुतः अनन्त सत् आच्छादित हो ही नहीं सकता। अपनी विक्षेप शक्ति से माया लोक-लोकान्तरों का विस्तार करती है। बारहवें, इसे अविद्या भी कहते हैं, जिससे जीव-भाव प्राप्त होता है और वह संसार-चक्र में पड़ता है। तेरहवें, 'नामरूपात्मक' होकर माया नानात्व का विस्तार करती है, इसलिए नामरूप भी माया कहलाते हैं। चौदहवें, माया 'त्रिगुणात्मक' है। सत्व, रजस और तमस् इसके तीन गुण हैं। पन्द्रहवें, यह माया अनुमान से जानी जाती है। कार्य रूप जगत् देख कर इसके कारणरूप में स्थित माया का अनुमान किया जा सकता है।

माया की सृष्टि के हेतु बीजशक्ति है। इसके बिना निर्गुण, निष्क्रिय परमेश्वर स्रष्टा सिद्ध नहीं हो सकता, कारण कि शक्ति रहित परमेश्वर में प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं हो सकती है। 'अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देशया परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः यस्यां स्वरूप प्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणों जीवाः'[१८] अर्थात् अविद्यात्मक

यह बीजशक्ति अव्यक्त शब्द से निर्दिष्ट है, परमेश्वर के आश्रित मायामयी एवं महासुषुप्ति है, जिसमें स्वरूप ज्ञान से रहित संसारी जीव सोते हैं।

माया का अव्यक्त होने का कारण बताते हुए शंकर लिखते हैं, 'अव्यक्ता हि सा माया तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्याशक्यत्वात्'[१९] अर्थात् वह माया अव्यक्त ही है क्योंकि वह सद् रूप है या उससे पृथक् रूप है, यह निरूपण नहीं किया जा सकता है।

सुरेश्वर शंकर के मत का समर्थन और विस्तार करते हुए कहते हैं :

अतोऽविद्यामहानिद्रा संवीत मनसामसौ।
जन्मादिविक्रियाषट्कं स्वप्नदर्शनविभ्रमः।।[२०]

अर्थात् अविद्यता ऐसी महानिद्रा है, जिसमें सोये हुए जीवों को जन्म आदि छहों विकारों का वैसा ही अनुभव हो रहा है जैसा सोये हुए को स्वप्न का होता है।

'यह अज्ञान ही समस्त द्वैत का उपादान कारण है और उसका आश्रय लेकर ब्रह्म जगत् कारण कहलाता है।'[२१] यहाँ सुरेश्वर शंकर से थोड़ा पृथक् होते हुए प्रतीत होते हैं क्योंकि शंकर जहाँ ब्रह्म को ही अभिन्न निमित्तोपादन कारण मानते हैं, वहाँ सुरेश्वर अविद्या या माया को उपादान और ब्रह्म को निमित्त कारण बतलाते हैं। इसके अतिरिक्त वे माया की अपेक्षा अविद्या शब्द अधिक प्रयोग करते हैं।

पद्मपाद अज्ञान को मिथ्या कहते हैं और मिथ्या के दो अर्थ करते हैं – 'मिथ्या शब्दों द्वयर्थः अपह्नव वचनोऽनिर्वचनीयतावचनश्च'[२२] अर्थात् अपह्नव वचन – धोखा, भ्रान्ति आदि और अनिर्वचनीय वचन। पहला अर्थ प्राचीन है, दूसरा उन्होंने स्वयं दिया है। यद्यपि माया को शंकर भी अनिर्वचनीय कहते हैं किन्तु पद्मपाद यह भाव मिथ्या शब्द में ही मान लेते हैं।

मण्डन मिश्र अविद्या का आश्रय जीव निर्धारित करते हैं और विषय ब्रह्म। 'यत्तु कास्याविद्येति – जीवनामिति ब्रूभः'[२३] अर्थात् यदि पूछो कि अविद्या किसकी है तो हम कहते हैं वह जीवों की है। यदि कहो कि जीव भी ब्रह्मतत्त्व से अपृथक् विशुद्ध स्वभाव हैं तो कहते हैं कि बिम्ब से प्रतिबिम्ब पृथक् होता ही है और आकाश में भी श्यामता आदि की अशुद्धि देखी जाती है।[२४] यदि ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय होता तो जीव ब्रह्मत्मैक्य ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी अविद्या से निवृत्ति न होता।[२५] अविद्या तो नैसर्गिक है किन्तु जीव के साथ उसका नैसर्गिक सम्बन्ध नहीं है। जीव के लिए वह आगन्तुक है, अतः दूर हो सकती है। अतः अविद्या का आश्रय न ब्रह्म है और न जीव। अविद्या कल्पना मात्र है, इसलिए उसके कारण उत्पन्न हुआ जीवभाव भी काल्पनिक है। यदि वह सुनिश्चित हो तो वह सत् होगी :

अनुपपद्यमानार्थैव हि माया,
उपपद्यमानार्थत्वे यथार्थ भावान्न मायास्यात्।।[२६]

अर्थात् माया उपपद्यमान अर्थ वाली नहीं है; यदि वह वैसी हो तब तो वह यथार्थ हो जायेगी और माया ही न रहेगी।

मण्डन का दूसरा तर्क यह है कि 'अनादित्वादुभयोरविद्या जीवयोर्बीजांकुर संतानयोरिव नेतरेतराश्रयत्वमप्रक्लृप्तिमावहतीति वर्णयन्ति'[२७] अर्थात् जीव और अविद्या दोनों अनादि होने के कारण बीजांकुर सन्तान के समान एक दूसरे पर आश्रित हैं। कर्मज्ञानसमुच्चय स्वीकार करने के कारण वे कर्म के द्वारा अविद्या का नाश मानते हैं। 'नाविद्या विद्यायाः साधनम्, किन्तु अविद्यया श्रवणादि लक्षणयाप्यविद्यैव निवर्तते'[२८] अर्थात् अविद्या के नष्ट करने का साधन विद्या नहीं वरन् श्रवण आदि वाली अविद्या ही उसका निवर्तन कर सकती है। अविद्या निवृत्त होने पर शुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा स्वयं प्रकट हो जाता है।

इसे स्पष्ट करने के लिए मण्डन अविद्या के दो रूप निर्धारित करते हैं - अग्रहण और अन्यथाग्रहण।[२९] एक मानसिक अज्ञान है और दूसरा मन तथा बाह्य जगत् का उपादान कारण है। दूसरी अविद्या भावरूपा, अनादि, जड़ और शक्तिरूपा है।

वाचस्पति भी अविद्या के दो भेद करते हैं और उनकी सहायता से ब्रह्म से विवर्त उत्पन्न मानते हैं :

अनिर्वाच्याविद्याद्वितथ सचिवस्य प्रभवतो
विवर्ता यस्यैते वियदनिततेजोऽबवनयः।
यतश्चाभूद्विश्वं चरमचरमुच्चावचमिदं
नमामस्तद्ब्रह्मापरिमित सुखज्ञानममृतम्।।[३०]

अर्थात् अनिर्वाच्य द्विविध अविद्या की सहायता से जिसने विवर्त उत्पन्न किया और उससे आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी उत्पन्न होकर चर-अचर, उच्च, निम्न लोकों का सृजन हुआ, उस अपरिमित सुख, ज्ञान तथा अमृतस्वरूप ब्रह्म को हम नमन करते हैं।

वाचस्पति भी अविद्या का आश्रय जीव ही मानते हैं। उनका तर्क है कि जीव की उत्पत्ति अविद्या से होती है, अविद्या का कारण जीव का पूर्वजन्म था। यही क्रम अनादि काल से चला आ रहा है। 'यदि ब्रह्मणोऽविद्याशक्त्या संसारः प्रजायते, हन्त मुक्तानामपि पुनरुत्पादप्रसंगः'[३१] अर्थात् यदि ब्रह्म अविद्या शक्ति से संसार की उत्पत्ति करता तो मुक्त पुरुषों को भी पुनः उत्पन्न होने का प्रसंग होता। वाचस्पति अविद्या के दो रूप मूलाविद्या और तुलाविद्या मानते हैं।[३२] तुलाविद्या प्रत्येक जीव की पृथक् है, 'प्रतिजीव भिद्यते, तेन यस्यैव जीवस्य विद्योत्पन्न तस्यैव अविद्याऽपनीयते न जीवनतरस्य'[३३] अर्थात् अविद्या प्रत्येक जीव में पृथक् है, इसलिए जिस जीव में विद्या उत्पन्न होती है, वही अविद्या से मुक्त होता है, दूसरा जीव नहीं।

## (ग) माया एवं अविद्या

अभी तक देखते रहे हैं कि आचार्य जगत् के नानात्व का कारण ईश्वर की शक्तिभूता माया या अविद्या मानते हैं। जिस आचार्य ने जिस शब्द का प्रयोग किया है, उसी के हेतु अनादि, अनिर्वचनीय आदि विशेषण दिये हैं। वे माया को अविद्यात्मक और अविद्या को मायिक स्वीकार करते हैं। अतः प्रश्न उपस्थित होता है कि माया और अविद्या की अवधारणायें परस्पर पृथक् हैं या नहीं। इन आचार्यों का अध्ययन करने वाले आधुनिक विद्वानों में इस विषय में मतभेद है। यह मतभेद उत्तरकालीन आचार्यों में ही दिखाई देने लगा था। सर्वज्ञात्म मुनि, प्रकाशानन्द और विद्यारण्य (विवरण प्रमेय संग्रह) ने माया और अविद्या का भेद नहीं किया,[३४] किन्तु पंचदशी[३५] और प्रकृतार्थ-विवरण आदि में दोनों के बीच भेद दिया गया है।

शंकर के दर्शन में थीवो माया और अविद्या को पर्यायवाची मानते हैं,[३६] किन्तु कर्नल जेकोब उससे सहमत नहीं हैं।[३७] इस मतभेद का कारण समझने के पूर्व हम विद्यारण्य के दो विरोधी प्रतीत होते हुए मतों पर विचार करेंगे। उससे हमें शंकर की दृष्टि समझने में सहायता मिलेगी।

विद्यारण्य विवरण प्रमेयसंग्रह में माया और अविद्या के अभेद पर विचार करते हैं। पूर्वपक्षी की ओर से प्रश्न होता है – प्रातिभासिक रजत मायामय कहना उचित नहीं है क्योंकि माया तो अपने आश्रय ऐन्द्रजालिक आदि में भ्रम नहीं करती और उसकी इच्छा के अनुसार रहती है। शुक्तिरजत में ऐसा नहीं देखा गया कि भ्रम किसी पुरुष की इच्छा का अनुवर्तन करें। माया और अविद्या में लक्षण और प्रसिद्धि में भेद है। इसके उत्तर में विद्यारण्य कहते हैं, 'अनिर्वचनीयत्वे सति तत्त्वावभास प्रतिबन्धविपर्ययावभासयोर्हेतुत्वं लक्षणं तच्चोभयोरविशिष्टम्'[३८] अर्थात् अनिर्वचनीय होकर तत्त्वावभास के प्रतिबन्ध का कारण और विपर्यय (मिथ्या अवभास का कारण) यह लक्षण अविद्या और माया दोनों में एकरूप है। जिन मन्त्र आदि के प्रयोग से इन्द्रजाल उत्पन्न होता है, उन्हें माया नहीं कहते, किन्तु उनसे उत्पन्न हाथी-घोड़े आदि इन्द्रजाल ही माया कहलाते हैं। माया अनिर्वचनीय है। इसलिए इन्द्रजाल के उपादान मन्त्र आदि सत्य नहीं माने जा सकते, क्योंकि मृदादि सत्य उपादानों से सत्य ही घटादि की उत्पत्ति होती है। इसलिए ऐसे किसी एक उपादान की कल्पना करनी चाहिए जो अनादि और अनिर्वचनीय हो, सादि मानने से अनवस्था की आपत्ति होगी। अतः माया पद से अवाच्य उपादान और उपादेय में अभेद मानना ही उचित है। इस प्रकार ऐन्द्रजालिक वस्तु उपादानस्वरूप माया ही रजत आदि अध्यासों की भी उपादान रहे, पृथक् अविद्या की कल्पना की क्या आवश्यकता है? 'माया तु प्रकृति' इस वाक्य से सकल प्रपंच का उपादानत्व प्राप्त है। अतः 'लाघवान्मायैवाविद्या'[३९] अर्थात् लाघवन्याय से माया ही अविद्या है।

विद्यारण्य मानते हैं कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि माया अपने आश्रय को व्यामोहित नहीं करती, क्योंकि विष्णु अपनी माया से ही रामावतार में मोहित हुए थे (तथापि रामो लुलुभे मृगाय)। ऐसा भी नियम नहीं है कि अविद्या अपने आश्रय को व्यामोहित करती ही है, क्योंकि सरोवर तीरस्थ व्यक्ति को जल में ऊर्ध्वमुख वृक्ष देख कर जरा भी व्यामोह नहीं होता है। जैसे माया कर्ता की इच्छा का अनुवर्तन करती है, वैसे ही अविद्या में भी देखा जाता है, क्योंकि नेत्र को अंगुली से कुछ दबा देने से दो चन्द्र दीखने का भ्रम उत्पन्न होता है। यदि अविद्यास्वरूप की निष्पत्ति कर्तृव्यापाराधीन नहीं है तो माया का स्वरूप भी कर्तृव्यापार अधीन नहीं है। श्रुति में भी सम्यक् ज्ञान से निवृत्त होने वाली अविद्या के लिए ही माया शब्द का प्रयोग देखा गया है, जैसे 'भूयाश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः'। स्मृति में भी इसके उदाहरण उपलब्ध हैं।

अन्त में विद्यारण्य स्वीकार करते हैं कि एक ही वस्तु में उपाधि-भेद से नाम-भेद मान लिया जाता है। 'लोकप्रसिद्धिस्त्वेकस्मिन्नपि वस्तुनि उपाधिभेदादुपपद्यते। विरूपजनकत्वाकारेणेच्छाधीनत्वाकारेण वा मायेति व्यवहारः। आवरणाकारेण स्वातंत्र्याकारेण वाविद्येति व्यवहारः।'[४०] अर्थात् लोकप्रसिद्धि तो एक ही वस्तु में उपाधि से भेद उत्पन्न मानती है। विरूपजनकत्वरूप से अथवा इच्छा के अधीन उसका आकार पाने से माया शब्द का व्यवहार होता है और अधिष्ठान के अवभास का प्रतिबन्धक जो आवरण है, उसके रूप से अथवा स्वातन्त्र्य से अविद्या का व्यवहार होता है। इसलिए इन्द्रजाल आदि के लिए माया शब्द का व्यवहार और अन्यत्र अविद्या शब्द का व्यवहार भी उपपन्न है, इसमें कोई विरोध नहीं है।

इसीलिए विद्यारण्य ने 'तत्त्वस्य सुखबोधाय'[४१] रचना करने पर पंचदशी में 'माया' और 'अविद्या' में भेद माना है। 'चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से युक्त, सत्वरजतम गुण वाली वस्तु 'प्रकृति' कहलाती है।'[४२]

'सत्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां' मायाविद्ये च ते मते।[४३]

अर्थात् वह प्रकृति सत्व की शुद्धि से 'माया' और सत्व की अशुद्धि से अविद्या कहीं जाती है।

मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः।
अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा।[४४]

अर्थात् माया में पड़ा बिम्ब उस माया को अपने वश में रखता हुआ सर्वज्ञ ईश्वर होता है और दूसरा अविद्या में प्रतिबिम्बित होकर और उसके वश में रह कर जीव कहलाता है। वह अविद्या की विचित्रता के कारण अनेक हो गया है।

इस विवेचन में माया और अविद्या में नाम-भेद ही नहीं वरन् गुणकृत भेद भी दिखाया गया है और उसके कारण ही ईश्वर की स्वतंत्रता-सर्वज्ञता तथा जीव की परतन्त्रता-अज्ञानता मानी गयी है।

कूटस्थासंगमात्मानं जगत्त्वेन करोति सा।
चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे।।[४५]

अर्थात् माया ने कूटस्थ असंग आत्मा को ही जगत् बना दिया है और उसी ने चिदाभासस्वरूप से जीव और ईश्वर का भी निर्माण किया है।

इस माया का चमत्कार यह है कि वह कूटस्थ में किसी प्रकार का उपद्रव भी नहीं करती और उसी को जगदादि भी बना डालती है। दुर्घट कामों को करने वाली माया के लिए कोई चमत्कार की क्या बात है?[४६] यह माया श्रौत, यौक्तिक और लौकिक पुरुषों को क्रमशः तुच्छ, अनिर्वचनीय और सत् तीन प्रकार से दिखाई देती है।[४७] संसारी पुरुषों को मायिक जगत् सत् प्रतीत होता है। तर्क से परीक्षा करने पर वह माया अनिर्वचनीय (न सत्, न असत्, न सदसत् उभयात्मक) ज्ञात होती है। श्रुतियों की दृष्टि से वही माया तुच्छ अर्थात् अवास्तविक दिखाई देती है।

शंकर भी, लगभग इसी प्रकार माया और अविद्या को मूल में एक मानते हुए भी प्रसंगानुसार उनका भेद स्वीकार करते हैं। विवेकचूड़ामणि में माया की परिभाषा देते समय उसका एक लक्षण 'अविद्या' भी बतलाते हैं।[४८] किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे माया और अविद्या में कोई भेद न मानते हुए कोई भी शब्द कहीं भी प्रयोग कर देते हैं।

तयोर्विरोधोऽयमुपाधिकल्पितो
न वास्तवः कश्चिदुपाधिरेवः।
ईशस्य माया महदादिकारणं
जीवस्य कार्यं मृणु पंचकोशम्।।
एतावुवाधी पर जीवयोस्तयोः
सम्यङ्निरासे न परो न जीवः।
राज्यं नरेन्द्रस्य भटस्य खेटक -
स्तयोरपोहे न भटो न राजा।[४९]

अर्थात् उन दोनों का (ईश्वर और जीव का) विरोध उपाधि के कारण है और यह उपाधि कुछ वास्तविक नहीं है। ईश्वर की उपाधि महत्तत्वादि की कारणरूपा माया है तथा जीव की उपाधि कार्यरूप पंचकोश है। ये परमात्मा और जीव की उपाधियाँ हैं; इनका भली प्रकार बाध हो जाने पर न परमात्मा ही रहता है और न जीवात्मा ही। जिस प्रकार राज्य राजा की उपाधि है तथा ढाल सैनिक की; इन दोनों उपाधियों के न रहने पर न कोई राजा है और न योद्धा।

यहाँ 'ईशस्य माया' के स्थान में 'ईशस्य अविद्या' पद का प्रयोग पर्याय के रूप में नहीं कर सकते। ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है, उसकी उपाधि अविद्या नहीं

हो सकती है और न अविद्या के द्वारा ईश्वर जगत् की विचित्र रचना ही कर सकता है। उसे तो जगत् रचना का पूर्ण और गम्भीर ज्ञान होना चाहिए। अन्यत्र भी शंकर जगत् को माया का कार्य निर्धारित करते हैं। 'माया और महत्त्व से लेकर देहपर्यन्त माया के सम्पूर्ण कार्य तुम मरुमरीचिका के समान असत् और अनात्मक जानो।'[५०]

जीव की उपाधि पंचकोशों से तादात्म्य के कारण है और वह अज्ञानमूलक है :

अज्ञानमूलोऽयमनात्मबन्धो
नैसर्गिकोऽनादिरनन्त ईरितः।
जन्माप्ययव्याधिजरादिदुःख -
प्रवाहपातं जनयत्यमुष्य।।

अर्थात् यह अज्ञान-जनित अनात्मबन्धन स्वाभाविक तथा अनादि और अनन्त कहा गया है। यही जीव के जन्म, मरण, व्याधि और जरा आदि दुःखों का प्रवाह उत्पन्न करता है।

जीव की अविद्या को अध्यास भी कह सकते हैं - 'एवमलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते'[५१] - इस लक्षण वाले अध्यास को विद्वान् 'अविद्या' मानते हैं। अध्यास आत्मा और अनात्मा का (अन्तःकरण का) तादात्म्य है और अन्तःकरण माया का कार्य है, अतः जीव की अविद्या को माया भी कह सकते हैं। इसके विपरीत शंकर ने मन को (अन्तःकरण को) भी अविद्या कहा है - 'मनो ह्यविद्या भवबन्धहेतुः'[५२] - मन ही भवबन्धन की हेतुभूता अविद्या है। तात्पर्य यह है कि माया का कार्य मन आत्म-चैतन्य से एकीकृत्य होकर अविद्या की उत्पत्ति करता है। इसलिए जीव के प्रसंग में शंकर ने माया शब्द प्रयोग करना अनुचित नहीं माना है - 'आवृणोति तथा माया प्राज्ञं वापि पराङ्मुखम्'[५३] - उसी प्रकार आत्मविचारहीन विद्वान को माया फिर घेर लेती है।

## (घ) शंकर के माया सिद्धान्त की वैष्णव सन्तों द्वारा आलोचना

शंकर का माया सिद्धान्त बहुचर्चित हुआ है। यदि एक ओर शंकर के अनुयायिओं ने इसे तर्कसंगत बतलाया है तो दूसरी ओर अन्य दार्शनिकों ने इसकी आलोचना की है। वैष्णव सन्त रामानुजाचार्य ने इस माया सिद्धान्त को तर्कतः अनुपपन्न[५४] बतलाया है। इन्होंने शंकर की माया के विरुद्ध निम्नलिखित सात आपत्तियाँ उठायी हैं। उन्होंने माया एवं अविद्या में भेद नहीं किया है।

**१. आश्रयानुपपत्ति :** रामानुजाचार्य की प्रथम आपत्ति यह है कि अविद्या का आश्रय क्या है? जीव को अविद्या का आश्रय नहीं माना जा सकता क्योंकि शंकर ने जीव का कारण अविद्या को ही माना है। अतः जो स्वयं अविद्या के कारण है, वह

अविद्या का आश्रय कैसे हो सकता है? ब्रह्म भी अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि वह ज्ञान स्वरूप है। ज्ञानस्वरूप तत्त्व में अविद्या नहीं रह सकती क्योंकि अविद्या एवं ज्ञान एक-दूसरे के विरोधी हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई तत्व सत् नहीं है। इस प्रकार अविद्या आश्रय रहित सिद्ध होती है।

माया के विरुद्ध इस आपत्ति के उत्तर में कहा जा सकता है कि जीव की उत्पत्ति किसी देश एवं काल विशेष में नहीं हुयी है। जीव और माया दोनों अनादि हैं। अतः जीव को माया का आश्रय मानने में कोई दोष नहीं है। हम यह भी कह सकते हैं कि ब्रह्म चैतन्य अथवा प्रकाश स्वरूप है। अविद्या का विरोध विद्या या प्रमा से है, चैतन्य अथवा प्रकाश से नहीं। यह चैतन्यस्वरूप ब्रह्म भी अविद्या का आश्रय हो सकता है। शुद्ध चैतन्य एवं प्रमा ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं।

**२. स्वरूपानुपपत्ति :** आचार्य रामानुज ने कहा है कि[५५] अद्वैत-वेदान्त में प्रतिपादित अविद्या का कोई स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता। वे प्रश्न करते हैं कि अविद्या सत् है अथवा असत्। यदि अविद्या सत् है तो अद्वैतवाद द्वैतवाद हो जायगा क्योंकि ब्रह्म एवं अविद्या दो सत् मानने पड़ेंगे। और यदि अविद्या असत् है तो उनका मूल खोजना होगा। क्या अविद्या का दोष दृष्टा में है, अथवा दृष्टि में? दृष्टा एवं दृष्टि में यह नहीं हो सकती। यह दृश्य भी नहीं हो सकती। 'यदि तीनों में है तो एक ओर दोष मानना पड़ेगा, जिससे इन तीनों में दोष उत्पन्न होता है'[५६] और इस प्रकार हम अनवस्था दोष में फँस जायेंगे।

इस आपत्ति के उत्तर में कहा जा सकता है कि अविद्या सत् नहीं है। सत् तो एकमात्र ब्रह्म ही है। अविद्या आकाश-कुसुम की भाँति मिथ्या भी नहीं है। अतः न द्वैतवाद का दोष लगता है और न अनवस्थादोष ही आता है। अद्वैत-वेदान्त में अविद्या को अनादि माना गया है। इसलिए इसके मूल की खोज व्यर्थ है। शंकर मानते हैं कि अविद्या सदसद्-विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है। इस प्रकार स्वरूपानुपपत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

**३. तिरोधानानुपपत्ति :** अद्वैत-वेदान्ती मानते हैं कि ब्रह्म का अविद्या के द्वारा तिरोधान होता है। किन्तु रामानुजाचार्य कहते हैं कि ब्रह्म प्रकाशस्वरूप है। उसका अविद्या के द्वारा तिरोधान सम्भव नहीं। रामानुज के शब्दों में – 'प्रकाशतिरोधानं नाम प्रकाशोत्पत्तिप्रतिबन्धः विद्यामानस्यविनाशोवा'[५७] – अर्थात् यदि प्रकाशस्वरूप ब्रह्म के प्रकाश का तिरोधान होता है, तो इसका अर्थ है प्रकाश का नाश। और इस प्रकार ब्रह्म के स्वरूप का नाश हो जायेगा। अविद्या ब्रह्म के प्रकाश में बाधा भी नहीं पहुँचा सकती क्योंकि उस दशा में अविद्या ब्रह्म से अधिक बलवान सिद्ध होती है और यह अद्वैत-वेदान्तिओं को मान्य नहीं है।

इस आपत्ति के उत्तर में अद्वैत-वेदान्तिओं[५८] का कहना है कि अविद्या द्वारा ब्रह्म के प्रकाश के तिरोधान का तात्पर्य उसका नाश नहीं है। मेघ से सूर्य के प्रकाश का तिरोधान हो जाता है, किन्तु उसका नाश नहीं होता। मेघ के हटने से प्रकाश पुनः आ जाता है। इसी प्रकार अविद्या के कारण जीव के लिए ब्रह्म के प्रकाश का तिरोधान हो जाता है और ज्यों ही उस जीव की अविद्या का नाश होता है, त्यों ही वह ब्रह्म को प्रकाशस्वरूप पाता है। शंकर इस तिरोधान को मिथ्या भी मानते हैं क्योंकि अविद्या स्वयं मिथ्या है।

**४. अनिर्वचनीयानुपपत्ति :** रामानुजाचार्य के अनुसार अविद्या का अनिर्वचनीयत्व असिद्ध है। उनके अनुसार केवल दो प्रकार की ही प्रतीतियाँ होती है। 'सर्वाच प्रतीतिः सदसदाकारा'[५९] अर्थात् या तो कोई वस्तु सत् है अथवा असत्। अनिर्वचनीयता प्रतीति का विषय नहीं, अतः अनिर्वचनीयता अनुपपन्न है।

इस आपत्ति के उत्तर में अद्वैत-वेदान्ती कह सकते हैं कि जो कुछ सत् एवं असत् से भिन्न है, वह अनिर्वचनीय है। ब्रह्म सत् है। आकाश-कुसुम असत् है क्योंकि ब्रह्म का बाध नहीं होता और आकाश-कुसुम की प्रतीति नहीं होती। किन्तु रज्जु में सर्प की प्रतीति सत् नहीं है क्योंकि उसका बाध होता है और वह असत् भी नहीं है क्योंकि उसका अनुभव होता है। अतः वह सत् एवं असत् से भिन्न है। जो सत् एवं असत् से विलक्षण है, वही अनिर्वचनीय है। अतः अविद्या का अनिर्वचनीयत्व अनुपपन्न नहीं है।

**५. प्रमाणानुपपत्ति :** रामानुजाचार्य मानते हैं कि अविद्या असिद्ध है क्योंकि उसके लिए कोई प्रमाण नहीं है। अविद्या न प्रत्यक्ष से सिद्ध होती है और न अनुमान से। 'अद्वैत-वेदान्ती', 'अहमज्ञः', 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण के उदाहरण दिया करते हैं।'[६०] रामानुज मानते हैं कि इन उदाहरणों से केवल अभावरूप अविद्या की ही सिद्धि होती है, भावरूप की नहीं। किन्तु अद्वैतवादी मानता है कि अज्ञान ज्ञान का अभाव मात्र नहीं है। वह उसके भावरूपत्व को सिद्ध करता है। यह अज्ञान वस्तुरूप भी नहीं है, अतः उसके लिए कोई प्रमाण नहीं है। अज्ञान केवल भावरूप है। इस भावरूप का प्रत्यक्ष होता है क्योंकि प्रायः अज्ञान के कारण व्यावहारिक जीवन में अनर्थ होता हुआ दिखलाई पड़ता है। अमलानन्द स्वामी ने वेदान्तकल्पतरु में और अप्पय दीक्षित ने कल्पतरु परिमल में अविद्या को भावरूप सिद्ध करने के लिए अनुमान का प्रयोग किया है। चित्सुखाचार्य ने चित्सुखी ग्रन्थ में अविद्या की भावात्व सिद्धि के लिए अनुमान का सहारा लिया है।[६१] इस प्रकार अद्वैत-वेदान्ती अविद्या के भावात्वसिद्धि के लिए प्रत्यक्ष एवं अनुमान का प्रयोग करते हैं।

**६. निवर्तकानुपपत्ति :** अद्वैत-वेदान्त में माना जाता है कि निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान से ही अविद्या की निवृत्ति होती है। किन्तु रामानुजाचार्य मानते हैं कि निर्गुण ब्रह्म का

ज्ञान नहीं हो सकता। निर्गुण ब्रह्म प्रमाणसिद्धि नहीं है और जब ब्रह्मज्ञान नहीं होगा तब अविद्या का नाश भी नहीं होगा। रामानुज के अनुसार सभी महावाक्य सगुण ब्रह्म का ही बोध कराते हैं, निर्गुण ब्रह्म का नहीं।

इस आपत्ति के उत्तर में अद्वैत-वेदान्ती कहते हैं कि ब्रह्म का ज्ञान किसी वस्तु के ज्ञान की तरह नहीं है। ब्रह्म स्वयं प्रकाश है। ज्ञाता उससे भिन्न नहीं है। ज्ञाता ही ब्रह्म है। जब अज्ञान का आवरण हट जाता है, तब ब्रह्म प्रकाशित हो जाता है। इसके अतिरिक्त उपक्रम-उपसंहारादि षड्लिंग एवं 'तन्तु समन्वयात्'[३२] के दृष्टिकोण से परीक्षा करने पर श्रुतिओं में निर्गुण ब्रह्म का ही प्रतिपादन मिलता है।

**७. निवृत्त्यानुपपत्ति** : अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म के साक्षात्कार से ही अविद्या से मुक्ति मानी गयी है। इसीलिए अविद्या का बन्धन मिथ्या है। रामानुजाचार्य कहते हैं कि यदि बन्धन मिथ्या है तो उससे छुटकारा दिलवाने वाला ज्ञान भी तो मिथ्या है। उनके अनुसार जीवब्रह्मैकत्वज्ञान मिथ्या है। अतः मिथ्या बन्धन का नाश मिथ्या ज्ञान से सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त रामानुज यह भी मानते हैं कि जगत् प्रपंच सत्य है। जगत् की वस्तुयें कार्य उत्पन्न करती हैं, इसलिए ज्ञान से प्रपंच की निवृत्ति सम्भव नहीं है।

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि मिथ्या से मिथ्या की निवृत्ति सम्भव होती है। स्वप्न की भूख स्वप्न में खाने से मिट जाती है जबकि स्वप्न की भूख एवं स्वप्न का खाना दोनों मिथ्या हैं। अतः यह मानने में कोई हानि नहीं है कि मिथ्या-बन्धन मिथ्याज्ञान से नष्ट हो जाता है। जगत् की वस्तुयें अर्थक्रियाकारी होने पर भी ब्रह्म के समान सत् नहीं हैं। वे बाधयुक्त हैं। अतः ज्ञान से उनकी निवृत्ति सम्भव है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अद्वैत-वेदान्त में अविद्या अथवा माया को मान कर भी निर्गुण ब्रह्म को ही एकमात्र परमसत् के रूप में स्वीकार किया गया है। इस परम सत् की स्थापना के लिए अद्वैत-वेदान्तिओं ने केवल श्रद्धा, भावना एवं श्रुति को ही आधार नहीं बनाया वरन् अपनी तर्कना-शक्ति के सहारे भी वे वहीं पहुँचने का प्रयास करते हैं। माया को स्वीकार करके अद्वैत-वेदान्ती यह भी सिद्ध करना चाहता है कि यह इन्द्रियगोचर विश्व सत् नहीं है किन्तु यह आकाश-कुसुम की भाँति असत् भी नहीं है। यह विश्व सत् एवं असत् से भिन्न एक तीसरी कोटि है, अतः इसकी व्यावहारिक सत्ता है। अद्वैत-वेदान्ती अपने इस उद्देश्य की सिद्धि में सफल हुये हैं।

## संदर्भ-सूची

१. ऋग्वेद, ६.४७.१८।
२. वहीं, ५.६३.३।

३. अथर्ववेद, ८.६.५।
४. वृहदारण्यक उपनिषद् २.५.१६।
५. श्वेताश्वतर उपनिषद् ४.६।
६. वहीं, ४.१०।
७. प्रश्नोपनिषद् १.१६।
८. ब्रह्मसूत्र ३.२.३, पृष्ठ ५६८।
६. भगवद्गीता, ४.६।
१०. वहीं, ७.१४।
११. वहीं, अध्याय १४, १७ और १८।
१२. वहीं, ७.१५।
१३. गौड़पादकारिका, २.३१।
१४. वहीं, २.१२।
१५. वहीं, १.१६।
१६. विवेक-चूड़ामणि, ११० और १११।
१७. बृहदारण्यक उपनिषद्, शां.भा., २.५.१६, पृष्ठ ६१३।
१८. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., १.४.३, पृष्ठ २८८।
१६. वहीं।
२०. बृहदारण्यक भाष्यवार्तिक, १.४.१३२७।
२१. वहीं, १.४.३७१।
२२. पंचपादिका, पृष्ठ २३ (उर्मिला शर्मा)।
२३. ब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ १०।
२४. वहीं, पृष्ठ ११।
२५. वहीं, पृष्ठ १२।
२६. वहीं, पृष्ठ १०।
२७. वहीं, पृष्ठ १०।
२८. वहीं, पृष्ठ १३।
२६. वहीं, पृष्ठ १४६।
३०. भामती, श्लोक १, पृष्ठ १।
३१. वहीं, १.४.३, पृष्ठ ३७७।
३२. वहीं।
३३. वहीं, पृष्ठ ३७८।
३४. संक्षेपशारीकम् १.२०; सिद्धान्त मुक्तावली, पृष्ठ ३६;
विवरण प्रमेय संग्रह १.१ पृष्ठ १३४।

३५. पंचदशी १.१५-१७।
३६. The Vedanta Sutra, Introduction by Thibant, page XXV.
३७. Vedanta-Sara, Preface, page V.
३८. विवरण प्रमेय संग्रह १.१, पृष्ठ १३३।
३९. वहीं, पृष्ठ १३४।
४०. वहीं, पृष्ठ १३६।
४१. पंचदशी, १.२, पृष्ठ १।
४२. वहीं, १.१५, पृष्ठ १०।
४३. वहीं, १.१६, पृष्ठ १०।
४४. वहीं, १.१७, पृष्ठ ११।
४५. वहीं, ६.१३३, पृष्ठ ११।
४६. वहीं, ६.१३४, पृष्ठ १८०।
४७. वहीं, ६.१३०, पृष्ठ १७६।
४८. विवेक-चूड़ामणि, ११०, पृष्ठ ३७।
४९. वहीं, २४५, २४६।
५०. वहीं, १२५।
५१. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., प्रस्तावना, पृष्ठ १२।
५२. विवेक-चूड़ामणि, १७१।
५३. वहीं, ३२५।
५४. ब्रह्मसूत्र चतुःसूत्री, रमाकान्त त्रिपाठी, पृष्ठ ८१।
५५. श्रीभाष्य, पृष्ठ १६८-६९ (निर्णय सागर)।
५६. ब्रह्मसूत्र, चतुःसूत्री, रमाकान्त त्रिपाठी, पृष्ठ ८२।
५७. श्रीभाष्य, पृष्ठ १६८ (निर्णय सागर)।
५८. अद्वैत एवं द्वैताद्वैत की तत्त्वमीमांसा, डॉ. अभेदानन्द, पृष्ठ १०२।
५९. श्रीभाष्य, पृष्ठ १७० (निर्णय सागर)।
६०. अद्वैत एवं द्वैताद्वैत की तत्त्वमीमांसा, डॉ. अभेदानन्द, पृष्ठ ९८।
६१. वहीं, पृष्ठ १००।
६२. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., ४।

❑❑❑

# अध्याय-६

# आचार-मीमांसा

अद्वैत वेदान्त की तत्त्वमीमांसा पर विचार करने और उसकी रूपरेखा सामने उपस्थित होने पर यह निश्चय हो जाता है कि परम सत् ब्रह्म ही आनन्दस्वरूप है और वही समस्त प्राणियों का अपना स्वरूप है। हम सब अपने आप में आनन्दमय होने हुए भी अज्ञान के कारण यह नहीं जानते हैं और अपने से पृथक् भौतिक वस्तुओं, व्यक्तियों और परिस्थितियों में सुख की कल्पना कर उसे पाने, अपने अनुकूल बनाने और उसके उपभोग में सुख मानते रहते हैं। इस प्रकार अज्ञान में रहते हुए जीवन का लक्ष्य भौतिक समृद्धि अर्थात् अभ्युदय ही निर्धारित होता है, किन्तु अद्वैतदर्शन अपने आनन्दस्वरूप आत्मा का बोध प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य निर्धारित करता है और इसे वह निःश्रेयस की प्राप्ति कहता है।

जीवन के लक्ष्य के अनुसार ही आचार शास्त्र निर्मित होता है। पिछले अध्याय में हम अभ्युदय और निःश्रेयस पर विचार कर चुके हैं और देखा है कि ये दोनों लक्ष्य किन स्तर के पुरुषों के लिए और क्यों निर्धारित किये जाते हैं। यहाँ हम इन लक्ष्यों की प्राप्ति के साधन पर विचार करेंगे। यद्यपि अद्वैत वेदान्त जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष अर्थात् निःश्रेयस ही मानता है, क्योंकि उससे अधिक श्रेयस मनुष्य के लिए कुछ भी नहीं है, किन्तु इस लक्ष्य का महत्व और उसे प्राप्त करने का प्रयास एक विशेष कोटि का व्यक्ति ही कर सकता है। उसके कुछ विशिष्ट लक्षण निर्धारित किये गये हैं। इन्हें शंकर ने व्यवस्थित कर साधन-चतुष्टय नाम दिया है। जो मनुष्य इन लक्षणों या गुणों से विहीन है, उन्हें वह मार्ग बताया गया है, जिनसे वह कालान्तर में साधन-चतुष्ट्य सम्पन्न बन सके। इस मार्ग पर भी वही मनुष्य अग्रसर हो सकता है जो अपेक्षाकृत उन्नत है और अपने ऊपर किसी कोटि तक अनुशासन रखने की क्षमता रखता है।

आत्मानुशासन-विहीन मनुष्य अभ्युदय का भी अधिकारी नहीं है। यद्यपि वेदान्त का मुख्य प्रयोजन अभ्युदय और उसके प्राप्ति के साधन बताना नहीं है किन्तु यदि जीवन सोपान के निम्नतम स्तर पर खड़े व्यक्ति को निःश्रेयस की दिशा का निर्देश करना हो तो उसे पहले अभ्युदय का ज्ञान कराना ही होगा। इसी दृष्टि से अद्वैत वेदान्त यत्किंचित अभ्युदय, उसके साधन रूप आचारशास्त्र का विचार अवश्य करता है। अभ्युदय प्राप्त करने के अधिकारी व्यक्ति में इतना आत्मबल आ सकता है कि

वह अपने जीवन का अगला लक्ष्य निःश्रेयस बना सके और उसे प्राप्त करने हेतु कटिबद्ध हो जाय। ऐसा कदापि सम्भव नहीं है कि असंयमी और स्वेच्छाचारी व्यक्ति व्यक्ति सीधे मुक्ति का मार्ग पकड़ ले। किसी पादप में पुष्प उगाने के पूर्व कली निकलना आवश्यक है। प्रारम्भ से ही खिला हुआ पुष्प नहीं उगता।

अभ्युदय, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, भौतिक पदार्थों का संग्रह मात्र नहीं है। यह कार्य तो अनैतिक और स्वेच्छाचारी व्यक्ति भी कर सकते हैं। अभ्युदय भले ही जीवन का निम्न कोटि का स्तर हो किन्तु उसमें सुख की सम्भावना होती है। यदि उसमें सुख का आभास भी न होता या क्षण भर भी सुख न मिलता तो वह जीवन का लक्ष्य कदापि नहीं हो सकता था। इस विचार-बिन्दु को ध्यान में रख कर अद्वैत दर्शन भौतिक विषयों के लक्षण और मन में सुखानुभूति के विज्ञान पर विचार करता है। उससे प्राप्त होने वाले निष्कर्म को आधार बना कर अभ्युदय प्राप्त करने का मार्ग निर्धारित किया जाता है।

गीता में "अशान्तस्य कुतः सुखम्"[1] कह कर मन की शान्ति को ही सुख का कारण माना गया है। जहाँ शान्ति है, वहीं सुख है और जहाँ अशान्ति है, वहाँ दुःख है - यह अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध है और सर्वसाधारण के अनुभव से भी मान्य है। यदि हम सुख के इस शान्त स्वरूप को स्वीकार कर लें तो भौतिक पदार्थों से अभ्युदय की प्राप्ति तभी मानी जा सकेगी, जब वह हमें मानसिक शान्ति दे सके। यदि कदाचित् भौतिक सामग्री का ढेर बढ़ने के साथ मन में अशान्ति बढ़ती जाती है तो वह दुःखदायी ही होगी और उसे अभ्युदय नहीं कहा जा सकेगा।

## (क) कर्म का स्थान

मानसिक शान्ति अक्षुण्ण रहे अथवा अधिक बढ़ती जाये और उसके साथ भौतिक पदार्थों आदि की भी उपलब्धि हो, इसके हेतु कुछ नियम निर्धारित करने पड़े हैं। सर्वप्रथम, कर्म के द्वारा ही अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति हो सकती है। किसी वस्तु का ज्ञान होने मात्र से वह हमें प्राप्त नहीं हो जाती है। किसी वस्तु का उपादान, विकार संस्कार या प्राप्त होना कर्म से ही सिद्ध है।[2] किन्तु मनुष्य कर्म यंत्रवत नहीं करता। कर्म के साथ उसकी भावना भी रहती है। उसका ध्यान रख कर शास्त्र "कार्याकार्य" की व्यवस्था करते हैं :

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तूमिहार्हसि।।[3]

अर्थात् कार्य और अकार्य की व्यवस्था के लिये शास्त्र ही तुम्हारे लिये प्रमाण हैं। शास्त्र में कहे हुए विधान को समझ कर ही तुम्हें कर्म करना चाहिए।

जो व्यक्ति कर्म और अकर्म की व्यवस्था अपने मन से करता है, उसे "कामकारतः"[४] कहेंगे। ऐसा व्यक्ति अपनी त्रिगुणात्मक वासनाओं से नियंत्रित होता है। वह निष्पक्ष और यथार्थ निर्णय नहीं ले सकता। इसलिए उसे शास्त्र का आश्रय लेना आवश्यक है। जो शास्त्र कार्याकार्य या विधि-निषेध का विचार करते हैं, उन्हें धर्मशास्त्र कहते हैं। शंकर ने धर्म की परिभाषा इस प्रकार की है : "शारीरं वाचिकं मानसं च कर्म श्रुतिस्मृतिसिद्ध धर्माख्यः"[५] अर्थात् श्रुति और स्मृति से सिद्ध कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म ही धर्म नाम से प्रसिद्ध है। धर्म के निरूपण के साथ शास्त्रों में अधर्म का भी उल्लेख किया गया, जिससे उसका निषेध हो सके। धर्म सुख देने वाला है और अधर्म का भी उल्लेख किया गया, जिससे उसका निषेध हो सके। धर्म सुख देने वाला है और अधर्म दुःख अर्थात् शास्त्रविधि से भौतिक विषयों का संग्रह आदि मन को शान्त रख कर सुख देता है और उसके विपरीत आचरण करने से दुःख भोगना पड़ता है। "धर्माधर्मयोः फले प्रत्यक्षे सुखदुःखे शरीरवाङ् मनोभिरेवोपभुज्यमाने विषयेन्द्रियसंयोगजन्ये ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु प्रसिद्धे"[६] अर्थात् धर्माधर्म का शरीर, वाणी और मन द्वारा उपभुज्यमान तथा विषयेन्द्रिय संयोग से जन्य प्रत्यक्ष सुख-दुख रूप फल ब्रह्मादि से लेकर स्थावर पर्यन्त सब में प्रसिद्ध ही है।

सभी प्राणियों का सुख एक समान नहीं होता। उसका एक तारतम्य है। इससे यह सिद्ध है कि धर्म का भी तारतम्य है। "मनुष्यत्वादारम्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतार तम्यनुश्रूयते ततश्च तद्धैतोर्धमैस्य तारतम्यगम्यते" अर्थात् मनुष्य से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सभी शरीरधारियों में सुख का तारतम्यं श्रुति कहती है। उससे सुख के साधनभूत धर्म का तारतम्य ज्ञात होता है। "धर्मतारतम्यादधिकारि तारतम्यम"[८] धर्म के तारतम्य से अधिकारी का तारतम्य है। फल की कामना और सामर्थ्य आदि कारणों से अधिकारी का तारतम्य लोक में प्रसिद्ध है।

"इसी प्रकार अधोगत देहधारी जीवों में दुःख का तारतम्य देखने से उनके हेतु प्रतिषेध प्रवर्तक वाक्यों से बोधित अधर्म का और उसमें प्रवृत्त होने वालों का तारतम्य ज्ञात होता है।"[९]

धर्म या अधर्म का अधिकारी भेद त्रिगुणात्मक वासनाओं के कारण होता है। जिस प्राणी की जैसी वासनायें हैं, उसकी वैसी ही बुद्धि, भावना, प्रवृत्ति, श्रद्धा आदि हैं तथा उसके वैसे ही शुभाशुभ कर्म और उनके फल हैं। यह एक लम्बी शृंखला है, जिसमें अविद्या के कारण हर प्राणी बँधा है। सात्विक वसना वाला व्यक्ति धर्म और राजस वासना वाला अधर्म में रुचि रखता है, इसलिए वह उसी का अधिकारी माना जाता है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।<br>
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।।[१०]

अर्थात् सात्विक पुरुषों द्वारा किये गये सुकृत कर्मों का फल निर्मल (सुख) कहा गया है और रजस का फल दुःख तथा तमस का अज्ञान कहा गया है। इस पर टिप्पणी करते हुए शंकर लिखते हैं - "कर्माधिकारात फलम् अपि दुःखम् एवं कारणानुरूप्याद् राजसम् एवं"[११] अर्थात् कर्माधिकार से राजस कर्म का फल भी अपने कारण के अनुसार दुःखरूप राजस ही होता है। इसी प्रकार सत्व और तमस के विषय में भी जानना चाहिए।

अधिकारी भेद से धर्म का क्षेत्र बहुत व्यापक हो जाता है। उसका निरूपण करने की सुविधा के लिए उसे चार वर्णों और आश्रमों में बाँट लिया गया है, इसलिए संक्षेप में उसे कभी-कभी वर्णाश्रम धर्म कहते हैं - "अभ्युदयार्थः प्रवृत्तिलक्षणों धर्मों वर्णाश्रमान् च उछिश्च विहितः"[१२] अभ्युदय के हेतु प्रवृत्ति रूप धर्म वर्ण और आश्रमों को लक्ष्य करके कहा गया है। "चत्वार एवं वर्णाः"[१३] वर्ण चार हैं - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। शंकर ने गीता के आधार पर इस विभाजन को गुण और कर्म के आधार पर माना है। उनके विहित कर्म ही उनके धर्म हैं। "उनमें से सात्त्विक, सत्त्वगुण प्रधान ब्राह्मण के शम, दम, तप आदि कर्म हैं। जिसमें सत्त्वगुण गौण है और रजोगुण प्रधान हैं वह क्षत्रिय है और शूरवीरता, तेज, प्रभृति आदि कर्म हैं। जिनमें सत्वगुण गौड़ है और रजोगुण प्रधान है, ऐसे वैश्य के कृषि आदि कर्म हैं। जिसमें रजोगुण गौण और तमोगुण प्रधान हैं, उस शूद्र का केवल सेवा ही कर्म है। इस प्रकार गुण और कर्मों के विभाग से चारों वर्ण उत्पन्न हुए।"[१४]

आश्रम भी चार हैं - ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी। इनके अपने विशिष्ट धर्म हैं। "यथा ब्रह्मचारि गृहमेधिनावसाधारणेनैव स्वेत विशेषणेन विशेषितावेदं भिक्षुवैखानसावपीति युक्तम्। तपश्चासाधारणी धर्मो वानप्रस्थानम् भिक्षीस्तु धर्म इन्द्रियसंयमादिलक्षणः"[१५] अर्थात् जैसे ब्रह्मचारी और गृहस्थ अपने-अपने असाधारण विशेषण से विशेषित होते हैं वैसे भिक्षु और वानप्रस्थ भी विशेषित होते हैं। तप वानप्रस्थों का असाधारण धर्म है, परन्तु परिव्राजक का इन्द्रियसंयम आदि रूप धर्म है। इन आश्रम धर्मों का पालन न करना अधर्म है। "स्वाश्रमविहितकर्म - अनुष्ठाने प्रत्यवायश्रवणात्"[१६] अर्थात् अपने आश्रम में विहित कर्मानुष्ठान न होने पर प्रत्यवाय (दोष) का श्रवण है।

शंकर ने प्रथम तीन आश्रम के धर्मों का पालन करने से अभ्युदय और चौथे से निःश्रेयस की प्राप्ति मानी है, क्योंकि प्रथम तीन कर्म प्रधान हैं और चौथे में कर्मत्याग कहा गया है। "पूर्वे श्रय आश्रमिण पुण्यलोकभाजः परिशिष्यमाणः परिव्राडेवामृत्वभाक्"[१७] अर्थात् पूर्व के तीन आश्रमी पुण्यलोक के भागी होते हैं और परिशिष्यमाण परिव्राजक ही अमृतत्व का भागी होता है।

धर्म का विभाजन "साधारण" और "असाधारण" इन दो वर्गों में भी किया

जाता है। शंकर ने भी यह विभाजन माना है; इसलिए वे वानप्रस्थ और परिव्राजक के तप और कर्मत्याग आदि धर्मों को "असाधारण" धर्म कहते हैं। समस्त वर्णाश्रम धर्म असाधारण धर्म ही हैं, क्योंकि एक वर्ण का धर्म दूसरे का नहीं है और एक आश्रम का धर्म दूसरे आश्रम का नहीं है। मनुष्य जिस वर्ग और जिस श्रेणी में आता है, वहाँ उनके कुछ विशेष धर्म होते हैं। वे धर्म सब पुरूषों के लिए पालनीय नहीं है। इनके अतिरिक्त कुछ धर्म ऐसे हैं जो वर्ण आदि का विचार किये बिना सभी को पालन करने अनिवार्य होते है। उनसे व्यक्ति का उत्कर्ष होता है और सुख मिलता है। गीता के अनुसार यज्ञ, दान, तप आदि ऐसे ही कर्म हैं। उसके सोलहवें अध्याय के प्रारम्भ में गिनाये गये गुण जिन्हें दैवीसम्पत् कहा गया है, इसी वर्ग में आते हैं।[१८] शंकर भी स्वीकार करते हैं - "यज्ञो दानं तप इति एतत् त्रिविधं कर्म न त्वक्तव्यं"[१६] अर्थात् यज्ञ, दान और तप ये तीनों प्रकार के धर्म नहीं त्यागने चाहिए। इनका उल्लेख वर्णाश्रम धर्म से पृथक् स्वतंत्र रूप से किया गया है।

शंकर ईश्वर के अर्थ किये गये कर्मों को यज्ञ मानते हैं। लोक-प्रसिद्ध अग्नि में आहुति देना रूप कर्म यज्ञ भले ही हो किन्तु वह बहुत संकुचित अर्थ है। "यज्ञ ईश्वरः तदर्थ यत् क्रियते तद् यथार्थ कर्म"[२०] अर्थात् यज्ञ ईश्वर है और उसके लिए कर्म किया जाय, वह यज्ञार्थ कर्म है। दान भी केवल धन तक सीमित नहीं है, ज्ञान आदि का भी दान दिया जाता है। तप का अर्थ भी शरीर पीड़ा नहीं है। नित्य के कार्यों और भोगों में नष्ट होती हुई शक्ति का संग्रह करना तथा अपने अन्दर छिपी दिव्य शक्तियों को जाग्रत करना ही तप है। ये ज्ञान, दान, तप सभी मनुष्यों को उन्नत करने और उच्च सुख पाने का अधिकारी बनाते हैं।

धर्म से अभ्युदय अर्थात् भौतिक सुख प्राप्त होना कपोल-कल्पना या अंधविश्वास नहीं है। इन दोनों के बीच एक अन्तर्सम्बन्ध है, जिसका संकेत हम प्रारम्भ में कर चुके हैं। धर्म उन्हीं कर्मों को करने की स्वीकृति देता है, जिनसे मनुष्य की मानसिक शांति सुरक्षित रहे और कर्म करने के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले भोग पदार्थों से कामना की पूर्ति होने से मन पहले ही अपेक्षा अधिक शांत होकर सुख का अनुभव कर सके। इसके हेतु भोग की शक्ति भी सुरक्षित रखना आवश्यक होता है। धर्म के विधान उस पर ध्यान रखते हैं। इतना ही नहीं, जीवन समाप्ति के बाद भी सुख प्राप्त हो सके, इसके लिए धर्म स्वर्गादि का विधान करता है। इसीलिए अद्वैत-वेदान्त में भौतिक वस्तुओं के संग्रह मात्र को अभ्युदय नहीं माना गया है।

अभ्युदय हेतु जिस नैतिक आचरण या धर्म की आवश्यकता है, वह निःश्रेयस के लिए भी आवश्यक है। धर्म मन को शान्त कर सुखानुभूति ही नहीं देता वरन् चित्त को निर्मल कर ज्ञान का प्रकाश भी प्रदीप्त करता है। अधर्म में प्रवृत्त रहने वाले व्यक्ति को न इस लाभ का परिचय होता है और न उसे वह प्राप्त ही होता है। धर्माचरण

से यद्यपि चित्त की निर्मलता अधिक नहीं होती है किन्तु जो कुछ होती है उसमें यह बोध सम्भव हो जाता है कि कामनायें दुःख, दुर्बलता, दैन्य, अशान्ति, बंधन आदि की जननी है। अधर्मी व्यक्ति न कामनाओं की इस विडम्बना को समझ पाता है और न उन्हें त्यागना सम्भव मानता है।

कामना त्याग कर कर्म करने से चित्त पूर्णतः निर्मल हो जाता है और उस अवस्था में श्रवणादि के द्वारा ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान सम्भव बन जाता है। शंकर इसीलिए कहते हैं – धर्मः ईश्वरार्पणबुद्धया अनुष्ठीयमानः सत्त्वशुद्धये भवति फलाभिसन्धिवर्जितः"[२१] अर्थात धर्म फल कामना छोड़ कर ईश्वरार्पणबुद्धि से किया जाने पर अन्तःकरण की शुद्धि करने वाला है। शंकर की इस युक्ति का आधार गीता का निम्न श्लोक है-

योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गंत्यक्त्वात्यशुद्धये।[२२]

अर्थात् योगी फलविषयक आसक्ति छोड़ कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं।

## (ख) साधन चतुष्टय

**बहिरंग साधन-** निःश्रेय के लिए धर्माचरण तो आवश्यक है ही, निष्काम कर्म करना भी उसके लिए अनिवार्य है। निष्काम कर्म से मनुष्य अपना चित्त शुद्ध कर साधन-चतुष्टय सम्पन्न हो जाता है। ये चारों साधन विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षत्व है। ध्यान देने से ज्ञात होगा कि ये चारों साधन चित्तशुद्धता के ही लक्षण हैं।

शंकर धर्म-जिज्ञासा या धर्माचरण के बाद ब्रह्म जिज्ञासा सम्भव नहीं मानते, वरन् विवेक आदि साधनों के उपरान्त ही वह सम्भव है।[२३] तर्क यह है कि कर्म कर्मानुष्ठान की अपेक्षा रखता है किन्तु ब्रह्मज्ञान विचार करने के उत्कृष्ट साधन अर्थात् शुद्ध बुद्धि की अपेक्षा करता है। "यथोक्त साधन संपत्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या"[२४] अर्थात् यथोक्त साधन सम्पत्ति के अनन्तर ब्रह्म जिज्ञासा करनी चाहिए। साधन-चतुष्टय इस प्रकार है- नित्यानित्यवस्तुविवेकः इहामुत्रार्थभोग विरागः, शमदमादि साधन संपत्, मुमुक्षत्वं च"[२५] अर्थात् नित्यानित्य वस्तु का विवेक, इस लोक तथा परलोक के विषय भोगों से विराग, यम-दम आदि साधन सम्पत्ति और मोक्ष की इच्छा। षट्-सम्पत्ति के अन्तर्गत आते हैं छः गुण – शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान।[२६]

विवेक वह बुद्धि है जो नित्य और अनित्य वस्तु का विभाग कर सकती है और यह निश्चय कर सकती है कि अनित्य वस्तुओं से नित्य सुख नहीं मिल सकता है, अतः उनकी कामना त्याग देनी चाहिए। इस लोक तथा स्वर्गादि उच्च्व लोकों के सभी भौतिक सुख अनित्य हैं। विवेक उनके संग्रह और भोग में लिप्त होने की स्वीकृति नहीं देता है। जब बुद्धि में ऐसा निश्चय हो जाता है तो विषय-भोगों का चिन्तन नहीं

करती। यही वैराग्य है। शरीर, इन्द्रियों और मन के स्तर पर वैराग्य छः प्रकार से व्यक्त होता है। मन विषयों का चिन्तन नहीं करता, यह शम है। इन्द्रियाँ विषय-भोगों में प्रवृत्त नहीं होतीं - यह दम है। भोग्य पदार्थों के संग्रह के लिए कर्म में प्रवृत्त न होना उपरति है। शरीर को होने वाले कष्टों को बिना प्रतिकार किये सहन करना तितिक्षा है। शास्त्र और गुरुवाक्य में विश्वास रख कर स्वेच्छाचारी वृत्ति का त्याग श्रद्धा है। भौतिक जीवन की मूल्यहीनता का निश्चय समाधान है।

विवेक ने जिस अनित्यता का दर्शन कराया था, उसके प्रति निषेधात्मक वृत्ति वैराग्य और षट्सम्पत्ति है। विवेक जिस नित्य वस्तु को सुझाता है, उसे प्राप्त करना और उसमें स्थित होने का विधेयात्मक निश्चय मुमुक्षत्व है।

**अन्तरंग साधन** - उपर्युक्त साधन-चतुष्टय ब्रह्मज्ञान के बहिरंग साधन कहे जाते हैं। इन साधनों से सम्पन्न व्यक्ति ज्ञान के अन्तरंग साधन स्वरूप श्रवण, मनन और निदिध्यासन अपनाते हैं। इन साधनों से ब्रह्मज्ञान सीधे प्राप्त हो जाता है। याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी को आत्मज्ञान की शिक्षा देते हुए कहते हैं - "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वंविदितम्"[२७] अर्थात् यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। हे मैत्रेयि! इस आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञात से इस सब का ज्ञान हो जाता है।

श्रवणादि की आवश्यकता पर टिप्पणी करते हुए शंकर कहते हैं - "आत्मा में अविद्या से आरोपित प्रतीति का विषयभूत जो ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि वर्णश्रम आदि रूप कर्म का निमित्त है, वह क्रिया, कारक और फलरूप तथा रज्जु में आरोपित सर्प प्रतीति के समान अविद्याजनित प्रतीति का विषय है। इसकी निवृत्ति के लिए श्रुति कहती है - "आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और ज्ञान होने पर निश्चय ही यह सब विज्ञात हो जाता है।"[२८] "उक्त साधन-चतुष्टय से सम्पन्न आत्मतत्व का जिज्ञासु पुरुष प्राज्ञ गुरु के निकट जाय, जिससे उसके भव-बन्धन की निवृत्ति हो।"[२९] गुरु को श्रोत्रिय, निष्पाप, कामनाओं से शून्य, ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ, ब्रह्मनिष्ठ, ईंधनरहित अग्नि के समान शान्त, अकारण दयासिंधु और प्रणत जनों का बंधु होना चाहिए।[३०] गुरु उस शिष्य को बताये कि वेदान्त-वाक्यों के अर्थ का विचार करने से उत्तम ज्ञान होता है, जिससे फिर संसार-दुख का आत्यन्तिक नाश हो जाता है।"[३१]

श्रवणादि के विषय में शंकर का मत है कि पहले आचार्य और शास्त्र द्वारा श्रवण करने योग्य एवं पीछे तर्क द्वारा मनन करने योग्य है और इसके पश्चात् वह निदिध्यासि-तव्य अर्थात् निश्चयपूर्वक ध्यान करने योग्य हैं। इस प्रकार श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन रूप साधनों के सम्पन्न होने पर ही इसका साक्षात्कार होता है।"[३२] शंकर ने ब्रह्मज्ञान के लिए श्रवण को पर्याप्त नहीं माना है। श्रवण के उपरान्त मनन

और निदिध्यासन साधन भी अपनाने पर ही ज्ञान होता है। वे कहते हैं - "यद्धैकत्वमेतान्युपगतानि, तदा सम्यग्दर्शनं ब्रह्मै कत्वविषयं प्रसीदति, नान्यथा श्रवणमात्रेण"[३३] अर्थात् जिस समय इन सब साधनों की एकता होती है, उसी समय ब्रह्मैकत्वविषयक सम्यक् दर्शन का प्रसाद होता है; अन्यथा केवल श्रवण से उसकी स्फुटता नहीं होती। शंकर अन्यत्र भी अपने इस मत का उल्लेख कर उसको दृढ़ करते हैं : "मननिदिध्यासनयोरपि श्रवणवदवगत्यर्थत्वात्"[३४] अर्थात् लवण के समान मनन निदिध्यासन भी ज्ञान के लिए है। शंकर इनकी पुनरावृत्ति भी आवश्यक मानते हैं - "प्रत्ययावृत्तिः कर्तव्या दर्शनपर्यवसितत्वादेषम्"[३५] अर्थात् प्रत्यय की आवृत्ति करनी चाहिए क्योंकि ये दर्शन पर्यवसायी हैं। साक्षात्कार होने तक बार-बार आवृत्ति किये जाने वाले श्रवण आदि साधन दृष्ट फल वाले होते हैं जैसे धान को तब तक कूटते हैं, जब तक चावल प्रकट नहीं हो जाता।[३६]

शंकर के परिवर्ती आचार्यों में इस सिद्धान्त पर मतभेद दिखाई देता है कि आत्मज्ञान के लिए श्रवण पर्याप्त अथवा श्रवण के उपरान्त मनन-निदिध्यासन करने पर ही ज्ञान होता है। यह मतभेद तीन दिशाओं में बँट गया है - मण्डन और उनके अनुयायी ब्रह्मज्ञान के लिए तीनों आवश्यक मानते हैं, सुरेश्वर आदि श्रवण को ही पर्याप्त मानते हैं और विद्यारण्य इनसे भिन्न अपनी स्थिति कुछ और ही रखते हैं।

मण्डन का मत है कि "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों के श्रवण से जो ज्ञान होता है, वह परोक्ष है। वह ज्ञान अपरोक्ष तभी होता है, जब उस पर मनन-निदिध्यासन या उपासना की जाय। "निश्चितेऽपि प्रमाणात् तत्त्वे सर्वत्र मिथ्यावभासानिवर्तन्ते हेतु विशेषादनुवर्तन्तेऽपि"[३७] अर्थात् प्रमाण से निश्चित ज्ञान हो जाने पर भी मिथ्यावभास सर्वथा निवृत्त नहीं होता, हेतु विशेष से वह अनुवर्तित भी होता है। "तच्च तत्त्वदर्शनाभ्यासों लोकसिद्धः"[३८] अर्थात् तत्त्वदर्शन का अभ्यास लोकसिद्ध है। मण्डन अन्यत्र पुनः कहते हैं, "शाब्दं तु प्रमाणाधीनं क्षणिकं ज्ञानम् तत्र पुनरपि विपर्ययावकाशः"[३९] अर्थात् शब्द ज्ञान प्रमाणाधीन और क्षणिक है, उसमें पुनः विषर्यय का अवकाश है। "सततं शाब्दं ज्ञानमनुसंदधीत, किमन्यहुपासनमस्मात्"[४०] अर्थात् शब्द ज्ञान का सतत अनुसंधान करना चाहिए, इसके अतिरिक्त उपासना और क्या है?

तात्पर्य यह है कि उपनिषद् वाक्यों से तत्व का परोक्ष ज्ञान होता है और उपासना से वह अपरोक्ष होकर मुक्ति का हेतु होता है। "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" - इस श्रुति वाक्य को व्याख्या करते हुए मण्डन अपने मत को श्रुतिसम्मत मानते हैं। आत्मज्ञान के बाद "प्रज्ञा कुर्वीत का तात्पर्य यही हो सकता है कि हमें वह ज्ञान साक्षात् हो, क्योंकि ज्ञान के बाद किसी अन्य फल की आकांक्षा नहीं हो सकती है।"[४१]

वाचस्पति और अमलानन्द ने भी यही सिद्धान्त स्वीकार किया है। अमलानन्द ने वाचस्पति को ही इस मत का प्रवर्तक माना है - "शास्त्रदृष्टिर्मता तां तु वेत्ति

वाचस्पतिः परम्"[४२] अर्थात् वाचस्पति उसे "शास्त्रदृष्टि" मानते हैं। मण्डन के द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्त वाचस्पति द्वारा स्वीकार किया गया और परवर्ती आचार्यों द्वारा वह सिद्धान्त वाचस्पति के नाम से ही प्रसिद्ध हो गया।

सुरेश्वर का मत इसके विपरीत है। उन्होंने नैष्कर्म्यसिद्धि में उपनिषदों के शब्द प्रमाण से ही ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान माना है। जैसे दसवें व्यक्ति से यह कहने पर कि तुम ही दसवें हो, उसे ज्ञान हो जाता है उसने नौ रह जाने की भ्रांति मिट जाती है वैसे ही तत्त्वमसि वाक्य से यह ज्ञान हो जाता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ।[४३] सुरेश्वर मानते हैं कि शब्द ज्ञान सदा परोक्ष नहीं होता है। उससे अपरोक्ष ज्ञान भी सम्भव है। "तत्त्वमस्यादि वाक्यार्थपरिज्ञानं ततोऽविद्योच्छेदस्ततश्च स्वात्मन्येवावस्थान"[४४] अर्थात् तत्त्वमसि आदि वाक्यों के अर्थ का परिज्ञान होता है, उससे अविद्या का उच्छेद होता है और तभी उससे अपने आत्मा में अवस्थिति हो जाती है। यही मुक्ति है।

सुरेश्वर मण्डन आदि उन विद्वानों की निन्दा करते हैं जो श्रुतिवाक्यों के श्रवण से केवल परोक्ष ज्ञान मानते हैं और अपरोक्ष ज्ञान के लिए मनन-निदिध्यासन रूप प्रसंख्यान की अपेक्षा रखते हैं।

शाब्दज्ञानविधावेवं वेदान्तेषु निराकृते।
अपरै पण्डितम्मन्वा विध्यन्तरमिहोचिरे।।[४५]

अर्थात् वेदान्त में इस रीति से शब्दज्ञान की विधिपरकता असिद्ध होने पर भी अपने को मिथ्या में ही पंडित मानने वाले वेदान्त में विध्यन्तर अंगीकार करते हैं। सुरेश्वर के विचार से वे लोग अपने सम्प्रदाय के बल से शास्त्र-विपरीत मत स्थापित करने का दुःसाहस करते हैं - "केचित्स्वसंप्रदायबलावष्टम्भादाहुः"[४६] अर्थात् कई लोग अपने सम्प्रदाय-बल से प्रेरित होकर ऐसा कहते हैं।

विद्यारण्य के मत में श्रुति वाक्य दो प्रकार के हैं - महावाक्य तथा अवान्तर वाक्य। अवान्तर वाक्यों से परोक्ष ब्रह्मज्ञान होता है और महाकाव्य से अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान।

अवान्तरेण वाक्येन परोक्षा ब्रह्मधीर्भवेत्।
सर्वत्रैव महावाक्यविचारादपरोक्षधी।।[४७]

अर्थात् उपनिषदों के अवान्तर वाक्यों से तो परोक्ष ब्रह्मज्ञान होता है और महावाक्यों के द्वारा अपरोक्ष ब्रह्म ज्ञान होता है।

विद्यारण्य इस मत का स्पष्ट खण्डन करते है कि श्रुति वाक्य के श्रवण से केवल परोक्षज्ञान होता है।

एवं सति महावाक्यात् परोक्षज्ञानमीर्यते।
यैस्तेषां शास्त्रसिद्धान्तविज्ञानं शोभतेतराम्।।[४८]

अर्थात् ऐसा होने पर भी जो लोग कहते हैं कि महावाक्यों के श्रवण से केवल परोक्षा ज्ञान होता है, उनका शास्त्र सिद्धान्तों का परिज्ञान हंसी के योग्य है।

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि मनन और निदिध्यासन का कोई प्रयोजन नहीं है। वे श्रवण से ब्रह्मज्ञान मानते हैं और मनन-निदिध्यासन से उसकी दृढ़ता प्राप्त करना आवश्यक बताते हैं।

अस्तु बोधोऽपरोक्षोत्र महावाक्यात् तथाप्यसौ।
न दृढ़ श्रवणादीनामाचार्यैः पुनरीक्षणात्।।[४६]

अर्थात् यद्यपि महावाक्य के श्रवण से अपरोक्ष ज्ञान होता है किन्तु उतने से वह दृढ़ नहीं हो जाता। अतः शंकराचार्य ने वाक्यार्थज्ञान होने पर भी श्रवणादि माना है।

विद्यारण्य "विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" श्रुति वाक्य का भी तात्पर्य यही मानते हैं कि आत्मज्ञान होने पर भी जो विपरीत-भावना शेष रहती है, वह मनन आदि से निवृत्त हो जाय। श्रवण से ब्रह्म और आत्मा के एकत्व का ज्ञान होता है, मनन से शंका निवृत्ति होती है और निदिध्यासन से विपरीत-भावना नष्ट होती है। विपरीत-भावना नष्ट होने से व्यवहार विरल होता है। किन्तु ज्ञानी जानता है कि व्यवहार या विक्षेप उसके ज्ञान में बाधक नहीं है। वे तो मन के ही विकार हैं। अतः ज्ञानी निदिध्यासन आदि को अधिक महत्व नहीं देता है।[५०]

## (ग) ज्ञानकर्म समुच्चय एवं शंकर द्वारा उसका खण्डन

ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने में श्रवण के साथ मनन-निदिध्यासन की आवश्यकता के बिन्दु पर मण्डन और सुरेश्वर सम्प्रदायों में जो भेद उत्पन्न हो गया, उसका मुख्य कारण ज्ञानकर्मसमुच्चय मानने, न मानने का भेद था। शंकराचार्य के पूर्व भगवद्गीता की व्याख्या ज्ञानकर्मसमुच्चयपरक की जा रही थी[५१] किन्तु शंकराचार्य ने उसका घोर विरोध किया। उसी समय से अद्वैत वेदान्त के आचार्यो की परम्परा दो भागों में बँट गयी। मण्डन शंकर से सहमत न होकर ज्ञानकर्मसमुच्चय का समर्थन करते रहे और उसके पक्ष में तर्क एकत्र करते रहे। तिलक ने भी इसी पक्ष को युक्त संगत माना है और मराठी के कवि वामन पण्डित को भी अपना पक्षधर माना है-

"The Bhagavatgita looks upon the Karma-Yoga as the most excellent path of life. It is not that I alone say so. Even the well-known Marathi poet Vardman Pandit is of the same opinion."[५२]

एस. कुप्पूस्वामी शास्त्री भी इस मतभेद का कारण इसी प्रकार स्वीकार करते हैं -

"Mandana's exposition of the Advaita doctrine was based mainly on a pre-Shankara phase of it, while Sureshvara's exposition of that doctrine was entirely dependent upon its Shankara phase."[५३]

शंकर ने कर्मज्ञानसमुच्चय का विरोध किया है किन्तु ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान के हेतु श्रवण के साथ मनन-निदिध्यापन की आवश्यकता भी स्वीकार की है। इसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। मण्डन के द्वारा ज्ञानकर्मसमुच्च का समर्थन और श्रवण के द्वारा परोक्ष ज्ञान तथा मनन और निदिध्यासन के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान का प्रतिपादन होने पर सुरेश्वर ने शंकर का समर्थन करने हेतु मण्डन के ज्ञानकर्मसमुच्चय के पक्ष में दी गयी युक्तियों का खण्डन किया और मनन-निदिध्यासन में कर्म की गंध पाकर ब्रह्म ज्ञान के हेतु श्रवण को ही पर्याप्त माना। उनके मत में श्रवण से ही परोक्ष और अपरोक्ष दोनों ही सम्भव है। मनन और निदिध्यासन ब्रह्मज्ञान में सहायक नहीं है, वरन् प्राप्त ज्ञान को केवल दृढ़ करते हैं और आत्मभाव की वासना उत्पन्न करते हैं।

यहाँ "कर्मज्ञानसमुच्चय" के प्रश्न पर भी संक्षेप में विचार कर लेना चाहिए। शंकर का मत है - "न केवलेभ्यः कर्मभ्यो न च ज्ञानकर्मभ्यां समुच्चिताभ्यां निःश्रेयस प्राप्तिः"[५४] अर्थात् मोक्ष न तो केवल कर्म से मिलता है और न ज्ञान-कर्म के समुच्चय से ही। कर्म अविद्यापूर्वक होते हैं और वे अविद्या के ही पोषक हैं। उनसे अविद्या का नाश नहीं हो सकता है। अविद्या का नाश विद्या से ही होता है और विद्या कर्मरूप नहीं है। "अविद्यापूर्वकस्य कर्मणो विद्या एवं शुभस्य अशुभस्य या क्षयकारणम् अशेषतो न नित्यकर्मानुष्ठानम्"[५५] अर्थात् अविद्यापूर्वक होने वाले सभी शुभाशुभ कर्मों का अशेषतः नाश करने वाला हेतु विद्या ही है, नित्यकर्म का अनुष्ठान नहीं।

कर्म से अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति, संस्कार, विकार या उत्पादन किया जा सकता है, किन्तु मुक्ति न अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति है, न उत्पाद्य है, न विकारी है और न संस्कार्य है। अतः वह कर्म साध्य नहीं है।"[५६]

कर्म और विद्या का विरोध होने के कारण शंकर न कर्म से विद्या की प्राप्ति मानते हैं और न कर्म और विद्या एक साथ स्वीकार करते हैं। "न अपि ज्ञानस्य केवल्यफलस्य कर्मसाहाय्यापेक्षा अविद्यानिवर्तनकत्वेन विरोधात्"[५७] अर्थात् कैवल्य ही जिसका फल है, ऐसे ज्ञान को कर्मों की सहायता भी अपेक्षित नहीं है क्योंकि ज्ञान अविद्या का नाशक है, इसलिए उसका कर्मो से विरोध है। "हेतुस्वरूपफलविरोधात्"[५८] अर्थात् उनके हेतु स्वरूप और फलों में विरोध है। "सहसम्भवानुपपत्तेः"[५९] अर्थात् इन दोनों का साथ रहना सम्भव नहीं है। विद्या के उत्पन्न होने पर अविद्या का नाश हो जाता है और फिर उसी आश्रय में अविद्या की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

"अविद्यासम्भवात्तदुपादानस्य कर्मणोऽप्यनुपपत्तिम्"[६०] अर्थात् अविद्या के असम्भव हो जाने पर उसके आश्रय से होने वाले कर्म भी नहीं हो सकते। "जिसमें कारक और फल का भेद स्वीकार किया गया है, उस कर्म के साथ सम्पूर्ण भेददृष्टि से रहित ब्रह्म और आत्मा की एकता के ज्ञान का रहना संगत नहीं है।"[६१]

अपने सत् स्वरूप का अज्ञान केवल ज्ञान से ही नष्ट हो सकता है। उसके हेतु कर्म कारगर नहीं हो सकता। "अकार्यत्वात् च निःश्रेयस्य कर्मसाधनत्वानुपपत्तिः। न हि नित्यं वस्तु कर्मणा ज्ञानेन वा क्रियते।"[६२] अर्थात् मोक्ष अकार्य है, इसलिए कर्मों को उसका साधन मानना नहीं बन सकता। कोई भी नित्य वस्तु कर्म या ज्ञान से उत्पन्न नहीं की जाती।

ज्ञान प्राप्त होने पर पूर्णता और तृप्ति का अनुभव होता है। इस अवस्था में कामना न रह जाने से कर्म करना सम्भव नहीं होता। "कैवल्यफले हि ज्ञानं प्राप्ते क्रियाफलार्थित्वाभावात् फलान्तरे तत्साधनभूतायां वा क्रियायाम् अर्थित्वानुपपत्तिः"[६३] अर्थात् जिसका फल कैवल्य है, उस ज्ञान के प्राप्त होने के पश्चात् कर्म फल की इच्छा नहीं रही सकती। अतः फलान्तर या उसकी साधनभूत क्रिया की इच्छुकता नहीं रह सकती।

अपने मत के समर्थन में शंकर यह श्रुति प्रमाण देते हैं कि ज्ञान के अतिरिक्त मुक्ति का कोई रास्ता नहीं है। "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"[६४] अर्थात् उस परमात्मा को जान कर ही मनुष्य मृत्यु से तरता है, मोक्ष प्राप्ति के लिए दूसरा मार्ग नहीं है।

शंकर के इन उद्धरणों का केवल यही तात्पर्य है कि कर्म मुक्ति प्राप्ति में सीधे सहायक नहीं है, न अकेले और न ज्ञान के साथ। किन्तु वे ज्ञान प्राप्त करने में कर्म को परोक्ष रूप से सहायक मानते हैं, वही केवल निष्काम कर्म को; क्योंकि उससे चित्त शुद्ध होता है और शुद्ध चित्त तत्व चिन्तन के लिये उपयोगी है। "धर्मः ईश्वरार्पणबुद्ध्या अनुष्ठीयमानः सत्त्वशुद्धये भवति फलाभिसन्धिवर्जिताः"[६५] अर्थात् फल कामना छोड़ कर ईश्वरअर्पण बुद्धि से किये जाने पर अन्तःकरण की शुद्धि करने वाला है। "कर्मणा विशुद्धि हेतुत्वात् कर्मभिः संस्कृता हि विशुद्धात्मानः शक्नुवन्ति आत्मानमुपनिषत्प्रकाशितम् प्रति बन्धेन वेदितुम्"[६६] अर्थात् कर्म चित्त शुद्धि के हेतु हैं; कर्मों से संस्कार युक्त हुए विशुद्ध चित्त पुरूष ही उपनिषद् प्रकाशित आत्मा को बिना किसी रुकावट के जान सकते हैं। "आत्मानं चेल्लोकमिच्छति यः तस्य सर्वक्रियोपरम एव" अर्थात् आत्मलोक की इच्छा है, उसके सम्पूर्ण क्रियाओं से उपरत होना ही आत्मलोक का मुख्य एवं अन्तरंग साधन है।

मण्डन शंकर के कर्म-ज्ञान विरोधी सिद्धान्त से सहमत नहीं है। वे अपने समय

तक प्रतिपादित कर्मविषयक सात सिद्धान्तों का उल्लेख कर दो के प्रति अपनी सहमति प्रकट करते हैं और पाँच का खण्डन करते हैं। उन्हीं पाँच में शंकर का मत भी है। वे सातों सिद्धान्त इस प्रकार हैं[६८] – (१) वैदिक कर्म करने से स्वर्गादि प्राप्त करने की कामना होती है और स्थूल शरीर के आसक्ति नष्ट होती है। यह उपलब्धि आत्मज्ञान के लिये भी उपयोगी है। (२) कामना मनुष्य को परमात्मदर्शन के अयोग्य बनाती है। कर्म के द्वारा कामना का क्षय हो जाता है और बहुत काल बाद प्रजापति का पद प्राप्त कर मरमाद्वैत दर्शन का अधिकार मिल जाता है। (३) ऋणत्रय से मुक्त होने के लिए कर्म करना आवश्यक है। ऋणों से छुटकारा पाने पर व्यक्ति ज्ञान का अधिकारी होता है। (४) वैदिक कर्मों का फल दो प्रकार का है – एक तो विषय भोग और दूसरे आत्मज्ञान। (५) सभी वैदिक कर्म मनुष्य के चित्त को शुद्ध करने वाले और आत्मज्ञान के योग्य बनाने वाले हैं। (६) आत्मज्ञान तो कर्त्ता के चित्त को शुद्ध करने वाले हैं। शुद्ध चित्त व्यक्ति ही कर्मकाण्ड में प्रतिपादित कर्मों को विधिपूर्वक करने का अधिकारी होता है। (७) कर्म और ज्ञान परस्पर विरोधी है। एक द्वैत और दूसरा अद्वैत-विषयक होने से उनमें कोई सम्बन्ध नहीं है।

मण्डन इनमें से चौथा और पाँचवाँ मत मानते हैं। चौथे मत के अनुसार कर्म अपन फल भोग कराने के अतिरिक्त आत्मज्ञान का अधिकारी भी बनाता है। ''सर्वकर्मणा मेवात्मज्ञानाधिकारनुप्रवेशमाहुः – विविदिषन्ति यज्ञेन – इति श्रुतेः''[६९] अर्थात् सभी कर्मों से आत्मज्ञान के अधिकार में प्रवेश होता है, इसीलिए श्रुति कहती है कि यज्ञ से ज्ञान प्राप्त होता है। पाँचवें मत के अनुसार कर्म पुरुष का संस्कार करने वाले हैं – ''पुरुषसंस्कारतयात्मज्ञानाधिकारसंस्पर्श कर्मणां वर्णयन्ति''[७०] अर्थात् कर्म पुरुष का संस्कार करके आत्मज्ञान का अधिकारी बनाते हैं।

इस प्रकार मण्डन का यह दृढ़ विचार है कि अग्निहोत्र आदि कर्म करने से व्यक्ति महावाक्य श्रवण के द्वारा प्राप्त परोक्षा ज्ञान पर मनन-निदिध्यासन का अधिकारी बनता है और उससे आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

मण्डन कर्म-त्याग और संन्यासपूर्वक भी ब्रह्मज्ञान और मुक्ति स्वीकार करते हैं। संन्यासी को शम, दम, अपरिग्रह आदि का अभ्यास कर्म-त्याग के द्वारा करना होता है। वह यज्ञादि का सहारा नहीं लेता, इसलिए उसे विलम्ब होता है। गृहस्थ यज्ञ करता हुआ चित्त शुद्ध कर ज्ञानाभ्यास से शीघ्र मुक्त हो सकता है। अपने इस मत के समर्थन के लिए वे ब्रह्मसूत्र उद्धृत करते हैं – ''सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतुरश्ववत्''[७१] –– ब्रह्मविद्या अपनी उत्पत्ति में सभी आश्रम कर्मों की अपेक्षा करती है क्योंकि श्रुतियाँ यज्ञ आदि में ज्ञानोत्पत्ति की हेतुता प्रतिपादित करती है, अश्व के समान। इसकी व्याख्या करते हुए मण्डन लिखते हैं ''यज्ञेन दानेन इति श्रवणात् कर्माण्यपेक्ष्यन्ते विद्यायामभ्यासलभ्यायामपि यथान्तरेणाप्यश्वं ग्रामप्राप्ती सिद्धन्त्यां शैघ्रयावाक्लेशाय

वाश्वोऽपेक्ष्यते"[७२] अर्थात् श्रुतियों में यज्ञ-दान से श्रवण किया जाता है, इसलिए विद्या के अभ्यास में कर्म की अपेक्षा है, जैसे ग्राम प्राप्ति में अश्व से यात्रा करने पर शीघ्रता होती है और क्लेश नहीं होता है।

इस प्रकार मण्डन यद्यपि ज्ञान से मुक्ति स्वीकार करते हैं किन्तु कर्मसहित ज्ञान के अभ्यास से वे उसमें शीघ्रता और सरलता मानते हैं। यही उनका "ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद" है।

उसी ब्रह्मसूत्र को शंकर भिन्न दृष्टि से देखते हैं। वे कहते हैं - "विद्या सर्व। आश्रम कर्मों की अपेक्षा करती है, उसे अत्यंत अनपेक्षा नहीं है। इसका तात्पर्य है कि विद्या फलसिद्धि के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करती, किन्तु अपनी उत्पत्ति के लिए तो अपेक्षा करती है। श्रुति आश्रम कर्मों में विद्या के प्रति साधन भाव सूचित करती है। जैसे योग्यातावश अश्व हल खींचने में नियुक्त नहीं किया जाता, किन्तु रथ खींचने में नियुक्त किया जाता है, वैसे आश्रम कर्म विद्या से फलसिद्धि में अपेक्षित नहीं किन्तु उसकी उत्पत्ति में तो अपेक्षित है।"[७३] इस प्रकार शंकर के मत में आश्रम कर्म से विद्या और विद्या से मुक्ति है। कर्म मुक्ति में सीधे सहायक नहीं है। अतः यह मत कर्मज्ञानसमुच्चय का विरोधी है।

सुरेश्वर शंकर के ही पक्षधर हैं और कर्मसंन्यास के द्वारा ही मुक्ति सम्भव मानते हैं। "जैसे मनुष्य नरक के भय से अशुभ कर्म से भयभीत होता है, वैसे ही मुक्ति कामी को काम्य कर्मों के दोष समझ कर उनसे दूर रहना चाहिए।"[७४] चित्तशुद्धि के लिये निष्काम कर्म किये जा सकते हैं :

शुध्यमानं तु तच्चित्तमीश्वरार्पित कर्मभिः।
वैराग्यं ब्रह्मलोकादौ व्यनवत्यय सुनिर्मलम्।।[७५]

अर्थात् चित्त को शुद्ध करने के लिये ईश्वरार्पित कर्म करने चाहिए और ब्रह्मलोक तक के भोग पदार्थों में निर्मल वैराग्य रखे। ग्रन्थ के उपसंहार में वे कहते हैं :

नाविरक्ताय संसारान्नानिरस्तैषणाय च।
न चायमवते देयं वेदान्तार्थ प्रवेशनम्।।[७६]

अर्थात् जो संसार से विरक्त न हो, जिसकी एषणायें निरस्त न हो गयी हों और जिसने यम आदि का अभ्यास न किया हो, उसे यह वेदान्त अर्थ में प्रवेश कराने वाले प्रकरण-ग्रंथ नहीं देना चाहिए। "निरस्तसर्वकर्माणः"[७७] ही ज्ञान का अधिकारी है।

सुरेश्वर ही नहीं, शंकर के अन्य कोई अनुयायी ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का समर्थन नहीं करते। एक मण्डन ही ऐसे अद्वैतवादी हैं जो शंकर की परम्परा से हट कर अपना स्वतंत्र मत रखते हैं और ज्ञानकर्मसमुच्चय के समर्थन में तर्क खोज

निकालते हैं। उसका एक उल्लेखनीय महत्वपूर्ण फल होता है कि अद्वैतदर्शन अनैतिक होने के आक्षेप से बच जाता है। यदि श्रवण के साथ वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए मनन-निदिध्यासन करना आवश्यक माना जाय और वैसा करते हुए ही मुक्ति प्राप्त करे तो व्यक्ति को अनैतिक आचरण करने का अवसर न मिलेगा। केवल श्रवण से मुक्ति का परम पुरुषार्थ सिद्ध होना सम्भव मानने से नैतिकता की आवश्यकता नहीं रह जाती। सम्भव है इसी विचारबिन्दु ने तिलक को भी गीता के नीतिशास्त्र का अध्ययन करने में ज्ञानकर्मसमुच्चय की ओर आकर्षित किया हो। लोकजीवन में नैतिकता की अपेक्षा करना न्यायसंगत नहीं है। उसे दार्शनिक नियुक्तियों का समर्थन मिलना निश्चय ही आवश्यक है। इस विचार से तिलक का ज्ञानकर्म समुच्चय की ओर आकर्षित होना सम्भव हो सकता है।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि शंकर या सुरेश्वर आदि ने ज्ञानकर्मसमुच्चय का विरोध कर अपने अद्वैतवेदान्त को अनैतिक बना दिया है। उनके मत से मुक्ति ज्ञान द्वारा ही होती है और ज्ञान महावाक्य के श्रवण और उसके अर्थ अनुसन्धान से होता है, किन्तु यह सरल सा प्रतीत होने वाला कार्य सर्वसाधारण के द्वारा सम्पादित होना सम्भव नहीं है। विवेक आदि साधन-चतुष्टय से सम्पन्न व्यक्ति ही श्रवण आदि का अधिकारी है। ये गुण नैतिक आचरण के फलस्वरूप ही उपलब्ध होते है। अनैतिक मनुष्य न निष्काम कर्म कर सकता है और न कर्म करने में ईश्वरार्पण भाव रख सकता है। इसलिए ज्ञान का अधिकारी बनने के लिए उच्चकोटि के नैतिक आचरण का पालन करना आवश्यक है।

## (घ) व्यावहारिक जीवन

अद्वैतवेदान्त के अनुसार ईश्वर की नामरूपात्मक माया से ही यह समस्त जगत्-निर्मित है। जैसे माया "सन्नाप्यसन्नापि उभयात्मिकानो"[७८] है, वैसे ही उससे निर्मित जगत भी न सत् है, न असत् है और न उभयात्मक है। इसकी प्रकृति न आकाशकुसुम के समान अलीक है और न परब्रह्म की भाँति नित्य सत् है। उपनिषदों के ऋषियों ने भी जगत को कोरी कल्पना या आभासमात्र कहीं नहीं कहा है और न उन्होंने व्यावहारिक जीवन से भागने का प्रयास किया है। "सर्व खलु इदं ब्रह्म"[७६] कह कर वे जगत को ब्रह्म का रूप ही प्रतिपादित करते हैं। "नेति नेति"[८०] या "वाचारम्भण विकारो नामधेय"[८१] आदि वाक्यों में जगत के मिथ्यात्व के संकेत अवश्य मिलते है किन्तु परमतत्व का प्रतिबोध कराने के लिए ही ऐसा किया गया है। वेदों का कर्मकाण्डीय भाग व्यावहारिक जीवन के सत्यत्व में किचित शंका नहीं उत्पन्न करता। वह जगत् में विद्यमान जीवों के हेतु कल्याणकारी मार्ग निरूपित करता है।

ब्रह्मसूत्र में परमात्मा को जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण सिद्ध किया गया है किन्तु जगत को मायिक या मिथ्या कहने में कोई रुचि नहीं दिखाई गयी है। भगवद्गीता में जगत को परमात्मा से उत्पन्न और उसी पर आश्रित दिखाया गया है किन्तु उसका यह निर्णय नहीं निकाला गया कि जगत है ही नहीं अथवा वह मिथ्या है।

गौडपादाचार्य, परम सत् का प्रतिपादन करने के एकमात्र उद्देश्य के कारण, जगत के सम्बन्ध में "अजातवाद" का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं, किन्तु पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ताओं का स्पष्ट उल्लेख करते हैं। वे जगत को व्यावहारिक सत्ता मान कर उसे स्वप्न के समान सिद्ध करते हैं। जैसे स्वप्न से जागे हुए व्यक्ति को स्वप्न का मिथ्यात्व अनुभव होता है, वैसे ही आत्मज्ञानी को व्यावहारिक जीवन भी मिथ्या प्रतीत होता है। फिर भी अज्ञानी जीव के लिए व्यवहार है ही और उसी के लिए समस्त शास्त्र हैं। जाग्रत अवस्था में अनुभव होने वाली व्यावहारिक सत्ता और स्वप्न की प्रातिभासिक सत्ता में अन्तर है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। "संवृत्या जायते सर्व"[८२] अर्थात् सारे पदार्थ व्यावहारिक दृष्टि से उत्पन्न होते हैं।

शंकर ने परमार्थ, व्यवहार और प्रतिभास का स्पष्ट और सुनिश्चित उल्लेख किया है। "सत्यं च व्यवहारविषयमधिकारान्न परमार्थसत्यम्। एकमेव हि परमार्थसत्यं ब्रह्म। इस पुनर्व्यहारविषयमापेक्षिक सत्यमृ, मृगतृष्णिकाद्यनृतापेक्षयोदकादि सत्यमुच्यते। अनृतं च तद्विपरीतमृ"[८३] अर्थात् यहाँ व्यवहार का ही प्रसंग है, परमार्थ सत्य नहीं। परमार्थ सत्य तो एकमात्र ब्रह्म ही है। यहाँ तो केवल व्यवहार विषयक आपेक्षिक सत्य से ही तात्पर्य है, जैसे कि मृगतृष्णा आदि असत्य की अपेक्षा से जल आदि को सत्य कहते हैं तथा अनृत इस (व्यावहारिक सत्य) से विपरीत है।

परमार्थ सत् से व्यवहार की तुलना करते हुए शंकर कहते हैं कि ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान के पूर्व व्यवहार सत् है। आत्मज्ञान से इसकी सत्यता बाधित होती है। "सर्वव्यवहाराणा-मेव प्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानत्सत्यत्वोपपत्तेः स्वप्न व्यवहारस्येव प्राक्प्रबोधात्। यावद्धि न सत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिस्तावत्प्रमाणप्रमेयसफललक्षणेंषु विकारेष्वनृतत्वबुद्धिन कस्यचिदुत्पद्यते।"[८४] अर्थात् जैसे जागने के पूर्व सब स्वप्न व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं, बस इसी प्रकार ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान के पूर्व सब व्यवहार भी सत्य हो सकते हैं। जब तक सत्य आत्मैक्य प्रति-पत्ति नहीं होता, तब तक प्रमाण, प्रमेय और फलस्वरूप विकारों में किसी को भी मिथ्यात्व बुद्धि नहीं होती।

शंकर ने व्यावहारिक सत्ता को प्रातिभासिक सत्ता से पृथक माना है। भ्रान्तिमान प्रतीतियाँ ही प्रातिभासिक सत्ता हैं। उदाहरणार्थ, रज्जु व्यावहारिक सत्ता है और उस पर सर्प की भ्रान्त प्रतीति प्रातिभासिक सत्ता है। सामान्यरूप से हम कहते हैं कि

कल्पित सर्प मिथ्या है, क्योंकि रज्जु का बोध होने पर सर्प-बुद्धि का बाध हो जाता है। व्यवहार में रज्जु का बाध नही देखा जाता है, अतः वह व्यावहारिक सत् है। इसी प्रकार, जो जल हमारी प्यास बुझाता है, वह मृगतृष्णा के जल की तुलना में अवश्य सत्य है।[८५] सामान्य व्यक्ति अपने अनुभव की वस्तुयें असत्य नहीं मानता। इन वस्तुओं की व्यावहारिक उपयोगिता इतनी अधिक है और वे हमारी चेतना में बारम्बार उपलब्ध होकर अपनी सत्ता को इतना अधिक सिद्ध करती रहती है कि बहुत विचार करने पर भी इनकी असत्यता मानने में कठिनाई होती है।

परमार्थ, व्यवहार और प्रतिभास तीनों ही अभावरूप आकाशकुसुम आदि से विपरीत हैं। शंकर अभावरूप शशविषाण आदि को असत् मानते हैं और उनका लक्षण यही है कि उनकी उत्पत्ति कभी नही देखी जाती। "असतः शशविषाणादेः समुत्पत्यदर्शनात्"[८६] अर्थात् असत् होने के कारण शशविषाण आदि की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। "बन्ध्यापुत्रों न तत्वेन मायया वाऽपि जायते" अर्थात बन्ध्यापुत्र न तत्व से और न माया से ही उत्पन्न होता है। ऐसे पदार्थ निरात्मक होते हैं और उनसे कोई व्यवहार नहीं हो सकता। "न हि निरात्मकं किंचिद् व्यवहारायावकल्पते"[८८] अर्थात् निरात्मक वस्तुओं से व्यवहार करने की कल्पना नहीं हो सकती।

तात्पर्य यह कि व्यावहारिक जगत परमार्थ ब्रह्म की भाँति नित्य और सत् नहीं है, किन्तु वह न निरात्मक होकर अभावरूप है और न भ्रान्ति के समान मिथ्या। वह सत्-असत् से विलक्षण है।"[८६] विमुक्तात्मा यह स्वीकार करते हैं कि विश्व को अनिर्वचनीय कहने से उसके स्वरूप के सम्बन्ध में हमारी अज्ञानता प्रकट होती है और यदि विश्व के सम्बन्ध मे अज्ञानता स्वीकार कर ली जाय तो अद्वैत् दर्शन एक दार्शनिक सिद्धान्त होने से वंचित रह जाएगा। यह व्यावहारिक जगत् जीव की अविद्या की अपेक्षा से है। जीव के अविद्याकाल में जगत सत्य है। अविद्या के नष्ट होने पर ब्रह्मात्मैक्य बोध होता है और जगत के नानात्वपूर्ण पदार्थो का बाध हो जाता है। जीव की इन दोनों अवस्थाओं का ध्यान रख कर शंकर उसके जीवन के दो लक्ष्य अभ्युदय और निःश्रेयस निर्धारित करते हैं।

धर्म का प्रयोजन प्राणियों को अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त कराना ही हैः "प्राणिना साक्षात् अभ्युदयानिःश्रेयसहेतुः यः स धर्मः"[६०] अर्थात् धर्म प्राणियों के अभ्युदय और निःश्रेयस का हेतु है। इसमें प्रवृति से अभ्युदय और निवृत्ति से निःश्रेयस सम्भव है। "अभ्युदयार्थः प्रवृतिलक्षणो धर्मः"[६१] अर्थात् प्रवृति लक्षण धर्म अभ्युदय के लिए है। "निःश्रेयस संसारस्य अत्यन्तोपरामलक्षणम्"[६२] अर्थात् निः श्रेयस का लक्षण है संसार से अत्यन्त उपरत हो जाना। इस प्रकार शंकर ने जीवनोत्कर्ष के दो प्रमुख स्तर कर दिये हैं।

अभ्युदय का अर्थ है व्यावहारिक जीवन का उत्कर्ष।[६३] किन्तु व्यावहारिक जीवन की सीमा इसी जीवन के जन्म और मृत्यु के बीच आबद्ध न होकर स्वर्गादि तक विस्तीर्ण है। स्वर्गलोक भी प्राणों के अभ्युदय का एक स्तर है और वहाँ का जीवन भी व्यावहारिक है। ''स देवादिस्थान प्राप्ति हेतुः''[६४] अर्थात् वह स्वर्गादि की प्राप्ति का साधन है।

समस्त व्यावहारिक जीवन अभ्युदय नहीं है। भगवद्गीता के आधार पर शंकर व्यावहारिक जीवन को तीन कोटियों मे बाँटते हैं - ऊर्ध्व, मध्य और अधः। अधोगति का अर्थ है पशु-पक्षी आदि योनियों को प्राप्त करना। ''अधो गच्छन्ति पश्वादिषु उत्पद्यन्तु''[६५] अर्थात् पशु-पक्षी आदि योनियों में उत्पन्न होना ही अधोगति है। इसे अभ्युदय नहीं कहा जा सकता।

प्राणी की मध्य स्थिति मनुष्य योनि हैः ''मध्ये तिष्ठान्ति मनुष्येषु उत्पद्यन्ते''[६६] अर्थात् मनुष्य योनि में उत्पन्न होना प्राणी की मध्य स्थिति है। पशु योनियों की अपेक्षा उच्च होने के कारण यह अभ्युदय के अन्तर्गत भले ही मान ली जाय किन्तु गीता आदि शास्त्र और शंकर इसे अभ्युदय नही मानते, क्योंकि इस स्तर के पुनः तीन विभाजन हो सकते हैं - दैवी, आसुरी और राक्षसी प्रकृति के मनुष्य। इनमें आसुरी और राक्षसी प्रकृति मोह उत्पन्न करती है।

राक्षसीआसुरी चैव प्रकृति मोहिनीश्रिताः।''[६७] अर्थात् राक्षसी और आसुरी प्रकृतियाँ मोह उत्पन्न करती हैं। शंकर इसका परिणाम हीन गति और नैतिक मूल्यों का ह्रास बताते हैं। ''राक्षसी प्रकृति आश्रिताः छिन्धि भिन्धि पिव खाद परस्वम् अपहर इति एवं वदनशीलाः क्रूरकर्मणो भवन्ति।''[६८] अर्थात् राक्षसी प्रकृति के आश्रित हो तोड़ो, फोड़ो, पियो, खाओं, दूसरों का धन लूट लो इत्यादि वचन बोलने वाले और बड़े क्रूर कर्मी हो जाते हैं। इस दशा में प्राणी का अभ्युदय नहीं है।

''अभ्युदय'' का अर्थ भौतिक सम्पन्नता ही है, किन्तु शास्त्रसम्प्रति के विपरीत क्रूरकर्मी के द्वारा धन और विषयभोग के पदार्थो का संग्रह अभ्युदय नहीं है। अभ्युदय मनुष्य की वह उन्नतशील दशा है, जिसमें वह अपने ऊपर नियन्त्रण रखते हुए, अपने मन को शान्त रखते हुए और समस्त लोक के कल्याण का ध्यान रखते हुए लौकिक सुखों के साधन या स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति का प्रयास करता है और इस प्रकार जो कुछ पाता है, उसे ही सुखदायी मानता है। तात्पर्य यह है कि अभ्युदय के हेतु कर्मशास्त्र ही प्रमाण मानने योग्य है।[६९] जो मनुष्य शास्त्र का अनादर कर स्वेच्छाचार से सुखी होना चाहते हैं, वे कभी सफल नहीं होते।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कायकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम्।।[१००]

अर्थात् जो मनुष्य शास्त्र के विधान को त्याग कर अपनी कल्पना से प्रेरित होकर कर्म करते हैं, वे न तो सिद्धि पाते हैं और न लौकिक-पारलौकिक सुख के ही भागी होते हैं।

अभ्युदय की प्राप्ति में मनुष्य का कर्म और देवता की प्रसन्नता दोनों आवश्यक है। मनुष्य जो कर्म देवताओं की पुष्टि के लिए करता है, वे यज्ञ कहलाते हैं। शंकर कहते हैं, "तुम यज्ञ के द्वारा देवों को बढ़ाओ और वे देव दृष्टि आदि द्वारा तुम्हें बढ़ावेंगे। इस प्रकार एक दूसरे को उन्नत करते हुए तुम उच्चता प्राप्त करोगे।"[१०१] यही अभ्युदय है। देवता प्रकृति की नाना अधिष्ठातृ शक्तियाँ हैं, जिनके समष्टि और व्यष्टि दो रूप हैं। प्रकृति की शक्तियों का दोहन करने से ही इष्ट भोग्य पदार्थ प्राप्त होते हैं, किन्तु उसके बदले में मनुष्य प्रकृति की आवश्यकता भी पूर्ण करता है। "जो मनुष्य प्रकृति की शक्तियों (देवों) द्वारा दिये हुए भागों को उनका ऋण चुकाये बिना खाता है, वह केवल अपने शरीर और इन्द्रियों को ही तृप्त करता है और देवताओं का स्वत्व हरण करने वाला चोर है।"[१०२]

अभ्युदय पुरुषार्थ है। उससे मनुष्य को लौकिक सुख प्राप्त होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु इस सुख का विश्लेषण कर देखते हैं कि यह जीवन की सर्वोच्च स्थिति नहीं है। इसके दोषों का उल्लेख शंकर ने इस प्रकार किया है:

(१) कर्म के द्वारा प्राप्त होने वाले भोग्य पदार्थ नश्वर हैं। स्वर्ग आदि की प्राप्ति भी सदा के लिए नहीं होती। "पुण्यजितो लोकः क्षीयते"[१०३] अर्थात पुण्य कर्म से प्राप्त हुआ लोक क्षीण हो जाता है। लोक प्राणियों के अनुभव क्षेत्र को कहते हैं। शुभ कर्म के फलस्वरूप एक ऐसे अनुभव क्षेत्र में पहुंच जाता है, जहाँ उसे सुख का अनुभव होता है। वही उसका स्वर्ग है, किन्तु उस सुख की तीव्रता और स्थायित्व कर्मशक्ति से निर्धारित होता है। कर्म भौतिक और विनाशी है, अतः उसका फल भी विनाशी है। "अनित्या मध्यक्षणभावित्वाद"[१०४] अर्थात् केवल बीच के क्षण में ही प्रतीत होने वाले अनित्य हैं।

(२) शंकर ने अभ्युदय को "पराधीनोपभोगः"[१०५] भी माना है। तात्पर्य यह है कि अभ्युदय में जिस सुख का अनुभव होता है, वह पराधीन है। यह सुख भोग्य पदार्थ और इन्द्रियों के अधीन है। यदि विषय नष्ट हुआ तो सुख भी नष्ट हो जाता है। यदि इन्द्रियाँ समर्थ न हुईं, तो भी सुख प्राप्त न होगा।

(३) इसके अतिरिक्त अभ्युदय का सुख तृप्ति नहीं देता है, इसलिए गीता में इसे "दुष्पूरेणालेन"[१०६] कहा है और शंकर कहते हैं कि काम अति कष्ट से पूरित होता है तथा मनुष्य भोगों से कभी तृप्त नहीं होता।[१०७]

(४) शंकर के अनुसार अभ्युदय लौकिक सुख है, किन्तु वह मृगतृष्णा के समान

आभासमात्र है। वस्तुतः लोक में कहीं गन्धमात्र भी सुख नहीं है। "न संसारे सुखस्य गन्धमात्रम् अपि अस्ति, इति बुद्ध्वा विषयमृगतृष्णिकाया इन्द्रियाणि निवर्तवेयत्।"[१०८] अर्थात् संसार में सुख की गन्धमात्र भी नहीं है, यह समझ कर विष-रूप मृगतृष्णा से इन्द्रियों को हटा लेना चाहिए।

(५) अभ्युदय में प्राप्त होने वाले भोग और ऐश्वर्य ऐसा मोह उत्पन्न करते हैं, जिससे निःश्रेयस प्राप्त करने का विचार उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार यह जीवन की पूर्णता प्राप्त करने में बाधक हैं, यह हमारी प्रगति को अवरुद्ध करता है। "भोगैश्वर्ययोः एव प्रणयवतां आच्छादितविवेकप्रज्ञानां सांख्ये योगे वा बुद्धिः न भवति"[१०९] अर्थात् भोग और ऐश्वर्य में ही जिनका राग हो गया है और जिनकी विवेक बुद्धि आच्छादित हो गयी है, उनकी बुद्धि सांख्य या योग में नहीं ठहरती है।

कठोपनिषद् में प्रेय और श्रेय जीवन के दो मार्ग बताये गये हैं - "श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य"[११०] अर्थात् श्रेय और प्रेय दोनों मनुष्य के पास आते हैं। शंकर इन दोनों मार्गों का सम्बन्ध निःश्रेयस और अभ्युदय से मानते हैं। श्रेय मार्ग से मुक्ति प्राप्त होती है और श्रेय मार्ग से अभ्युदय का लाभ होता है।

"श्रेयः प्रेयसोर्ह्यभ्युदयामृतत्वार्थो पुरुषः प्रवर्तते"[१११] अर्थात् अभ्युदय की इच्छा वाला पुरुष प्रेय से और अमृतत्व का इच्छुक श्रेय से प्रवृत्त होता है।

प्रेय का तात्पर्य है - इन्द्रियों और मन को जो कुछ प्रिय लगता है, उसकी कामना करते हुए उसे ही प्राप्त करने का प्रयास करना। इस मार्ग पर इन्द्रिय विषय ही प्रिय लगते हैं और उनके प्राप्त होने से अभ्युदय पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। इसके विपरीत श्रेय मार्ग पर अच्छा-बुरा या प्रिय-अप्रिय लगने को महत्व न देकर यह विचार किया जाता है कि जीवन के लिए कल्याणकारी क्या है। यहाँ शास्त्र और तर्क प्रमाण ही मान्य हैं। जिनमें विवेकशक्ति का अभाव है, वे योगक्षेम के हेतुभूत प्रेय मार्ग का ही वरण करते हैं।"[११२]

श्रेय और प्रेय मार्ग प्रकाश और अंधकार के समान एक दूसरे के विपरीत हैं। एक में विवेक और दूसरे में अविवेक की प्रधानता है। "विद्याविद्यारूपत्वाद्विरुद्वे"[११३] अर्थात् विद्या और अविद्या रूप होने के कारण परस्पर विरुद्ध हैं।

निःश्रेयस मुक्ति का नाम है जो श्रेय का विचार करने से विवेक द्वारा प्राप्त होता है। यही जीवन का परम प्राप्तव्य या परम पुरुषार्थ है। केन उपनिषद् के अनुसार -

"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
नचेदिहावेदीन्महती विनिष्टः।"[११४]

अर्थात् यदि इस जन्म में ब्रह्म को जान लिया, तब तो ठीक है और यदि उसे

इन जन्म में न जाना, तब तो भारी हानि है। अतः श्रुति का आदेश है "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि"[११५] - तुम उस ब्रह्म को जानो। उसे जान कर प्राणी शोक से पार हो जाता है - "तम को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः"[११६] उस अवस्था में एकत्व देखने वाले पुरूष को क्या मोह और क्या शोक हो सकता है। "तरति शोकमात्मवित्"[११७] - आत्मवित् पुरुष शोक से पार हो जाता है। "निवाय्य तं मृत्यु मुखात्प्रमुच्यते"[११८] - उसे निश्चित रूप से जान कर पुरुष मृत्यु के मुख से छूट जाता है। "ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूत् विमृत्यु :"[११९] - ब्रह्म को प्राप्त हुआ पुरुष विरज (शुद्ध) और विमृत्यु (अमर) हो गया। "य एयद्विदुरमृतास्ते भविन्त"[१२०] - जो इसे जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं। "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवि"[१२१] - जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। भगवद्गीता के अनुसार भी मुक्ति ही परम प्राप्तव्य है :

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितों न दुःखेन गुरूणापि विचाल्यते।।[१२२]

अर्थात् जिसे प्राप्त कर उससे अधिक कोई दूसरा लाभ नहीं मानता और जिसमें स्थित हुआ मनुष्य बड़े भारी दुःखों से भी विचलित नहीं होता है (वही निःश्रेयस है)। "स निश्चयेन भोक्तव्यो"[१२३] - उसका भोग निश्चय ही करना चाहिए।

गौडपाद परम पद का इस प्रकार निरूपण करते हैं :

आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव सर्वे धर्माः सुनिश्चिताः।
यस्यैव भवति क्षान्तिः सोऽमृतत्वाय कल्पते।।[१२४]

अर्थात् सम्पूर्ण आत्मा स्वभाव से ही नित्य बोधस्वरूप और सुनिश्चित है - जिसे ऐसा समाधान हो जाता है, वह अमरत्व प्राप्ति में समर्थ है। "स पूज्यः सर्वभूतानां"[१२५] - वह सब प्राणियों द्वारा पूज्यनीय हो जाता है।

मुक्ति के विषय में शंकर का मत बहुत स्पष्ट है। वे ब्रह्म और आत्मा के एकत्वज्ञान को ही मुक्ति मानते हैं और सभी उपनिषदों का यही उद्देश्य निर्धारित करते हैं। "अहं ब्रह्मा स्मीति ब्रह्मात्मतत्त्वमवगम्य निवृत्ताज्ञानतत्कार्यो वीतशोको भवति"[१२६] अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ - इस प्रकार ब्रह्मात्मतत्त्व का साक्षात्कार कर वह अज्ञान और उसके कार्य की निवृत्ति हो जाने के कारण शोक रहित हो जाता है। "तद्विज्ञाननादमृतत्वम्"[१२७] अर्थात् उसके ज्ञान से अमृतत्व प्राप्त होता है। यही निःश्रेयस है। "आत्मज्ञानस्य तु केवलस्य निःश्रेयसहेतुत्वं भेदप्रत्ययनिवर्तकत्वेन केवल्यफलावसानत्वात्"[१२८] अर्थात् केवल आत्मज्ञान ही निःश्रेयस का हेतु है क्योंकि भेद-प्रतीति का निवर्तक होने के कारण केवल्य की प्राप्ति ही उसकी अवधि है।

इससे स्पष्ट है कि शंकर मुक्ति को नानात्वरहित ब्रह्मात्मैक्य बोध ही मानते हैं। इसका उल्लेख उन्होंने पग-पग पर अगणित बार किया है। इस अवस्था में ज्ञानी कर्म

करता रहे तो वह उनसे लिप्त नहीं होता। "यावज्जीवं यथा कायं पुण्य-पापादिंक कुर्वत्यपि विदुधि न कर्मलेषो भवति विद्यासामर्थ्यात्"[१२९] अर्थात् विद्वान् स्वेच्छा से जीवन-पर्यन्त पुण्यपापादि कर्म करता रहे, तो भी ज्ञान के सामर्थ्य से उन कर्मों का लेष नहीं होता है।[१३०]

आत्मवेत्ता मुक्त पुरुष का अतिक्रमण कर जाता है। वह पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। वह आप्तकाय और पूर्णकाय होता है। वह पापशून्य हो जाता है। वह सम्पूर्ण लोकों और समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है।[१३१] इसकी अविद्या आदि संसार के बीज का विशरण हो जाता है।[१३२] वह मृत्यु के मुख से छुटकारा पा जाता है। मुक्त पुरुष का उत्कर्ष और अपकर्ष नहीं होता।[१३३] वह आकाश के समान सर्वव्यापक हो जाता है।[१३४]

साधन की दृष्टि से शंकर ने मुक्ति दो प्रकार की मानी है - सद्यः और क्रमिक। आत्मज्ञान से इसी जीवन में तत्काल मुक्ति हो जाती है, अतः इसे सद्यः मुक्ति कहते हैं। उपासना से क्रमशः उच्च लोकों की प्राप्ति होती है और अन्त में ब्रह्मलोक में ब्रह्मा के मुख से ज्ञान सुन कर जो मुक्ति होती है, वह क्रमिक मुक्ति कही जाती है। ज्ञान का विषय परब्रह्म है और उपासना का विषय अपर ब्रह्म है। "परं चेज्ज्ञातव्यमपरं चेत्प्राप्तव्यम्"[१३५] अर्थात् यदि परब्रह्म हो, तो वह केवल जाना जा सकता है और यदि अपर ब्रह्म हो, तो उसे प्राप्त किया जा सकता है।

उपनिषदों में ज्ञान और उपासना दोनों मार्गों का वर्णन है। शंकर ने उन दोनों का समर्थन और उन दोनों की व्याख्या की है। व्यक्तियों के अधिकार भेद से दोनों ही मार्ग अपना महत्व रखते हैं। जिस व्यक्ति का चित्त पर्याप्त शुद्ध नहीं है, वह आत्मा और ब्रह्म की एकता का विचार करने में समर्थ न होगा। वह निराश होकर यह न मान बैठे कि वह मुक्ति प्राप्त ही नहीं कर सकता। उसे उपासना पद्धति अपनानी चाहिए। अपर ब्रह्म की उपासना करते हुए वह अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है और सूक्ष्म अनुभवों के उच्च स्तर पर ऊपर उठा सकता है। इन्हीं स्तर को 'लोक' कहते हैं। "लोक शब्दश्च प्राणिनां भोगायतनेषु भाष्यते-मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोकः"[१३६] अर्थात् लोक शब्द प्राणियों के भोग स्थानों में कहा जाता है, जैसे, मनुष्यलोक, पितृलोक, देवलोक आदि।

शंकर के अनुसार ब्रह्मलोक प्राप्त करने की इच्छा वाले सब उपासक अर्चिरादि मार्ग से ही जाते हैं और उस लोक में दीर्घायु हिरण्यगर्भ (ब्रह्म) के अनन्त संवत्सर पर्यन्त रहते हैं।"[१३७] इसे देवसान मार्ग भी कहते हैं। इस मार्ग को प्राप्त कर प्राणी अग्निलोक को जाता है, अनन्तर वह वायुलोक में, वरुणलोक में, इन्द्रलोक में, प्रजापति लोक में और तब ब्रह्मलोक में पहुँचता है।"[१३८] इन लोकों के अधिष्ठातृ

देवता उपासक को अपने से उच्चलोक में पहुँचा देते हैं। "चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति"[१३९] अर्थात् वे उपासक चन्द्रलोक से विद्युत को प्राप्त होते हैं, वहाँ से वह अमानव पुरुष इन्हें सत्यलोक के ब्रह्म को प्राप्त करा देते हैं। इन उपासकों को मार्ग में मिलने वाले लोकों का सुख अनुभव नहीं होता है किन्तु उन लोकों में वास करने वाले प्राणियों को उनका सुख अनुभव होता है। कारण यह है कि उन लोकों से होकर गुजरने वाले उपासकों की इन्द्रियाँ मन में लीन होकर एकीभूत रहती हैं। "सपिण्डित करणत्वादेव गन्तॄणां न तत्रोपभोग संभवः"[१४०] अर्थात् इन्द्रियाँ एकीभूत होने के कारण जाने वाले उपासकों को वहाँ भोग प्राप्त होना संभव नहीं है।

यह मार्ग अपुनरावर्ती है। इन मार्ग से ब्रह्मलोक पहुँचने वाला उपासक निम्न लोकों में नहीं लौटता है। "इत्थं क्रममुक्तिरनावृत्त्यादिश्रुत्यभिक्षामेभ्योऽभ्युपगन्तव्या"[१४१] अर्थात् इस प्रकार क्रम मुक्ति अनावृत्ति आदि श्रुति वचनों से स्वीकार करनी चाहिए। महाप्रलय प्राप्त होने पर हिरण्यगर्भ का अन्त होने पर ब्रह्मलोकवासी वे सब सत्त्वदर्शी ब्रह्म के साथ परब्रह्म को प्राप्त होते हैं।[१४२]

उत्तम अधिकारी को मुक्ति तत्काल प्राप्त हो सकती है। वह महावाक्य सुनते ही अपने सत् स्वरूप का अनुभव कर मुक्त हो जाता है। इस प्रकार प्राप्त होने वाली मुक्ति "सद्यः" कहलाती है। "कर्माभावे गमनकारण अभावात् प्राणा वागादयो नात्क्रमन्ति"[१४३] अर्थात् कर्मो का अभाव हो जाने के कारण गमन का कोई कारण न रहने से उसके वागादि प्राण उत्क्रमण नहीं करते। इसी क्रम में शंकर कहते हैं कि वह विद्वान् यहीं ब्रह्म हो जाता है। यद्यपि वह देहावान सा दिखाई देता है किन्तु वह ब्रह्म को जान कर ब्रह्म ही हो जाता है। कामनायें ही जीव को ब्रह्म से पृथक् करती हैं। उनके नष्ट होने से भेद का कोई कारण नहीं है।

मुक्त पुरुष का पुनर्जन्म या शरीर त्याग कर कहीं गमन नहीं होता "न हि विदुषी मृतस्य भावान्तरापत्तिः"[१४४] अर्थात् मरे हुए विद्वान को भावान्तर की प्राप्ति नहीं होती। वह अपने सत् स्वरूप में स्थित होकर आकाश के समान पूर्णत्व और अनन्तत्व अनुभव करता है। मरण के समय वाणी की वृत्ति मन में लय हो जाती है, मन की वृत्ति प्राण में, प्राण की तेज में और तेज पर देवता अर्थात् परमात्मा में लीन हो जाता है।[१४५] इन सबके लय हो जाने के कारण उत्क्रमण का प्रश्न नहीं रहता है और न जन्मान्तर की प्राप्ति होती है। भूतोपादानाद्देहान्तरीत्पत्तिः"[१४६] अर्थात् भूतोपादान से ही अन्य देह की उत्पत्ति है। मुक्त पुरुष के यह भूतोपादान ही लय हो जाते हैं। अतः जन्मान्तर प्राप्त करने का साधन ही नहीं रह जाता है।

सद्यः मुक्ति के दो रूप हो सकते हैं - जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति। प्रथम

प्रकार की मुक्ति शरीर रहते ही प्राप्त हो जाती है किन्तु दूसरी मुक्ति नष्ट होने पर सिद्ध होती है। आत्मज्ञान प्राप्त होने के पूर्व किये हुए कर्म अनारब्ध या आरब्ध दो प्रकार के होते है। ज्ञान से ब्रह्मत्मैक्य का बोध होता है और उससे अनारब्ध कर्म नष्ट होकर प्रारब्ध कर्मों से शरीर चलता रहता है। वह अपन अकर्त्ता स्वरूप का अनुभव करता हुआ उसी में स्थित रहता है। प्रारब्ध से उद्दिष्ट शरीर आदि वैसे ही चलते रहते हैं जैसे कुलातचक्र प्रतिबन्ध के सम्भव न होने से वेगक्षय की प्रतीक्षा करता है।[१४७] बाधित हुआ भी मिथ्या ज्ञान दो चन्द्रज्ञान के समान संस्कार के बल से कुछ समय तक अनुवर्तित होता ही है।[१४८] शरीर या पंचभूतों में विखण्डन होने और वाणी-मन आदि का परदेवता में लय होने पर विदेह मुक्ति हो जाती है।

इस प्रकार शंकर जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति दोनों स्वीकार करते हैं किन्तु मुक्ति और अमुक्ति की प्राकल्पना व्यावहारिक जीवन में ही है, परमार्थ में नहीं। "न हि वस्तुतो मुक्तामुक्तत्वविशेषोऽस्ति आत्मने नित्यैकरूपत्वात्"[१४९] अर्थात् वस्तुतः (परमार्थतः) मुक्तत्व और अमुक्तत्व में कोई भेद नहीं है क्योंकि आत्मा सदा एकरूप ही है।

जीवनमुक्ति के विषय में उत्तरवेदान्तियों ने विस्तृत विचार कर विभिन्न मत प्रतिपादित किये हैं। श्री अप्पयदीक्षित सिद्धान्तलेशसंग्रह में ऐसे अनेक सिद्धान्त उद्धृत करते हैं। उनके अनुसार जीवनमुक्त पुरुष में भी अविद्यालेश रहता है और उससे देहादि प्रतिभास होता है। ज्ञान के आवरण के नष्ट होने पर भी प्रारब्धकर्म से जो अज्ञान का विक्षेपांश अनुवृत होता है, वही अविद्या का लेश है और उसी से जीवन है।[१५०] दूसरा मत है कि अज्ञान नष्ट होने पर भी अज्ञान की कुछ वासना वैसे ही शेष रहती है जैसे हींग का पात्र धो देने पर भी हींग की गन्ध आती है।[१५१] सर्वज्ञात्ममुनि के मत से ब्रह्मज्ञान उदित होने पर अज्ञान शेष नहीं रह सकता और उसके बिना जीवन भी सम्भव नहीं है। अतः जीवनमुक्ति का प्रत्यय अर्थवाद मात्र है।[१५२] तात्पर्य यह है कि उनकी दृष्टि से केवल विदेह मुक्ति सम्भव है। इस मत का समर्थन मण्डन भी करते हैं। उनका तर्क इस प्रकार से है - "विद्यया त्वविद्योच्छेदे कर्मविपाकव्यवहारीच्छित्तावविशेषात् सर्वोच्छेद इति सपाद्येव मुच्यते"[१५३] अर्थात् विद्या से अविद्या का उच्छेद हो जाता है और उससे कर्मविपाक का व्यवहार उच्छिन्न हो जाता है। इस प्रकार सर्वोच्छेद हो जाने से तत्काल मुक्ति हो जाती है। किन्तु यह मण्डन का एक मत है। इसके अतिरिक्त वे यह भी कहते हैं - "न च ब्रमः ब्रह्मवेदनान्तर एव देहवियोगः किं तु आरब्धकार्य कर्मक्षयं भागेन प्रतीक्षत इति"[१५४] अर्थात् मैं यह नहीं कहता कि ब्रह्मज्ञान होते ही अविलम्ब देहवियोग हो जाता है, किन्तु आरब्ध से प्रेरित कर्म का भोग से क्षय होने तक प्रतीक्षा होती है। मण्डन इस मत पर अधिक बल देते हैं और शंकर मत से दूर नहीं हैं। सर्वज्ञात्म और मण्डन के प्रथम मत से शंकर का

विरोध हो सकता है। उस विरोध का कारण छन्दोग्य उपनिषद् के एक वाक्य की दो भिन्न प्रकार से व्याख्या की सम्भावना है। वह वाक्य इस प्रकार है - "आचार्यवान्यपुरुषों वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति"[१५५] अर्थात् आचार्यवान पुरुष ही सत् को जानता है। उसके लिए मोक्ष पाने में उतना ही विलम्ब है, जब तक कि वह देहबन्धन से मुक्त नहीं होता। उसके पश्चात् तो वह सत्सम्पन्न हो जाता है।

सर्वज्ञात्म के अनुसार इसका अर्थ यह हो सकता है कि सत् को जानने वाला भी तभी मुक्त होता है, जब वह देहबन्धन से मुक्त हो जाता है। इसलिए जीवनमुक्ति नहीं होती है, केवल विदेहमुक्ति होती है। मण्डन के एक मत के अनुसार सत् का ज्ञान होते ही देह बंधन छूट जाता है, उसमें विलम्ब नहीं लगता है। जैसे, व्यवहार में कहा जाता है कि मुझे नहाने-खाने भर की देर है। "तावदेव"[१५६] पद क्षिप्रता का वाचक है। ज्ञान होते ही शीघ्र देह से वियोग हो जाता है और जीवन मुक्ति सम्भव नहीं है। जहाँ कहीं जीवन मुक्त के लक्षण हैं, वे साधक के हैं सिद्ध के नहीं। गीता का स्थितप्रज्ञ साधक ही है। "स्थित-प्रज्ञस्तावन्न विगलितनिखिलाविद्यः सिद्धः किंतु साधक एवं अवस्थाविशेषं"[१५७] अर्थात् स्थितप्रज्ञ समस्त अविद्या से मुक्त सिद्ध पुरुष नहीं है वरन् वह साधक की ही एक अवस्था विशेष है।

भामती और कल्पतरुकारों ने इस मत का खण्डन किया है। वाचस्पति कहते हैं - "स्थितप्रज्ञश्च न साधकः तस्योत्तरध्यानोत्कर्षण पूर्वप्रत्ययानवस्थितत्वात् तिरतिशयस्तु स्थितप्रज्ञः स च सिद्ध एव"[१५८] अर्थात् स्थितप्रज्ञ साधक नहीं है। उसके उत्तरोत्तर ध्यानोत्कर्ष से पूर्व प्रत्यय नष्ट हो जाते हैं और जब निरतिशय स्थिति प्राप्त होती है तो वही स्थितप्रज्ञ है। अतः यह सिद्ध अवस्था है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मज्ञान के उपरान्त जीवन रह सकता है और वह सिद्ध ज्ञानी ही जीवनमुक्त है।

शंकर उपर्युक्त श्रुतिवाक्य पर भाष्य लिखते हुए जीवन-मुक्ति का समर्थन करते हैं। वे कहते हैं "ब्रह्मवेत्ता को जीवनादि का प्रयोजन न होने पर भी प्रवृत्तफल कर्मों का फलोपभोग अवश्य होता है, इसलिए छोड़े हुए बाण के समान उसे तभी तक विलम्ब है, जब तक कि वह देहबन्धन से नहीं छूटता। ऐसा कहना ठीक ही है"[१५६] अतः स्पष्ट है कि शंकर ब्रह्मज्ञान, जीवनमुक्ति, इस अवस्था में प्रारब्ध कर्मों से उपरामता और विदेहमुक्ति स्वीकार करते है। उनका यह मत ठीक ही है, क्योंकि अद्वैतवेदान्त में गुरु-शिष्य परम्परा से तत्त्व-ज्ञान का आरोहण माना गया है, जैसा उपर्युक्त श्रुति वाक्य में भी कहा है - "आचार्यवान् पुरुषो वेद"। यह क्रम तभी सम्भव है, जब ब्रह्मज्ञान होने के उपरान्त भी कुछ काल जीवन सम्भव हो और वह अपने शिष्यों को ज्ञान दे सके। ज्ञान होते ही शरीर त्याग हो जाने पर यह सम्भव न होगा। मण्डन मिश्र का दूसरा मत भी जीवनमुक्ति का समर्थन करता है, अतः वही अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

विद्यारण्य स्वामी क्रममुक्ति और जीवनमुक्ति का भेद स्वीकार करते हैं। क्रममुक्ति उपासना से प्राप्त होती है और वह ब्रह्मलोक ले जाया जाता है।[१६०] जो व्यक्ति विचार करने में सक्षम है, वह ब्रह्मविद्या के अभ्यास से इसी जीवन में मुक्त हो जाता है। "जीवन्नेव भवेन्मुक्तौ वपुरस्तु यथा तथा।"[१६१] अर्थात् वह जीवन में ही मुक्त हो जाता है और उसका शरीर तो जैसे-तैसे रहता है। वह अपने आपको शुद्ध आत्मरूप से अनुभव करता है। यद्यपि वह इन्द्रियों से जगत् को देखता है किन्तु उसे जगत् से कोई बाधा नहीं होती।[१६२] पूर्व अभ्यास से जीवनमुक्ति का व्यवहार चलता है और प्रारब्ध कर्म के क्षीण होने पर वह भी निवृत्त हो जाता है।[१६३]

वेदान्तपरिभाषाकार भी क्रमिक और सद्यः मुक्ति का भेद मानते हैं। सगुणोपासक अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्मलोक जाते हैं और उन्हें वहीं पर श्रवणादि द्वारा तत्त्वसाक्षात्कार होता है और वे ब्रह्मदेव के साथ मोक्ष पाते हैं।[१६४] जिसे निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार है, वह किसी अन्य लोक में नहीं जाता। प्रारब्ध कर्म के क्षय होने पर वह ब्रह्म से मिलकर एक हो जाता है। उन्होंने "तस्य तावदेव चिर" वाक्य का यही अर्थ माना है कि ज्ञान से आरब्ध कर्मों को छोड़कर समस्त सन्चित कर्मों का नाश हो जाता है। आरब्ध कर्मो के क्षय होने पर देहपात हो जाता है।[१६५]

क्रमिक और जीवनमुक्ति का भेद साधनकाल में ही है, मुक्ति का कारण ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान है। क्रमिक मुक्ति में यह ज्ञान ब्रह्मलोक में ब्रह्मा से प्राप्त होता है, तब मुक्ति होती है। जीवन-मुक्ति में यह ज्ञान आचार्य से प्राप्त होता है और यहीं मुक्ति प्राप्त हो जाती है। मुक्ति की अवस्था में जीवन का ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त होना अद्वैतवेदान्त में सर्वमान्य है। यह समस्त भेदशून्य अवस्था है। इसमें प्रकार-भेद की कल्पना नहीं की जा सकती। आचार्यो ने साधन और शरीर-सापेक्ष अवस्थाओं को ध्यान में रख कर मतभेद उठाये हैं।

## (ड) शंकर-वेदान्त में आचारशास्त्र का स्थान

इस तथ्य पर ध्यान न रख कर कुछ विदेशी विद्वानों से अद्वैतवेदान्त में अनैतिक आचरण की सम्भावना सिद्ध करने का प्रयास किया है। उसका निराकरण भी डॉ० राधाकृष्णन आदि अनेक विद्वानों ने किया है।[१६६] अतः हम उसके विस्तार पर न जाकर उसका संक्षेप में ही उल्लेख करेंगे।

प्रो० हॉग का यह आक्षेप है कि यदि ब्रह्म ही सत् है और जगत् का नानात्व छाया मात्र है, तो शुभ और अशुभ का कोई भेद नहीं हो सकता है। यदि जगत् छाया है तो पाप छाया से भी कम है। फिर भला मनुष्य को पाप से बचने का प्रयास क्यों करना चाहिए? यदि नैतिकता सार्थक है तो जीवन भी सत्य है; यदि जीवन असत् है तो नैतिकता का कोई प्रयोजन नहीं है।[१६७]

इस आक्षेप का निराकरण करने के लिए डॉ० राधाकृष्णन् शंकर के वचन उद्धृत करते हैं, जहाँ कहा गया है कि देह के सम्बन्ध से ही ज्योति आदि के समान विधि और निषेध है। जैसे, ज्योति एक होने पर भी श्मशान की अग्नि का परिहार किया जाता है, अन्य का नहीं। अथवा जैसे एक सूर्य का भी अपवित्र देश में त्याज्य होता है, अन्य पवित्र भूमिस्थ प्रकार का त्याग नहीं होता। वज्र, वैदूर्य आदि पदार्थ जिस भूमि से उत्पन्न होते है, उसी से उत्पन्न नरकंकाल आदि अस्पर्श्य होते हैं।[१६८] देह सम्बन्ध अज्ञान अवस्था में देखा जाता है और उसी अवस्था में विधि निषेध भी सार्थक है। इस कारण अविद्या निमित्त देह आदि के सम्बन्ध से किये गये भेद से एकात्मत्व स्वीकार करने पर भी विधि और प्रतिषेध हो सकते हैं।[१६६]

शरीर आदि उपाधियों से मुक्त अपने आपको निर्विकार, निष्क्रिय आत्मा देखने वाला समस्त नानात्व से परे है। वह न कर्म में प्रवृत्त होता है और न शुभाशुभ देखता है। वह कृतार्थ होने से नियोज्य नहीं हो सकता, अतः उसके विषय में हेय और उपादेय का भी प्रश्न नहीं उठता है। आत्मा अपने में ही नियोज्य नहीं होता है।

यही समाधान, प्रो० ह्यूम के इस आक्षेप का भी हो सकता है कि ब्रह्मज्ञानी वह जघन्य पाप कर सकता है जो अज्ञानी व्यक्ति के लिए घातक सिद्ध होते हैं, अतः अद्वैतदर्शन ज्ञानी को अनैतिक आचरण करने का अवसर देता है। प्रो० ह्यूम यह भूल जाते हैं कि आत्मज्ञान में स्थिर रहने वाला व्यक्ति न कर्म में प्रवृत्त हो सकता है और न प्रवृत्त होने की उसे कोई आवश्यकता है। अतः वह पाप कर्म करेगा ही नहीं। "यदि उसके शरीर आदि कर्म में प्रवृत्त होते हैं तो ज्ञानी पुरुषा ऐसा अनुताप नहीं करता कि मैंने अमुक कार्य किया है, उससे मुझे नरक में जाना पड़ेगा। ऐसा व्यक्ति सब प्राणियों को मार कर भी वास्तव में उन्हें नहीं मारता है और उस पाप से नहीं बँधता है"[१७०] इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वेदान्त में नैतिकता का कोई स्थान नहीं है। शंकर कहते हैं, "लौकिक पार-मार्थिक दृष्ट्यपेक्षया तदुपपत्तेः"[१७१] अर्थात् लौकिक (व्यावहारिक) और पारमार्थिक इन दो दृष्टियों की अपेक्षा से ऐसा कहना बन सकता है। शरीर आदि में आत्मबुद्धि करके व्यक्ति मानता है कि मैं मारने वाला हूँ और पारमार्थिक दृष्टि का आश्रय लेकर वह अनुभव करता है कि मैं न मारता हूँ और न बँधता हूँ। आत्मा न अकेली कर्म करती है और न शरीर आदि के साथ सम्मिलित होकर कार्य करता है। विकारवान वस्तु का ही अन्य पदार्थों के साथ संघात हो सकता है और विकारी पदार्थ ही संहत होकर कर्ता बन सकता है। आत्मा निर्विकार है। अतः आत्मभाव में स्थित व्यक्ति के लिए कर्म नहीं है।

प्रो० ह्यूम की दूसरी आपत्ति यह है कि ब्रह्मवाद में यह अधिक सम्भावना रहती है कि मनुष्य उसे गलत समझ जाय और व्यवहार में उसका दुरुपयोग हो। विरोचन एक ऐसा ही दृष्टान्त है। वह शरीर को ही आत्मा मान कर प्रजापति की शिक्षा का

जीवन में अनुचित प्रयोग करता है।[१७२] ह्यूम की इस आपत्ति में कोई बल नहीं है। यदि कोई वेदान्त को यथार्थ रूप में नहीं समझ पाता है और उसका दुरुपयोग करके हानि उठाता है तो यह वेदान्त का दोष नहीं है, वरन् उसका दुरुपयोग करने वाले व्यक्ति का दोष है। उदाहरण के लिए विद्युतशक्ति जीवन में अनेक प्रकार से उपयोगी है, किन्तु यदि कोई उसके नियम न जान कर उसका दुरुपयोग करे तो वह अपना जीवन ही नष्ट कर सकता है। यहाँ दोष विद्युत का नहीं, वरन् व्यक्ति की मूढ़ता का है।

डॉ० अर्कहार्ट ने अपने ग्रन्थ "सर्वेश्वरवाद और जीवन का मूल्य"[१७३] में वेदान्त के आचारदर्शन पर सबसे प्रबल आक्रमण किया है, किन्तु उनकी दृष्टि निश्चय ही द्वेष और भ्रान्ति से प्रच्छन्न है। उनके विचार से जीवन के समस्त सामान्य क्षेत्र को ध्यान में रख कर वेदान्त-सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया गया है। उसमें बुद्धिवाद के आधार पर भेदातीत ब्रह्म को ही एक मात्र सत् माना गया है और जगत् को मायिक तथा असत् कहा गया है। अतः ब्रह्मवाद में समस्त भेद निरस्त हो जाने के कारण शुभाशुभ का भेद भी निरस्त हो गया और आचारशास्त्र का आधार ही नष्ट हो गया।

इसके अतिरिक्त वेदान्त में वैयक्तिक अहं को मिथ्या बता कर नैतिक निर्गम का आश्रय ही समाप्त कर दिया गया है। अज्ञान की अवस्था में वह कर्मसिद्धान्त के अधीन अवश्य है किन्तु वह प्रारब्ध के वश में है। वह स्वतंत्रकर्ता नहीं है। कर्म-स्वातन्त्र्य न रहने पर मनुष्य नैतिक दायित्व स्वीकार नहीं कर सकता है।

इस प्रकार के आक्षेपों का कारण शंकर की व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टि को ध्यान में न रखना ही हो सकता है। पारमार्थिक दृष्टि से एक अद्वितीय ब्रह्म की ही सत्ता है, उसके अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है। ऐसा ज्ञान रखने वाला व्यक्ति न कर्ता है और न भोक्ता। अब उसे यम-नियम रूप साधनों की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उन साधनों से जिस साध्य को प्राप्त करना था, उसे ज्ञानी व्यक्ति ने प्राप्त कर लिया है। साध्य प्राप्त करने पर साधनों का कोई मूल्य नहीं रहता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि यदि किसी एक ज्ञानी व्यक्ति को विधि-निषेध से प्रयोजन नहीं तो समस्त संसार के लिए ही उनकी उपयोगिता समाप्त हो गयी। जगत् के शेष मनुष्य व्यावहारिक जीवन जीते हैं, उनके लिए शंकर नैतिक नियमों का पालन अनिवार्य मानते हैं। स्वप्न में सोते हुए व्यक्ति के लिए स्वप्न के सुख-दुःख यथार्थ हैं। वह स्वप्न के नियमों की उपेक्षा नहीं कर सकता। जाग्रत मनुष्य के लिए स्वप्न मिथ्या है और स्वप्न में किये हुए अपराधों के लिए वह दण्डित नहीं किया जा सकता, क्योंकि स्वप्न राज्य के सिपाही और कानून जाग्रत में प्रवेश नहीं कर सकते।

मनुष्य का व्यक्तित्व भी व्यवहार में सत्य प्रतीत होता है और वह अपने को

कर्त्ता भोक्ता अनुभव करता है। ऐसी अवस्था में वह धर्म की उपेक्षा कर दण्ड का भागी होता है। इस अवस्था में वेदान्त प्रारब्ध का बन्धन अवश्य मानता है किन्तु कर्मस्वातन्त्र्य अस्वीकार नहीं करता। कर्म की स्वतंत्रता न होने पर शास्त्र, उपदेश आदि निरर्थक हैं, जैसे पशुओं के लिए। मनुष्य पशुओं की भाँति पूर्णतः प्रारब्ध के बन्धन में नहीं है। उसे कर्म करने, न करने अथवा अन्यथा करने की कुछ स्वतंत्रता अवश्य है।

व्यक्तित्व का मिथ्यात्व परमार्थदृष्टि से ही है। व्यवहार में व्यक्तित्व मिथ्या नहीं है। यदि ज्ञान की अवस्था में सर्वात्म भाव की प्राप्ति हो तो उसका विरोधी एक शरीर का अहं नहीं रह सकता। ज्ञान की दशा में वैयक्तिक अहं का न रहना और नैतिक नियमों के बन्धन से छूट जाना ही उचित है, क्योंकि उसके बिना मुक्ति की अवधारणा सिद्ध नहीं होती। ईसाई दर्शन में मुक्ति की अपेक्षा नैतिकता का अधिक महत्व हो सकता है, किन्तु अद्वैतवेदान्त नैतिकता को साधन मात्र मानता है, साध्य तो मुक्ति ही है। वही जीवन की पूर्णावस्था है। उस अवस्था में अनन्तता, पूर्णता और तृप्ति का शाश्वत सुख हो सकता है।

## संदर्भ-सूची


१. भगवद्गीता २.६६, पृ० ७०।
२. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. १.१.४, पृ० ६४।
३. भगवद्गीता १६.२४, पृ० ३६१।
४. वही, १६.२३।
५. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. १.१.४, पृ० ५६।
६. वहीं,
७. वहीं,
८. वहीं,
९. वहीं, पृ० ५७।
१०. भगवद्गीता १४.१६, पृ० ३५७।
११. भगवद्गीता, शां.भा. १४.१६, पृष्ठ ३५७।
१२. वहीं, प्रस्तावना, पृष्ठ १५।
१३. वहीं, ४-१३, पृष्ठ ११२।
१४. भगवद्गीता, शां.भा. ४.१३, पृष्ठ ११२।
१५. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., ३.४.२०, पृष्ठ ७६१।
१६. वहीं, पृष्ठ ७६२।

१७. वहीं, पृष्ठ ७६१।
१८. भगवद्गीता १६.१ से ३।
१९. भगवद्गीता, शा.भा. १८.५, पृष्ठ ६।
२०. वही, ३.६, पृष्ठ ८६।
२१. वही, प्रस्तावना, पृष्ठ १५।
२२. भगवद्गीता, ५.११।
२३. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. १.१.१।
२४. वही, पृष्ठ २७।
२५. वही, पृष्ठ २६।
२६. विवेक-चूड़ामणि, १८ से ३२।
२७. बृहदारण्यक उपनिषद् २.४.५, पृष्ठ ५४६।
२८. वही, शां.भा.२.४.५, पृष्ठ ५५१।
२९. विवेक-चूड़ामणि, ३३, पृष्ठ १५।
३०. वही, ३६।
३१. वही, ४७।
३२. बृहदारण्यक उपनिषद्, शां.भा. २.४.५, पृष्ठ ५५१।
३३. वहीं, पृष्ठ ३६।
३४. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. १.१,४, पृष्ठ ७७।
३५. वही, ४.१.१, पृष्ठ ७६३।
३६. वही, ४.१.१, पृष्ठ ७६२।
३७. ब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ ३५।
३८. वहीं, पृष्ठ ३५।
३९. वहीं, पृष्ठ १३४।
४०. वहीं, पृष्ठ १३४।
४१. वहीं, पृष्ठ १५४।
४२. भामती पर कल्पतरु, पृष्ठ २१८।
४३. नैष्कर्म्य-सिद्धि, पृष्ठ १४६।
४४. वही, १.५२, पृष्ठ- ३२।
४५. वृहदारण्यकवार्तिकसार, १.२०६, पृष्ठ ३१६।
४६. नैष्कर्म्यसिद्धि, १.६७, पृष्ठ ३८।
४७. पञ्चदशी, ७.६६।
४८. वहीं, ७.७६।

४६. वहीं, ७.६७।
५०. वहीं, ७.२६४-६५, पृष्ठ ३३५।
५१. गीतारहस्य, लोकमान बालगंगाधर तिलक, पृष्ठ १६।
५२. वहीं, पृष्ठ २७।
५३. ब्रह्मसिद्धि, प्रस्तावना, पृष्ठ ३०।
५४. भगवद्गीता, शां.भा. १८.६७, पृष्ठ ४६०।
५५. वहीं,
५६. ब्रह्मसूत्र शां.भा. १.१.४, पृष्ठ ६४-६५।
५७. भगवद्गीता, शां.भा. १८.६७, पृष्ठ ४६१।
५८. ईश उपनिषद्, शां.भा. १८, पृष्ठ ५६।
५६. वहीं,
६०. वही, पृष्ठ ६०।
६१. केन उपनिषद्, शां.भा. प्रस्तावना, पृष्ठ २२।
६२. भगवद्गीता, शां.भा. १८.६७, पृष्ठ ४६०।
६३. वही, पृष्ठ ४६१।
६४. श्वेताश्वतर उपनिषद् ३.८।
६५. भगवद्गीता, शां.भा. प्रस्तावना, पृष्ठ १५।
६६. वृहदारण्यकोपनिषद्, शां.भा. ४.४, पृष्ठ ११०१।
६७. वहीं, पृष्ठ ११०५।
६८. ब्रह्मसिद्धि, ब्रह्मकाण्ड, पृष्ठ २६।
६६. वहीं, पृष्ठ २७।
७०. वहीं, पृष्ठ २८।
७१. ब्रह्मसूत्र, ३.४.३६।
७२. ब्रह्मसिद्धि, ब्रह्मकाण्ड, पृष्ठ ३७।
७३. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., ३.४.२६, पृष्ठ ७६७।
७४. नैष्कर्म्यसिद्धि, प्रथम अध्याय, पृष्ठ ३०।
७५. वहीं, पृष्ठ ३०।
७६. वहीं, चतुर्थ अध्याय, पृष्ठ २०३।
७७. वहीं, पृष्ठ २०३।
७८. विवेक-चूड़ामणि।
७६. छान्दोग्य उपनिषद् ३.१४.१।
८०. वृहदारण्यक उपनिषद्, ४.२.४।

८१. छान्दोग्य उपनिषद्, ६.१.४, पृष्ठ ५७७।
८२. गौड़पादकारिका, अलातशान्तप्रकरण, ५७।
८३. तैत्तिरीय उपनिषद्, शां.भा. २.६, पृष्ठ १७१।
८४. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. २.१.१४, पृष्ठ ३६५।
८५. तैत्तिरीय उपनिषद्, शां.भा. २.६।
८६. वहीं।
८७. गौडपादकारिका, शां.भा. १.६।
८८. भगवद्गीता, शां.भा. ९.४।
८९. विमुक्तात्मा, इष्टसिद्धि, प्रस्तावना, पृष्ठ ३०।
९०. भगवद्गीता, शां.भा., उपोद्घात, पृष्ठ १३।
९१. वही, पृष्ठ १५।
९२. वहीं
९३. वही, पृष्ठ १५।
९४. वही, १४.१८, पृष्ठ ३५८।
९५. वही
९६. वहीं, अध्याय १६ भूमिका, पृष्ठ ३८०।
९७. भगवद्गीता, ९.१२, पृष्ठ २३३।
९८. वहीं, पृष्ठ २३४।
९९. वहीं, १६.२४, पृष्ठ ३९१।
१००. वहीं, १६.२३, पृष्ठ ३९१।
१०१. वहीं, शां.भा. ३.११, पृष्ठ ८६।
१०२. वहीं, शां.भा. ३.१२, पृष्ठ ९०।
१०३. छान्दोग्य उपनिषद् शां.भा. ८.६, पृष्ठ ८१९।
१०४. भगवद्गीता, ९.२१, पृष्ठ २३८, वही, शां.भा. ५.२२, पृष्ठ १६२।
१०५. छान्दोग्य उपनिषद्, शां.भा. ८.६, पृष्ठ ८१९।
१०६. भगवद्गीता, शां.भा. ३.३९, पृष्ठ १०३।
१०७. वही, पृष्ठ १०४।
१०८. वहीं, ५.२२, पृष्ठ १६२।
१०९. वहीं, २.४४, पृष्ठ ५८।
११०. कठोपनिषद् १.२.२, पृष्ठ ६२।
१११. वहीं, शां.भा. १.२.१, पृष्ठ ६१।
११२. वहीं, १.२.२, पृष्ठ ६३।
११३. वहीं, १.२.१, पृष्ठ ६१।

११४. केन उपनिषद् २.५, पृष्ठ ११२।
११५. वहीं, १.४।
११६. ईशावास्य उपनिषद् ७।
११७. छान्दोग्य उपनिषद् ७.१.३।
११८. कठोपनिषद्, १.३.१५।
११६. वहीं, २.३.१७।
१२०. वृहदारण्यक उपनिषद् ४.४.१४।
१२१. मुण्डक उपनिषद्, ३.२.६।
१२२. भगवद्गीता, ६.२२, पृष्ठ १८४।
१२३. वहीं, ६.२३।
१२४. गौडपादकारिका, अलातशान्ति, ६२।
१२५. वहीं, आगम, २२।
१२६. श्वेताश्वर उपनिषद्, सम्बन्धभाष्य, पृष्ठ १५।
१२७. वहीं, पृष्ठ १५।
१२८. भगवद्गीता, शां.भा., १८.६६, पृष्ठ ४६०।
१२६. श्वेताश्वर उपनिषद्, शां.भा., सम्बन्धभाष्य, पृष्ठ ३५।
१३०. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., ३.४.१।
१३१. कठोपनिषद्, शां.भा., सम्बन्धभाष्य, पृष्ठ १३।
१३२. वही,
१३३. वहीं, १.२, पृष्ठ ८०।
१३४. वहीं, १.२.१८, पृष्ठ ८६।
१३५. वहीं, १.२.१६, पृष्ठ ८६।
१३६. ब्रह्मसूत्र शां.भा. ४.३.३, पृष्ठ ८५०।
१३७. वहीं, ४.३.१, पृष्ठ ८४६।
१३८. वहीं, ४.३.२, पृष्ठ ८४७।
१३६. छान्दोग्य उपनिषद्, ४.१५.५।
१४०. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., ४.३.६, पृष्ठ ८५२।
१४१. वहीं, ४.३.१०, पृष्ठ ८५५।
१४२. वहीं, ४.३.११।
१४३. बृहदारण्यक उपनिषद्, शां.भा., ४.४.६, पृष्ठ १०५४।
१४४. वहीं,।
१४५. ब्रह्मसूत्र, शां.भा., १.२.१, पृष्ठ ८२३।
१४६. वहीं, ४.२.६, पृष्ठ ८६६।

१४७. वहीं, ४.१.१५, पृष्ठ ८१७।

१४८. वहीं, पृष्ठ ८१८।

१४६. बृहदारण्यक उपनिषद्, शां.भा. ४.४.६, पृष्ठ १०५६।

१५०. सिद्धान्तलेशसंग्रह, अप्पय दीक्षित, ४.२, पृष्ठ ५११।

१५१. वहीं, ४.३, पृष्ठ ५१२।

१५२. वहीं, ४.४, पृष्ठ ५१३।

१५३. ब्रह्मसिद्धि, मण्डन, पृष्ठ १३०।

१५४. वहीं, पृष्ठ १३०-३१।

१५५. छान्दोग्य उपनिषद्, ६.१४.२, पृष्ठ ६८६।

१५६. ब्रह्मसिद्धि, पृष्ठ १३०।

१५७. वहीं

१५८. भामती, पृष्ठ ६५६।

१५६. छान्दोग्य उपनिषद्, शां.भा. ६.१४.२, पृष्ठ ६६३।

१६०. पञ्चदशी, ६.१४४, पृष्ठ ४१२।

१६१. वहीं, १३.८२, पृष्ठ ५३०।

१६२. वहीं, ७.२७६, पृष्ठ ३४०।

१६३. वहीं, ७.२६३, पृष्ठ ३३४।

१६४. वेदान्तपरिभाषा, प्रयोजनपरिच्छेद, पृष्ठ ३६६।

१६५. वहीं, पृष्ठ ३७०।

१६६. इण्डियन फिलॉसफी, पार्ट द्वितीय, पृष्ठ ६२१

१६७. इण्डियन फिलॉसफी, भाग २ में उद्धृत प्रो० हॉग का लेख जो मद्रास क्रिश्चियन कालेज मैगजीन, वर्ष १६१६ में प्रकाशित हुआ।

१६८. ब्रह्मसूत्र, शां.भा.२.३.४८, पृष्ठ ५३१।

१६६. वहीं, पृष्ठ ५३०।

१७०. भगवद्गीता, शां.भा. १८।

१७१. वहीं, पृष्ठ ४१६।

१७२. एन आउटलाइन ऑफ दि फिलॉसफी ऑफ उपनिषद्, पृष्ठ ६१।

१७३. पैन्थीज्म एण्ड दि वेल्यू ऑफ लाईफ।

❑❑❑

## अध्याय-१०

# अशुभ की समस्या

अशुभ व्यावहारिक जीवन की एक ऐसी दुर्धर्ष समस्या है, जिस पर विचार किये बिना दार्शनिक चिन्तन पूर्ण नहीं होता। यदि कोई अत्यधिक आशावादी व्यक्ति अशुभ को स्वीकार न करे, तो भी, अधिकांश मनुष्यों के लिए अशुभ एक कठोर सत्य है। निराशावादी मनुष्यों को तो सर्वत्र अशुभ ही अशुभ दिखाई देता है। उन्हें समस्त जगत अशुभ का भण्डार प्रतीत होता है।

इन अशुभ की समस्या पर प्राचीनकाल से विचार होता चला आया है। कुछ लोगों के अशुभ का कारण और उसका रूप समझने का प्रयास किया तो कुछ ने उससे बचने के उपाय भी खोजे। जो लोग ईश्वर द्वारा जगत की रचना स्वीकार करते है उनके सामने यह समस्या आती है कि ईश्वर ने अशुभ की रचना क्यों की अथवा ऐसे जगत की रचना क्यों की जिसमें अशुभ स्थायी रूप से वास कर सकता है। यदि पीड़ा, कष्ट, भय, चिन्ता, पाप और दुःख निर्विकार आनन्दमय ईश्वर की रचना नही है तो इनकी उत्पत्ति कैसे हुई? यदि ये ईश्वर की रचनायें नही है तो क्या ईश्वर इनको नष्ट कर सकता है? यदि इन्हें नष्ट नहीं कर सकता है तो ईश्वर सर्वसमर्थ कैसे है?

अशुभ का विस्तार बहुत व्यापक है। पूर्व और पश्चिम के दार्शनिकों ने समस्त अशुभ पर अपनी दृष्टि डालने का प्रयास किया है और उसे समझने के लिए तीन वर्गो में बाँटा है। पश्चिमी दार्शनिकों ने जो तीन वर्ग सुझाये हैं, वे इस प्रकार हैं-(१) अतिभौतिक (मेटा-फजीकल) जैसे भूचाल, तूफान, सूखा, बाढ़ आदि (२) शारीरिक और मानसिक-जैसे पीड़ा, कष्ट, मृत्यु, दुःख आदि और (३) नैतिक, जैसे, पाप, कपट, दम्भ आदि। पैट्रिक के अनुसार इन सब में अनैतिकता का अशुभ सबसे अधिक अधम कोटि का है।

भारतीय दार्शनिकों ने अशुभ का विभाजन, आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक वर्गों मे किया है।[२] इन्हें तीन ताप या अनिष्ट भी कहते हैं। ताप या दुःख देने के कारण इन्हें "ताप" कहते हैं और कोई व्यक्ति इनकी कामना नहीं करता, इसलिए वे अनिष्ट कहलाते हैं। आध्यात्मिक अशुभ को दैहिक ताप भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत शारीरिक और मानसिक अशुभ आ जाते है। अनैतिकता के समस्त अशुभ

भी इसी वर्गो के अन्तर्गत मानने पड़ेगें, क्योंकि उनका कारण व्यक्ति स्वयं है। पश्चिम के अति-भौतिक अशुभ को भारत में दो वर्गों में बाँट लिया गया है-आधिदैविक और आधिभौतिक। भौतिक सृष्टि से उत्पन्न होने वाले अनिष्ट आधिभौतिक है और देवताओं के असन्तोष से होने वाले अनिष्ट आधिदैविक हैं। भूचाल, तूफान आदि आधिभौतिक अशुभ हैं और टिड्डी चूहों आदि से कृषि आदि को हानि होना आधिदैविक अशुभ है। अशुभों का कारण है। योगसूत्र में भी क्लेशों के अन्तर्गत अविद्या को स्वीकार किया गया है-

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः।।[२४]

अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। इनमें भी "अविद्या क्षेत्रम्"[१५] अर्थात् अविद्या वह भूमि है, जिसमें अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश के बीज उत्पन्न होता है।

योगभाष्य के अनुसार "दुखबहुलः संसारो हेयः प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिहनिम, हानोपायः सभ्यग्दर्शनम्"[१६] अर्थात संसार मे दुखः की अधिकता है। प्रधान और पुरुष का संयोग इस संसार का कारण है। यह हेय है। संयोग की निवृत्ति से संसार और दुःख की हानि हो जाती है। दुःख की हानि का उपाय सम्यक् दर्शन है।

इस प्रकार सांख्य और योग दोनों दर्शनों में संसार में दुःख की बहुलता मानी गयी है और उसका कारण अज्ञान स्वीकार किया गया है।

## शंकर की अशुभ सम्बन्धी अवधारणा

शंकराचार्य के अनुसार दर्शन के क्षेत्र में स्वतन्त्र चिन्तन निर्दोष नहीं हो सकता है। परम सत् रूपादिरहित होने से प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नही है और लिंग आदि का अभाव होने के अनुमान आदि का विषय भी नही है। "न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुम् पुरुषमतिवेरूप्यात्"[१७] अर्थात तर्को की प्रतिष्ठा कदापि ग्रहण नहीं की जा सकती है, क्योंकि पुरूषों की बुद्धि विलक्षण है। अतः शंकर आवश्यक रूप से उपनिषदों को आधार मान कर विचार में प्रवृत्त होते हैं। अशुभ की समस्या के विषय में भी यही सत्य है। अतः हम पहले अशुभ के विषय में उपनिषदों का मत प्रस्तुत करेंगे।

उपनिषदों के अनुसार अविद्या, मोह, आसक्ति, भय, शोक, मृत्यु आदि अशुभ है और इनसे बचने का उपाय एक, अखण्ड, परम सत का दर्शन है।

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।[१८]

"उस अवस्था में एकत्व का निरन्तर साक्षात करने वाले पुरूष को कौन सा मोह रह जाता है और कौन सा शोक। वह शोक-मोह से सर्वथा मुक्त हो जाता है।"

अनाद्यनन्त महतः पर ध्रुव
निचाय्य तन्मृत्युमुखात प्रमुच्यते।[१९]

"जो अनादि, अनन्त, महान, परम और ध्रुव है, उसे जान कर मनुष्य मृत्यु के मुख से सदा के लिए छूट जाता है।"

तरति शोक तरति पाप्मान
गुहाग्रन्थिम्यो विमुक्तोऽमृतो भवति।[२०]

"(जो परब्रह्म को जान लेता है) वह शोक से पार हो जाता है, पाप-समुदाय से छूट जाता है, हृदय की गाँठों से सर्वदा छूट कर अमर हो जाता है।"

आनन्द ब्रह्मणा विद्वान।
न विभेति कदाच्नेति।।[२१]

"उस आनन्दस्वरूप ब्रह्म को जानने वाला पुरुष कभी भय नही करता"।

ज्ञात्वा देव सर्वपाशापहानिः
क्षीणैः क्लेशैजन्ममृत्युप्रहाणिः।[२२]

"उस प्रकाशमय परमात्मा को जान लेने पर समस्त बन्धनों का नाश हो जाता है, ग्रह क्लेशों का नाश हो जाने के कारण जन्म मृत्यु का सर्वथा अभाव हो जाता है।"

इस प्रकार समस्त उपनिषदों में मोह, शोक, जन्म-मृत्यु, पाप, भय, बन्धन, क्लेश को अशुभी माना गया है। माण्डूक्य उपनिषद में प्रपञ्च अर्थात् नामरूपात्मक जगत भी अशुभ माना गया है और "प्रपञ्चोपञमम्" कह कर उससे पार जाने के लिए आह्वान किया गया है। प्रपञ्च के परे शिव अर्थात शुभ है। सभी प्रकार के अशुभ हमें अपने रूप से अप्रिय लगते हैं। उपनिषद के ऋषियों ने उनका कारण अविद्या माना है। मूल कारण के उच्छिन्न होने पर समस्त अशुभों से छुटकारा मिल जाता है। परमतत्व ज्ञान ही अविद्या को नष्ट करता है।

उपनिषदों के इसी सिद्धान्त के आधार पर शंकर अनुभवजन्य समस्त अशुभों को बेकार कर उनका मूल कारण अविद्या निर्धारित करते हैं। अविद्या अध्यासरूपा है। आत्मा शिवस्वरूप है, उसमें कुछ भी अशुभ नही है किन्तु देहादि के साथ अध्यास जैसे समस्त अनर्थों की उत्पत्ति होती है। जहाँ-जहाँ अध्यास है, वहाँ-वहाँ पीड़ा, दुःख आदि अनर्थ हैं। सामान्य रूप से शंकर ने इन अशुभों को चार कर्मों में बाँट कर देखा है।

प्रथम, बाह्य वस्तुओं और व्यक्तियों से प्राप्त अशुभ है। "पुत्रभार्यादिषु विकलेषु कलेषु वा अहमेव विकलः सकलो"[२३] अर्थात पुत्र, स्त्री आदि के विकल या सकल होने

पर अनुभव होता है कि हम स्वयं विकल या सकल हैं। "पुत्रमित्र आदिगीचरमपि दुःख प्रमानभ्रान्त्येवानुभवत्यहमेव पुत्रोऽहमेव मित्रमित्येव स्नेहवशेनपुत्रमित्रादिष्वभिनिविशलः। ततश्च निश्चितमेतदवगम्यतेमिथ्यभिमाननिमित्त एवं दुःखानुभव"[६४] अर्थात "मै ही हूँ", "मै ही मित्र हूँ" इस प्रकार स्नेहवश पुत्र, मित्र आदि में अभिनिवेश करता हुआ मित्र आदि विषयक दुःख का भी उनके अभिमान भ्रान्ति से अनुभव करता है। उससे निश्चित अवगत होता है कि मिथ्याभिमान भ्रम निमित्तक ही दुःख का अनुभव है।

दूसरे प्रकार के दुःख अपने शरीर से ही प्राप्त होते हैं "देहधर्मान स्थूलोऽहं, गौरोऽह, तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्.चयामि"[२५]। अर्थात मै स्थूल हूँ, मै कृश हूँ, मै गौर हूँ, मै खड़ा हूँ, मै जाता हूँ, मै लांघता हूँ, इस प्रकार देह के धर्म से उत्पन्न होने वाली पीड़ा आदि अशुभ है। "स्वदेहगतदाहच्छेदादि निमित्तं दुःख तदभिमानन्त्याऽनुभवति"[२६] अर्थात देहगत दाह छेदन आदि निमित्तक दुःख उस देह के आत्माभिमान की भ्रान्ति से सम्भव करता है।

ब्रेडले के अनुसार अशुभ तीन प्रकार के हैं - (१) कष्टरूप अशुभ, (२) असफलता रूप अशुभ और (३) नैतिक अशुभ। ये तीनों ही अशुभ मनुष्य से सम्बन्धित हैं। संसार में भले ही दुःख की अपेक्षा सुख अधिक हो किन्तु कष्ट, पीड़ा और दुःख अवश्य हैं। उसका निषेध नहीं किया जा सकता। निरपेक्ष सत् से बाहर कुछ नही है, अतः दुख भी उसमें किसी प्रकार अवश्य स्थित है। लक्ष्य प्राप्ति की असफलता भी अशुभ है। जब मनुष्य के लक्ष्य संकीर्ण होते हैं, तो वह असफल भी हो सकता है। निरपेक्षारूप व्यापक सत में असफलता अपना अशुभ रूप त्याग देती है। इसी प्रकार अनैतिकतारूप अशुभ की उत्पत्ति मनुष्य के स्वार्थ, समीपता और मुद्रता के कारण ही होती है।

ब्रेडले के ये विचार अशुभ की समस्या पर निश्चय ही गम्भीर अर्न्तदृष्टि रखने पर ही उत्पन्न हुए हैं। उसका सार यही है कि ससीमता, अपूर्णता और भ्रामक दृष्टि से ही अशुभ की उत्पत्ति होती है और इसीलिए जगत में अशुभ विद्यमान है। आभास में अशुभ की सत्ता मानने का यह अर्थ नहीं है कि अशुभ कुछ भी नही है। अशुभ हमारे व्यावहारिक अनुभव की यथार्थता है।

भारतीय दर्शन में "अशुभ" दार्शनिक चिन्तकों की प्रेरणा का स्रोत रहा है। सभी दर्शन पद्धतियों में अशुभ का उल्लेख है। चार्वाक भी जीवन में दुःख स्वीकार करता है, किन्तु उसे अनिवार्य मान कर उससे बचने का इतना प्रयत्न उचित नही मानता कि उपलब्ध सुख को भी हम त्याग बैठें। वह दुःखों को स्वाभाविक मानता है। उसका कोई कारण नहीं है। जगत ईश्वर की रचना नही है, इसलिए अशुभ का सम्बन्ध किसी अलौकिक सत्ता से जोड़ना मिथ्या कल्पना है। असंयम से दुःख बढ़ते हैं, इसलिए संयम रखना उचित है।

बौद्ध-दर्शन में अशुभ को दुःख रूप मान कर उसका विस्तृत चिन्तन किया गया है। गौतमबुद्ध ने रोगी, वृद्ध और मृत मनुष्यों में पीड़ा, कष्ट, दुःख और विनाशरूप अशुभ देख कर अपना राज्य त्याग दिया और मनुष्य को उससे बचने का उपाय खोजने लगे। उनके प्रसिद्ध चार आर्य सत्य अशुभ के सम्बन्ध में ही हैं। जगत में दुख है, दुःख समुदय है, दुःख का विरोध है और दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद है। महावग्ग में गौतमबुद्ध समस्त जीवन दुःखमय दिखाते हुए कहते हैं - "जन्म दुख है, वृद्धावस्था दुख है, रोग दुख है, मृत्यु दुख है, अप्रिय वस्तु से दुख है, प्रिय वस्तु के वियोग से दुख है, इच्छित वस्तु के न पाने मे भी दुख है। हे मित्र, इसी को दुख कहते हैं।"[९]

बुद्ध के इन वचनों की सत्यता तो सभी स्वीकार करेंगे, किन्तु उस समय उनको समझना कठिन हो जाता है, जब वे कहते है कि संसार में दुख के अतिरिक्त कुछ नहीं है। "न तो आकाश मे, न समुद्र में, न अन्तस्तल में और न पर्वत की कन्दराओं में। संसार में कहीं भी ऐसा स्थान न मिलेगा, जहाँ मृत्यु के आक्रमण से बच कर निवास किया जा सके।"[१०]

इस दुःख का कारण द्वादश निदान बता कर अविद्या को प्रथम कारण माना है। संयुक्तनिकाय के अनुसार द्वादश निदान जरा-मरण से प्रारम्भ होकर जाति, भव, उपादान, तृष्णा, वेदना, स्पर्श, षडायतन, नामरूप, विज्ञान, संस्कार से होते हुए अविद्या तक पहुँचता है। यही भवचक्र है। अविद्या के नष्ट होने पर भवचक्र टूट जाता है और अशुभ से छुटकारा मिल जाता है।

नागार्जुन ने "अस्ति" तथा "नास्ति" की दो चरम विरोधी स्थितियों को मानना अविद्या बताया और उससे छुटकारा पाने का मार्ग मध्यमा प्रतिपत निरूपित किया। संसार के विषय में सम्यक् दृष्टि दो अन्तिम स्थितियों के बीच में होकर आती है। वही प्रतीत्य समुत्पाद है। संक्षेप में, निरोध, उत्तपत्ति, उच्छेद, शाश्वत, एकार्थता, अनेकार्थता, आगम, निर्गम और अविद्या अशुभ हैं तथा इनके निषेध से प्राप्त होने वाला प्रतीत्यसमुत्पाद शुभ है।

यः प्रतीत्यसमुत्पाद प्रपञ्चोपशमं शिवम्।[११]

प्रतीत्यसमुत्पाद ही शिव अर्थात शुभ है। उसका अज्ञान द्वादश क्रम से जरा-मरण और दुख का हेतु होता है।

जैनमत में अशुभ कर्म और लेश्यारूप माना गया है। उनके अनुसार कर्म भौतिक स्वभाव का या पुदगल रूप है। शुभ या अशुभ कर्म करने से उनका प्रभाव आत्मा पर पड़ता है और उसे आवृत कर लेता है। अतः कर्मो को ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और मोहनीय कहा गया है। कर्म के इन आवरणों से आत्मा अधोगामा होती है और संसार में कर्मानुसार सुख-दुख का भोग करती है।

कर्म-लेश्याओं से मुक्त होने पर ही आत्मा भाररहित होकर अलोकाकाश में स्थित हो जाती है और समस्त दुखरूप अशुभ नष्ट हो जाती है। जैन-दर्शन का यह मत नैतिक अशुभ पर अधिक बल देता है और उसे भौतिक स्वभाव का मानता है।

मीमांसा-दर्शन इसी के निकट मत स्थापित करता है। उसके अनुसार दुख ही अशुभ है और दुख का कारण निषिद्ध कर्म है। वेद-शास्त्र विधि-निषेध निर्धारित करते हैं। विधि कर्म करने से सुख और निषिद्ध कर्म करने से दुख प्राप्त होता है। कर्म और उसके फल में एक प्रकार का सम्बन्ध है। आज का किया हुआ कर्म कालान्तर में परिपक्व होकर सुख-दुख दे सकता है। इस दर्शन में अशुभ को बाह्य जगत में भौतिकरूप न मान कर नैतिक अशुभ के रूप में ही समझने का प्रयास किया गया है। कर्म से दुख की उत्पत्ति कैसे सम्भव है, इस समस्या पर विस्तृत विचार किया गया है।

सांख्य-दर्शन के अनुसार तीन प्रकार के दुःख ही अशुभ हैं - ''दुःखत्रयाभियातान''[२] अर्थात तीन प्रकार के दुःखों के प्रहार से बचने के लिए दर्शनशास्त्र विचार करता है। तीन प्रकार के दुःख है- आध्यात्मिक दुख जो शारीरिक और मानसिक, दो प्रकार का है। आधिभौतिक जो मनुष्य, पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप, स्पावर आदि के निमित्त से उत्पन्न होते है, और आधिवैदिक जो यक्ष, राक्षस, विनायक, ग्रह आदि के कारण पीड़ा पहुँचाते है। इन दुःखों का कारण बताने वाली कारिका इस प्रकार है-

तत्र जरामरणकृतं दुःख प्राप्नोति चेतनः पुरुष।
लिङ्. गस्याविनिवृत्तेस्तस्माद दुःख स्वभावेन।।[१३]

वहाँ लिंग शरीर का पुरुष से भेद न गृहीत होने के कारण चेतन पुरुष जरा-मरण से उत्पन्न दुख भोगता है। इस प्रकार स्वभाव से ही दुख होता है।

लिंग शरीर और पुरुष का तादात्म्य अविद्यात्मक है, इसलिए अविद्या ही समस्त दुःखों का कारक है। शंकर ने भी अशुभ की समस्या पर विचार किया है। उसे भली-भाँति समझने के लिए हमें सर्वप्रथम संक्षेप में पश्चिम और पूर्व के अन्य दार्शनिकों का मत देख लेना चाहिए। पश्चिम में यूनानी दार्शनिकों से अशुभ की समस्या पर जो विचार प्रारम्भ हुआ, वह आधुनिक दार्शनिकों तक विवाद का विषय बना रहा।

सुकरात के पूर्व प्राचीन यूनानी दार्शनिक अशुभ की समस्या स्वीकार करते थे और उसका कारण मनुष्य के विचार और उसकी महत्वकांक्षायें मानी जाती थीं।[३] उनका यह भी मत था कि कोई ऐसी दैवी या दानवी शक्तियां हैं जो मनुष्य के हेतु अशुभ पैदा कर सकती हैं। यूनान के प्रारम्भिक दार्शनिक की यह मान्यता किसी तर्क पर आश्रित नहीं प्रतीत होती; वह केवल एक कल्पना है।

सुकरात के बाद के दार्शनिक प्लेटो और अरस्तू आदि ने इस समस्या पर अधिक गम्भीरता से विचार किया और तर्क का भी प्रयोग किया। प्लेटो दैवी या दानवी अशुभकारी शक्तियों की कल्पना त्याग कर जड़ तत्त्व को अशुभ का कारण मानता है। परम सत् प्रत्यय रूप है और वह सम्पूर्ण से शुभ है, किन्तु उससे उत्पन्न जड़ तत्त्व अपूर्ण है, आत्मा के ऊपर बोझ है। वह मनुष्य को परम सत् से दूर रख कर अशुभ का विस्तार करता है।[४]

प्लोटिनस ने इस विचार को अधिक स्पष्ट किया और सृष्टि रचना के तीन स्तर बता कर अशुभ की व्याख्या की। उसके अनुसार शुद्ध प्रत्यय या चेतन परम सत् और शुभ है। उससे निम्न स्तर पर उतर कर आत्मा की रचना हुई और फिर उससे जड़ तत्त्व की रचना देखने में आई। जड़ तत्त्व अंधकार, अपूर्णता और अशुभ का भण्डार है। जैसे, सूर्य से दूर हटते जाने पर अंधकार बढ़ने लगता है, वैसे ही शुद्ध प्रत्ययरूप, ईश्वर से दूर हटने पर जड़ तत्त्व की प्राप्ति होती है और वह अशुभ सिद्ध होता है।

इससे स्पष्ट है कि प्लेटो और प्लोटिनस ने अशुभ का तात्त्विक विवेचन करने पर अधिक बल दिया और उसे अतिभौतिक या आधिभौतिक ही माना। अरस्तू ने अशुभ को नीतिशास्त्र की दृष्टि से भी देखा और अनैतिक आचरण को अशुभ का कारण स्वीकार किया। उसने अशुभ से मुक्त होने का उपाय भी दिखाया और उसके हेतु नीतिशास्त्र की रचना की। उसके अनुसार "विचार और आचरण में अतिवाद अशुभ है और माध्यम मार्ग शुभ है।"[५] शुभ वह स्थिति है जो तर्कबुद्धि से निश्चय की जाती है, वह दो अतियों की मध्य स्थिति है और जिसका आचरण विचारपूर्वक किया जाता है। व्यावहारिक ज्ञान रखने वाला मनुष्य ही उसका निर्धारण करेगा। इसके विपरीत अशुभ दो अतियाँ हैं।[६] इसे स्पष्ट करने के लिए उसने अनेक उदाहरण दिये हैं। जैसे, "दुःसाहस" और "कायरता" की दो अतियाँ हैं जो अशुभ हैं और उनके मध्य "साहस" शुभ हैं। इन्द्रिय भोगों में अधिक लिप्त होना या भोगों का सर्वथा त्याग अशुभ है, किन्तु संयमपूर्वक भोग शुभ है।

पश्चिमी दर्शन के मध्यकाल में ईसाई दार्शनिकों का उदय हुआ। उन्होंने ईश्वरवाद की स्थापना कर उसके परिप्रेक्ष्य में अशुभ की समस्या पर विचार किया। यदि समस्त सृष्टि की रचना है तो जगत् में दिखाई देने वाला अशुभ ईश्वर से कैसे और क्यों उत्पन्न हुआ, इस प्रश्न पर विचार करना अनिवार्य हो गया। सन्त अगस्तीन ने इस पर अपना निश्चित मत प्रस्तुत किया। उसके अनुसार ईश्वर ने अपनी स्वतंत्र इच्छा से जगत् की रचना अनन्त प्रेम से प्रेरित होकर सबके कल्याण के लिए की। अतः समस्त सृष्टि शुभ है, किन्तु बात तभी समझ में आ सकती है, जब हम जगत् को ईश्वर की दृष्टि से देखें। मनुष्य अपनी उपयोगिता की दृष्टि से जगत् को देखता है तो वह सर्वत्र शुभ नहीं दिखाई देगा, उसमें अशुभ भी दृष्टिगत होगा।

ईश्वर की दृष्टि से जगत् में जो कुछ है, वह सब शुभ है या उस शुभ का सौन्दर्य और महत्व बढ़ाने वाला है, जैसे किसी चित्र में छाया समस्त दृश्य की शोभा बढ़ाती है। अतः जगत् के शुभ के लिए अशुभ की आवश्यकता है। सन्त अगस्तीन का कहना है कि "अशुभ तो शुभ नहीं है किन्तु अशुभ का होना अवश्य शुभ है।"

वस्तुतः यह अशुभ है क्या? इसका उत्तर देते हुए यह दार्शनिक कहता है कि शुभ का अभाव ही अशुभ है। अशुभ के बिना हो सकता है किन्तु शुभ के बिना अशुभ की सत्ता नहीं हो सकती।

इस प्रकार अशुभ सापेक्षित है। शुभ के लिए उसकी आवश्यकता है। शुभ के अभाव में अशुभ का वास है। इसके अतिरिक्त, अशुभ की प्रतीति ईश्वर के कारण नहीं वरन् मनुष्य के कारण होती है। सन्त अगस्तीन अशुभ का दायित्व मनुष्य पर डाल देता है। वह नैतिक वर्ग में आने वाले अशुभों पर भी विचार करता है और उन्हें मनुष्य-कृत ही मानता है। किन्तु ये अशुभ जगत् के सौन्दर्य को नष्ट नहीं कर सकते।

सन्त थामस ने अशुभ की इस समस्या पर सन्त अगस्तीन की परम्परा के अनुरूप ही विचार किया और शुभ के अभाव को अशुभ मान कर यह बताने का प्रयास किया कि शुभ का अभाव कैसे होता है। वह कहता है कि जब तक वस्तुयें प्रकृति के नियमों के अनुसार कार्य करती हैं, वे शुभ स्वरूप में रहती हैं, उनसे अशुभ की उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु जब जड़ पदार्थ में अस्वाभाविक क्रिया उत्पन्न होती है तो अशुभ की उत्पत्ति होती है। नैतिक अशुभ का भी यही कारण है। जब तर्कबुद्धि का निर्देश नहीं माना जाता और ईश्वर के नियमों का उल्लंघन होता है तो नैतिक अशुभ की उत्पत्ति होती है। मनुष्य जो कुछ भी करता है, शुभ समझ कर ही करता है। उसके इरादे के विपरीत ही अशुभ की सत्ता होती है।८

इस प्रकार ईसाई दार्शनिकों ने अशुभ की समस्या पर कुछ आगे बढ़ कर विचार किया और उसके कुछ नये पहलुओं का उद्घाटन किया। मुख्यरूप से अशुभ का दायित्व मनुष्य पर आ गया।

मध्यकाल से आधुनिककाल तक अनेक दार्शनिक हुए और उन्होंने इस समस्या पर विचार किया तथा अनेक मूल्यवान सिद्धान्तों की उद्भावना भी की, किन्तु उन सब की प्रवृत्ति मनुष्य पर अशुभ का दायित्व लादने की रही और उससे बचने का उपाय भी खोजते रहे। इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति आधुनिक काल के प्रमुख दार्शनिक ब्रेडले में मिलती है। वह सत् और आभास की प्रकल्पना कर आभास में अशुभ की सत्ता मानता है। सत् स्वरूप है। उसमें अशुभ नहीं है। आभास अशुभ को प्रश्रय देता है। आभास ससीम है और ससीमता में रहने वाला मनुष्य अशुभ से आक्रान्त हो जाता है।

तीसरे प्रकार के अशुभ इन्द्रियजन्य हैं। "इन्द्रिय धर्मात् मूकः काणः क्लीवः बधिरः अन्धोऽहमिति"[२७] अर्थात् मैं मूक हूँ, काना हूँ, नपुंसक हूँ, बधिर हूँ, अंधा हूँ, इस प्रकार इन्द्रिय धर्मों से उत्पन्न होने वाले दुःख हैं।

चौथे प्रकार के अशुभ अन्तःकारण में जन्म लेते हैं। "अन्तःकारणधर्मान्-काय संकल्प विचिकित्साध्यवतायादीन्"[२८] अर्थात् काय, संकल्प, संशय, अनिश्चय आदि अन्तःकरण के धर्मों से उत्पन्न होने वाले अशुभ हैं। इन सब अशुभों में सर्वाधिक अनर्थकारी अशुभ "काम" है। शंकर कहते हैं - "काम एष सर्वलोक्शत्रुः यन्निमित्ता सर्वानथ्रप्राप्तिः प्राणिनाम्"[२९] अर्थात् यह काम ही है जो सब लोगों का शत्रु है, जिसके निमित्त से जीवों को सब अनर्थों की प्राप्ति होती है। ज्ञानी ही इस बात को जानता है कि इसके द्वारा मैं अनर्थों में पड़ गया हूँ। मूर्ख को तो अपनी कामनायें मित्र के समान प्रिय लगती हैं, किन्तु जब उनका परिणाम दुःखरूप प्राप्त होता है, तब उसे समझ आती है कि "मैं कामना के द्वारा दुःखी किया गया हूँ", वह पहले नहीं जानता है।[३०]

शंकर के अनुसार कामना से प्रभावित क्षेत्र इन्द्रिय, मन और बुद्धि तक विस्तीर्ण हैं।[३१] इसकी व्याख्या करते हुए स्वामी चिन्मयानन्द लिखते हैं - "बड़े विस्तृत क्षेत्र में अपराध करने वाले दस्यु दल के सरदार के एक से अधिक रहने के स्थान होते हैं, जहाँ से वह पूरे दल का संचालन करता है। बिना किसी नियन्त्रण एवं संयम के इन्द्रियाँ यदि विषयों में संचार करती हैं, तो वे इच्छा के निवास के लिए प्रथम उपयुक्त स्थान हैं। इन्द्रियों के माध्यम से विषय की संवेदनाएं मन में पहुँचने पर वह भी कामनाजन्य दुःखों की उत्पत्ति के लिए उपयुक्त क्षेत्र का कार्य करता है। अन्त में, पूर्व विषयोपभोग की स्मृति में रंजित आसक्तियों से युक्त बुद्धि कामना का तीसरा सुरक्षित वासस्थान है। इन स्थानों में कामनारूपी शत्रु को पकड़ जा सकता है।[३२]

कामना समस्त अनर्थों की हेतु है, किन्तु उसका भी कारण है अज्ञान। अविद्या से मोहित जीवन शरीर के साथ तादात्म्य करके विषयोभोग चाहता है। अविवेकपूर्ण मन और बुद्धि के साथ तादात्म्य करके भावनाओं एवं विचारों की सन्तुष्टि की वह इच्छा करता है।

शंकर अविद्या को अध्यासरूप मानते हैं। "अध्यास पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते"[३३] अर्थात् अध्यास को विद्वान लोग "अविद्या" मानते हैं। संक्षेप में अध्यास की परिभाषा इस प्रकार है - "अध्यासौ नाम अतस्मिंस्तद्बृद्धिः"[३४] अर्थात् अतद् में तद्बुद्धि ही अध्यास है। यहाँ अनात्मा में आत्मबुद्धि ही अध्यास और अविद्या है। "प्रत्यगात्मन्यप्यनात्माध्यासः"[३५] अर्थात् प्रत्यगात्मा में अनात्मा का अध्यास है। इस प्रकार शंकर के मतानुसार अविद्या, अध्यास, मोह, कामना, कर्म और उनसे उत्पन्न

कष्ट, पीड़ा, भय, चिन्ता, क्लेश, दुःख आदि अशुभ हैं। संक्षेप में इन सब को "संसार" कहते हैं। "अविद्याकायकर्म एवं संसारः" अविद्या, काय और कर्म में ही संसार है। इसके अन्तर्गत समस्त अशुभ आ जाते हैं।

इससे यह निर्णय निकलता प्रतीत होता है कि हमारा समस्त जीवन अशुभ का भण्डार है। हम प्रतिक्षण दुःखों में ही जी रहे हैं। किन्तु अनुभव इसके विपरीत है। अनुभव में हम सुख-दुःख दोनों ही पाते हैं। किसी व्यक्ति के जीवन में दुःख अधिक है तो किसी के जीवन में सुख अधिक है। किसी एक को पूर्णतः अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। शंकर मत और व्यावहारिक अनुभव के इस विरोध में तालमेल बैठाने के लिए शंकर प्रतिपादित व्यवहार और परमार्थ के भेद पर ध्यान देना होगा।

व्यवहार में शंकर शुभ और अशुभ दो प्रकार के कर्म मानते हैं। अशुभ कर्मों का फल दुःख और शुभ कर्मो का फल सुख है। दुःख अशुभ है। अतः जिन कर्मों से दुःखमय फल मिलता है, उन्हें अशुभ कहते हैं। इस प्रकार कोई कर्म तभी शुभ है, जब वह हमें सुख अनुभव कराने में समर्थ है। कर्म का यह सिद्धान्त भारतीय-दर्शन के सभी सम्प्रदायों में स्वीकार किया गया है। शंकर इसे व्यावहारिक जीवन में सत्य मानते हैं, किन्तु इतना ही अन्तिम सत्य नहीं है।

वे शुभ कर्मों से प्राप्त होने वाला सुख लौकिक, क्षणिक और बन्धनकारी मानते हैं। भगवद्गीता का अनुवाद करते हुए वे कहते है - "स्वर्गलोक का विशाल सुख भोग चुकने पर प्राणि पुण्यों का क्षय हो जाने पर इस मृत्युलोक में लौट जाता है। उसे स्वतन्त्रता का लाभ नहीं होता है।"[३६] विश्व की समस्त वस्तुओं की भाँति शुभ कर्म भी नश्वर है। कर्म लौकिक हैं और उनके फल भी लौकिक हैं। उनमें गहनता और स्थिरता नहीं है। इसके अतिरिक्त, जैसे पाप का फल अवश्य भोगना पड़ता है, वैसे ही पुण्य भोगना भी अनिवार्य है। यह फल भोगने की अनिवार्यता ही बन्धन है। बन्धन शुभ की कोटि में नहीं रखा जा सकता। कोई भी व्यक्ति बन्धन नहीं चाहता। इस दृष्टि से शुभ कर्म और लौकिक सुखों में भी अशुभ-राहु का ग्रहण लगा दिखाई देता है। "कर्माणि एव बन्धनानि"[३७] कर्म ही बन्धन है।

इस प्रकार शंकर समग्र जीवन को अशुभ सिद्ध कर परमार्थ के द्वारा उससे मुक्त होने का मार्ग प्रदर्शित करते हैं। परमार्थ-ज्ञान में पाप और पुण्य दोनों क्षय हो जाते हैं और प्राणी को अपनी पूर्णता, स्वतन्त्रता और सहज आनन्द की प्राप्ति होती है। "इतर-स्यापि पुण्यस्य कर्मणा एवंमधवदसंश्लेषां विनाशश्च ज्ञानवतो भवतः"[३८] ज्ञानी पुरुष का पाप के समान पुण्य का भी असंश्लेष और विनाश होता है। "ज्ञानफलापेक्षा निकृष्टफलत्वात्" - ज्ञान फल की अपेक्षा से पुण्य निकृष्ट फल वाला है, अतः वह अशुभ ही है और त्याज्य है। परमार्थ ही परम शुभ है और वही परम पुरुषार्थ है।

## क्या शंकर निराशावादी हैं?

पैट्रिक के अनुसार, "दर्शन में निराशावाद वह सिद्धान्त है जो जीवन को प्रधानतः अशुभ मानता है और जगत् में शुभ की अपेक्षा अशुभ और सुख की अपेक्षा दुःख की अधिकता घोषित करता है।"[३९] इस दृष्टि से यदि हम शंकर द्वारा प्रस्तुत किये गये व्यावहारिक जीवन का चित्र देखें तो उन्हें निराशावादी ही कहना पड़ेगा। वे जीवन में अशुभ की सत्ता तो स्वीकार ही नहीं करते हैं, किन्तु यहाँ हम जो शुभ पाते हैं, उसे भी वे दुःखरूप ही सिद्ध करते हैं। शुभ कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाला सुख क्षणिक, छिछला और बन्धनकारी है। उसमें ये अशुभ लक्षण हैं। अतः निर्बाध सुख, शान्ति और सन्तोष व्यावहारिक जीवन में कभी कही नहीं है। यदि पाठक शंकर के ये विचार पढ़ कर अपने को यही सीमित कर लेता है, तो वह उन्हें घोर निराशावादी मान लेता है। किन्तु यह मान्यता सही नहीं है, क्योंकि यह जल्दी में लिया गया निर्णय है।

व्यावहारिक जीवन में शंकर अशुभ और शुभ दोनों स्वीकार करते हैं। अनेक पूर्व जीवनों से अशुभ कर्मों में प्रवृत्त रहने वाला व्यक्ति इस जीवन में अपने बाहर-भीतर अनेक प्रकार के अशुभों से घिरा हो सकता है। वह उनके कारण निराशावादी भी हो सकता है, किन्तु यह उसकी वैयक्तिक मान्यता है। इसी प्रकार पुण्यकर्मी व्यक्ति को जगत् में बहुत सुख प्राप्त होने के कारण अपना जीवन आशा से भरा हुआ दिखाई दे सकता है। यह भी उसकी व्यक्तिगत अनुभूति है। शंकर शुद्ध वैज्ञानिक की भाँति दोनों का निरीक्षण कर इस जगत् में शुभ और अशुभ दोनों स्वीकार करते हैं। अतः वे आशावादी या निराशावादी न होकर सत्य का प्रतिपादन करने वाले हैं।

यद्यपि कोई भौतिकवादी मनुष्य अपने पुण्य के फलस्वरूप अत्यधिक समृद्धि पाकर अपने को सुखी मान सकता है, किन्तु शंकर की सूक्ष्म दृष्टि उनके मन की गइराई में उमड़ती हुई भय, चिन्ता और परवशता की आँधियाँ स्पष्ट देख लेती हैं। शंकर उन्हें भी दुःखी मानते हैं। उनकी दृष्टि उस निरपेक्ष आनन्द पर टिकी हुई है, जहाँ कोई भी अशुभ सूक्ष्म रूप धारण करके भी प्रवेश नहीं कर सकता है। यह आनन्द जगत् में विरले लोगों को ही प्राप्त होता है, किन्तु इसे नकारा नहीं जा सकता। इस निरपेक्ष आनन्द के प्रतिपादक शंकर को हम निराशावादी नहीं कह सकते। डॉ० नौलखा के अनुसार, "निराशावादी वही कहलाता है जो जीवन और जगत् को दुःखों से परिपूर्ण मानता है और उससे छुटकारा पाना उसे सम्भव नहीं दिखाई देता।"[४०] निराशावाद की यह शर्त शांकर मत पर लागू नहीं होती। वे व्यवहार में शुभ और

अशुभ दोनों स्वीकार करते हैं और व्यावहारिक शुभ के दोषों को पारमार्थिक शुभ से दूर होना भी सम्भव मानते हैं। जीवन-मुक्त होकर मनुष्य जिस आनन्द का अधिकारी हो जाता है, उसे देखते हुए शंकर को निराशावादी कदापि नहीं कहा जा सकता।

## मूल्यांकन

अशुभ की समस्या सभी दार्शनिकों के सामने हैं और उन्होंने अपने दृष्टिकोण से उसका समाधान भी प्रस्तुत किया है। उनकी तुलना कर किसी एक निर्णय पर पहुँचना कठिन है, किन्तु जो दर्शन-पद्धति अधिक युक्तसंगत है, उसी को हम उत्तम मान सकते हैं। कम से कम भारतीय दर्शनों में शंकर का अद्वैतवाद और उसमें अशुभ की समस्या का समाधान सर्वोत्तम प्रतीत होता है। हमारे इस कथन के कई कारण हैं।

एक तो, भारत के अधिकांश दार्शनिकों ने अशुभ की सत्ता स्वीकार की है और उनमें से कुछ अशुभ की अधिकता मानते हैं। इसका कारण उनकी दार्शनिक पद्धति की माँग ही कहा जा सकता है, अन्यथा अनुभव में शुभ की सत्ता भी दिखाई देती है। शंकर अपने मत के दुराग्रह में न पड़ कर व्यावहारिक जीवन की यथार्थता स्वीकार करते हैं। वे न अति निराशावादी हैं औन न आशावादी। उन्हें न सर्वत्र स्वर्ग दिखाई देता है और न सर्वत्र नरक।

दूसरे, शंकर अशुभ से मुक्त होने का मार्ग दिखाते हैं। कोई भी व्यक्ति शुभ कर्म और तत्त्वज्ञान से अपनी दुःख निवृत्ति कर सकता है।

तीसरे, शंकर ऐसी कोई असंभव कल्पना नहीं करते कि यह सम्पूर्ण जगत् ही किसी प्रकार किसी दिन स्वर्ग बन जायगा। जगत् में शुभ और अशुभ सदा रहेंगे, किन्तु व्यक्ति अपने प्रयास से अपने दुःख दूर कर सकता है। अशुभ मनुष्य की व्यक्तिगत समस्या है।

चौथे, अशुभ का कारण अविद्या होने से शंकर अशुभ के लिए ईश्वर या शैतान को उत्तरदायी नहीं मानते। इससे मनुष्य की नैतिक चेतना को व्याघात नहीं लगता। वह अपना नैतिक दायित्व स्वीकार कर अपनी अवद्यिा से मुक्त होने का प्रयास करता है।

पाँचवें, ईश्वर को अशुभ का रचयिता न मान कर शंकर ने ईश्वर की क्रूरता के आक्षेप से बचाया है। शुभ स्वरूप ईश्वर से अशुभ की उत्पत्ति बताना कार्य-कारण नियम के विरुद्ध है। अतः शंकर के मत में तर्कीय दोष भी नहीं है। वे समस्त अशुभों का कारण अविद्या को मानते हैं जो स्वयं भी एक अशुभ है। अशुभ से अशुभ की उत्पत्ति होना तर्कसंगत है।

छठे, अशुभ की उत्पत्ति अविद्या से मानने पर जो तर्कीय दोष लगाये जाते हैं, वे बहुत विचारपूर्ण नहीं है। जैसे, अशुभ से अशुभ की उत्पत्ति मानना चक्रीय दोष कहा जा सकता है, किन्तु चक्रीय दोष से बचने के लिए यदि कोई उसका कारण शुभ या तटस्थ तत्त्व मानता है तो वह कार्य-कारण नियम का विरोधी होगा। यदि हम अविद्या को अनिर्वचनीय समझ लें तो हम उपर्युक्त दोनों दोषों से बच जायेंगे किन्तु अनिवर्चनीयता को तर्कशास्त्र सम्यक् व्याख्या से बचने का बहाना मानता है। फिर भी अधिकांश भारतीय दार्शनिक अविद्या या अज्ञान को ही अशुभ का कारण मानते हैं और शंकर उसका विरोध करना उचित नहीं मानते।

सातवें, अविद्या को अनादि मानने पर तार्किक आक्षेप कर सकते हैं। वे कहेंगे कि अविद्या का कारण खोजने में असमर्थ होने के कारण उसे अनादि माना जा रहा है। उनके इस तर्क को यदि हम मान लें तो अविद्या का भी कोई कारण खोजना पड़ेगा और उसके साथ भी वही आक्षेप किया जायेगा जो अविद्या के साथ किया गया है। उसका भी पुनः कारण खोजने पर हम अनवस्थ दोष में पड़ जायेंगे। अतः अनादि अविद्या को ही अशुभ का कारण मानना उचित है।

## संदर्भ-सूची

१. G.I.W. Patrick, Introduction to Philosophy, P. 405.
२. तैत्तिरीय उपनिषद्, शांकर भाष्य प्रस्तावना, पृष्ठ २४
३. Radoslav A. Tsanoff, The Nature of Evil, Cambridge University Press (1946) P. 11.
४. Frank Thilly, A History of Philosophy, P. 91.
५. Ibid, P. 152.
६. The Nicomachean Ethich of Aristotle, Translated by D.P. Chase, P 36.
७. Prof. Frank Thilly, A History of Philosophy, P. 183 "Evil is not good, but it is good that evil is."
८. Prof. Frank Thilly, A History of Philosophy, P. 235.
९. महावग्ग, १.६।
१०. धम्मपद, १.२८।
११. मध्यमक शास्त्र, १.२।
१२. सांख्य-कारिका, १, पृष्ठ ७२।
१३. वही, ५५, पृष्ठ ३०६।
१४. योगसूत्र, ३।
१५. वही, ४।

१६. योगभाष्य, २-१५।
१७. ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य, २.१.११, पृष्ठ ३५६।
१८. ईशावास्य उपनिषद्, ७
१६. कठोपनिषद्, १.३.१५।
२०. मुण्डकोपनिषर्द, ३.२.६।
२१. तैत्तिरीयोपनिषद् २.४।
२२. श्वेताश्वतरोपनिषद्, १.१.११।
२३. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, प्रस्तावना, पृष्ठ १७।
२४. वही, २.३.४६, पृष्ठ ५२८।
२५. वही, पृष्ठ १७।
२६. वही, पृष्ठ २.३.४६।
२७. वही, प्रस्तावना, पृष्ठ १७।
२८. वही, पृष्ठ १७।
२६. भगवद्गीता, शां.भा. ३.३७।
३०. वही, ३.३६।
३१. वही, ३.४०।
३२. भगवद्गीता, स्वामी चिन्मयानन्द की व्याख्या, पृष्ठ १३३।
३३. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. प्रस्तावना, पृष्ठ १२
३४. वही, पृष्ठ १७।
३५. वही, पृष्ठ १२।
३६. भगवद्गीता, शां.भा. ६.२१।
३७. वही, ६.२४।
३८. ब्रह्मसूत्र, शां.भा. ४.१.१५।
३६. "Pessimism in philosophy is the doctrine that life is essentially evil, that there is more pain in the world than pleasure, more evil than good." G.T.W. Patrick, Introduction to Philosophy, P. 408.
४०. शंकर का ब्रह्मवाद, डॉ० रामस्वरूप सिंह नौलखा, पृष्ठ ३१६।

□□□

# अध्याय-११

# समाज-दर्शन

## वेदों और उपनिषदों में समाज-संरचना के सिद्धान्त

भारतीय समाज-दर्शन के चिन्तन का मूल खोजते हुए हमें वैदिक साहित्य तक जाना पड़ता है। वेदों में सर्वप्रथम पुरुष-सूक्त में समस्त समाज को काव्यात्मक भाषा में एक पुरुष के रूप में देखने का प्रयास किया गया है। उसमें समाज के विभिन्न वर्ग पुरुष-शरीर के विभिन्न अंगों के समान माने गये हैं। "पुरुष" शब्द परमात्मा का वाचक है। उसमें समस्त जड़-चेतन जगत की सृष्टि हुई है और वह परमात्मा के एक पाद में स्थित है। शेष तीन पाद अमृतस्वरूप हैं। (त्रिपादस्यामृतं दिवि)।[1] यह पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र और तारे उसी से उत्पन्न हैं और उसी में स्थित हैं। ग्रीष्मादि ऋतुयें तथा प्रकृति के सभी नियम उसी से निःसृत हैं।[2] कीट-पतंग, पशु-पक्षी जो वन या ग्रामों में वास करते हैं, उसी से उत्पन्न हैं।[3] मनुष्य समाज तो उसके अंगों के समान ही हैं-

ब्राह्मणोऽय मुखमासीत् बाहूराजन्य कृतः।
उरूतदस्यसद्वैश्यः पद्भ्यांस शूद्रो अजायत।।[4]

"परम पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहु के क्षत्रिय, ऊरु से वैश्य और चरणों से शूद्र उत्पन्न हुए हैं।"

पुरुष-सूक्त के इन कथनों से समाज-दर्शन विषयक कुछ महत्वपूर्ण तथ्य निकाले जा सकते हैं। सर्वप्रथम, वैदिककाल में अनेक समाजों की कल्पना नहीं थी। सम्भव है, उस समय पृथ्वी पर केवल हिन्दू समाज ही रहा हो और अन्य समाजों की उत्पत्ति कालान्तर में हुई हो। अथवा वैदिक ऋषि अपनी व्यापक दृष्टि में विश्व के समस्त समाजों को एक इकाई के रूप में देखते हों। कुछ भी हो, वैदिक ऋषि केवल एक समाज को ही मानते थे। उस समाज को उन्होंने चार वर्गों में बाँट लिया था। यह सामाजिक वर्गीकरण दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य है।

वैदिक काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र समाज के चार वर्ग माने गये थे। इनके अभिधान से ही इनकी विशेषता का ज्ञान होता हैं। ब्रह्म परम सत् है। उससे सम्बद्ध पुरुषों का समाज ब्राह्मण है। उनके जीवन का लक्ष्य पूर्णता प्राप्त करना है। उनका व्यवहार संयत और सुसंस्कृत है। उनका मन सात्विक और सन्तुलित है।

क्षत्रिय के लिए "राजन्य" शब्द का प्रयोग किया गया है। वह समाज का शासक और संरक्षक है। सत्पुरुषों की सेवा और दुष्टों के दलन हेतु वह सदा तत्पर रहता है। न्याय और धर्म की रक्षा के लिए युद्ध करने और मरने को तैयार रहता है।

वैश्य अन्नादि के उत्पादन और वितरण में रुचि रखता है। अभावग्रस्त देशों में जीवन की उपयोगी वस्तुयें पहुँचाना और समाज को धन-धान्य से समृद्ध रखना उसका प्रमुख कार्य है।

समाज में कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जिन्हें अपनी शक्ति और योग्यता पर विश्वास नहीं होता। अतः वे स्वतन्त्र रूप से अपने साहस के साथ कोई कार्य नहीं कर सकते। "शूद्र" शब्द का तात्पर्य "उदास और निराश" है। ऐसे लोग अन्य वर्गों की सेवा कर ही अपना जीवन-यापन कर सकते हैं। इनमें तमस्गुण अधिक होता है। क्षत्रिय और वैश्यों में रजस् की प्रधानता होती है।

मनुष्यों का यह भेद उनके गुण और स्वभाव के कारण है। यद्यपि वाह्यरूप से यह प्रतीत होता है कि ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं और शूद्रों का वर्ग सबसे निम्न है किन्तु जब हम देखते हैं कि एक ही निर्लेप और निर्विकार परम पुरुष के ये सभी अंग हैं, तो ऊँच-नीच की भावना के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है। तत्वतः सब एक हैं और समाज के वर्ग होने के कारण सबका महत्व एक समान है। सभी वर्गों के बीच सौहार्द और समझ के बिना समाज का स्वस्थ रूप देखने में नहीं आ सकता। जैसे, शरीर के सभी अंग आपस में सहयोग रखते हैं, उसी प्रकार समाज के सभी वर्गों को आन्तरिक एकसूत्र के साथ जुड़ा रहना चाहिए। कोई वर्ग समाज के शरीर से कट कर न समाज का हित कर सकता है और न अपना अस्तित्व रख सकता है।

पुरुष-सूक्त के ये विचार उपनिषद् और भगवद्गीता आदि ग्रन्थों में विकसित किये गये तथा उन्हें स्पष्ट रूप दिया गया। यहाँ ध्यान देने का मुख्य बिन्दु यह है कि अद्वैतवेदान्त दर्शन की दृष्टि से परम सत् ब्रह्म ही समस्त विश्व के रूप में प्रकट है और राष्ट्र या समाज उसी विश्वरूप परमात्मा के विभिन्न अंग हैं। प्रधानता एकत्व की है और राष्ट्र के सभी नानात्व उसी पर एक आश्रित हैं।

वैदिक राज्य व्यवस्था में भी यही दार्शनिक दृष्टि विद्यमान है। श्रुतियों में राजा के चयन, राज्य के संगठन, लोकतन्त्रीय व्यवस्था, कर-प्रणाली और न्याय-व्यवस्था का भी प्रसंगानुसार उल्लेख है। अथर्ववेद के नीचे उद्धृत मंत्रों से ज्ञात होता है कि राजा का चुनाव किया जाना चाहिए।

आत्वागन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि
प्राङ्.दिशां प्रतिरेकराट् त्वं विराज।

सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो
ह्यन्त्पसद्यो नमस्योऽभवेह।।[५]

"हे राजन्! यह राष्ट्र तुम्हें प्राप्त हुआ है। तुम तेजवान होकर उन्नति को प्राप्त करो। तुम समस्त प्रजा के एकमात्र स्वामी बन कर सम्राट पद पर विराजमान रहो। सब लोग तुमसे रक्षा की कामना करें और तुम सब प्रजाओं के द्वारा पास पहुँचने योग्य रहो। सब तुम्हें नमस्कार और सत्कार करें।"

"समस्त प्रजाओं द्वारा राज्य करने के लिए तुम्हारा चुनाव किया गया है।"

इन मन्त्रों से स्पष्ट है कि प्रजा के द्वारा राजा का चुनाव होना चाहिए। "वृणता" का तात्पर्य वरण किया गया है। इस प्रकार स्वीकार किया गया राजा समस्त प्रजा की रक्षा करता है। यह उसका मुख्य कर्तव्य है। प्रजा के कष्टों को सुनने और उनका निवारण करने के लिए राजा और प्रजा में निकटता होनी चाहिए। राजा का चरित्र और व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि वह प्रजा के लिए आदरणीय रहे। अतः राजा को न्यायप्रिय, तेजवान और शक्तिशाली होना अनिवार्य है।

अथर्ववेद में राज्य की उत्पत्ति का क्रम भी बताया गया है।[७] उनके अनुसार सृष्टि आरम्भ होने पर विराट् की उत्पत्ति हुई। उससे समस्त जीवों और मनुष्यों की उत्पत्ति हुई। उनका पुनः उत्क्रमण होने पर परिवार और "गृहपति" की व्यवस्था बनी। जो व्यक्ति इसे जानता है, वह गृहपति होता है।[८]

पुनः वे परिवार उत्क्रान्त होकर "सभा" का रूप धारण करने लगे। कई परिवार गृहपतियों ने मिल कर एक सभा बनाई। जो इसको जानता है, वह सभासद् बनता है।[९] सेनाओं का पुनः विकास हुआ और "समितियाँ" बनाई गयीं। जो विद्वान इसे जानते हैं, वे इन समितियों के "समित्य" बने।[१०] जब समितियों का उत्क्रमण हुआ तो "आमंत्रण" बना। जो विद्वान् इस रहस्य को जानते हैं, वे आमंत्रण परिषद् के अनुरूप सदस्य बने।[११]

श्रुतियों का कथन है कि इस प्रकार परिवार की व्यवस्था विकसित होते हुए ग्राम, नगर, प्रदेश और राष्ट्र का रूप धारण करती गयीं और उनकी शासन व्यवस्था के लिए सभायें और समितियाँ बनती गयीं। इन सब का प्रमुख "राजा" बना और समस्त राष्ट्र की रक्षा तथा व्यवस्था का दायित्व उस पर रखा गया। रक्षक होने के कारण वह "क्षत्रिय" कहलाया और पुरुष-सूक्त में उसकी तुलना शरीर में बाहु रूप से की गयी। मंत्रण देने वाले सभासद् या आमंत्रण सदस्य ब्राह्मण कोटि में माने गये। यद्यपि वे प्रजा की रक्षा आदि कार्य के लिए सीधे उत्तरदायी न थे, किन्तु उन्ही के निर्णय के अनुसार राजा कार्य करता था।

इस प्रकार वैदिक राज्य-व्यवस्था का सिद्धान्त पश्चिमी मतों से कुछ भिन्न मिलता है। वहाँ राज्य की उत्पत्ति का निर्धारण करने वाले तीन मुख्य सिद्धान्त मिलते हैं-(१) विकासवादी, (२) सामाजिक समझौतावादी और (३) ईश्वरवादी। अरस्तू[१२] आदि विकासवादी सामाजिक संगठन स्वीकार करते हैं और राज्य की उत्पत्ति क्रमिक मानते हैं। पारिवारिक संगठन ही विकसित होकर राज्य बन गया। हाब्स आदि सामाजिक समझौते का सिद्धान्त मानते हैं।[१२] उनके अनुसार असंगठित मनुष्य समुदाय को संघर्षों का सामना करना पड़ता था, अतः उन्होंने अपनी समस्याओं के समाधान हेतु किसी काल-विशेष में एक साथ मिल कर राज्य व्यवस्था का अंकुश अपने ऊपर स्वीकार कर लिया। संत पाल जैसे ईसाई दार्शनिक राज्य को एक ईश्वरीय संस्था मानते हैं।[१४] उनके अनुसार राजा को ईश्वर से शक्ति प्राप्त होती है और राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है।

इन सिद्धान्तों की तुलना वैदिक मत से करने पर ज्ञात होता है कि यहाँ सामाजिक समझौता स्वीकार नहीं किया गया है। वेदों में उसका उल्लेख आंशिक रूप में भी नहीं है। वेदों में विकासवादी मत अवश्य स्वीकार किया गया है, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। किन्तु यह विकासवाद अरस्तू जैसे दार्शनिकों द्वारा मान्य शुद्ध विकासवाद नहीं है। इसके साथ ईश्वरवादी मत भी जुड़ा हुआ है, किन्तु यह ईश्वरवाद पश्चिम के ईसाई मत से मेल नहीं रखता है।

हम कह सकते हैं कि परमात्मा ही विराट् रूप धारण कर समाज और राज्य रूप में प्रकट होता है। अतः राजा विशेष रूप में और प्रजा सामान्यरूप में परमात्मा के ही रूप हैं। राजा परमात्मा की विभूति है। इस दृष्टि से यह वैदिक राज्य व्यवस्था ईश्वरवादी है। किन्तु व्यक्तियों के बीच जो संगठन का विकास परिवार से बढ़ते हुए राज्य तक पहुंचा, वह विकासवाद कहा जा सकता है। पश्चिमी मत के विपरीत यह विकास केवल भौतिक शक्तियों से प्रेरित होकर आगे नहीं बढ़ता है। इसके मूल में एकत्व की संगठनात्मक शक्ति कार्य करती है।

उपनिषदों का मुख्य विवेच्य विषय परम सत् का अनुसन्धान और उसके साथ आत्मा का सम्बन्ध निर्धारित करना है। सामाजिक व्यवस्था और राज्य संगठन से उनका कोई प्रयोजन नहीं है। फिर भी सत्यान्वेषी ऋषि समाज के एक अंग हैं और साधना की दृष्टि से समाज आदि संस्थायें अवश्य ही अपना महत्व रखती हैं। उपनिषदों में तत्कालीन सामाजिक दशा और उसके व्यवस्थापक नियमों की कुछ झलक उन कहानियों में मिलती है जो उपनिषदों में ज्ञान-चर्चा की भूमिका के रूप में कही गयी हैं। उनके आधार पर हम उपनिषदीय समाज-दर्शन पर विचार करेंगे।

पुरुष-सूक्त में विराट् रूप परमात्मा के अंगों के समान चार वर्गों का उल्लेख

किया गया है। उपनिषद् के ऋषि, मानो उसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यह वर्ण विभाजन मनुष्य जाति में ही नहीं है वरन् समस्त सृष्टि चार वर्गों में विभक्त है। बृहदारण्यक उपनिषद् में चार वर्ण रूप सृष्टि का उल्लेख इस प्रकार हैं-

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेक सन्न व्यभवत्। तच्छें
योरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रौ वरुणः
सोमो रुद्रः पर्यन्यो यमो मृत्युरीशान इति।[१५]

"आरम्भ में यह एक ब्रह्म (अग्नि) ही था। अकेले होने के कारण वह विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। उसने अतिशयता से क्षत्र इस प्रशस्त रूप की रचना की। देवताओं में क्षत्रिय, जो इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु ईशानादि हैं, उन्हें उत्पन्न किया।"

स नैव व्यमवत्स विशभसृजत यान्येतानि देव जातानि गणशः
आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति।[१६]

"वह विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। उसने वैश्य जाति की रचना की। जो ये वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वदेव, मरुत आदि देवगण गणशः कहे जाते हैं, उन्हें उत्पन्न किया।"

स नैव व्यमवत्स शौद्र वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयं हीद
सर्व पुष्यति यदिदं किच्च।[१७]

"फिर भी वह विभूतियुक्त करने में असमर्थ रहा, तो उसने शूद्रवर्ण की रचना की। पूषा शूद्रवर्ण है। यह पृथ्वी ही पूषा है, क्योंकि वह जो कुछ है, यह इसका पोषण करती है।"

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि समस्त सृष्टि और उसे द्योतित तथा संचालित करने वाली शक्तियाँ चार प्रकार की हैं। ज्ञान की प्रतीक प्रकाशस्वरूप अग्नि ब्राह्मण है। अन्यत्र अग्नि को परमात्मा का मुख तथा पुरुष-सूक्त में ब्राह्मण को परमात्मा का सिर माना गया है। अतः अग्नि के प्रति ब्राह्मण दृष्टि रखना उचित ही है। इन्द्र, वरुण आदि जीवनरक्षक हैं, इसलिए वे क्षत्रिक हैं। वसु, रुद्र आदि समृद्धि करने वाले हैं, इसलिए ने वैश्य हैं। पृथ्वी शूद्र है। वह सबकी सेविका और पोषक है।

इस प्रकार जब समस्त सृष्टि ही चार वर्णों में विभक्त है तो वृक्ष, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि भी इन चार वर्णों में विभक्त हों तो कोई आश्चर्य नहीं है। यह विभाजन किसी व्यक्ति-विशेष ने किसी सीमित प्रयोजन के हेतु नहीं किया है, वरन वह स्वाभाविक या ईश्वरकृत है। यह व्यवस्था सार्वभौमिक है। केवल भारत के हिन्दुओं में ही इसे सीमित मानना शास्त्र-विरुद्ध है।

उपर्युक्त उद्धरणों में इस बात पर भी बल दिया गया है कि किसी एक वर्ण के अभाव में कोई विभूतियुक्त कर्म नहीं हो सकता है। इस विशाल सृष्टि में यदि पृथ्वी (शूद्र) का ही अस्तित्व न हो तो इससे हजारों गुना बृहद् और चमचमाते हुए सूर्य, चन्द्र का भी कोई अर्थ नहीं है। इसी प्रकार मनुष्य समाज में यदि विचारक (ब्राह्मण), रक्षक (क्षत्रिय), उत्पादक (वैश्य) या सेवक (शूद्र) वर्गों में से एक भी निष्क्रिय हों या उनका अस्तित्व न हो, तो समाज में विभूतियुक्त कर्म नहीं हो सकता है। किसी एक वर्ण को मिटाने का प्रयास करना समस्त समाज को पंगु बनाना है। यह सृष्टि की व्यापक व्यवस्था के विरुद्ध है।

उपनिषदों में इस बात का भी स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि यह वर्ण-व्यवस्था समाज में जन्म से निर्धारित नहीं है किन्तु वंश के प्रभाव से मुक्त भी नहीं है। सत्यकाम जाबाल की आख्यायिका से हम उस काल की स्थिति का अनुमान लगा सकते हैं। जबाला नाम की एक स्त्री परिचारिका (शूद्र) थी। पति के घर में आने वाले अतिथि और अभ्यागतों की वह सेवा किया करती थी। उन्ही अतिथियों में से किसी से जबाला को युवावस्था में गर्भ प्राप्त हुआ और सत्यकाम का जन्म हुआ। यह भी सम्भव हो सकता है कि जबाला को अपने ही पति से सत्यकाम की प्राप्ति हुई हो। किन्तु इतना निश्चय है कि सत्यकाल के पिता का गोत्र आदि न बता सकी। गौतम ऋषि ने सत्यकाम के स्वभाव को देख कर कहा कि ऐसा स्पष्ट भाषण कोई ब्राह्मणेतर नहीं कर सकता। अतः वह ब्राह्मण ही है।[१८]

इसका तात्पर्य है कि मनुष्य का वर्ण उसके गुण और स्वभाव से निर्धारित होता है, किन्तु सामान्य रूप से पिता भी उसी वर्ग का होता है। माता से वर्ण निर्धारित नहीं होता। रैक्व मुनि राजा जानश्रुत को क्षत्रिय जानते हुए भी "शूद्र" कह कर केवल इसी लिए सम्बोधित करता है कि उसमें शुद्र के लक्षण है।[१९]

याज्ञवल्क्य के उपाख्यान से ज्ञात होता है कि एक से अधिक पत्नियां रखने की प्रथा अनैतिक नहीं थी। याज्ञवल्क्य जैसे ब्रह्मवादियों के भी दो भार्याएँ हो सकती थीं-"याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये"।[२०] राजाओं में उनकी पत्नियों की संख्या सैकड़ों में हो सकती थी।

उपनिषदों में आश्रम-व्यवस्था की ओर भी संकेत है। सत्य काम, श्वेतकेतु आदि ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए गुरु के पास विद्या अध्ययन करते हैं।[२१] उपमन्यु, पुलुष, मल्लषि, शर्कराक्ष और उनके पुत्र गृहस्थ हैं।[२२] उनके धन-धान्य से सम्पन्न बड़े परिवार हैं। याज्ञवल्क्य गृहस्थ आश्रम त्याग कर परिब्राजक हो जाते हैं।[२३] प्रव्रज्जा में वानप्रस्थ और संन्यास दोनों आश्रम आ सकते हैं।

उपनिषदों में मनुष्यों का विभाजन वर्ण और आश्रम के अतिरिक्त भिन्न प्रकार से भी किया गया है। इसका आधार उनकी प्रवृत्ति है। इस विभाजन के अनुसार सभी मनुष्य देव, मनुष्य और असुर तीन वर्गों में बाँटे जा सकते हैं। देव वे हैं, जिन्हें अपने शुभ कर्मों के फलस्वरूप प्रचुर भोग सामग्री उपलब्ध है और वे भोगों में लिप्त हैं। मनुष्य वे हैं जो धन में आसक्त हैं। उसी के संग्रह और संरक्षण में लगे हैं किन्तु उसके भोग के लिए उन्हें अवसर नहीं। असुर दूसरों को पीड़ा पहुँचा कर भोग सामग्री अशुभ-कर्मों से अर्जित करते हैं। उन्हें सुख नहीं प्राप्त होता, किन्तु वे अपने को सुखी होने का दम्भ करते हैं।[२४]

उपनिषदों में राज्य-व्यवस्था के सिद्धान्त नहीं बताये गये हैं किन्तु उनमें कुछ राज्यों का वर्णन अवश्य मिलता है जो उपनिषदीय सिद्धान्तों के अनुकूल है। उनमें जानश्रुत, अश्वपति और जनक के तीन राज्यों का वर्णन आया है। तीनों राज्यों का नियंत्रक राजा ही है। इससे सिद्ध होता है कि उस राज्य-व्यवस्था में राजतन्त्र को ही स्वीकारा गया था और उसी को वेदान्त के अनुकूल माना जा सकता है।

तीनों ही राजा कर्त्तव्य-परायण हैं और प्रजा की सुख समृद्धि के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले यश को सर्वाधिक मूल्य देते हैं। वे अपनी भोग-लिप्सा में कृतार्थता नहीं मानते हैं। राजा जानश्रुत "श्रद्धादेयो बहुदायी, बहुपाक्य"[२५] था और उसका तेज श्लोक के समान फैला हुआ था-"दिवा ज्योतिराततं"[२६]। राजा अश्वपति भी सुन्दर राज्य-व्यवस्था के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह अपने राज्य के प्रत्येक स्त्री-पुरुष के चरित्र को सर्वाधिक मूल्य देता है। उसे अपने राज्य की सीमा और समृद्धि का उतना गर्व नहीं है, जितना अपनी प्रजा के चरित्रवान् होने का। वह स्वयं अपने मुख से कहता है-

> न तो स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्ना
> विद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्षमाणो।[२७]

"मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है तथा न अदाता, न मद्यप, न अनाहिताग्नि, न अविद्वान् और परस्त्रीगामी ही है, फिर कुलटा स्त्री तो आयी ही कहाँ से ?"

उपनिषद्कालीन राजाओं में जनक की गणना सबसे आगे है। उस समय भी सब की जिह्वा पर जनक का ही नाम था। "जनको जनक इति वै जना धावन्ति"[२८] अर्थात् "लोग जनक-जनक कह कर दौड़ते हैं"। जनक की प्रसिद्धि दानी और श्रोता के रूप में थी। वह ज्ञानियों की सभायें करता और उन्हें स्वर्ण तथा गायें दिया करता था। इसी प्रकार की एक सभा में जनक ने याज्ञवल्क्य को एक सहस्र गायें और प्रत्येक गाय के साथ दस-दस पाद स्वर्ण दिया था।[२९]

उपनिषदों में वर्णित राज्य और समाज-व्यवस्था देखने से ज्ञात होता है कि वह वेदान्त दर्शन के अनुकूल है। वेदान्त के अनुसार परम सत् ब्रह्म है और जगत का नानात्व उसी से उत्पन्न होकर उसी के साथ जुड़ा हुआ है। जीव और जगत् की पूर्णता परमात्मा की प्राप्ति में ही सम्भव है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को पूर्णता प्राप्त करना सम्भव बनाने के लिए राज्य और समाज की व्यवस्था में सामान्य भौतिक समृद्धि, शान्ति, सच्चरित्रता और शिक्षा आवश्यक हो जाती है। राजा लोग स्वयं आदर्श जीवन जीते हैं और परम तत्व की प्राप्ति हेतु निष्ठापूर्वक प्रयास करते हैं। ब्राह्मण शिक्षा द्वारा और क्षत्रिय वर्ग रक्षात्मक व्यवस्था कर समस्त समाज को जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करने में सहायता करता है।

शिक्षा व्यवस्था ब्राह्मणों के हाथ में है। वे पढ़ने में रुचि रखने वाले योग्य विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा ही नहीं देते वरन् उनके खाने, पहनने और रहने की भी व्यवस्था अपनी ओर से करते हैं। आचार्य अपने परिवार के साथ सादा और सरल जीवन बिताते हैं और विद्यार्थियों को अपने परिवार के सदस्य की ही भांति रखते हैं। याज्ञवल्क्य राजा जनक से एक हजार गायें और स्वर्ण अपने लिए ही नहीं वरन् अपने विद्यार्थियों के लिए लाते हैं। राजा लोग इन ब्राह्मण आचार्यों की उदारतापूर्वक दान देते रहते हैं। यह दान देना राजा का प्रमुख कर्तव्य है।

आचार्य विद्यार्थियों की योग्यता के अनुसार उन्हें जीवनोपयोगी विद्यायें पढ़ाते हैं। श्वेतकेतु आचार्यकुल में बारह वर्ष रह कर वे सब विद्यायें पढ़ता है।[३०] वह बहुत बुद्धिमान और व्याख्या करने वाला हो जाता है। किन्तु अध्यात्म विद्या न सीखने के कारण उसका ज्ञान अधूरा रहता है और उसमें अविनय जैसे दुर्गुण बने रहते हैं। देवर्षि नारद अपने आचार्य के सामने उन सब विद्याओं के नाम बताते हैं जो उन्होंने पढ़ी हैं किन्तु उनके पढ़ने से शोक से निवृत्त नहीं हुए हैं-

> ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुरार्णं पच्चमं
> वेदानां वेदं पिच्चराशि दैवं निधि वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां
> भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां संर्पदेवज न विद्यामेतद् भगवोऽध्येमि।
> ......... सोऽहं भगवः शोचामि।[३१]

"भगवन्! मुझे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद याद हैं, इनके सिवा इतिहास पुराण, पाँचवॉ वेद, वेदों का वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, विधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या और देवजनविद्या (नृत्य संगीत आदि) हैं-वह सब मैं जानता हूँ।"

वेदान्तदर्शन के अनुसार ये सब विद्यायें जीवन के लिए उपयोगी हो सकती हैं।

इन के द्वारा मनुष्य अपने व्यावहारिक जीवन को समृद्ध और सुरक्षित बना कर अभ्युदय प्राप्त कर सकता है किन्तु इनसे न निःश्रेयस सिद्ध होता है और न शोक से निवृति होती है। उपनिषदों में शोक से मुक्त कराने वाली अध्यात्म विद्या को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। उस के लिए विद्यार्थी में इन्द्रिय-संयम, धृति और प्रशान्त बुद्धि की आवश्यकता है। अतः इस विद्या के अधिकारी गुरुकुल में पहले कुछ काल सेवा आदि कर्म करते हुए चित्त शुद्ध करते है और उसके उपरान्त आचार्य से आत्मज्ञान ग्रहण करते हैं। इस प्रकार समस्त शिक्षा व्यवस्था अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति हेतु तैयार की जाती है।

वेद और उपनिषद् काल की यह समाज व्यवस्था आदर्शवादी होते हुए भी जीवन के यथार्थ की उपेक्षा नहीं करती। व्यावहारिक जीवन को समृद्ध बनाना अधिकांश लोगों के हित में आवश्यक है। वह परमार्थ के लिए बाधक नहीं, वरन् उसी ओर ले जाने वाली है।

अद्वैतवेदान्त समग्र जीवन, समाज और राज्य का हितचिन्तक और समाज के सभी वर्गों के हेतु उन्नत की व्यवस्था करने वाला है। इसकी समग्रतावादी दृष्टि के सामने समस्त विश्व समाज एक परम सत् से जुड़ा दिखाई देता है। ऊपरी नानात्व और विभेदों के मूल में एक नित्य तत्व की सत्ता अपरिहार्य रूप में मानी गयी है और उसी दृष्टि से समाज की सभी संस्थाओं का विवेचन हुआ है।

## अद्वैत-वेदान्त में विवेचित समाज-व्यवस्था

शंकराचार्य ने अद्वैत वेदान्त की तर्कीय आधार ही नहीं प्रदान किया वरन् उसे व्यावहारिक जीवन के साथ सम्बद्ध कर तदनुकूल समाज-व्यवस्था की भी उद्भावना की। कोई भी भारतीय चिन्तक जीवन के यथार्थ की उपेक्षा कर विद्वज्जनों से प्रशंसित और आदरणीय नहीं हो पाया। अद्वैत-वेदान्त यद्यपि आत्मा और ब्रह्म की एकता सिद्ध करने में विशेष रूप से प्रवृत्त है, किन्तु उससे अन्ततः व्यक्ति के जीवन और समाज की व्यवस्था आदर्श रूप प्राप्त करती है और यही उसकी सार्थकता है। कुछ विचारकों का यह मत हो सकता है कि अद्वैत-वेदान्त की न अपनी कोई समाज-व्यवस्था है और न सामाजिक जीवन में उसकी कोई रुचि है। उनका तर्क यह होता है कि इस दर्शन में ब्रह्म को ही सत् माना गया है और जगत तथा जीवों की अनेकता तो मिथ्या है। मिथ्या वस्तु में कोई व्यवस्था या प्रयोजन खोजना निरर्थक है। वे दुःसाहसपूर्वक यह भी कह सकते हैं कि ब्रह्मज्ञानी पुरुष असामाजिक होता है। उसे न समाज के प्रति रुचि होती है और न उस पर सामाजिक वातावरण का कोई प्रभाव पड़ता है।

अद्वैत-वेदान्त के सम्बन्ध में ऐसा कहना प्रजल्पता मात्र है। उन्होंने इस

गौरवमय दर्शन को समझा ही नहीं वरन् उसके ऊपर मिथ्या धारणायें आरोपित कर रखी हैं। शंकर ने इस प्रकार की शंकाओं का उच्छेद करने के लिए प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्यों की उद्‌भावना की है। जब तक व्यक्ति स्वप्नजगत में वास करता है, तब तक उसके लिए वही सत्य है। उसके जागने पर ही उसे स्वप्न का मिथ्यात्व भासित होता है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान होने के पूर्व व्यावहारिक जीवन ही सत्य है। शंकर व्यवहार में जीवन और जगत को कभी मिथ्या नहीं मानते। ज्ञानपूर्व व्यक्ति को अपने व्यावहारिक जीवन में अपने तथा अपने आसपास के जगत के प्रति दायित्वपूर्ण जीवन जीना आवश्यक है। उसे मिथ्या मान लेने की सम्मति कभी नहीं दी जाती है।

ज्ञान प्राप्त होने पर व्यक्ति के वासनाजन्य काल्पनिक बन्धन नष्ट हो जाते हैं और आस-पास का जगत् तथा अपने स्थूलादि तीनों शरीरों को नामरूपमात्र देखता हुआ सर्वत्र एक अद्वितीय सत्ता का विस्तार देखता है। ऐसी दृष्टि पाकर भी उसके मन-बुद्धि पर वाह्य जगत का प्रभाव पड़ता है और वह अज्ञानियों की दैन्य दशा पर करुणार्द्र होकर उनका हित-चिन्तन और मार्ग-दर्शन करता रहता है। वह अज्ञानी सामाजिक मनुष्यों के बीच ज्ञानी रह कर आदर्श-जीवन जीता है और अज्ञान का आवरण तोड़ कर बाहर निकलने के लिए सबको प्रेरणा देता रहता है।

व्यवहारिक सत्य को स्वीकार कर शंकर व्यक्ति के नित्यप्रति के जीवन और समाज व्यवस्था आदि की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। शंकर इस व्यवस्था को "धर्म" नाम देते हैं। वर्णाश्रम धर्म, कुल धर्म, राजधर्म आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं। धर्म के ये सभी भेद व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं, इसलिए शंकर इसे प्रवृत्त धर्म कहते हैं। इसके अतिरिक्त निवृत्तलक्षण धर्म भी है, जिसका सम्बन्ध निःश्रेयस से है।[३२]

द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः
प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणः च।[३३]

"वेदोक्त धर्म दो प्रकार का है-एक प्रवृत्ति रूप और दूसरा निवृत्ति रूप।"

धर्म की परिभाषा देते हुए शंकर कहते हैं, "जो जगत् की स्थिति, प्राणियों की उन्नति और मोक्ष तथा कल्याण का हेतु है और ब्राह्मणादि वर्णाश्रम अवलम्बियों द्वारा जिसका अनुष्ठान किया जाता है, उसका नाम धर्म है।"[८४] इससे स्पष्ट है कि धर्म व्यावारिक जीवन जीने का विधान है। उसके नियमों का पालन करने में व्यक्ति और समष्टि सबका अभ्युदय तो होता ही है, साथ ही सबकी सुरक्षा भी रहती है। वर्ण और आश्रम की व्यवस्था और उसमें बताये गये नियमों का पालन करना ही धर्म है। धर्म का पालन करने से अन्ततः निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

इसके विपरीत धर्म की व्यवस्था न मानने से सामाजिक विघटन होता है और व्यक्ति का जीवन भी विशृंखलित हो जाता है। शंकर धर्म की मान्यता देकर सामाजिक व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

सामाजिक व्यवस्था का मुख्य आधार वर्ण और आश्रम धर्म है। शंकर ने इसका समर्थन किया है। वे पुरुष-सूक्त के "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" मंत्र का स्मरण करते हुए गीता के अनुसार उसे गुण कर्म पर आश्रित मानते हुए ईश्वरकृत स्वीकार करते हैं। गुण सत्य, रजस और तमस् हैं। इन गुणों से समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई है, इसलिए वह त्रिगुणात्मक और चार वर्णों में विभाजित है। इस सृष्टि में मनुष्य समुदाय भी है और वह भी त्रिगुणात्मक है। अतः समाज भी प्रकृत्यः चार वर्णों में विभाजित है। जैसे समस्त सृष्टि ईश्वरकृत है, वैसे ही मनुष्य समाज और उसका विभाजन भी ईश्वरकृत है। शंकर ने गुण और वर्ण का सम्बन्ध इस प्रकार निर्धारित किया है-

"सत्वगुण प्रधान ब्राह्मण है और शम, दम, तप आदि उसके धर्म हैं। सत्वगुण गौण और रजोगुण प्रधान होने पर मनुष्य क्षत्रिय वर्ण का माना जाता है और शूरवीरता, तेज प्रभृति उसके कर्म हैं। तमोगुण गौण और रजोगुण प्रधान रहने पर व्यक्ति वैश्व होता है और कृषि, वाणिज्य आदि उसके कर्म होते हैं। जिसमें रजोगुण और तमोगुण प्रधान होता है वह शूद्र है और केवल सेवा करना ही उसका कर्म है।"[३५]

शंकर द्वारा वर्ण निर्धारित करने की यह व्यवस्था सत्वादि गुणों पर आश्रित है जो क्रमशः श्वेत, रक्त और श्याम वर्ण के माने गये हैं। अतः "वर्ण" शब्द, जो रंग का वाचक है, तीन गुणों के रंगों का सूचक है। ये गुण मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति हैं। शरीर सभी मनुष्यों के एक समान हैं। शरीरों का रंग देख कर या शरीरों के जन्म से वर्ण निर्धारित करना गीता आदि ग्रन्थ और शंकर के विचार के विरुद्ध हैं। फिर भी जिस वर्ण की बुद्धि और संस्कार हैं, उन्हीं के अनुसार मनुष्य का शरीर भी उसी वर्ण का मान लिया जाता है।

कर्म भी वर्ण का निर्धारक है, किन्तु मनुष्य के वर्तमान कर्म उसके वर्ण के निर्धारक नहीं है। शंकर के कथनानुसार, "प्राणियों के जन्मान्तर में किए हुए कर्मों के संस्कार जो वर्तमान जन्म में अपने कार्य के अभिमुख होकर व्यक्त हुए हैं, उनका नाम स्वभाव है। ऐसा स्वभाव जिन गुणों की उत्पत्ति का कारण हैं, वे स्वभाव-प्रभव गुण हैं। गुणों का प्रादुर्भाव बिना कारण नहीं बन सकता है। अतः स्वभाव उनकी उत्पत्ति का कारण है और स्वभाव का कारण है पूर्व जन्म के कर्म।"[३६]

न तो वर्तमान में किये हुए कर्म ही वर्ण निर्धारित करते हैं और न किसी व्यक्ति का वर्ण उसे किसी कर्म में प्रवृत्त होने के लिए बाध्य करता है। मनुष्य को इस बात

की छूट है कि चाहे तो अपने वर्ण और स्वभाव के अनुकूल कर्म करे और चाहे तो उसके विपरीत कर्म करे। पशु-पक्षियों को यह छूट नहीं प्राप्त है। कर्म चयन की इस स्वतन्त्रता के कारण मनुष्य पशु-पक्षियों से उत्कृष्ट है। इस चयन स्वतन्त्रता के कारण ही उस पर राज्य और धर्म के नियम आरोपित किए जाते हैं। यदि मनुष्य अपने स्वभाव और गुण के अनुसार कर्म करने के लिए बाध्य होता तो उसे दण्डित या पुरष्कृत करना उचित न होता।

हर व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने वर्ण के अनुसार कर्म करेगा। ऐसा करने से उसे जीवन में सफलता मिलती है और सुख-शान्ति का अनुभव होता है। किन्तु यदि मनुष्य की दृष्टि कर्म-फल पर होती है, तो वह उस कर्म के करने का अधिकारी न होते हुए भी उसमें प्रवृत्त होता है और अनेक प्रकार की कठिनाइयों और असफलताओं का शिकार होता है। उसके इस दूषित आचरण को अधर्म कहते हैं। इससे आसपास के समाज पर भी विकृत प्रभाव पड़ता है।

गीता के आधार पर शंकर इस समस्या का कारण खोजने का प्रयास करते हैं कि मनुष्य अपने गुण या वर्ण के अनुसार आचरण क्यों नहीं करता है। जब सब का हित अपने वर्ण के अनुसार आचरण करने में है, तब सब को वही करना चाहिए। शंकर कहते हैं कि कामना उसके ज्ञान को ढक लेती है और उसमें रजोगुण उत्पन्न कर विपरीत आचरण में प्रवृत्त कर देती है। "कामो हि उद्भूतो रजः प्रवर्तयन् पुरुषं (पाप) प्रवर्तयति अर्थात् काम ही उद्भूत होकर रजोगुण को प्रवर्तित करता है और रजोगुण मनुष्य को पाप में प्रवृत्त करता है। अतः अपना धर्म त्याग कर अन्य कार्य करना अधर्म का हेतु अज्ञान, कामना और भोगेच्छा है। अधर्म का आचरण पाप है, क्योंकि उसके कारण मनुष्य को दुःख भोगना पड़ता है। "दुःखी च भवति नित्यम् एव"[३८] अर्थात् वह सदा दुखी ही रहता है। इस दुःख से बचने के लिए वर्ण-व्यवस्था स्वीकार करना अनिवार्य है। समाज की सुख-शांति और उन्नति का हेतु समझ कर शंकर ने वर्ण-व्यवस्था की आवश्यकता मानी है।

समाज की इस व्यवस्था को बनाये रखने के लिये समाज को बार-बार सचेत करते रहना और अंधविश्वासों तथा पापों से बचाये रखने की सतत आवश्यकता है। एक बार पुस्तक लिख देने या समाज में इन सिद्धान्तों की घोषणा कर देने से सदा के लिये समस्या हल नहीं हो जाती है। इसीलिए शंकर ने देश के चार कोनों में चार मठों की स्थापना की और उन मठों के अधीश्वरों का यह कर्त्तव्य निर्धारित किया कि वे पीढ़ी दर पीढ़ी इस व्यवस्था की आवश्यकता बार-बार तत्कालीन भाषा में मनुष्यों को समझाते और अपने धर्म पर आरूढ़ रहने के लिए प्रेरित करते रहेंगे। इससे सामाजिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त होगा। इस प्रकार के समाज में रह कर व्यक्ति अभ्युदय एवं निःश्रेयस को प्राप्त करने में सफल होगा।

राज्य व्यवस्था समाज-व्यवस्था का ही एक अंग है। समाज के चार अंगों में एक क्षत्रिय वर्ग है, उसी के साथ राज्यव्यवस्था जुड़ी हुई है। वैदिक काल से ही "राजा" शब्द क्षत्रिय का पर्यायवाची माना जाता रहा है-"बाहूराजन्यः कृत" अर्थात बाहु से राजा (क्षत्रिय) की उत्पत्ति हुई।[३६] शंकर भी ऐसा ही मानते हैं। वे राजा का अर्थ क्षत्रिय ही करते हैं।[४०]

तर्क इस प्रकार हो सकता है कि जिस मनुष्य में सत्वगुण गौण और रजोगुण प्रधान है, वह क्षत्रिय कहलायेगा।[४१] वह स्वभाव से शूरवीर और तेजस्वी होगा क्योंकि "स्वभाव प्रभवैर्गुणैः"[४२]-स्वभाव से ही गुणों की उत्पत्ति होती है। शौर्य और तेज के गुणों से उसमें "ईश्वरभाव" होना स्वाभाविक है।[४३] शंकर के अनुसार ईश्वरभाव का तात्पर्य है-"प्रभुशक्तिप्रकटीकरणम् ईशितव्यत् प्रति" अर्थात् जिनका शासन करना है, उनके प्रति प्रभुत्व प्रकट करना।[४४]

"क्षत्रिय" शब्द रक्षा का सूचक है। राजा बन कर क्षत्रिय को अपने अधीन प्रजा की रक्षा वाह्य आक्रमणों और आन्तरिक उपद्रवियों से करनी आवश्यक हो जाती है। इसके लिए युद्ध करना होता है। वीरतापूर्वक शत्रु से युद्ध करना उसका कर्त्तव्य बन जाता है। यदि क्षत्रिय इस प्रकार अपने धर्म का पालन करता है, तो उसमें परमात्मा की विशेष विभूति दिखाई देती है।[४५]

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शंकर वैदिक-विधान के अनुसार एकतंत्रात्मक राज्य-व्यवस्था स्वीकार करते हैं। राजा को अपने गुण और स्वभाव से क्षत्रिय होना चाहिए। वह धर्मात्मा राजा तभी होगा, जब वह दक्षता से सहसा प्राप्त हुए राज्य के अगणित कार्यों को बिना घबराये निपटाता रहे और शत्रुरूप अपराधियों और प्रथा-पीड़कों से युद्ध करने में बिल्कुल डरे नहीं।

राजा को राज्य धर्म के फलस्वरूप सुख प्राप्त होता है। भौतिक भोग की प्रचुर सामग्री और यश लाभ से उसे सुख मिलता है।[४६] किन्तु सुखों की कामना उसे राज्य संचालन के आवश्यक कार्यों और युद्ध से विरत कर सकती है। क्षत्रिय के लिए यह अधर्म है। इस प्रकार धर्माधर्म की शास्त्र-व्यवस्था राजा के ऊपर अंकुश रखती है और राजा धर्म की सीमा में रह कर समाज में शान्ति और समृद्धि बढ़ाता है।

सम्पूर्ण समाज की समृद्धि के लिए शान्ति और धन का वितरण आवश्यक है। शांति की रक्षा के लिए राजा शत्रुओं का विनाश करता है और अपराधियों को दण्ड देता है। यही न्याय-व्यवस्था की भी आवश्यकता हो जाती है। राजा उसके लिए उत्तरदायी होता है। सही न्याय के बिना समाज में शान्ति नहीं रह सकती है और कृषि-वाणिज्य आदि में समृद्धि भी नहीं हो सकती।

राजा का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य धन-वितरण है। वैश्य जाति सम्पत्ति की उत्पादक है। अपने इस कार्य के हेतु वह सेवकों से सहायता लेता है और बदले में उनका पुत्रवत् पालन-पोषण करता है। न्यायाधिपति होने के नाते राजा इस बात का ध्यान रखता है कि सेवक-वर्ग का शोषण न हो।

ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग के पोषण के लिए राजा उत्पादन पर कर लगा कर धन एकत्र करता है। राजा कर से वसूल हुये धन को सदा के लिए राज्य कोष में बन्द कर देता। वह उस धन का प्रयोग ब्राह्मणों को दान देने और सैनिक तथा अन्य राज्य कर्मचारियों को वेतन देने में करता है। अपने स्वभाव से ब्राह्मण विचारक और शिक्षक हैं। उनका ज्ञान समाज की समृद्धि के लिए बहुत आवश्यक है। अतः उनकी गौरवपूर्ण स्थिति को समझते हुए राजा का यह धर्म है कि वह उन्हें प्रचुर धन दान दे। यह "दान" देश की अर्थव्यवस्था की धुरी है। इसलिए इसे राजा का एक आवश्यक कर्त्तव्य बताया गया है।[४७] राजा जनक ब्राह्मण याज्ञवल्क्य को सुवर्णमंडित श्रृंगों वाली एक सहस्र गायें दान देते हैं। शंकर इस व्यवस्था का समर्थन करते हैं।[४८]

शंकर ने राजा को कहीं ईश्वर के द्वारा नियुक्त शासक नहीं माना है। राजा में जो तेज और शौर्य है, वह अवश्य ही ईश्वर की विभूति है।

समाज की अन्य संस्थायें जैसे परिवार, शिक्षा आदि पर शंकर के कोई अपने विचार नहीं मिलते। वे उपनिषदों में वर्णित व्यवस्था का अनुवाद मात्र करते हैं। फिर भी उनके भाष्यों से कुछ महत्वपूर्ण तथ्य निकाले जा सकते हैं।

शंकर व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्यों का भेद करते हैं। इस कारण जीवन के दो क्षेत्र हो जाते हैं। अज्ञानी की दृष्टि व्यावहारिक जीवन तक ही सीमित होती है और उसे इतना ही सत्य दिखाई देता है। उसे अपने व्यावहारिक जीवन के लिए जिस शिक्षा की आवश्यकता होती है, उसे उपनिषदों में "मंत्रविद्या" कहा गया है और उसका जानने वाला नारद की भाँति मंत्रवेत्ता होता है।[४९] नारद कहते हैं, सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि" अर्थात हे भगवान्, मैं केवल मंत्रवेत्ता हूँ। शंकर "मंत्रवित्" का अर्थ विज्ञानवद्य मानते हैं। शब्दों के द्वारा जिस विद्या का ज्ञान होता है, उसका आशय मनुष्य के कर्म से है। इसलिए "मंत्रवित्कर्म विदित्यर्थ" अर्थात मत्रवित् कर्मवित् से है। नृत्य संगीत, गणित, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र आदि इसी विद्या के अन्तर्गत आते हैं।

इस विद्या से मनुष्य अभ्युदय प्राप्त कर सकता है, किन्तु उससे न कृतार्थता आती है और न मानसिक सन्तोष से मुक्ति मिलती है।[५१] इस प्रयोजन को सिद्ध करने वाली दूसरी ही विद्या है। उसे "आत्म-विद्या" या "ब्रह्मविद्या" कहते हैं। शंकर मंत्रविद्या या कर्मविद्या की अपूर्णता दिखाते हैं और ब्राह्मविद्या की श्रेष्ठता बता कर उसके द्वारा पूर्णता, कृतार्थता और आनन्द प्राप्त करने के लिए उत्साहित करते हैं।

मुण्डक उपनिषद् में उन दोनों विद्याओं को "अपरा" और "परा" विद्या कहा गया है।[५२] परा विद्या की दृष्टि में अपरा विद्या "अविद्या" ही है। ईश उपनिषद् में उसे अविद्या कह कर तिरस्कृत किया गया है।[५३] परा विद्या का सम्बन्ध परमार्थ सत से है।

समाज में इन दोनों प्रकार की शिक्षाओं की व्यवस्था आवश्यक है। अपरा विद्या में मनुष्य सुसंस्कृत बनता है और परा विद्या में पूर्णता पाता है। अतः असंस्कृत व्यक्ति को अपरा विद्या की अपेक्षा है और संस्कृत व्यक्ति को परा विद्या सीखनी चाहिए। अपरा विद्या के हेतु अनेक विद्यालयों की आवश्यकता है, किन्तु परा विद्या प्रदान करने वाले आचार्य और उस विद्या को ग्रहण करने के अधिकारी थोड़े लोग ही होते हैं। यह शिक्षा कभी-कभी पिता-पुत्र को, पति-पत्नी को, भाई-भाई को, राजा-प्रजा को भी देता है। अधिकारी प्राप्त होने पर अन्य लोगों को भी यह विद्या दी जा सकती है।

आचार्य और शिष्य के मध्य जो सम्बन्ध रहना चाहिए, उसके प्रति भी शंकर सावधान है। उनके अनुसार ग्रन्थों का अध्यापन कर देने के उपरान्त आचार्य अपने शिष्य को वह ज्ञान व्यवहार में लाने की विधि बतावे और उसके हेतु उसे उत्साहित भी करे। व्यवहार में प्रयोग किये बिना ज्ञान अधूरा और खोखला है।

अधीतवेदस्य धर्मजिज्ञासामकृत्वा
गुरुकुलात्र समावर्तितव्यम्।[५४]

"वेदाध्ययन कर चुकने पर भी ब्रह्मचारी को बिना धर्मजिज्ञासा किये गुरुकुल समावर्तन नहीं करना चाहिए।"

गुरु अपने शिष्य से स्पष्ट कह दे कि हम आचार्यों के जो शुभ चरित्र हैं, उन्हीं को वह अपनावे, दूसरे नहीं। शास्त्र विरुद्ध कर्म आचार्य द्वारा किये जाने पर भी शिष्य के लिए अनुकरणीय नहीं है।[५५]

शिक्षा ग्रहण करने के उपरान्त विवाह करने और गृहस्थ धर्म का पालन करते समय भी स्वाध्याय प्रवचन करते रहना चाहिए।

स्वाध्यायोऽध्ययनं प्रवचनमध्यापनं
ताभ्यां न प्रमदितव्यम्।[५६]

'स्वाध्याय अध्ययन है और प्रवचन अध्यापन है। उन दोनों से प्रमाद न करे अर्थात उनका नियम से आचरण करता रहे।"

इस प्रकार शंकर के विचार से शिक्षा व्यवस्था व्यापक और प्रभावशाली होनी चाहिए तथा वह मनुष्य के जीवन का आवश्यक अंग बनी रहे। उसका सतत विकास और प्रसार होता रहे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अद्वैत वेदान्त के आचार्य मनुष्य के सामाजिक जीवन के प्रति उदासीन नहीं हैं। यद्यपि जीवन का चरम लक्ष्य आत्मा और ब्रह्म का एकत्वज्ञान प्राप्त कर अपने आन्तरिक आनन्द में रमण करना है किन्तु इस लक्ष्य को प्राप्त कर लेने पर भी मनुष्य को समाज में रहना होगा और अपने सुव्यवस्थित जीवन से अन्य लोगों को आदर्श प्रस्तुत करना है। समाज के अधिकांश लोग परम तत्व के ज्ञान के अधिकारी नहीं होते हैं। उनके लिए जीवन-व्यवस्था और समाज की संरचना निर्धारित करना दार्शनिक का आवश्यक कार्य होता है। उसे भी शंकर ने पूरा किया है। उन्होंने इसके हेतु केवल मूल सिद्धान्त निर्दिष्ट किये हैं, मनु की भांति उनका विस्तार नहीं किया है। शंकर मनुस्मृति को प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं और अपनी रचनाओं में उनका उद्धरण भी देते हैं।[५७] सम्भवतः मनुस्मृति की समाज-व्यवस्था की पुनरुक्ति से बचने के लिए उन्होंने समाज व्यवस्था का विस्तृत निरूपण न करके केवल समाज दर्शन के सिद्धान्तों का उल्लेख किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अद्वैत वेदान्त में हमें सुव्यवस्थित समाज दर्शन उपलब्ध नहीं होता किन्तु समाज संरचना के तत्व निःसन्देह विद्यमान हैं। अद्वैत वेदान्त के आचार्यों ने जीवन के परम लक्ष्य को सामने रख कर ही एक विशेष प्रकार के समाज की कल्पना की है। वर्णाश्रम धर्म एवं आश्रम धर्म उनकी सामाजिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। वे वर्णव्यवस्था युक्त समाज को स्वीकार करते हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति में सहायक है। प्रश्न यह है कि जो दर्शन पद्धति अद्वितीय ब्रह्म को ही एकमात्र सत् घोषित करती है वह मनुष्यों में वर्ण के आधार पर भेद को किस प्रकार स्वीकार करती है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि अद्वैत वेदान्त में दो दृष्टिकोणों को स्वीकार किया गया है- व्यावहारिक एवं पारमार्थिक। पारमार्थिक दृष्टिकोण से किसी प्रकार के भेद का अस्तित्व नहीं है । सब मनुष्य ब्रह्म ही हैं। व्यावहारिक दृष्टिकोण से हम सब भिन्न-भिन्न हैं। हमारे जन्म, मरण, कार्य एवं कर्त्तव्य इत्यादि सब भिन्न हैं। अतः व्यावहारिक स्तर पर ही वर्णव्यवस्था का महत्व है। इसीलिए शंकर ने पारमार्थिक स्तर पर एकता को स्वीकार करते हुए भी व्यवहार में जाति-भेद स्वीकार किया है। पारमार्थिक दृष्टि से शासक एवं शासित एक होते हुए भी व्यावहारिक स्तर पर भिन्न हैं। सामाजिक व्यवस्था के लिये इस प्रकार के भेद आवश्यक है। किन्तु आधुनिक भारतीय समाज में उपलब्ध वर्ण-व्यवस्था अद्वैत वेदान्तियों को मान्य नहीं हो सकती क्योंकि वे वर्ण-भेद को गुण एवं कर्म के आधार पर ही मानते हैं। अतः अद्वैत वेदान्तियों द्वारा कल्पित एवं स्वीकृत समाज उनकी तत्व मीमांसा के अनुरूप ही है।

## संदर्भ-सूची


१. पुरुष-सूक्त ३
२. वही ८
३. वही, ६
४. वही, १३
५. अथर्ववेद ३.१.१
६. वही, ३.१.२
७. वही, ८.१०.१
८. वही, ८, १०, २ और ३
६. वही ८, १०, ६
१०. वही ८, १०, ११
११. वही ८, १०, १३
१२. राजनीतिक विचारों का इतिहास, डॉ० प्रभुदत्त शर्मा, पृ० २११
१३. वही पृष्ठ ६८३
१४. वही पृष्ठ ३८०
१५. बृहदारण्यक उपनिषद् १.४.११, पृष्ठ २८६
१६. वही १.४.१२ पृष्ठ २६०
१७. वही १.४.१३ पृष्ठ २६१
१८. छान्दोग्य उपनिषद् ४.४.४ और ५ पृष्ठ ३८३
१६. वही ४.२.३ पृष्ठ ३६४
२०. वही ४.५.१ पृष्ठ ११२८
२१. वही ४.४.१ पृष्ठ ३८० और ६.१.६, पृष्ठ ५७४
२२. वही ५.११.१ पृष्ठ ५३६
२३. बृहदारण्यक उपनिषद् ४.५.१५, पृष्ठ ११४१
२४. वही ५.२.१
२५. छान्दोग्य उपनिषद् ४.१.१. पृष्ठ ३५२
२६. वही ४.४.२ पृष्ठ ५५४
२७. वही ५.११.५ पृष्ठ ५४०
२८. बृहदारण्यक उपनिषद् २.१.२ पृष्ठ ४०४
२६. वही ३.१.१ पृष्ठ ६२१
३०. छान्दोग्य उपनिषद् ६.१.२ पृष्ठ ५७५
३१. वही, ७.१.२, पृष्ठ ७१३

३२. श्रीमद्भगवद्गीता, शां०भा०, उपोद्घात् पृष्ठ १३
३३. वही
३४. वही
३५. वही, ४.३१, पृष्ठ ११२
३६. वही, १८.४१, पृष्ठ ४३४
३७. वही, ३.३७, पृष्ठ १०२
३८. वही, ३.३६, पृष्ठ १०३
३९. पुरुष-सूक्त ३
४०. श्रीमद्भगवद्गीता, शां० भा० ४.२, पृष्ठ १०७
४१. वही, ४.१३ पृष्ठ ११२
४२. वही, १८.४१, पृष्ठ ४३४
४३. वही, १८.४३, पृष्ठ ४३५
४४. वही,
४५. वही, १०.२७, पृष्ठ २५४
४६. वही, शां० भा० ११.३३, पृष्ठ २७२
४७. वही, १८.४२, पृष्ठ ४३६
४८. बृहदारण्यक उपनिषद्, शां० भा० ३.१.१, पृष्ठ ६२१
४९. छान्दोग्य उपनिषद् ७.१.३, पृष्ठ ७१४
५०. वही, शां० भा० ७.१.३, पृष्ठ ७१५
५१. वही, पृष्ठ ७१७
५२. मुण्डक उपनिषद १.४
५३. ईश उपनिषद् , ९
५४. तैत्तिरीय उपनिषद्, शां०भा० १.११.४, पृष्ठ ७२
५५. वही, पृष्ठ ७५
५६. वही, पृष्ठ ७४
५७. ऐतरेयोपनिषद् शां० भा० ३.१.३, पृष्ठ १००

# अध्याय-१२

# अद्वैत और विशिष्टाद्वैत वेदान्त

अद्वैत वेदान्त के समानान्तर एक अन्य दार्शनिक विचारधारा का विकास मुख्यतः ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य के विचारों से होता है। रामानुज ने वेदान्त का जो स्वरूप प्रस्तुत किया, वह विशिष्टाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध है। रामानुज का जन्म १०२७ ई० में श्रोपेरुम्बुदूर में हुआ था। उन्होंने कांजीवरम् में यादव प्रकाश से वेदान्त की शिक्षा प्राप्त की, किन्तु उनके विचारों से पूर्णतः सहमत न हो सके। अपनी प्रतिभा के बल पर वे श्रीरंगम् स्थित एक मठ के मठाधीश बन गये, किन्तु उस पद को अस्वीकार कर वे कांजीवरम् में ही सरल और त्यागमय जीवन जीते रहे। वहीं उन्होंने सन्यास धारण कर लिया और यतिराज की उपाधि से विभूषित हुए।

रामानुज ने वेदान्तसार, वेदार्थसंग्रह और वेदान्तदीपिका नाम के तीन स्वतंत्र ग्रन्थ और ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता पर अपनी महत्वपूर्ण टीकाएं लिखीं।

रामानुज के प्रधान अनुयायी वेंकटनाथ तेरहवीं शताब्दी में हुए। उन्होंने अपने स्वतंत्र ग्रन्थ लिखने के अतिरिक्त रामानुज के श्रीभाष्य पर तत्वटीका और उनके गीताभाष्य पर तात्पर्यचन्द्रिका नाम की टीका लिखी। अठारहवीं शताब्दी में उत्पन्न हुए रंगरामानुज ने रामानुज के अस्तिवाद के पक्ष में उपनिषदों पर भाष्य लिखे। इस प्रकार हम देखते हैं कि रामानुज का प्रभाव परवर्ती विद्वानों पर रहा है और आज भी उनका दर्शन सजीव है। रामानन्द, कबीर, नानक और बंगाल के ब्रह्म समाज ने उनके मत को आदर देकर उनमें से अनेक सिद्धान्तों को स्वीकार किया है।

रामानुज की ज्ञानमीमांसा पर ध्यान दें तो ज्ञात होगा कि वे ज्ञान का स्वरूप अजड़ मानते हैं। अपने आपको जानने में असमर्थ होने के कारण वह अचेतन है और विषय का प्रकाशक होने के कारण जड़ भी नहीं है।[1] ज्ञान विषयि को भी प्रकाशित करता है किन्तु वह अपने आपको नहीं जान सकता है। यह ज्ञान आत्मा का सार तत्व है और साथ ही उसका गुण-धर्म भी। प्रकाश भी दीपक का सार होता है और उसका गुण भी। चेतन आत्मा से ज्ञान पृथक् है। आत्मा अपने को जान सकता है और प्रकाशित भी कर सकता है, किन्तु वह वाह्य पदार्थों को प्रकाशित नहीं कर सकता।

जीव और ईश्वर धर्मीभूत ज्ञान हैं, क्योंकि वे दीपस्थानीय हैं और ज्ञान धर्मभूत

है, जैसे प्रकाश। जीव और ईश्वर से ज्ञान का नित्य सम्बन्ध है। जीव की जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं में ज्ञान सक्रिय होता है और सुषुप्ति में निष्क्रिय। ईश्वर में ज्ञान संकुचित और विकसित नहीं होता, वह विभु है।

शंकर ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी व्यावहारिक स्तर पर स्वीकार करते हैं। इससे शंकर और रामानुज में समानता दिखाई देती है। किन्तु ब्रह्म में, जो जीव और ईश्वर का तात्विक स्वरूप है, ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेद नहीं है। ब्रह्म की निर्विशेष सत्ता है और उसका ज्ञान भी निर्विशेष है। इस प्रकार शंकर ज्ञान के दो भेद करते हैं-निर्विशेष और सविशेष। यह भेद रामानुज को स्वीकार नहीं है। वे केवल सविशेष ज्ञान का रूप ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि ज्ञान का मुख्य लक्षण पर, प्रकाशक होता है।

विषय को प्रकाशित करने के लिए, रामानुज के अनुसार विषयी से ज्ञान की सक्रियता प्रारम्भ होती है। आत्मा से प्रारम्भ होकर ज्ञान मन और इन्द्रियों से होता हुआ पदार्थ तक पहुंचता है और उससे सम्पर्क कर उसी का आकार धारण कर लेता है। तदुपरान्त वह ज्ञान लौट कर विषयी को उसका प्रकाशन करता है।[२] शंकर भी विषय ज्ञान की यही प्रक्रिया स्वीकार करते हैं।

परम सत् के अपरोक्ष ज्ञान में रामानुज और शंकर में मतभेद हो जाता है। शंकर के अनुसार आत्मा और परम सत् ब्रह्म में अभेद है। स्वयंप्रकाशस्वरूप होने के कारण इन्द्रियादि उपकरणों के बिना आत्मा से ही आत्मा का ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान है। इसमें ज्ञाता-ज्ञेय का भेद नहीं, अतः ज्ञान की प्रक्रिया का भी अभाव है। यही शंकर के अनुसार निर्विशेष ज्ञान है।

रामानुज के अनुसार आत्मा ब्रह्म का ही रूप है, किन्तु दोनों में अभेद नहीं है। इसलिए आत्मा द्वारा ब्रह्म का ज्ञान ध्यान प्रक्रिया द्वारा होता है और ज्ञान निष्क्रिय नहीं रहता।[३] यह ज्ञान विषयी और विषय से युक्त होता है। इन्द्रियातीत होने पर भी वह निर्विषय नहीं है। अपरोक्ष ज्ञान की प्रक्रिया में ज्ञान मन और इन्द्रियों से होकर बाहर विषय तक नहीं जाता, वरन् आत्मा से सीधे ब्रह्म अभिमुख होकर उसका ज्ञान कराता है। इसीलिए वह अपरोक्ष है। फिर भी वह निर्विशेष नहीं है, क्योंकि ज्ञान सक्रिय है और ज्ञाता-ज्ञेय में भेद है। इस प्रकार रामानुज के अनुसार ज्ञान कभी भी विषय रहित चैतन्य मात्र नहीं हो सकता। वह सदैव किसी न किसी विषय पर केन्द्रित रहता है।

रामानुज के अनुसार प्रमा की प्राप्ति कराने वाला ही प्रमाण है,[४] और प्रमाण तीन हैं-प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।[५] डॉ० राधाकृष्णन् के अनुसार वे अन्य प्रमाणों के प्रति उदासीन हैं, किन्तु उनके अनुयायी प्रमाणों की सूची में एक या दो साधन और जोड़

देते हैं।[६] प्रत्यक्ष ज्ञान किसी-न-किसी इन्द्रिय की सहायता से होता है। धर्मभूत ज्ञान मन और इन्द्रिय से होकर वाह्य पदार्थ तक पहुंचता है, उसका रूप धारण करता है और उसे प्रकाशित करता है। रामानुज के इस मत से शंकर भी सहमत हैं, किन्तु निर्विकल्प और सविकल्प के भेद में वे एकमत नहीं है। यद्यपि दोनों आचार्यों को प्रत्यक्ष के ये भेद स्वीकार हैं, किन्तु उनका रूप दोनों एक समान नहीं देखते हैं।

रामानुज के अनुसार निर्विकल्प प्रत्यक्ष में सम्बद्ध विषय के विशिष्ट गुणों का प्रकाशन होता है और उसकी अनुभूति होती है। सविकल्प प्रत्यक्ष होने पर उस विषय के साथ वे सभी संदर्भ होते हैं, जिसमें वह पहले अनुभूत हुआ होता है। रामानुज निर्विकल्प प्रत्यक्ष में "प्रथमपिण्ड" ग्रहण[७] और सविकल्प प्रत्यक्ष में द्वितीय, तृतीय आदि पिण्डों की प्रतीति स्वीकार करते हैं।[८] निर्विकल्प प्रत्यक्ष में यद्यपि सम्बद्ध वस्तु के जातीय गुण ज्ञात होते हैं तथापि यह ज्ञात नहीं होता कि वे गुण उस जाति के अन्य पदार्थों में भी विद्यमान होते हैं। सविकल्प प्रत्यक्ष होने पर वस्तु के भूत सम्बन्ध के सन्दर्भ में युक्त तथा उस जाति को अन्य वस्तुओं के साधर्म्य सहित अनुभूति होती है।

शंकर के अनुसार निर्विकल्प प्रत्यक्ष में वस्तु की सत्ता मात्र का बोध होता है। उसका सविकल्प प्रत्यक्ष होने पर उसके गुण धर्म आदि प्रकट होकर वस्तु का पूरा ज्ञान करा देते हैं। रामानुज इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष में भी वस्तु के धर्म ज्ञान होने चाहिए, अन्यथा सविकल्प में उनकी उपलब्धि नहीं हो सकती है। रामानुज की यह मान्यता अपनी है। शंकर की मान्यता न्याय आदि दर्शनों के ही अनुकूल है।

रामानुज के अनुसार अनुमान परामर्श का परिणाम है। इस प्रक्रिया के द्वारा हम सामान्य तर्क वाक्य से किसी दृष्टान्त विशेष के सम्बन्ध में विधि या विशेष का कथन कर सकते हैं। अनुमान का आधार व्याप्ति है और रामानुज के अनुसार व्याप्ति को इंगित करने के लिये एक ही वस्तु या घटना पर्याप्त है। सन्देह निवारण के लिये अन्य दृष्टान्त लिए जा सकते हैं, किन्तु व्याप्ति निर्धारण में भावात्मक और निषेधात्मक दोनों प्रकार के उदाहरण देखने चाहिए।[९]

न्याय दर्शन में परार्थानुमान के पाँच अवयव माने गये हैं-प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। रामानुज इन पाँचों को मानना आवश्यक नहीं समझते हैं। प्रथम तीन अवयवों अथवा अंतिम तीन अवयवों से शुद्ध अनुमान किया जा सकता है। बुद्धिमान पुरुषों के लिए इतना ही आवश्यक है, इसलिए उन्होंने अपनी युक्तियों में केवल तीन अवयवों का ही प्रयोग किया है।

शंकर का मत भी इससे मिलता-जुलता प्रतीत होता है। वे भी अनुमान के प्रायः

तीन अवयवों का ही प्रयोग करते हैं, किन्तु कभी-कभी वे पाँचों अवयवों का प्रयोग करते भी दिखाई देते हैं।

रामानुज और शंकर दोनों ही शब्द प्रमाण को स्वीकार करते हैं और परम सत् के ज्ञान में एक मात्र साधन मानते हैं। शब्द प्रमाण भी दो प्रकार का हो सकता है-आप्त पुरुष से प्राप्त और वेदों से प्राप्त। परम सत् के ज्ञान में वैदिक शब्द प्रमाण की ही मान्यता है, क्योंकि वह अपौरुषेय है। वेदों की विश्वसनीयता संदेह से परे है। वे ईश्वर के नित्य वचन हैं।

शंकर उन स्मृतियों को भी शब्द प्रमाण के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं जो श्रुति अनुकूल हैं। सांख्य आदि स्मृतियों को उन्होंने प्रमाण नहीं माना है, भले ही वे सिद्ध पुरुषों के द्वारा लिखी गयी हों, क्योंकि वे श्रुति विरुद्ध हैं। उन्होंने भागवत् दर्शन का भी खण्डन किया है। रामानुज भागवत् दर्शन और पाँचरात्र आगम[१०] को भी प्रमाण मानते हैं और उन्हें वेदानुकूल स्वीकार करते हैं। यहाँ इन दोनों दार्शनिकों में मतभेद है।

रामानुज का मत है कि वेद हमें केवल परोक्ष ज्ञान ही प्रदान करते हैं। शास्त्रों के शब्दों को समझ लेने से भी कुछ अधिक की आवश्यकता है।[११] इसके विपरीत शंकर श्रुतियों के द्वारा ही ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान परोक्ष और अपरोक्ष दोनों रूपों में स्वीकार करते हैं। उपनिषदों में सृष्टि आदि का वर्णन परमात्मा का परोक्ष ज्ञान कराने के लिये किया गया है और ''तत्त्वमसि'' आदि महावाक्य अपरोक्ष ज्ञान कराते हैं। महावाक्यों के अर्थ पर विचार करने से परमात्मा का अपरोक्ष और निर्विशेष ज्ञान होता है।

रामानुज के अनुसार परमात्मा का अपरोक्ष ज्ञान सम्भव है, किन्तु महावाक्यों के अर्थ पर विचार करने से नहीं, वरन् उस ध्यान समाधि में सम्भव है, जिसमें भक्ति की पूर्णावस्था प्रकट होती है। इसमें दैवी कृपा अपेक्षित है। रामानुज अपरोक्ष ज्ञान को भी निर्विशेष नहीं मानते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक ज्ञान यथार्थ और सविशेष है। परमात्मा का अपरोक्ष ज्ञान भी सविशेष ही है।

ख्याति-सिद्धान्त में रामानुज और शंकर एक मत नहीं हैं। रामानुज सद्ख्यातिवादी हैं और शंकर अनिर्वचनीय-ख्यातिवादी। रामानुज समस्त ज्ञान को यथार्थ मानते हैं,[१२] इसलिये भ्रांति को भी सत् मानना पड़ता है। वे सीप में चाँदी की भ्रांति को असत् ज्ञान नहीं कहते। अपने मत को स्थापित करने के लिये वे विचित्र तर्क देते हैं। उनका कहना है कि समस्त वस्तुयें पंचतत्वों से निर्मित हैं। भिन्न तत्वों में उनका अनुपात भिन्न है। सीप और चाँदी में कुछ तत्वों की न्यूनाधिकता है। सीप में चाँदी के समान कई तत्व विद्यमान हैं। उनको देखना यथार्थ ज्ञान ही है। रामानुज का यह तर्क स्वस्थ नहीं है।

डॉ० सिन्हा के अनुसार उन्होंने भ्रांति के प्रश्न की समुचित व्याख्या न कर उसे टालने का प्रयास किया है।[१३]

रामानुज की तत्वमीमांसा पर विचार करने से ज्ञात होता है कि उनके अनुसार परम सत् सगुण या सविशेष ब्रह्म ही है, जिसे वह परम पुरुष कहते हैं। शंकर जिस निर्गुणनिर्विशेष ब्रह्म की सत्ता को मानते हैं, वह उन्हें स्वीकार नहीं है। उपनिषदों में जहाँ ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है, उसे शंकर अक्षरशः वैसा ही स्वीकार करते हैं। वही परम सत् है। किन्तु रामानुज का परम सत् सगुण ब्रह्म है। उपनिषद् उसी को इसलिए निगुर्ण कहते हैं कि उसमें कोई हीन गुण नहीं है।[१४]

रामानुज का सगुण ब्रह्म, जो तत्व विचार से परम सत् है, समस्त शुभ लक्षणों से युक्त है। वह परम आनन्द, परम प्रेम, अनन्त ज्ञान, अपरिसीम शक्ति, दया, क्षमा, वीर्य, तेज आदि दिव्य गुणों से युक्त है।[१५] वह सब में व्याप्त है और सबसे परे है। अपरोक्ष रूप से ब्रह्म के दर्शन इसी रूप में होते हैं। रामानुज का तर्क है कि सभी ज्ञान सविशेष होते है, सभी प्रमाण सविशेष विषयों को ही प्रकाशित करते है, इसलिए हम जिस ब्रह्म को जानते हैं या जान सकते हैं वह सविशेष ही हो सकता है। फिर भी वह नित्य अमल और निरतिशय है।[१६] तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णित ब्रह्म (सत्य, ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म) के लक्षणों की व्याख्या करते हुए रामानुज कहते हैं कि "सत्यम्" पद ब्रह्म का व्यावहारिक या वाह्यरूप बताना चाहता है। "ज्ञानं" पद ब्रह्म के परमार्थत्व का प्रतिपादन कर उसे अचित् से परे रखता है। "अनन्तम्" पद उसको देश-काल की सीमाओं से परे मानता है। ये तीनों पद अनृत जड़ता और विच्छिन्नता का खण्डन कर ब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप का निरूपण करते हैं।

रामानुज का सविशेष ब्रह्म परम सौन्दर्यमय और आनन्दमय भी है। उसमें कोई दोष, हीनता या त्रुटि न होने के कारण वह दिव्य है और शक्ति, सामर्थ्य, बल और वीर्य से युक्त है। वह निरपेक्ष और अद्वितीय है। जीव की सापेक्ष सत्ता से परे होने के कारण ही निरपेक्ष है। समस्त चित् अचित सृष्टि उसी का शरीर होने के कारण उससे अभिन्न है और ब्रह्म से परे या पृथक कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

रामानुज के अनुसार श्रुतियाँ अचित वस्तु, चित वस्तु और परब्रह्म को क्रमशः भोग्य, भोक्ता और ईश्वर बताती हैं।[१७] ईश्वर के संकल्प के द्वारा किये गये चिदचित् संसर्ग से देवों से लेकर स्थावर तक सम्पूर्ण अचित मिश्रित भूतों की उत्पत्ति होती है। भोक्ता और भोग्य रूप चिदचित दोनों ही तत्व परम पुरुष के शरीर होने के कारण उसके द्वारा नियमन करने योग्य और अपृथक हैं।[१८] सब अवस्थाओं में स्थित चिदचित् वस्तु ईश्वर के शरीर होने के कारण उनके रूप में परम पुरुष ही कार्यावस्थायुक्त और कारणावस्थायुक्त जगत रूप में स्थित हो रहा है।

श्रुति के इस कथन "जीवेनआत्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरणवाणि"[१६] का तात्पर्य बताते हुए रामानुज कहते हैं कि यह जीव और ब्रह्म की एकात्मता और है। "आत्मशरीरभावनिबन्धनम्"[२०] अर्थात् जीवात्मा परब्रह्म का शरीर है। ब्रह्म ही नामरूपों में व्यक्त होकर चिदचित् रूप शरीर में स्थित है। स्थूल और सूक्ष्म, चित् और अचित जिसका शरीर है, वह परम पुरुष ही कार्य और कारण दोनों अवस्थाओं में सर्वथा स्थित है। कारण से कार्य अभिन्न होता है, इसलिए कारण को भली-भाँति जान लेने से कार्य का ज्ञान हो जाता है। अतः एक को भली-भाँति जान लेने से सब ज्ञान होने को सर्वसम्मत सिद्धान्त कहते हैं, वह सर्वथा युक्तियुक्त ही है।[२१] स्थूल, सूक्ष्म तथा चित्त-अचित रूप में ब्रह्म ही कार्य और कारण है। इससे सिद्ध है कि जगत का उत्पादन कारण ब्रह्म है और जगत ब्रह्म का ही कार्य है।[२२]

रामानुज पुनः कहते हैं कि जगत का उपादान ब्रह्म होते हुए भी चिदचित् दोनों प्रकृतियों के सहित ही ब्रह्म उसका उपादान है। चित् अचित और ईश्वर तीनों मिल कर जगत का उपादान होने पर भी कार्यावस्था में भी उसमें भोग्य, भोक्ता, नियन्ता और नियम्य आदि का भेद रहता है।[२३] चिदचित् सभी अवस्थाओं में परम पुरुष का शरीर रहने के कारण उनके विशेषण के रूप में ही पदार्थ कहलाते हैं और चित् अचित विशिष्ट परम पुरुष ही कारण और कार्य हैं।[२४]

परब्रह्म का कार्य में अनुप्रवेश होने पर भी उसका अपने स्वरूप से विपरीत भाव कभी नहीं होता, इसका अविकारीपन सर्वथा सिद्ध होता है और स्थूल अवस्था में स्थित नामरूप के विभाग से विभक्त चिदचित् वस्तु के आत्मरूप से स्थित होने के कारण उसका कार्यरूप होना भी भली-भाँति बन जाता है, क्योंकि अवस्थान्तर की प्राप्ति ही कार्यत्व है। परब्रह्म निर्गुण इसीलिए कहलाता है कि कार्यभूत जगत के विकार उसे प्रभावित नहीं करते।[२५] ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप कहने का भी यही उद्देश्य है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान अखिल हेय गुणों के विरोधी कल्याणमय गुणों की खान परब्रह्म परमेश्वर का स्वरूप केवल ज्ञान के द्वारा ही निरूपित किया जा सकता है।[२६] रामानुज के अनुसार श्रुतियाँ भी परब्रह्म को केवल एक ज्ञान के द्वारा निरूपण किये जाने योग्य होने से और स्वप्रकाश होने से ज्ञानस्वरूप बतलाती हैं।[२७]

इस प्रकार परब्रह्म ही अपने संकल्प से विचित्र स्थावर-जंगम रूपों वाला होने के कारण नाना प्रकार से स्थित है। इसके विपरीत अब्रह्मात्मक वस्तु का नानात्व मानना सिद्धान्त नहीं है।[२८]

शरीररूप चिदचित् दोनों प्रकृतियाँ कारण अवस्था में नामरूप विभाग के अयोग्य हैं। उस समय वे सूक्ष्य रूप में होती हैं। वे प्रकृतियाँ कारण अवस्था में नाम रूप विभाग उत्पन्न कर सकती हैं और स्थूल दशा में आ जाती हैं।[२६] चिदचित् शरीरधारी परम

पुरुष के अतिरिक्त कुछ भी न होने के कारण श्रुतियाँ नानात्व का विरोध करती हैं। रामानुज कहते हैं कि इससे यह नहीं समझना चाहिए कि ''बहु स्यां प्रज्ञायेय'' इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध जो ब्रह्म की अपने संकल्प से की हुई नाना नामरूपता के कारण नाना प्रकारता है, उसका भी यह प्रतिषेध है।[३०]

इस प्रकार रामानुज के द्वारा प्रतिपादित परम सत् की तुलना शंकर के परम सत् से करें तो देखेंगे कि दोनों की दृष्टि में ब्रह्म संसार का उपादान और निमित्त दोनों कारण है। दोनों ही परमाणु और प्रकृतिवाद के विरोधी है। दोनों के विचार से ब्रह्म निरपेक्ष सत् है। उसके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की सत्ता नहीं है। समस्त जड़-चेतन सृष्टि ब्रह्म से ही उत्पन्न होती है।

फिर भी दोनों आचार्यों में परम सत् के विषय में मतभेद है। शंकर ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दो रूप मानते हैं, किन्तु रामानुज ब्रह्म का केवल सगुण रूप ही स्वीकार करते हैं। इस भेद के कारण शंकर ने पारमार्थिक और व्यावहारिक दो सत्तायें मानी हैं। उपनिषदों में वर्णित निर्गुण और निर्विशेष ब्रह्म को वे अक्षरशः सत्य मानते हैं और उसे परमार्थ सत् कहते हैं। व्यावहारिक दृष्टि में शंकर का वही मत है जो रामानुज का है। रामानुज पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टियों का भेद करना आवश्यक नहीं मानते हैं।

शंकर ब्रह्म को स्वगत, सजातीय और विजातीय भेदों से परे मानते हैं। अतः परमार्थ दृष्टि में एक अखण्ड ब्रह्म की ही सत्ता है। उसकी मायिक शक्ति से नाम-रूपात्मक जगत् व्यक्त होता है। परमात्मा पर ही आश्रित होने के कारण जगत को परमात्मा का शरीर मान सकते हैं। यह व्यावहारिक दृष्टि है। इसी जगत रूप धारण किये परमात्मा से रामानुज का परम पुरुष मिलता-जुलता है।

रामानुज जगत को मायिक यहीं मानते। उनके मत में ईश्वर, जीव और जगत तीनों सत् है। जीव और जगत ईश्वर के शरीर हैं। अतः ईश्वर से वे पृथक् नहीं हैं। चिदचित् शरीर सहित ईश्वर के अतिरिक्त कुछ नहीं है, इसलिए उसमें सजातीय और विजातीय भेद तो नहीं है किन्तु स्वगत भेद हैं। फिर भी रामानुज जीव और जगत् का न ईश्वर से स्वतन्त्र अस्तित्व मानते हैं और न उनका तादात्म्य ही स्वीकार करते हैं।

रामानुज एक दृष्टि से ईश्वर और जीव समस्त जीवों में परस्पर भेद यथार्थ मानते हैं।[३१] वे अद्वैतवादियों के उपाधिकृत आत्म-भेद का खण्डन करते हैं।[३२] उनका मुख्य तर्क यही है कि अभेद पारमार्थिक होने पर ज्ञानी को द्वैत की या तो प्रतीति न होगी अथवा मिथ्या प्रतीति होगी और ऐसी दशा में ईश्वर या ज्ञानी पुरुष के द्वारा कोई उपदेश सम्भव न होगा, क्योंकि अपने प्रतिबिम्ब को कोई उपदेश नहीं करता है।

रामानुज जीवात्मा को अविनाशी मानते हैं। अविनाशी होने का कारण यह है कि वह व्यापक होने के कारण अत्यन्त सूक्ष्म है। जड़ पदार्थ उससे स्थूल होने के कारण उसके व्याप्य हैं। वे आत्मा को नष्ट नहीं कर सकते। आत्मा ब्रह्म की तरह चेतन है किन्तु ब्रह्म की तरह सर्वव्यापी न होकर अणुरूप है। ईश्वर उसका स्थायी और उसके शुभाशुभ कर्मों का फलदाता है। जीव के लिए ईश्वर पूजनीय है।

व्यावहारिक स्तर पर शंकर भी यही मानते है। ईश्वर और जीव तथा जीवों में परस्पर इसी प्रकार भेद है। किन्तु शंकर परब्रह्म में पारमार्थिक दृष्टि से ये भेद स्वीकार नहीं करते। तात्विकरूप में आत्मा ब्रह्म ही है। वेदान्त के महावाक्य "अयमात्मा ब्रह्म" का अर्थ रामानुज के अनुसार केवल इतना है कि ब्रह्म और जीव एक समान चेतन, शुद्ध, अमल, नित्य और आनन्दस्वरूप हैं, किन्तु जीव का ज्ञान और ऐश्वर्य अति संकुचित है।[३२]

रामानुज के अनुसार उपचयरूप अर्थात् अनेक अवयवों के संघातरूप शरीर आदि विनाशी हैं, किन्तु आत्मा में उपचय उपलब्ध नहीं होते हैं, अतः वह नित्य है।[३४] आत्मा के प्रसंग में व्यापक का अर्थ सर्वव्यापी नहीं है। वह अत्यन्त सूक्ष्म है, जिसके कारण वह सब अचेतन पदार्थों में प्रविष्ट हो सकता है। जीव यद्यपि स्वरूपतः समीम है किन्तु संख्या में अनन्त है।

शंकराचार्य के अनुसार देश, काल, वस्तु, अपरिच्छिन्न वस्तु ही व्यापक और अनन्त होती है। यह लक्षण एक ही वस्तु का हो सकता है, और वह ब्रह्म है। जीव ब्रह्मभाव में ही व्यापक और अनन्त है। देहादि की उपाधि से वह परिच्छिन्न और सीमित है।

रामानुज यह स्वीकार करते हैं कि जीव की चेतना स्वाभाविक है। न्याय वैशेषिक दर्शनों की भांति वह मन के सम्पर्क में आने से चेतन नहीं होता। चेतन होने के कारण आत्मा ज्ञान सम्पन्न भी है। यद्यपि आत्मा अनन्त ज्ञान सम्पन्न है। किन्तु भौतिक आवरणों में वह अपने कर्मों से आच्छन्न होकर ज्ञान को आवृत कर लेता है।[३५] ज्ञान के साथ आनन्द भी प्रच्छन्न हो जाता है।

अनादि कर्म ही अविद्या है और अविद्या ही समस्त दोषों और दुःखों की कारण है। शंकर के अनुसार अविद्या का अर्थ अपने सत् स्वरूप का ज्ञान न होना है। किन्तु अविद्या के फलस्वरूप देह के साथ तादात्म्य और विषयों में प्रीति दोनों एक समान स्वीकार करते हैं।[३६]

अनादि कर्मवश जो जीव शरीर बन्धन में है और दुःख भोग रहा है, उसका इतना ही कर्तव्य है कि वह बन्धन की निवृत्ति के लिए अपने शरीरों के द्वारा स्वर्णोचित

शास्त्रीय युद्धादि कर्म फलाभिसंधि रहित होकर करते रहें और इन्द्रिय एवं विषयों के संयोग से जो शीतोष्णादि सुख दुःखादि प्राप्त होते हैं, उनको अनिवार्य मान कर मुक्त होने पर्यन्त सहन करता रहे।[३७] बन्धन के हेतु भूत कर्मों का नाश होने पर इन दुःखों का नाश होना स्वाभाविक है।[३८]

आत्मसाक्षात्कार से भी विषयासक्ति और कर्मबन्धन छूट जाता है, किन्तु इन्द्रियजन्य और आत्मसाक्षात्कार में अन्योन्याश्रय है। इसलिए ज्ञान निष्ठा बड़ी कठिन है। रामानुज इस कठिनाई से बचने के लिए अपने मन को ईश्वर में लगाने की सम्मति देते हैं। इससे समस्त पाप पूर्णतया भस्म हो जाते हैं और विषयासक्ति रहित मन इन्द्रियों को अपने वश में कर लेता है। यह स्थिति प्राप्त होने पर मन आत्मदर्शन प्राप्त करता है।" अविद्या से मुक्त होने कर लोग अपने स्वरूप में स्थित हो जाते हैं।[६०]

शंकर के अनुसार मुक्तावस्था में जीव अपनी उपाधियाँ त्याग कर ब्रह्मरूप हो जाता है। उसकी स्थिति परमात्मा के पृथक् नहीं होती। वह सर्वात्मभाव प्राप्त कर लेता है। किन्तु रामानुज के अनुसार जीव का भेद मुक्तावस्था में भी पूर्ववत बना रहता है। वे स्पष्ट कहते हैं कि अपने को "अं" करके सम्बोधित करने वाला आत्मा है और मुक्तावस्था में भी उसका अहं भाव प्रकाशित रहता है।[४१]

मुक्तावस्था में आत्मा को अपना यथार्थ ज्ञान रहता है। आत्मा को अपना ज्ञान प्रमाता रूप में ही होता है। प्रमेय रूप में उसका ज्ञान सम्भव नहीं है।[४२] नामरूप से मुक्त अपने स्वरूप को देख लेने पर यह ज्ञात हो जाता है कि समस्त आत्मवस्तु परस्पर सम है और सर्वेश्वर के साथ भी उसका साम्य है।[४२] एक आत्मा को देख लेने पर सब आत्मवस्तु उसी के समान होने के कारण समस्त प्राणियों का आत्मतत्व देखा हुआ हो जाता है।[४४] इस प्रकार जहाँ कहीं शास्त्रों में "ब्रह्मभूत" या "सर्वभूतस्थमात्मन" आदि पद आये हैं, रामानुज ने उनका अर्थ "समान" ही माना है। "तत्वमसि" का भी अर्थ यही है कि तुम उसके समान हो।

"माया" के विषय में रामानुज और शंकर के विचार बिल्कुल विपरीत हैं। रामानुज कहते हैं-ईश्वर की त्रिगुणमयी माया उनके द्वारा निर्मित है। असुर और राक्षसों के अस्त्रादि की भांति विचित्र कार्य करने वाली होने के कारण इसका नाम माया है। "माया" शब्द मिथ्या वस्तु का वाचक नहीं हैं।[४५] ऐंद्रजालिक आदि को भी किसी मंत्र या औषधि के द्वारा मिथ्या वस्तु के विषय में सत्यता बुद्धि उत्पन्न कर देने वाला होने के कारण ही "मायावी" कहते हैं। वस्तुतः वहाँ मंत्र और औषधि आदि ही माया है। सब प्रयोगों में अनुगत एक ही वस्तु को (माया) शब्द का अर्थ माना जा सकता है, अतः मिथ्या वस्तुओं में जो माया शब्द का प्रयोग हैं, वह मायाजनित बुद्धि का विषय होने के कारण औपचारिक है, जैसे "मच्चानें चिल्ला रही है" यह प्रयोग है।

यह गुणमयी माया पारमार्थिक वस्तु है। इसीलिए श्रुति कहती है-"प्रकृति को तो माया और महेश्वर को मायावी समझो।" भगवान् के स्वरूप को छिपा देना और अपने स्वरूप में भोग्यबुद्धि करा देना, इस माया का कार्य है। इसलिए भगवान् की माया से मोहित हुआ सब जगत असीम अतिशय आनन्दस्वरूप भगवान को नहीं जानता।

इस प्रकार महेश्वर की माया प्रकृतिरूपा है और वही तीन गुणों के बल से नामरूप धारण कर ईश्वर को दुर्विजेय बनाती है। अन्यत्र रामानुज ने "माया" शब्द का अर्थ ज्ञान भी किया है, इसलिए उनके अनुसार ईश्वर जब अपनी माया से प्रकट कहा जाता है, तो इस कथन का अभिप्राय यही होता है कि वह अपने ज्ञान से अथवा अपने संकल्प से प्रकट होता है।[४६]

शंकर ने माया को ईश्वर की शक्तिरूप में स्वीकार करते हुए भी उसे अनिर्वचनीय कहा है। वह न सत् है न असत् और न सत् एवं असत् दोनों। आचरण एवं विक्षेप शक्तियों से सम्पन्न यह माया समस्त सृष्टि को उत्पन्न करती हैं किन्तु उसके द्वारा उत्पन्न की गयी दृष्टि भी अनिर्वचनीय ही कहलाती है। यह ईश्वर की शक्ति होते हुए भी उसको प्रभावित नहीं करती और रामानुज की प्रकृति की तरह ईश्वर का शरीर भी निर्मित नहीं करती। रामानुज शंकर द्वारा वर्णित माया के स्वरूप से सहमत नहीं है। उनके अनुसार अनिर्वचनीय कुछ भी नहीं है। या तो कोई वस्तु सत् है अथवा असत्।

## संदर्भ-सूची


१. "सति विषयित्वम् अचेतनः"-यतीन्द्रमतदीपिका।
२. "आत्मा मनसा सच्युज्यते मन इन्द्रियेनेन्द्रियमर्थिनः"-यतीन्द्रमतदीपिका
३. "तस्मात् ध्याननियोगेन ब्रह्मापराक्षज्ञान फलेनैव बन्धनिवृत्तिः"-श्रीभाष्य
४. "तत्र प्रमाकरगम् प्रमाणम्"-यतीन्द्रमतदीपिका
५. "प्रत्यक्षानुमानागमाख्यम् प्रमाण जातम्"-श्रीभाष्य १.१.१
६. भारतीय दर्शन, डॉ. राधाकृष्णन, भाग २, पृष्ठ ६७५
७. "अतो निविकल्पकमेकजातीय द्रव्येषु प्रथमपिण्डग्रहणम्"-श्रीभाष्य १.१.१
८. "तत्र प्रथमपिण्ड ग्रहणे गोत्वादेरनुवृत्ताकारता न प्रतीयते। द्वितीय पिण्ड ग्रहणेष्वेवानुवृत्ति प्रतीतिः।-वही १.१.१
९. A History of Indian Philosophy, Dr. Jadunath Sinha, Vol. II, Pg.-656
१०. अतो वेदान्तवेद्यः परब्रह्मभूतो नारायणः स्वयमेव पंचरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता।
११. डॉ. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग २, पृष्ठ ६७७
१२. "सर्व विज्ञानजातं यथार्थम्"--श्रीभाष्य १.१.१

१३. "Ramanuja explains away error".Dr. Jadunath Sinha, A History of Indian Philosophy, Vol. II Pg.658
१४. "निर्गुणवादीः च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणसम्बन्धाभावाद् उपपद्यन्ते।"-रा. भा. गीता १३.२
१५. "अनन्तगुणनिधि दिव्य रूपः"-वही, प्रस्तावना, पृष्ठ ६
१६. "नित्यनिरवद्यनिरतिशय"-वही
१७. श्रीमद्भगवद्गीता, रा. भा. १३.२ पृष्ठ ४१५
१८. वही, पृष्ठ ४१८
१९. छान्दोग्य उपनिषद् ६.३.२
२०. श्रीमद्भगवद्गीता, रा. भा, १३.२, पृष्ठ ४२०
२१. वही, पृष्ठ ४२१
२२. वही
२३. "चिदचिदीश्वरसंघातोपादानत्वे अपि जगतः कार्यावस्थायाम्, अति भोक्तत्व-भोग्यत्वनियन्तृत्वनियम्यत्वाद्यसंकरः - वही, पृष्ठ ४२२
२४. श्रीमद्भगवद्गीता, रा. भा. १३.२, पृष्ठ ४२३
२५. वही
२६. वही, पृष्ठ ४२४
२७. वही
२८. वही, पृष्ठ ४२५
२९. वही, पृष्ठ ४२६
३०. "न श्रुतिसिद्ध स्वसंकल्पकृतं ब्रह्मणो ननानामरूपभाक्त्वेन नानाप्रकारत्वम् अति निषिध यते।"-वही, पृष्ठ ४२५
३१. "भगवतः सर्वेश्वराद् आत्मनां परस्परं च भेदः पारमार्थिकः"-रा. भा. गीता २.१२, पृष्ठ३१
३२. वही, पृष्ठ ३२
३३. "अतिसंकुचित ज्ञानेश्वर्यः जीवपूतः" रा.भा. गीता १५.७, पृष्ठ ४९०
३४. "एकरूपत्वेन अनुपचयात्मकत्वात् प्रभातृत्वात् व्यापकत्वात् च आत्मा नित्यः" वही, २.१८, पृष्ठ ४३
३५. "अनादि कर्मरूपाविद्यावेष्टन तिरोहितस्वरूपो।"-रा.भा. गीता १५.७, पृष्ठ ४८६
३६. "शरीरागोचरा चाहं बुद्धिरविद्यैव"-श्रीभाष्य १.१.१
३७. रा.भा. गीता, २.१३, पृष्ठ ३७
३८. वही, पृष्ठ ३८
३९. वही, २.६१, पृष्ठ ८०
४०. "अस्था अविद्याया मुक्तः स्वेतरूपेण अवतिष्ठते।"-वही, १५.७, पृष्ठ ४९०
४१. "स्वरूपेणैव अहमार्थः आत्मा मुक्तावपि अहनर्थ प्रकाशते"-श्रीभाष्य १.१.१

४२. रा.भा. गीता २.१८, पृष्ठ ४३

४३. वही, ४.३५, पृष्ठ १६५

४४. वही, ६.२६, पृष्ठ २११

४५. "मायाशब्दो न मिथ्यार्थवाची" वही, ७.१४, पृष्ठ २४०

४६. "आत्ममायता आत्मोयेन ज्ञानेन आत्मसंकल्पेन इत्यर्थः" रा.भा. गीता ४.६, पृष्ठ २४०

❑❑❑

# अध्याय-१३

# शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्त : व्याख्यापरक मतभेद

## सुरेश्वराचार्य

मंडन और सुरेश्वर दोनों शंकर के शिष्य माने जाते हैं। जब प्रश्न यह है कि हमने मंडन को शंकर के पहले और सुरेश्वर को बाद में क्यों रखा है। मंडन के संबन्ध में हम अपने विचार उनके विषय में लिखते समय व्यक्त कर चुके हैं। सुरेश्वर के संबंध में हम कह सकते हैं कि वे शंकर के बाद में पैदा हुये हैं क्योंकि डा. एस. एन. दासगुप्त ने उनका जन्म ८०० ई. में माना है जबकि शंकर का जन्म इससे पहले माना जाता है। सुरेश्वराचार्य को शंकर के बाद में रखने का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि सुरेश्वर ने शंकराचार्य को अपना गुरू स्वीकार किया है। वे शंकर के प्रमुख शिष्यों में एक हैं। कहा जाता है कि सुरेश्वर ने अपने गुरू की आज्ञा से गुरू के भाष्यों पर वार्तिक लिखे हैं। इसीलिये सुरेश्वराचार्य को वार्तिककार भी कहा जाता है। उनकी रचनाओं में वृहदारण्यकोपनिषद वार्तिक, तैतिरीय श्रुति वार्तिक, ब्रह्मसूत्रभाष्यवार्तिक, वार्तिकसारसंग्रह, नैष्कर्म्यसिद्धिः इष्टसिद्धिः आदि ग्रन्थ आते हैं।

यदि यह सत्य है कि शंकराचार्य ने सुरेश्वर को अपने भाष्यों पर वार्तिक लिखने की स्वीकृति दी, तो इससे यह सिद्ध होता है कि सुरेश्वर शंकर के अद्वैत दर्शन में भलीभांति निष्णात थे और उसमें उनकी निष्ठा भी थी। इस निष्ठा के होते हुये भी सुरेश्वर ने अपनी रचनाओं में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। ऐसा कहा जाता है कि सुरेश्वर के नैष्कर्म्य-सिद्धिः ग्रन्थ की स्वयं शंकराचार्य ने प्रशंसा की थी।

सुरेश्वराचार्य के लिये ब्रह्म ही परम सत् है। वह निरपेक्ष चित्: एकमात्र सत् एवं निराकार निर्विकार अपरिवर्तनशील एवं अविकारी है। ब्रह्म एवं आत्मा समानर्थक हैं। सुरेश्वराचार्य ब्रह्म को ही इस समस्त प्रपंच्च का आधार स्वीकार करते हैं। वे मण्डल के भावोद्वैत के कट्टर विरोधी हैं। शंकर के अनुयायी होने के नाते वे स्फोटवाद का भी विरोध करते हैं। ब्रह्म ही सर्वोच्च सत्ता है। उसकी सत्ता देश एवं काल से परे हैं। सुरेश्वराचार्य ब्रह्म एवं आत्मा में अभेद संबन्ध स्वीकार करते हैं। आत्मा ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही आत्मा है अर्थात् दोनों एक हैं, अद्वैत हैं। जिस प्रकार शंकराचार्य ''अहम् ब्रह्मास्मि'', ''अयमात्मा ब्रह्म'', तत्वमसि श्वेतकेत'' इत्यादि महावाक्यों का अर्थ आत्मा और ब्रह्म की एकता से लेते हैं, उसी प्रकार सुरेश्वराचार्य भी समझते हैं।

शंकराचार्य ने ब्रह्म एवं ईश्वर सम्बंध तथा ब्रह्म एवं जीव के सम्बंध को विभिन्न प्रकार की उपमाओं के द्वारा समझते हैं। उनके विभिन्न भाष्यग्रन्थों को देखने से ज्ञात होता है कि वे सभी स्थानों पर एक ही उपमा का प्रयोग नहीं करते। कहीं पर वे अवच्छेदवाद तथा अन्य स्थान पर प्रतिबिम्बवाद एवं आभसवाद का भी उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार शंकरोत्तर वेदान्त में मतभेद भी उत्पन्न हुये। सुरेश्वराचार्य ने, जो शंकर के शिष्य माने जाते हैं, आभास को अपना कर ब्रह्म एवं ईश्वर और जीव के संबंध की व्याख्या की है। भामती प्रस्थान में अवच्छेद एवं विवरण प्रस्थान में प्रतिबिम्बवाद को अपनाया गया। यही नहीं, ये विभिन्न विचारक एक दूसरे की आलोचना भी करते हैं। सर्वप्रथम मैं सुरेश्वरचार्य के विचारों की संक्षिप्त विवेचना प्रस्तुत करने का प्रयास करूंगा।

सुरेश्वराचार्य आभासवाद के समर्थक कहे जाते हैं। सुरेश्वर के पहले शंकराचार्य ने जीव को ब्रह्म का आभास घोषित किया है। उपनिषदभाष्य हो या ब्रह्मसूत्र भाष्य, अपने इन भाष्यों में शंकर आभासवाद का सहारा लेते मिलते हैं। उदाहरण के लिये छान्दोग्य उपनिषद के अपने भाष्य में शंकर कहते हैं कि "जीव तो उस देवता का आभास मात्र है जो दर्पण में प्रविष्ट हुये पुरुष के प्रतिबिम्ब के समान तथा जल आदि में प्रविष्ट हुये सूर्य के आभास के समान बुद्धि आदि भूतमात्राओं के संसर्ग से उत्पन्न हुआ है। अचिन्त्य एवं अनन्त शक्ति से युक्त उस देवता का बुद्धि आदि से संबन्ध रूप जो चैतन्याभास है, वही उस देवता के स्वरूप का विवेक ग्रहण न करने के कारण सुखी, दुखी, मूढ़ इत्यादि अनेक विकरणों की प्रतीति का कारण होता है"।[1]

इसी प्रकार शंकराचार्य ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्याय के तीसरे पाद के पचासवें सूत्र "अभास एव च" का भाष्य करते हुये जीव को उस ब्रह्म का आभास कहते हैं। वे कहते हैं कि "वस्तुतः रूपं रूपं प्रतिरूपों व भूव" इत्यादि श्रुति के अनुसार जलगत सूर्य के प्रतिबिम्बादि के समान परमात्मा का बुद्धि आदि में आभास ही जीव समझने योग्य है"।[2]

सुरेश्वराचार्य भी इस संबंध में शंकराचार्य का अनुसरण करते है। उन्होंने अपने वृहदारण्यक उपनिषद भाष्यवार्तिक में कई स्थानों पर जीव को उस परम चैतन्य का आभासमात्र ही स्वीकार किया है। वे जीव को चिदाभास होने के कारण मिथ्या भी मानते हैं।[3] यहाँ पर यह कह देना अनुचित न होगा कि विवरण प्रस्थान दोनों में जीव को मिथ्या नहीं कहा गया है। वस्तुतः किसी भी वस्तु को आभास मात्र मान कर उसे सत् की कोटि में नहीं रखा जा सकता। यदि इस समस्या को ध्यान में रख कर शंकर से पूछा जाय कि क्या वे जीव को मिथ्या मानते हैं, इस समस्या के समाधान के लिये शंकर के पक्षधर कह सकते हैं कि भाष्यकार ने तो जीव को अवच्छेदवाद एवं प्रतिबिम्ब का सहारा लेकर भी समझाया है, किन्तु सुरेश्वराचार्य ने ऐसा नहीं किया है। वे तो

"आभास" पर ही बल देते हैं। यही नहीं, सुरेश्वराचार्य तो ईश्वर को भी उस परमचैतन्य का आभास मानते हैं। सुरेश्वराचार्य ने अविद्या में चैतन्य के आभास को ईश्वर तथा बुद्धि में चैतन्य के आभास को जीव माना है।[४] अब प्रश्न यह है कि ईश्वर भी आभास है और जीव आभास होने के कारण अनिर्वचनीय एवं मिथ्या है तो ईश्वर को भी अनिर्वचनीय एवं मिथ्या होने चाहिये। सुरेश्वराचार्य निर्विवाद रूप से ईश्वर को अनिवर्चनीय एवं मिथ्या घोषित करते हैं। उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण के आधार पर हम यह कह सकते है कि सुरेश्वर आभासवादी हैं। अगले पृष्ठों में हम देखेंगे कि वे विश्व को परमचैतन्य का आभास कहते हैं।

शंकर की भांति सुरेश्वराचार्य यह मानते हैं कि ब्रह्म विषय रूप नहीं है, अतः मनुष्य को उपलब्ध प्रत्यक्ष आदि ज्ञान के साधनों से हम उसे नहीं जान सकते।[५] सुरेश्वर ब्रह्म ज्ञान के लिये आगम अर्थात् श्रुति प्रमाण को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार आत्मज्ञान आगमिक प्रत्यक्ष का विषय हो सकता है। सुरेश्वर मानते हैं कि श्रुति वाक्य अर्थात् शब्द से अविद्या का नाश हो जाता है, जिसके फलस्वरूप आत्मज्ञान का उदय होता है।[६]

यहाँ पर मंडन एवं सुरेश्वर का मत भेद समझ लेना आवश्यक है। मंडन ब्रह्मवादी हैं और ब्रह्मज्ञान के लिये ज्ञान एवं कर्म के समुच्चय की वकालत करते हैं। किन्तु सुरेश्वराचार्य मंडन के समुच्चयवाद के विरोधी हैं। उनका मत है ब्रह्मज्ञान न कर्म से और न कर्म एवं ज्ञान के समुच्चय से ही प्राप्त होता है। मोक्ष की प्राप्ति तो ज्ञान से ही होती है। मंडन का कहना है कि उपनिषद वाक्यों से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह परोक्ष ज्ञान हैं, क्योंकि वह वाक्य में आये हुये शब्दों के साथ मिला हुआ होता है। अतः वेदान्त वाक्यों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उस पर मनन करना आवश्यक है, इस मनन को मंडन उपासना भी कहते हैं। यह उपासना ही वेदान्त वाक्यों से प्राप्त संश्लिष्ट ज्ञान को शुद्ध करती है। उपासना द्वारा शुद्ध किया हुआ ज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है। यही ज्ञान अज्ञान की निवृत्ति करता है। मंडन मिश्र का यही समुच्चयवाद है, जिसका सुरेश्वराचार्य ने अपनी पुस्तक 'नैष्यकर्म्यसिद्धिः' में खंडन किया है। इस पुस्तक के पृष्ठ अड़तीस पर सुरेश्वर कहते हैं कि कुछ लोग मानते हैं कि वेदान्त वाक्यों से प्राप्त ज्ञान संसगीत्मक होने के कारण ब्रह्मज्ञान नहीं देता।[७] परन्तु यह उनकी गलत धारणा है। श्रुति वाक्य जनित ज्ञान मोक्षदायक है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि "परोक्ष्यं शब्दों नः" शब्दज्ञान परोक्ष ज्ञान नहीं है, वह तो अपरोक्ष ज्ञान है। इस संबंध में यह कहना उचित है कि सुरेश्वर अपने गुरु शंकराचार्य का अनुकरण ही कर रहे हैं।

सुरेश्वर ज्ञानकर्म समुच्चय का ही खंडन नहीं करते। वे मीमांसकों की उस धारणा के भी विरोधी हैं, जिसके अनुसार मीमांसक समस्त वेद वाक्यों का अर्थ क्रियापरक ही करते हैं। नैष्यकर्म्यसिद्धि के पृष्ठ तेरह पर सुरेश्वर जैमिनि के उस सूत्र

को उदघृत करते हैं जिसमें कहा गया है कि वेदावाक्यों की सार्थकता क्रिया परत्व ही है अन्यथा नहीं।[८] मीमांसकों का यह भी दृढ़ विश्वास है कि केवल वैदिक कर्मों के करने से ही मनुष्य को मुक्ति मिलती है। वैदिक विधि-निषेध ज्ञान प्राप्ति में अधिक सहायता नहीं करता। मीमांसकों के इन विचारों के विपरीत सुरेश्वर यह मानते हैं कि कर्मों के करने से मुक्ति का कोई सरोकार नहीं है। सुरेश्वर मानते हैं कि कर्मों के करने से चित्त शुद्धि एवं अभ्युदय प्राप्त किया जा सकता है, मुक्ति नहीं। यह कहना अनुचित न होगा कि अपने इन विचारों के लिये भी सुरेश्वर शंकराचार्य से प्रभावित है क्योंकि शंकर अपने गीता भाष्य की प्रस्तावना में कहते हैं कि कर्म यद्यपि स्वर्गादि की प्राप्ति का साधन है, तो भी फल की कामना छोड़ कर ईश्वरार्पणबुद्धि से किया जाने पर अन्तःकरण भी शुद्धि करता है।[९] शंकराचार्य ही नहीं वरन् भगवद्गीता भी पांचवे अध्याय में यही कहता है कि योगी लोग फल की आसक्ति छोड़ कर चित्रशुद्धि के लिये कार्य करते हैं।[१०] सुरेश्वराचार्य तो स्पष्ट रूप से कहते हैं कि अज्ञान के मिटने से ज्ञान प्राप्त होता है और अज्ञान के मिटने का साधन कर्म नहीं।[११] शंकर की तरह सुरेश्वर भी कर्म को स्वर्गादि का फल देने वाला मान लेते हैं। इस संबंध में मैं यह कह कर अपनी बात समाप्त करना चाहूँगा कि अपनी नैष्कर्म्यसिद्धिः के प्रथम अध्याय में सुरेश्वर ने मीमांसकों के कर्म सिद्धान्त का विस्तृतरूप से खंडन किया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे कर्मों के सम्पादन को जीवन का अन्तिम लक्ष्य प्राप्त करने में कोई महत्व नहीं देते। जीवन का अन्तिम लक्ष्य प्राप्त करने में कर्म का महत्व है, किन्तु एक हद तक, केवल चित्त शुद्धि तक और बिना चित्त शुद्धि के वह ज्ञान संभव नहीं जो मुक्तिदायक माना जाता है।

अपनी नैष्कर्म्यसिद्धिः के तीसरे अध्याय में सुरेश्वराचार्य ने अज्ञान अथवा अविद्या का विस्तृत वर्णन किया है। अज्ञान का स्वरूप, कार्य एवं परमतत्व से उसके संबंध पर भी चर्चा की गयी है। अज्ञान एवं अविद्या को ही सुरेश्वर माया कहते हैं। शंकर के अन्य अनुयायिओं की भाँति सुरेश्वर माया एवं अविद्या में भेद नहीं करते। सुरेश्वर दो ही तत्वों को मानते हैं-आत्मा एवं अनात्मा। आत्मा सत् चित् एवं आनन्द है। वह निर्विकार, शाश्वत, अपरिवर्तनशील एवं कूटस्थ नित्य है। सत्, चित् एवं आनन्द उसके गुण नहीं है वरन् ये तीनों आत्मा का स्वरूप निर्मित करते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि आत्मा सच्चिदानन्द है। वह समस्त विश्व से परे है, वही इसका आधार है। इस माया या अविद्या का आश्रय आत्मा है। आत्मा, अविद्या का आश्रय एवं विषय[१२] दोनों है। जीव अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि वह तो स्वयं अविद्या की उत्पत्ति है। जीव को अविद्या का आश्रय मानने से अन्योन्याश्रय दोष आ जायेगा। अतः अविद्या एवं जीव का संबन्ध स्पष्ट करते हुये डा. एस.एन. दासगुप्त लिखते हैं कि "यह स्पष्ट है कि वाचस्पति मिश्र एवं मंडन के विपरीत सुरेश्वर के मतानुसार अविद्या जीव पर आधारित नहीं होकर स्वयं शुद्ध चैतन्य पर आधारित है"

[१३]। यदि सुरेश्वर से यह पूछा जाय कि ज्ञान स्वरूप आत्मा अज्ञान का आश्रय कैसे हो सकती है तो उनकी नैष्कर्म्यसिद्धिः में इस प्रश्न का कहीं पर उत्तर नहीं मिलता।

अब प्रश्न यह है ब्रह्म एवं माया का अस्तित्व मान लेने के पश्चात इस विश्व की उत्पत्ति की व्याख्या करना आवश्यक हो जाता है। इस संबंध में सुरेश्वर अपने बृहदारण्यक भाष्य वार्तिक में कहते हैं कि यह विश्व आभास मात्र है।[१४] सुरेश्वर के अनुसार आन्तरिक एवं वाह्य जगत की प्रतीति उसी प्रकार आभास है जैसे रज्जु-सर्प, शुक्तिरजत अथवा कोई इन्द्रजाल की रचना हो। उनके अनुसार "क्रियाकारकफलात्मक आभासः" अर्थात् क्रिया कारक और फलस्वरूप संसार आभास है। यहाँ पर शंकराचार्य के वचनों को उदघृत करना अनुचित न होगा। शंकर कहते हैं कि "क्रियाकारकफल मे दाहि संसारः" अर्थात् क्रिया, कारक एवं फल में दस्वरूप संसार है। अतः सुरेश्वर एवं शंकर के विश्व की उत्पत्ति संबन्धी विचार समान प्रतीत होते हैं। सुरेश्वर मानते हैं कि अविद्या शुद्ध आत्मा पर आधारित होने के कारण जीवों की प्रतीतियां उत्पन्न करती है। यही अविद्या हमारे सभी प्रकार के आत्मपरक एवं विषयपरक अनुभवों की जननी हैं। यहाँ पर हम यह प्रश्न कर सकते हैं कि यदि अहं की उत्पत्ति भी अन्य विषयों की भांति अज्ञान द्वारा होती है तो अहं की प्रतीति भी अन्य वाह्य एवं आन्तरिक विषयों के समान ज्ञाता के रूप में न होकर ज्ञेय के रूप में होनी चाहिये।

इस संबंध में सुरेश्वर का कहना है कि जब हमारा मनस वस्तुओं के आकार में विकृत होता है, तभी यह घटना घटती है क्योंकि अहंकार का तत्व शुद्ध चैतन्य के साथ अभिन्न प्रतीत होने वाले तत्व की तरह संबन्धित होता है, इसीलिये वह ज्ञाता की भांति आभासित होता है, ज्ञेय की भांति नहीं। उस समय हम अहं से संबन्धित ज्ञाता एवं ज्ञेय का भेद कर ही नहीं पाते, जिस प्रकार हम जलती हुई लकड़ी और उसकी आग में भेद नहीं कर पाते। वास्तविकता में अहं भी अन्य विषयों की भांति ही एक विषय है।

सुरेश्वर मानते हैं कि अहं के होने से हम शुद्ध आत्मज्ञान की ओर नहीं बढ़ते हैं। किन्तु जैसे ही हमें आत्मज्ञान प्राप्त होता है, अहं एवं उससे उत्पन्न सभी रोग द्वैष इत्यादि प्रवृतिओं का नाश हो जाता है। अहं का यद्यपि आत्मत्व से घनिष्ट संबंध है किन्तु यह उसके लिये बाहर की ही वस्तु है। यद्यपि अज्ञान द्वारा सभी आरोपित भ्रान्तियां आत्मतत्व ही है, किन्तु कोई भी भ्रान्ति आत्मा के शुद्ध स्वरूप को विकृत करने में समर्थ नहीं है। इन भ्रान्तियों से अन्तःकरण दूषित होता है, आत्मतत्व नहीं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सुरेश्वर के लिये यह समस्त विश्व-प्रपंच्च अज्ञान की ही उत्पत्ति है, इसीलिये आत्मतत्व की अनुभूति हो जाने पर विश्वप्रपंच्च का लोप हो जाता है।

आत्माज्ञान से विश्व का लोप उसी व्यक्ति के लिये होता है, जिसे आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई है। अज्ञान से ग्रस्त व्यक्तिओं के लिये यह वाह्य विश्व यथास्थिति बना रहता है। यदि सभी व्यक्तिओं को आत्मानुभव हो जाता है, तब इसका सभी के लिये लोप संभव होगा।

अब प्रश्न यह है कि उस अज्ञान का स्वरूप क्या है जिसके कारण हमें ये वाह्य एवं आन्तरिक प्रतीतियां प्राप्त होती है। इस संबंध में सुरेश्वर के विचार शंकराचार्य के ही समान हैं सुरेश्वर भी शंकर की भांति इस अज्ञान या अविद्या को सत्-असत् से विलक्षण अथवा अनिर्वचनीय ही कहते हैं। इस अनिर्वचनीय अविद्या का आश्रय और विषय ब्रह्म को ही माना है। यहाँ पर हम कह सकते हैं कि सुरेश्वर ने शंकर की भांति सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म का भेद स्पष्ट रूप में नहीं किया है। अविद्या के कारण ही हम अपने सच्चे रूप को नहीं पहचानते हैं। डॉ. दासगुप्त मानते हैं कि सुरेश्वर के अनुसार "अविद्या की परिभाषा अपने अनुभव में आत्मा के परम एकत्व के अप्रत्यक्षीकरण के रूप में दी गयी है"[१५]। इस अप्रत्यक्षीकरण के कारण पुनर्जन्म होता है। अविद्या के नाश को ही सुरेश्वर मुक्ति की संज्ञा देते हैं।

सुरेश्वराचार्य के विचारों का उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन उनके ग्रन्थ "नैष्यकर्म्यसिद्धिः" एवं ब्रहदारण्यक भाष्य वार्तिक के आधार पर किया गया है। नैष्यकर्म्यसिद्धिः में कुल चार अध्याय हैं। इनमें से प्रथम तीन अध्यायों के मुख्य बिन्दुओं को छुआ गया है। ग्रन्थ के चौथे अध्याय में तो प्रथम तीन अध्यायों का सारांश प्रस्तुत किया गया है। ब्रहदारण्यकभाष्य वार्तिक तो एक बड़ा ग्रन्थ है, जिसका उपयोग सुरेश्वर के विचारों का परिचय प्राप्त करने के लिये किया गया है। सुरेश्वर के विचारों का अवलोकन एक बात की निःसंदेह पुष्टि करता है कि सुरेश्वर शंकराचार्य के निष्ठावान शिष्य हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में अपने गुरू के विचारों की ही व्याख्या एवं संबर्धन किया है। शंकर एवं सुरेश्वर के विचारों में भेद की खोज करना यदि असंभव नहीं तो दुष्कर तो है ही।

## मंडन एवं सुरेश्वर का मतभेद

मंडन एवं सुरेश्वर दोनों शंकराचार्य के शिष्य कहे जाते हैं। सुरेश्वर तो इस बात को स्वीकार भी करते हैं, किन्तु मंडन ने शंकर का शिष्य होना कहीं पर भी स्वीकार नहीं किया है। ये दोनों विचारक अद्वैतवादी होते हुये भी एक-दूसरे से सहमत नहीं हैं। इसका एक कारण हम प्रो० कुप्पूस्वामी शास्त्री के शब्दों में समझ सकते हैं। प्रो० शास्त्री कहते हैं कि मंडन मिश्र शंकर-पूर्व अवस्था के अद्वैतवादी विचारक हैं। मंडन शंकर-पूर्व दार्शनिक अवस्था का प्रतिनिधित्व करते हैं।[१६] इसीलिये मंडन के विचार अकादमिक स्वतन्त्रता और उनकी मौलिक सूझ के अधिक परिचायक हैं। यद्यपि मंडन अपने विचारों की सहायता के लिये श्रुतिओं एवं स्मृतिओं का सहारा लेते हैं किन्तु

उनकी 'ब्रह्मसिद्धिः' को देखने से ऐसा नहीं लगता कि वे किसी दूसरे दार्शनिक के विचारों की व्याख्या करते हैं। सुरेश्वर ने तो शंकर ग्रन्थों पर भाष्य लिखे हैं। उदाहरण के लिये ब्रहदारण्यकभाष्य वार्तिक शंकर के ब्रहदारण्यकभाष्य की व्याख्या है। इसीलिये सुरेश्वर की रचनाओं में कहीं ऐसा नहीं लगता है कि वे शंकर से अलग मत रखते हैं, जबकि मंडन की रचनाओं से यह ज्ञात होता है कि वे शंकर के मात्र व्याख्याकार नहीं है एवं अनेक स्थानों पर शंकर से भिन्न विचार रखते हैं।

हमने पिछले पृष्ठों में देखा है कि मंडन ने भहमीमांसा व्याकरण दर्शन एवं नैयायिकों के कतिपय विचारों को अद्वैत में स्थान देने का प्रयास किया है। भ्रम की व्याख्या में वे भी मीमांसकों के साथ चलते है, जबकि अद्वैत की स्थापना में भर्तृहरि के विचारों का उपयोग करते हैं। मंडन उपनिषद वाक्य 'नेति नेति' की व्याख्या करने के लिये भर्तृहरि के वचनों को उदधृत करते हैं[१७], जबकि सुरेश्वराचार्य भर्तृहरि इत्यादि से प्रभावित नहीं प्रतीत होते। शंकर के अनुयायी वाचस्पति मिश्र तो भर्तृहरि के स्फोटवाद को 'अवैदिक' सिद्धान्त की संज्ञा देते हैं।[१८]

मंडन भावाद्वैत अथवा सत्ताद्वैत को स्वीकार करते हैं। वे परमसत् अथवा ब्रह्म के समानान्तर निरपेक्ष निषेध के अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं। यद्यपि वे यह कहते हैं कि ब्रह्म के समानान्तर किसी विध्यात्मक तथ्य की सत्ता नहीं है। निषेध तत्व को अस्तित्व ब्रह्म के समानान्तर अस्तित्व रखने पर भी ब्रह्म का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती है। सुरेश्वर मंडन के इस भावाद्वैत से बिल्कुल सहमत नहीं हैं। वे शंकर की भांति शुद्ध अद्वैतवादी हैं, उन्होंने ब्रह्म के समानान्तर किसी भी विध्यात्मक अथवा निषेधात्मक तत्व के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया है।

यदि जीवनमुक्ति के संबंध में सुरेश्वर के विचारों को देखा जाये, तो वे शंकराचार्य के विचारों से पूर्णरूप से सहमत प्रतीत होते हैं।[१६] मंडन भी जीवनमुक्ति में विश्वास करते हैं[२०] किन्तु मंडन शंकर से पूर्ण रूप से सहमत नहीं हैं शंकर की ही भांति सुरेश्वर जीवनमुक्ति एवं विदेहमुक्ति दोनों को मानते हैं किन्तु मंडन केवल विदेहमुक्ति को भी श्रुति एवं स्मृतिओं के अनुरूप कहते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मंडन जीवन मुक्ति को नहीं मानते हैं, उनका तात्पर्य यह है कि जीवन मुक्ति के बिना शरीर नष्ट होने के साथ सभी प्रकार के कर्मों का नाश हो जाता है। लेकिन सुरेश्वर केवल विदेह मुक्ति को श्रुति अनुकूल नहीं मानते हैं। उनके अनुसार आत्मानुभव होने के साथ ही व्यक्ति मुक्त हो जाता है लेकिन प्रारब्ध कर्मों के चलते शरीर का रहना आवश्यक है।

सुरेश्वर के लिये केवल विदेहमुक्ति शास्त्र सम्मत नहीं है। प्रारब्ध कर्मों के भोग तक मुक्त व्यक्ति का शरीर रहना आवश्यक है, किन्तु मण्डन ब्रह्मानुभव के बाद तुरन्त देहपात स्वीकार करते हैं और प्रारब्ध कर्मों के भोग तक शरीर रहने को आवश्यक नहीं मानते अर्थात् प्रारब्ध कर्म भी आत्मानुभव के साथ समाप्त हो सकते

हैं, इसीलिये मंडन स्थित प्रज्ञ को साधक मानते हैं सिद्धिः नहीं मानते अर्थात् स्थित प्रज्ञ वह व्यक्ति है जो आत्मानुभव के पास तक पहुँच चुका है, किन्तु उसे प्राप्त नहीं कर सका है।[२१]

मंडन एवं सुरेश्वर के विचारों में एक महत्वपूर्ण भेद आत्मानुभव के साधन को लेकर भी है। मंडन के अनुसार उपनिषदिक वाक्य "तत्वमसि" आत्मा और ब्रह्म की एकता बतलाता है और उस निरपेक्ष सत् का ज्ञान भी देता है किन्तु मंडन के लिये यह ज्ञान परोक्ष होता है, अपरोक्ष नहीं। मंडन मानते हैं कि ब्रह्म का यह परोक्ष ज्ञान उन शब्दों के साथ संसर्गयुक्त होता है जो उपनिषदीय वाक्य में होते हैं। मंडन के लिये श्रवण ज्ञान के पश्चात् मनन अर्थात् ध्यान की आवश्यकता होती है। अतः श्रवण से प्राप्त ज्ञान को शुद्ध करने के लिये यह आवश्यक है कि उसका बार-बार मनन किया जाय। इसी अभ्यास को मंडन उपासना कहते है। श्रवण द्वारा प्राप्त ज्ञान जब उपासना द्वारा शुद्ध हो जाता है, तब ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है।

सुरेश्वर का मत मंडन से भिन्न है। सुरेश्वर के अनुसार उपनिषदीय वाक्य ब्रह्म का अपरोक्ष रूप से ज्ञान देते हैं। महावाक्य सुनने से जैसे ही आत्मा का ज्ञान उदित होता है वह समस्त पूर्व मिथ्या धारणाओं का नाश कर देता है। इसीलिये सुरेश्वर का मानना है कि वाक्य अज्ञान की निवृत्ति कर ब्रह्मज्ञान कराते हैं। इसमें दृष्टान्त दशम् पुरुष की आख्यामिका है जब कोई विद्यार्थी अपने समेत दस व्यक्तिओं को गिनने में अपने को छोड़कर गिनता है तो उसे वहां नौ व्यक्ति ही मिलते है। किन्तु जब गुरू उन नौ के साथ उसको भी गिन कर उससे कहता है कि तुम दसवें हो तो गुरूमुख से यह सुनने से ही उस गिनने वाले को दस व्यक्तिओं का ज्ञान हो जाता है, इसी प्रकार उपनिषदीय वाक्य के श्रवण से ब्रह्मज्ञान संभव है। सुरेश्वर स्वीकार करते हैं कि उपनिषदीय वाक्य एक निरपेक्ष तत्व के संबंध में हैं। इसीलिये तत् + त्वं + असि सुनने के पश्चात् किसी प्रसंख्यान अर्थात् मनन की आवश्यकता नहीं है। मनन एवं प्रसंख्यान की आवश्यकता तब होती है, जब एक वाक्य किसी सापेक्ष वस्तु का ज्ञान देता है।

अन्त में हम यह कहना चाहेंगे कि नैष्कर्म्यसिद्धिः का मुख्य उद्देश्य मोक्ष अथवा मुक्ति के सही साधनों पर विचार करना है। इस पुस्तक को आदि से अन्त तक पढ़ कर यही निष्कर्ष निकलता है कि सुरेश्वर के मोक्ष का सही साधन ज्ञान है, कर्म नहीं। सुरेश्वर के अनुसार कर्म आत्मोपलब्धि की प्राप्ति में साक्षात रूप से कोई सहायता नहीं करता। इसकी उपयोगिता ज्ञान प्राप्त करने के लिये चित्त को शुद्ध करने तक ही सीमित है।[२२] चित्तशुद्धि ही कर्म की आखिरी सीमा है। इस पुस्तक का शीर्षक भी हमें यही बतलाता हैं क्योंकि शीर्षक नैष्कर्म्यसिद्धि का अर्थ है "निर्गतं कर्म यस्मात्सः निष्कर्मा" तस्य सिद्धिः अर्थात् निश्चयः। अपने इस मत की स्थापना में भी सुरेश्वराचार्य शंकर के निष्ठावान अनुयायी हैं क्योंकि शंकराचार्य भी मोक्ष के मुख्य साधन के रूप में ज्ञान को ही स्वीकार करते हैं।

## संदर्भ-सूची


१. जीवो हि नाम देवतया आभासमात्रम्। बुद्धयादिभूतमात्रासंसर्गजनित आदर्श इस प्रविष्टः पुरुषप्रतिबिम्बो जलदिध्विव च सूर्यादीनाम। अचिन्तयानन्त शक्तिमत्या देवताया बुद्धयादिसंबन्ध । श्चैतन्यामासो देवतास्वरूप विवेकागहणनिमित्तः सुखी दुखी मूढ़ इत्याथनेकविकल्पप्रत्यय हेतुः। देखिये, छान्दोग्योपनिषद शंकरभाष्य ६.३.२

२. आभास एव चैव जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत्प्रतिपत्तव्यः। न स व साक्षात। नापि वस्त्वन्तरम। देखिये ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य, २.३.५०

३. देखिये, ब्रहदारण्यक उपनिष्ह्राद भाष्य वार्तिक अ० २-४ इत्यादि

४. देखिये, भामती तथा विवरण प्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन पृष्ठ ८७

५. अनागमिक प्रत्यक्षादिलौकिकप्रमाणाविषयत्वात् देखिये नैष्कर्म्यसिद्धिः अध्याय १ पंक्ति १२

६. अविद्यानाशमात्रंत फलमित्युपर्चयते। देखिये, वही अध्याय २, १०५ नाज्ञातज्ञापनं न्याय्यमवगत्येकरूपत।।

७. अपरे तु ब्रूबते वेदान्तवाक्यजनितमूहं ब्रह्मेति विज्ञानं संसर्गात्मकत्वादात्मवस्तुयथात्म्यावगाह्येव न भवति। देखिये, वही पृष्ठ ३८

८. आमान्यस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यम इतोऽन्यथा, देखिये नैष्कर्म्यसिद्धिः, पृष्ठ १३

९. सः देवादि स्थानप्राप्तिहेतुः अपि सन् ईश्वरार्पणबुद्धया अनुष्ठीयमानः सत्त्वशुद्धये भवति फलाभिः सन्धिवर्जितः। गीता शंकरभाष्य, प्रस्तावना, पृष्ठ १५

१०. योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्ग्त्यक्त्वात्मशुद्धयेद्र भगवदगीता, ५.११

११. अज्ञानमहानमात्रस्वात्मुक्तेः कर्म न साधनम्, नैष्कर्म्यसिद्धिः पृष्ठ, १६, २४

१२. आत्मविषमिति ब्रूभः। नैष्कर्म्यसिद्धिः पृष्ठ, १०६

१३. देखिये, ए हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलासफी, भाग दो, पृष्ठ ६७, हिन्दी अनुवाद

१४. देखिये वृहदारण्यक भाष्य वार्तिक, पृष्ठ १२४५

१५. ए हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलासफी, भाग दो, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ६५

१६. देखिये, ब्रह्मसिद्धिः मंडनमिश्र इन्ट्रोडक्शन, पृष्ठ ३०

१७. देखिये, प्री शंकर अद्वैत फिलासफी, संगमलाल पाण्डेय, पृष्ठ ३३४

१८. देखिये, वही

१९. देखिये, नैष्कर्म्यसिद्धिः पृष्ठ १९६-२०२

२०. देखिये, ब्रह्मसिद्धिः, पृष्ठ १३०-१३१

२१. स्थितप्रज्ञस्तावत्र विगलतिनिखिलाविद्यः सिद्धः किन्तु साधकः एवावस्थाविशेषम् प्राप्तः स्यात् ब्रह्मसिद्धिः, पृष्ठ १३०

२२. देखिये, नैषकर्म्यसिद्धिः, पृष्ठ ५४-५७

# भामती प्रस्थान एवं विवरण प्रस्थान

शंकराचार्य के विचारों को प्रस्तुत करने के पश्चात् एक प्रश्न यह है कि शंकोरत्तर अद्वैत विचारधारा का प्रवाह कैसा एवं किस ओर रहा। हम देख चुके हैं कि शंकर के समकालीन विचारक एवं उनके मुख्य शिष्य सुरेश्वराचार्य ने अपने गुरू की विचारधारा को आगे बढ़ाने का भरसक प्रयास किया। इन्होंने शंकर के विचारों को पूरी निष्ठा के साथ स्वीकार किया, किन्तु इसके विपरीत लगभग इसी समय के अद्वैतवादी विचारक आचार्य मंडन मिश्र ने अद्वैतदर्शन का समर्थन तो किया लेकिन उन्होंने शंकराचार्य के विचारों से अपना मतभेद भी स्पष्ट किया। सुरेश्वर ने शंकर को अपना आराध्य गुरू मान कर उनके विचारों की व्याख्या एवं उनके निहितार्थ को स्पष्ट करने का प्रयास किया। वे शंकर से अपना मतभेद कभी प्रकट नहीं करते। इस संबंध में एक अन्य बात का भी ध्यान रखना है, और वह यह कि मंडन के अद्वैत दर्शन का आधार प्रस्थानत्रयी है जबकि सुरेश्वराचार्य के सभी विचार शंकर के भाष्यों पर ही आधारित हैं। मंडन अपने विचारों के साक्ष्य के लिये कभी शंकराचार्य का सहारा नहीं लेते हैं, जबकि सुरेश्वराचार्य प्रत्येक विषय पर शंकर के ही विचारों का सहारा लेते प्रतीत होते हैं। मंडन भर्तृहरि के शब्दाद्वैत से प्रभावित हैं, जबकि सुरेश्वर अपने गुरू की भांति स्फोटवाद का खंडन करते हैं।

मंडन एवं सुरेश्वर के मतभेदों का शंकराचार्य के बाद में अद्वैतवेदान्त के विकास पर काफी प्रभाव पड़ा। आश्चर्य की बात तो यह है कि मंडन एवं सुरेश्वर दोनों अद्वैत दर्शन के आचार्य हैं और अनेक विषयों पर दोनों में सहमति भी है, फिर भी कतिपय भेदों के कारण ये दोनों भिन्न प्रकार अद्वैत का प्रतिपादन करते हैं। मंडन अपनी रचना 'ब्रह्मसिद्धिः' में सुरेश्वराचार्य से एक भिन्न प्रकार के अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते प्रतीत होते हैं। मंडन के सिद्धान्तों से भामतीकार आचार्य वाचस्पति मिश्र प्रभावित हुये और उन्होंने अपने इस ग्रन्थ में मंडन के कतिपय विचारों का समर्थन किया। इसीलिये ''भामती' में प्रतिपादित विचारों के आधार पर ही अद्वैतवेदान्त में एक प्रस्थान का प्रारम्भ हुआ, जिसे भामती प्रस्थान कहा जाता है। कालान्तर में इस प्रस्थान के अनेक अनुयायी सामने आये।

मंडन के विपरीत सुरेश्वराचार्य ने कभी भी भर्तृहरि के अक्षरब्रह्म का अनुमोदन नहीं किया। उन्होंने शंकर के भाष्यों पर भाष्य लिख कर अपने विचारों को प्रस्तुत किया। इसी प्रकार पदमूपादाचार्य ने सुरेश्वर और शंकर के प्रभाव में आकर 'पंचपादिका' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसी 'पंचपादिका' पर प्रकाशात्मयति ने 'पंचपादिका-विवरण' नामक भाष्य लिखा। भामती-प्रस्थान पर मंडन के विचारों का प्रभाव देखा जा सकता है, जबकि 'पंचपादिका-विवरण' एवं उसके अनुयायिओं पर सुरेश्वराचार्य का प्रभाव स्पष्ट है। इस पंचपादिका-विवरण से ही विवरण-संप्रदाय का

प्रारम्भ होता है। इस प्रकार शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्त में भामती-प्रस्थान तथा विवरण-प्रस्थान का प्रारम्भ हुआ। इन दोनों प्रस्थानों के अनुयायिओं ने अपने-अपने प्रस्थान का संबंधन किया। अब हम दोनों प्रस्थानों की मुख्य-मुख्य मान्यताओं को प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

## भामती प्रस्थान

इस प्रस्थान के प्रवर्तक आचार्य वाचस्पति मिश्र हैं। इन्होंने मुख्य रूप से आठ ग्रन्थों की रचना की है। इन ग्रन्थों का उल्लेख आचार्य स्वयं ने अपने अन्तिम ग्रन्थ 'भ्रामती' के अन्त में किया हैं। ये ग्रन्थ इस प्रकार हैं- न्यायकणिका, ब्रह्मतत्वसमीक्षा, तत्वविन्दु, न्यायवार्तिक, तात्पर्यटीका, न्यायसूचीनिबन्ध, सांख्यतत्वकौमुदी, तत्ववैशारदी और भामती।

शंकराचार्य ने शारीरिक भाष्य के नाम से ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखा हैं। इसी शारीरिक भाष्य पर वाचस्पति मिश्र ने 'भामती' नाम की एक विद्वतापूर्ण टीका की रचना की है। भामती उनके जीवन की अन्तिम रचना है। शारीरिक भाष्य के गूढ़रहस्यों पर प्रकाश डालते हुये उसके मुख्य-मुख्य विषयों को नवीन दृष्टिकोण से समझने का प्रयास भी किया गया है। आचार्य मंडन मिश्र के जिन सिद्धान्तों को अवैदिक कह कर तिरस्कृत करने का प्रयास किया गया, शंकर के विचारों के साथ उनका तालमेल बिठाने का कार्य वाचस्पति मिश्र ने अपनी रचना भामती में किया है। 'भामती' के अध्ययन से वाचस्पति मिश्र ने रचना में निहित उद्देश्यों का पता भी चलता है। प्रथम उद्देश्य शंकर के शारीरिक भाष्य के गूढ़ रहस्यों को स्पष्ट करना है, जबकि द्वितीय उद्देश्य विरोधी मतों का तर्क प्रतिष्ठित खंडन करना प्रतीत होता है। उनका तृतीय उद्देश्य श्रुतियों के आधार पर ब्रह्मद्वैत को प्रतिष्ठित करना एवं उनका चौथा उद्देश्य मंडन एवं शंकर के बीच मतभेद को समन्वयात्मक दृष्टि से देखना हैं। भामती ने पंडितवर्ग को इतना प्रभावित किया कि इस पर कालान्तर में अनेक विद्वानों ने टीकायें लिखी है। इन टीकाओं में से कतिपय टीकाओं का उल्लेख करना अनुचित नहीं होगा।

'भामती' पर सबसे प्राचीन अमलानन्द द्वारा रचित 'वेदान्तकल्पतरू' नामक टीका है। इसका समय १२४७-१२६० ई० के मध्य माना जाता है। 'वेदान्तकल्पतरू' पर अप्पयदीक्षित ने १६०० ई० के लगभग 'वेदान्तकल्पतरूपरिमल' नामक टीका लिखी है। इन टीकाओं के अतिरिक्त भामतीतिलका एवं भामतीविलास टीकाओं की रचना हुई। 'भामतीतिलक' अल्लाल द्वारा लिखी गयी है। १३५० ई० में अखंडानन्द ने भृव्जुप्रकाशिका नामक 'भामती' पर एक टीका लिखी। उपर्युक्त टीकाओं के

अतिरिक्त भी 'भामती' पर कतिपय अन्य टीकायें लिखी गईं। अब हम 'भामती' में प्रतिपादित मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

## ब्रह्म की अद्वितीयता

भामती में ब्रह्मतत्व को ही एकमात्र सत् स्वीकार किया गया है। इस अर्थ में भामतीकार श्रुतिओं का अनुसरण करता है क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद घोषणा करता है कि 'एकमेवद्वितीयम्'[१]। वह परमार्थ सत् सजातीय, विजातीय एवं स्वगत आदि भेदों से परे है। तैंतरीय उपनिषद कहता है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मा[२] सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म के गुण नहीं है वे तो उसके स्वरूप लक्षण हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म स्वरूप निर्मित करते हैं। ये तीनों एकार्थता का बोध कराते हैं। वह ब्रह्म कटस्थनित्य, अनिवाशी एवं सभी प्रकार के विकारों से परे हैं। इस ब्रह्म में ही समस्त विश्व प्रपंच अध्यस्त है। सत् पर अध्यस्त् होते हुये भी समस्त प्रपंच असत् है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि हमारे शरीर एवं इन्द्रियों का हमें अनुभव होता है अर्थात् यह प्रपंच प्रकाशित एवं अनुभूत है, अतः इसे असत् कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

इस प्रश्न के उत्तर में भामतीकार का कहना है कि केवल प्रकाशत्व सत् नहीं होता। इसी कारण देह या इन्द्रियों के प्रकाशित होने के कारण, इसे सत् नहीं माना जा सकता।[३] सत् का स्वरूप बतलाते हुये भामतीकार का कहना है कि सत् वह है जो प्रबाधित हो। सत् का भूत, भविष्य एवं वर्तमान किसी काल में बोध नहीं होता। जाग्रत अवस्था में जो कुछ हमारे अनुभव में आता है, सुषुप्ति की अवस्था में उसका बाध हो जाता है। सुषुप्ति की अवस्था में तो मन के सभी व्यापारों का बाध हो जाता है। वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि यदि प्रकाशमान होने से किसी पदार्थ को सत् माना जा सकता है तो रस्सी के सर्पदिभाव से एवं स्फाटिकादि के रक्तादिगुणरूप से प्रकाशित होने के कारण उन्हें भी सत् मानना चाहिये।[४] भामतीकार आगे कहते हैं कि यदि केवल प्रकाशमान होने के कारण ही कोई पदार्थ सत् होता है तो जब मृगमारीचिका में जल प्रकाशित होता है तो उसे सत् क्यों नहीं स्वीकार करते, उससे प्यास क्यों नहीं बुझाते।[५] उपर्युक्त कारणों के आधार पर ही वाचस्पति मिश्र यह मानते हैं कि केवल आरोपित पदार्थ के प्रकाशमान होने पर भी उसकी सत्ता मानना दोषमुक्त है।[६] वाचस्पति कहते हैं कि जैसे मृगमरीचिका में दिखलाई पड़ने वाला जल न सत् है, न असत् और न सत्-असत् वरन् अनिर्वचनीय है। उसी प्रकार देह, इन्द्रियाँ इत्यादि समस्त प्रपंच अनिर्वचनीय माना जा सकता है। इन सबका बाध भी होता है, इसलिये भी इन्हें सत् नहीं कहा जा सकता।

इस प्रपंच को मिथ्या सिद्ध करने में भी भामतीकार श्रुतिओं का अनुसरण कर रहे हैं। वृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि 'इस विश्व में नानात्व नहीं है, जो व्यक्ति यहां नानात्व देखता है वह मृत्यु को प्राप्त होता है।[७] यही श्रुति आगे भी कहती है कि 'द्वैत में ही कोई अपने से कुछ भिन्न देख सकता है,[८] किन्तु जिसके लिये सब आत्मरूप ही है, वह द्वैत कैसे देख सकता है। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद भी नानात्व को मिथ्या घोषित करता है और एक को ही सत् कहता है। विकार एवं नाम-रूप वाले वाचारम्मणम् अर्थात् समस्त पदार्थ मिथ्या हैं।[९] श्रुतिओं का अवलोकन यह सिद्ध करता है कि वे भी बाधरहित तत्व को ही सत् मानते हैं। यह विश्व प्रपंच बाधरहित नहीं है, इसीलिये इसे सत् नहीं माना जा सकता है। क्योंकि इस प्रपंच का बाध होता है, अतः यह मिथ्या है।

साराँश में हम कह सकते हैं कि वाचस्पति मिश्र के अनुसार परमसत् के लक्षण 'स्वप्रकाशता' और अबाधिता हैं[१०]। ये लक्षण प्रत्यक् आत्मा में ही हैं। आत्मा ही सभी कालों में अबाधित रहता है। यदि आत्मा को स्वयंप्रकाश ने माना जाय तो इसे अन्याधीन प्रकाश माना जायेगा और ऐसे में यह आत्मा अनुभाव्य होने से जड़ हो जायेगा। आत्मा की स्वयं प्रकाशता प्रत्यक्ष अनुमान एवं शब्द प्रमाण से सिद्ध है। सभी अद्वैतवेदान्ती सुषुप्तिकालीन प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा को स्वयं प्रकाश सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। सुषुप्ता अवस्था से उठ कर जब हम कहते हैं कि 'हम सुख से सोये' तब यह हम चक्षु इत्यादि इन्द्रिओं से प्राप्त नहीं करते क्योंकि उस अवस्था में इन्द्रियां कार्य नहीं करती। वह अनुभव तो आत्मा की स्वयंप्रकाशिता का ही परिणाम है।

जहाँ तक शब्द प्रमाण की बात है तो श्रुति स्पष्ट रूप से आत्मा को स्वयं प्रकाश घोषित करती है। बृहदारण्यकोपनिषद में कहा गया है कि पुरुष स्वयंज्योति अथवा स्वयंप्रकाश है अनुमान के द्वारा भी आत्मा को स्वयं प्रकाश सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। 'आत्मा स्वयं प्रकाश है। (प्रतिज्ञा) क्योंकि वह अपने से अन्यप्रकाश की अपेक्षा नहीं करती। (हेतु), प्रदीप के समान (उदाहरण), अतः आत्मा स्वयं प्रकाश है। (निष्कर्ष) भामतीकार ने स्वयंप्रकाश एवं अबाधिता को परमसत् के लक्षण मान कर इन लक्षणों से युत्त आत्मा को परमसत् की संज्ञा दी एवं न्याय एवं बौद्धों की सत् संबंधी अवधारणाओं का खंडन भी किया। उन्होंने नैयायिकों एवं बौद्धों की सत् संबंधी मान्यताओं के विरुद्ध तर्क प्रस्तुत किये। नैयायिक सामान्य को एवं बौद्ध 'अर्थक्रियाकारित्व' को ही सत् समझते हैं। वाचस्पति मिश्र ने सत् संबंधी इन दोनों अवधारणों के विरुद्ध तर्क प्रस्तुत किये हैं।

## माया-अविद्या, भामतीमत

माया का स्वरूप क्या है? इसका कार्य क्या है? माया एवं अविद्या एक ही है अथवा दो अलग-अलग विचार हैं। ये कतिपय ऐसे प्रश्न हैं, जिन पर अद्वैतवेदान्ती

विचारकों में मतभेद पाया जाता है। ब्रह्म का स्वरूप क्या हैं? ब्रह्म एवं आत्मा का संबंध क्या है? मोक्ष का स्वरूप क्या है? ये कतिपय ऐसे प्रश्न हैं, जिनके विषय में सभी अद्वैतवादी विचारक एक मत प्रतीत होते हैं। अब प्रश्न यह है कि इसका क्या कारण है कि प्रथम तीन प्रश्न अद्वैतवेदान्तिओं में आज भी विवादग्रस्त हैं, जबकि अन्तिम तीन प्रश्नों के संबंध अधिक विवाद नहीं है। इन प्रश्नों के संबंध में आचार्य अप्पय दीक्षित के विचार सही प्रतीत होते हैं। आचार्य दीक्षित अपनी रचना सिद्धान्तलेश संग्रह के प्रारम्भ में ही कहते हैं कि हमारे प्राचीन विचारकों की आधारभूत समस्या आत्मा एवं ब्रह्म की एकता ही थी, उन्होंने इस विश्व प्रपंच की स्पष्ट एवं तर्कसंगत व्याख्या करने का प्रयास नहीं किया। इसका परिणाम यह हुआ कि कालान्तर में आने वाले विचारकों में इस प्रपंच से संबन्धित मतभेद पैदा हुआ। अप्पय दीक्षित के उपयुर्क्त विचार सही प्रतीत होते हैं क्योंकि शंकराचार्य स्वयं ने, माया एवं अविद्या का क्या संबंध है? माया एवं ब्रह्म का क्या संबंध है? इस प्रकार के प्रश्नों पर अधिक विचार नहीं किया है। इसीलिये उनके अनुयायिओं में इस प्रकार के प्रश्नों के संबंध में मतभेद बना हुआ है।

शंकराचार्य ने माया को अनिर्वयनीय माना है। उनके लिये माया न सत् है, न असत् है और न सदसत् उभय रूप है, अतः अनिर्वचनीय है। प्रायः सभी अद्वैतवेदान्ती माया के स्वरूप की विवेचना इसी प्रकार करते हैं। इन सभी वेदान्तिओं की रचनाओं में माया एवं अविद्या दोनों शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। जैसा कि हमने कहा है शंकराचार्य माया एवं अविद्या में भेद नहीं करते। भामतीकार ने तो माया एवं अविद्या को समानार्थक स्वीकार किया है। प्रथम अध्याय के चौथे पाद के तीसरे सूत्र की शंकर द्वारा की गयी व्याख्या को स्पष्ट करते हुये भामतीकार कहते हैं कि माया शब्द द्वारा कही जाने वाली ब्रह्म की इस अविद्या शक्ति का तत्वरूप से निर्वचन नहीं किया जा सकता।[११] यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भामती पर लिखी गयी अमलानन्द की टीका 'वेदान्तकल्पतरु' में भी माया एवं अविद्या में भेद नहीं किया गया। सारांश में कहा जा सकता है कि भामती संप्रदाय के प्राचीन विचारकों ने माया एवं अविद्या को एक ही अर्थ में प्रयोग किया है।

अविद्या अथवा माया का स्वरूप समझ लेने के पश्चात एक अन्य समस्या यह सामने आती है कि अविद्या का आश्रय क्या है? यह अविद्या का आश्रय एवं विषय एक ही तत्व है अथवा उसके आश्रय एवं विषय में भेद है? इस समस्या के संबंध में भामती संप्रदाय एवं विवरण संप्रदाय में स्पष्ट मतभेद है। यहाँ पर हम भामती संप्रदाय के विचारों को रखने का प्रयास करेंगे।

भामतीकार वाचस्पति मिश्र से पहले 'ब्रह्मसिद्धि" के लेखन मंडन मिश्र ने इस

संबंध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। मंडन के अनुसार अविद्या का आश्रय जीव है, ब्रह्म नहीं है। मंडन मिश्र का मानना है कि ज्ञान स्वरूप ब्रह्म अज्ञान रूपा अविद्या का आश्रय हो ही नहीं सकता है। अतः अविद्या का आश्रय सीमित जीव ही हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि जीव तो अन्ततोगत्वा ब्रह्म ही है, जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है, तो मंडन का कहना है कि पारमार्थिक दृष्टिकोण से जीव ब्रह्म है, किन्तु व्यावहारिक रूप से अर्थात् कल्पना से जीव और ब्रह्म में भेद है। तब यह पूछा जा सकता है कि यह कल्पना किसकी है। कल्पना ब्रह्म की तो हो ही नहीं सकती क्योंकि वह तो कल्पना शून्य है।[१२] क्या यह कल्पना जीव की है? मंडन के अनुसार यह कल्पना जीव की भी नहीं है क्योंकि कल्पना के पूर्व उनका भाव नहीं है। अतः जीव की कल्पना मानने से इतरेतराश्रय का प्रसंग आ जायेगा।[१३] आचार्य मंडन इस दोष का परिहार यह कह कर करते हैं कि अविद्या एवं जीव का संबंध बीज एवं अंकुर के समान है, यह अनादि है, इसीलिये इतरेइतराश्रय दोष नहीं है।[१४] इस प्रकार हम देखते हैं कि मंडन ने ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप माना है, अतः वह अज्ञान का आश्रय नहीं है। जीव ही अविद्या का आश्रय है। इस समस्या के संबंध में वाचस्पति मिश्र मंडन के अनुयायी प्रतीत होते हैं।

भामती में कई स्थानों पर वे जीव को ही अविद्या का आश्रय घोषित करते हैं। सर्वप्रथम भामतीकार मानवीय अनुभव के आधार पर अज्ञान अथवा अविद्या के आश्रय के रूप में जीव को ही सिद्ध करते हैं। वे कहते हैं कि कोई भी तर्क हमारे अनुभव की अनदेखी नहीं कर सकता। मनुष्य के सही अनुभव को अन्यथा करना संभव नहीं है, तर्क चाहे जितना पैना क्यों न हो। उदाहरणार्थ जब व्यक्ति यह अनुभव करता है कि "अहं घटं न जानामि" अर्थात् मुझे घड़े का ज्ञान नहीं है, तो अज्ञान उस व्यक्ति अर्थात् जीव को ही है जो यह कहा रहा है। इस प्रकार अज्ञान का आश्रय जीव एवं उसका विषय घट ही सिद्ध होता है। उपर्युक्त उदाहरण देकर भामतीकार यह सिद्ध करना चाहते हैं कि अज्ञान का आश्रय एवं विषय एक ही तत्व नहीं है। अविद्या का आश्रय जीव है और विषय आत्मा अर्थात् ब्रह्म, जिसे वह छिपाता अर्थात् आवरण डालता है। इसी प्रकार वाचस्पति मिश्र मानेंगे कि दिन में धूपरूपी प्रकाश का आश्रय सूर्य है और उसका विषय संसार की विभिन्न वस्तुयें हैं, जिनको वह प्रकाश प्रकाशित करता है। अज्ञान की भाँति ही वाचस्पति ज्ञान का आश्रय और विषय एक नहीं मानते। जब कोई व्यक्ति कहता है कि 'अहं घटं जानामि' तो ज्ञान का आश्रय वह स्वयं अर्थात जीव है और विषय 'घट' है। इस प्रकार भामतीकार मनुष्य के अनुभव के आधार पर ज्ञान एवं अज्ञान के आश्रय एवं विषय को भिन्न मानते हैं। अब हम भामती के कतिपय कथनों को उदघृत करके यह सिद्ध करने का प्रयास करेंगें कि भामतीकार के अनुसार अविद्या का आश्रय जीव है, और उसका विषय ब्रह्म है।

ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य के पहले अध्याय के पहले पाद के चौथे सूत्र के ऊपर शंकर के भाष्य पर टीका करते हुये भामतीकार कहते हैं कि 'ब्रह्म नित्य शुद्ध है, वह अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता, अतः 'ब्रह्म निरूपाधिक है, वह अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता। अविद्या का आश्रय तो जीव ही है।[१६] भामतीकार पुनः कहते हैं कि जीव ही अविद्या का आश्रय है, ईश्वर उसका विषय है और क्योंकि ईश्वर उसका विषय है, इसलिये वह ईश्वर का आश्रय लेती है। अतः इसीलिये ईश्वर पर आश्रित कहलाती है। ईश्वर अविद्या का आधार नहीं है क्योंकि ज्ञानस्वरूप वाला ब्रह्म अविद्या का आधार नहीं हो सकता।[१७]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भामतीकार अविद्या का आश्रय जीव को मानते है और, जैसा कि हम देख चुके हैं, अपने इस विचार के लिये वाचस्पति मंडन का अनुसरण करते हैं। इस संबंध में भामतीकार के सामने एक यह समस्या आती है कि जीव स्वयं अविद्या का कारण होने से अविद्या का आश्रय कैसे हो सकता है। यदि जीव को अविद्या का आश्रय माना जायेगा तो इतरेतराश्रय दोष हो जायेगा। इस समस्या का हल भी भामतीकार मंडन का अनुसरण करके ही करते हैं। वाचस्पति मिश्र का कहना है जीव और अविद्या की उत्पत्ति नहीं होती। इन दोनों का संबंध तो बीजाकंर के समान है। यह संबंध अनादि है इसीलिये इसमें अन्योन्याश्रयदोष नहीं लगता।[१८] वेदान्तकल्पतरु के लेखक अमलानन्द का भी कहना है कि ज्ञप्ति उत्पत्ति के प्रतिबन्ध के द्वारा ही उपर्युक्त दोष आता है,[१९] अन्यथा नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि वेदान्तकल्पतरुकार भी जीव एवं अविद्या के संबंध में इतरेताश्रय दोष नहीं देखते।

जीव को अविद्या का आश्रय मानने के कारण भामतीकार के सामने एक और समस्या आती है। आलोचकों का कहना है कि जीव को अविद्या का आश्रय मान कर वाचस्पति मिश्र दृष्टिसृष्टिवाद का मार्ग प्रशस्त करते हैं। यदि अविद्या का आश्रय जीव है तो वही इस दृष्टि-प्रपंच का कारण बनेगा और ईश्वर के लिये कोई कार्य नहीं बचेगा क्योंकि यह विश्व-प्रपंच अविद्या जनित है। जीव ही स्वआश्रित अविद्या द्वारा स्वप्न के समान इस प्रपंच की कल्पना करता है। आश्चर्य की बात तो यह है कि भामती पर वेदान्तकल्पतरू नामक टीका लिखने वाले आचार्य अमलानन्द भी भामतीकार की कड़े शब्दों में आलोचना करते हैं। ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के चौथे पाद के सोलहवें सूत्र पर भामती पर टीका करते हुये अमलानन्द का कहना है कि जब जीवाश्रित अविद्या के कारण यह प्रपंच जीव पर अध्यस्त है तो समस्त वेदान्त वाक्यों का समन्वय जीव में ही होना चाहिये किन्तु वाचस्पति अविद्या को जीव पर आश्रित मानते हुये समस्त वेदान्त वाक्यों का संग्रह ब्रह्म में ही मानते हैं। क्या ऐसा

मानने में उन्हें लज्जा नहीं आती।[२०] आचार्य अप्पयय दीक्षित भी वाचस्पति मिश्र की इस संबंध में कड़ी आलोचना करते हैं। उपर्युक्त सूत्र पर भाषण करते हुये आचार्य दीक्षित का कहना है कि जब जीव अविद्या का आश्रय है और इस कारण यह प्रपंच जीव पर ही अध्यस्त है, तो उसी में वेदान्त वाक्यों का समन्वय होना चाहिये।[२१]

उपर्युक्त आलोचना करते हुये 'वेदान्तकल्पतरु' एवं वेदान्तकल्पतरुपरिमल' के लेखकों ने भामतीकार को यह कह कर बचाने का प्रयास किया है कि भामती में जीव की अविद्या इत्यादि समस्त प्रपंच का आधार ब्रह्म ही है जीव नहीं, इसीलिये ब्रह्म में ही समस्त वेदान्त वाक्यों का समन्वय होना चाहिये, जीव में नहीं।[२२] वेदान्तकल्पतरुपरिमल के लेखक आचार्य अप्पय दीक्षित कुछ अधिक स्पष्टरूप से कहते हैं कि जैसे चांदी सीपी पर आश्रित होती है, उसी प्रकार जीव अविद्या एवं सभी विवर्त ब्रह्म पर ही आधारित है इसलिये वेदान्त वाक्यों का समन्वय ब्रह्म में ही होना चाहिये।[२३] इस विवाद के संबंध में प्रस्तुत लेखक का विचार आचार्य अमलानन्द एवं आचार्य अप्पय दीक्षित से कुछ भिन्न है। हमारा निवेदन है कि इन दोनों आचार्यों ने समस्या का सामान्यीकरण करके उसका हल प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। वर्तमान लेखक का निवेदन है कि भामती में कहीं पर भी अविद्या का आश्रय ब्रह्म को नहीं माना गया। भामती कार जीव को ही अविद्या का आश्रय मानते हैं और उपर्युक्त समस्या इसी विचार को लेकर सामने आयी है। किन्तु अमलानन्द एवं अप्पय दीक्षित दोनों ही उपर्युक्त समस्या का समाधान, जीव अविद्या एवं समस्त प्रपंच का आधार ब्रह्म को मान कर, प्रस्तुत करते हैं। यही एक विशेष समस्या का सामान्यीकरण करने का प्रयास है। इसे समस्या का समुचित हल नहीं कहा जा सकता। वास्तव में जीव को अविद्या का आधार मान कर दृष्टिसृष्टिवाद के दोष से बचना कठिन है।

## भामती प्रस्थान में जीव

यदि जीव अविद्या का आधार है, तो जीव क्या है ? जीव के स्वरूप को लेकर शंकरोत्तर अद्वैतवेदान्त में विभिन्न मत उपलब्ध हैं। इस मतभेद का कारण स्वयं आचार्य शंकर ही प्रतीत होते हैं, ऐसी हमारी मान्यता है, क्योंकि जीव के स्वरूप एवं ब्रह्म से उसके संबंध को लेकर शंकर ने, अवच्छेद, प्रतिबिम्ब एवं आभास इत्यादि विभिन्न पदों का प्रयोग किया है। शंकर के इस प्रकार के प्रयोग के कारण ही उनके कतिपय अनुयायी जीव को ब्रह्म का अवच्छेद, कतिपय विचारक जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब एवं कुछ अन्य विचारक जीव को ब्रह्म का आभास घोषित करते हैं।

अपने तैत्तरीरय उपनिषद के भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि वह आनन्दस्वरूप आत्मा ही अविद्या से परिच्छिन्न होकर जीवरूप धारण करती है।[२४] शंकराचार्य के इस

प्रकार के विचारों से प्रभावित होकर भामतीकार जीव की व्याख्या करने में संलग्न होते हैं। वे पारमार्थिक दृष्टिकोण से जीव एवं ईश्वर में एकता को मानते हैं, किन्तु संसारी जीव और ईश्वर एक दूसरे से भिन्न हैं। वे जीव को ईश्वर का प्रतिबिम्ब भी स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार के विवरण प्रस्थान से भी भिन्न मत रखते हैं। अपने अध्याय भाष्य में भामतीकार प्रतिबिम्बवाद की आलोचना करते हैं।[२५] वे कहते हैं कि प्रतिबिम्ब तो एक रूपवान वस्तु का दूसरी रूपवान वस्तु में संभव होता है, किन्तु अरूपवान वस्तु का दूसरी रूपवानवस्तु में संभव होता है, किन्तु अरूपवान वस्तुओं में बिम्ब-प्रतिबिम्ब संभंव ही नहीं है। अतः भामतीकार जीव की व्याख्या के लिये अवच्छेदवाद के सिद्धान्त को अपनाते हैं और घटाकाश की उपमा देकर जीव के स्वरूप की व्याख्या करते हैं।

ब्रह्मसूत्र के तीसरे अध्याय के दूसरे पाद के नवें सूत्र के शंकर भाष्य पर टीका लिखते हुये भामतीकार कहते हैं कि जैसे घड़े के अन्दर का आकाश उस परमाकाश से भिन्न नहीं है, वरन् घड़े की दीवारों की उपाधिओं से घिरा घड़े का आकाश महाकाश से भिन्न प्रतीत होता है, उसी प्रकार अविद्या आदि की उपाधि से घिरा चैतन्य ईश्वर से भिन्न प्रतीत होता है। परमार्थिक रूप से जीव एवं ईश्वर भिन्न नहीं है वे एक ही हैं।[२६] इस प्रकार भामतीकार जीव की व्याख्या के लिये अवच्छेदवाद के सिद्धान्त में ही विश्वास करते हैं।

भामती के अवच्छेदवाद के विरोध में डॉ. हसूरकर का कहना है कि वाचस्पति मिश्र को केवल अवच्छेदवादी मानना उचित नहीं है, क्योंकि उन्होंने कहीं पर अवच्छेदवाद को अपनाया है, तो कहीं पर प्रतिबिम्बवाद को।[२७] इस संबंध में वर्तमान लेखक का विचार है कि वाचस्पति ने प्रतिबिम्बवाद का उल्लेख प्रायः उसके दोष दिखाने के लिये ही लिया है। उनकी रचना भामती में प्रतिबिम्बवाद का विरोध तो उपलब्ध होता है, किन्तु अवच्छेदवाद का विरोध भामती में कहीं पर भी नहीं किया गया है। आचार्य वाचस्पति ने अवच्छेदवाद को प्रायः निर्दोष माना है। अतः उनको उच्छेदवादी मानना ही सही प्रतीत होता है।

## ईश्वर संबंधी विचार

पिछले पृष्ठों में हम कह चुके हैं कि वाचस्पति जीव को अविद्या का आश्रय मानते हैं, किन्तु ईश्वर को अविद्या का विषय घोषित करते हैं। अविद्या के आश्रय और विषय में भेद करके ही वाचस्पति जीव एवं ईश्वर के भेद को स्थापित करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जीव में अविद्या अथवा अज्ञान है जबकि ईश्वर में अज्ञान का अभाव है, क्योंकि वह ज्ञान स्वरूप है। अविद्या उस ज्ञान स्वरूप ईश्वर पर जीव के लिये आवरण डालने का कार्य करती है। अविद्या ईश्वर के स्वरूप को विकृत नहीं करती वरन् उसे

अच्छादित करती हैं जैसे बादल सूर्य को विकृत नहीं करते हैं वरन् उसे अच्छादित करते हैं। सारांश में हम कह सकते हैं कि अविद्या के आश्रय और विषय में भेद करके वाचस्पति ने जीव एवं ईश्वर के स्वरूप का निर्धारण किया है।

ब्रह्मसूत्र के तीसरे सूत्र[२८] पर भाष्य करते हुये वाचस्पति मिश्र ईश्वर को सर्वज्ञ भी सिद्ध करते हैं। इस सूत्र में ईश्वर को समस्त शास्त्रों का मूल माना गया है अर्थात् समस्त शास्त्रज्ञान का मूल अथवा योनि ईश्वर ही है। वाचस्पति मिश्र की मान्यता है कि ईश्वर केवल जगत का होने से ही सर्वज्ञ नहीं है, वरन् वह शास्त्रों की योनि अथवा कारण होने के कारण भी सर्वज्ञ है।[२९] इस संबंध में वाचस्पति मिश्र की मान्यता है कि ऋग्वेद इत्यादि शास्त्र समस्त ज्ञान के आधार है और किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध ज्ञान से उसके लेखक में अधिक ज्ञान होना चाहिये। भ्रग्वेदापि शास्त्रों में समस्त ज्ञान निहित है, अतः ईश्वर सर्वज्ञ है। इस प्रकार वाचस्पति मिश्र के वचनों के आधार पर हम कह सकते हैं कि ईश्वर अविद्या का विषय सर्वज्ञ एवं जगत का कर्ता है। ईश्वर विश्व की रचना कैसे करता है? इस प्रश्न का समुचित उत्तर देने के लिये वाचस्पति माया का सहारा लेते हैं। वे कहते हैं कि महाप्रलय की अवस्था में अन्तःकरण इत्यादि सभी वस्तुयें अपने आदि कारण अर्थात् माया में लीन होते हैं। वे सभी समय आने पर ईश्वर की इच्छा से कछुये के अंगों की भांति बाहर आ जाते हैं। महाप्रलय में यह समस्त विश्व माया में अव्यक्त रूप से लीन रहता है, वह अव्यक्त ही व्यक्त हो जाता है।[३०] वाचस्पति द्वारा की गयी इस व्याख्या पर एक प्रश्न किया जा सकता है और वह यह कि ईश्वर विश्व की रचना हेतु इच्छा क्यों करता है। यदि ईश्वर में इच्छा मान ली जायेगी तो उसमें अपूर्णता का दोष आ जयेगा। इस अतिरिक्त भामती में ही वे ईश्वर की निष्प्रयोजनता का बखान भी करते हैं। "भामतीः एक अध्ययन" नामक ग्रन्थ में इस प्रश्न का एक उत्तर प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में लेखक ने ईश्वर को तटस्थता के आधार पर इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है। लेखन का कहना है कि ईश्वर की तटस्थता विश्व रचना की प्रेरक बनती है।[३१]

भामतीकार ने इस विश्व की उत्पत्ति को माया का स्वभाव मान कर व्याख्या करने का प्रयास किया है। वे ईश्वर स्वयं में इस विश्व की उत्पत्ति के लिये इच्छा नहीं देखते। वे कहते हैं यह तो माया का स्वभाव ही है जो कभी इस विश्व की रचना करता है और कभी वही स्वभाव इस विश्व का विनाश करता है। अग्नि का स्वभाव ही वस्तुओं को जलाना है। वस्तुओं को जलाने में अग्नि का कोई प्रयोजन या इच्छा नहीं होती। वाचस्पति यह मानते हैं कि ईश्वर जिसका विषय है, उस माया को विश्व की रचना के लिये किसी प्रयोजन की आवश्यकता नहीं है, यह तो उसका स्वभाव ही है। अपनी रचना 'न्यायकणिका' में तो वाचस्पति इस विश्व की रचना के लिये एक चेतन अस्तित्व की अनिवार्यता को सिद्ध भी करते हैं।[३२] क्योंकि 'न्यायकणिका' न्यायदर्शन

से संबन्धित ग्रन्थ है, अतः उसमें निहित आचार्य मिश्र के विचारों का उल्लेख हमारे प्रस्तुत ग्रन्थ के लिये आवश्यक नहीं है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अपने ईश्वर एवं विश्व रचना संबंधी विचारों के लिये वाचस्पति शंकराचार्य के विचारों से प्रभावित हुये हैं, यद्यपि कतिपय अन्य महत्वपूर्ण विषयों पर वे आचार्य मंडन मिश्र का अनुसरण करते हैं। शंकराचार्य की मान्यता है कि ईश्वर अपनी माया शक्ति द्वारा इस विश्व की रचना करता है। वे कहते हैं कि वह सर्वशक्तिवान, महामायावी, सर्वज्ञ देवा अपने को ही जगत् स्वरूप अपने अन्य रूप से रच लेता है।[३३] किन्तु मंडन मिश्र तो मानते है कि जगत रचना के लिये ईश्वर की कोई आवश्यकता ही नहीं है। वे कहते हैं कि 'भवननगरोपवना की रचना से सरित वन, पर्वतादि की रचना अवश्य विलक्षण है, किन्तु वह भी एक रचना है, जिसके आधार पर अधिक से अधिक चेतन की सत्ता प्रमाणित होती है। उसका एक एवं सर्वज्ञ होना आवश्यक नहीं।[३४]

## मुक्ति-विचार

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म एवं आत्मा का एकत्वज्ञान ही मुक्ति अथवा मोक्ष हैं। अपने स्वेताश्वतर उपनिषद भाष्य में वे कहते हैं कि मैं ब्रह्म हूँ- इस प्रकार का ब्रह्मात्मतत्व का साक्षात्कार कर वह अज्ञान और उसके कार्य की निवृत्ति हो जाने के कारण शोकरहित हो जाता है।[३६] शंकर फिर कहते हैं कि उसके ज्ञान से अमरत्व प्राप्त होता है।[३७] शंकर अपने गीता भाष्य में कहते हैं कि केवल आत्मज्ञान ही निःश्रेयस का हेतु है क्योंकि भेद प्रतीति का निवर्तक होने के कारण कैवल्य की प्राप्ति ही उसकी अवधि है।[३८] उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि शंकर मुक्ति को नानात्वरहित ब्रह्मात्मैक्य बोध ही मानते हैं।

भामतीकार वाचस्पति मिश्र भी ब्रह्मात्मैक्य बोध को ही मोक्ष मानते प्रतीत होते हैं। जैसे महाकाश घटरूप उपाधि से घिर कर घटाकाश के रूप में प्रतीत होता है, उसी प्रकार ब्रह्म अन्तः करणवश उपाधि से घिर कर जीवरूप धारण करता है। जब घटरूप उपाधि नष्ट हो जाती है, जब घटाकाश महाकाश का रूप धारण करता है, उसी प्रकार जब अन्तः करण रूप उपाधि नष्ट हो जाती है, तब जीव ब्रह्मरूप में अवस्थित हो जाता है। यही मुक्ति है। इस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि वाचस्पति के अनुसार अन्तः करणरूप उपाधि से मुक्त होकर जीव ब्रह्म हो जाता है। यही मुक्ति की अवस्था है।[३९] ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्याय के तीसरे पाद के तैंतालिसवें सूत्र पर भाष्य करते हुये भामतीकार स्पष्ट रूप से कहते हैं कि अविद्यारूप उपाधि से मुक्त हो जाने पर जीव ब्रह्मरूप हो जाता है।[४०]

इस प्रसंग में कहना अनुचित न होगा कि 'वेदान्तकल्पतरु' पर टीका लिखने वालो ''वेदान्तकल्पतरुपरिमल' के लेखक आचार्य अप्पय दीक्षित वाचस्पति मिश्र द्वारा प्रतिपादित मुक्ति की अवधारणा की कुछ भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं। आचार्य अमलानन्द तो मुक्ति की अवस्था में ब्रह्म एवं जीव में एकत्व स्वीकार करते हैं।[४१], किन्तु वेदान्तकल्पतरुपरिमलकार आचार्य दीक्षित का मानना है कि व्यक्तिगत मुक्ति में व्यक्ति ईश्वर रूप ही हो सकता है। ब्रह्म से एकत्व तो सर्वमुक्ति की अवस्था में ही प्राप्त होता है।[४२] इस संबंध में परिमलकार विवरण प्रस्थान में प्रयुक्त बिम्बप्रतिबिम्ब का उदाहरण देकर कहते हैं कि यदि एक व्यक्ति का चेहरा अनेक दर्पणों में प्रतिबिम्बत होता है तो एक दर्पण के टूटने से उस चेहरे का प्रतिबिम्ब उसी दर्पण से नष्ट होता है, अन्य दर्पणों से नष्ट नहीं होगा। ऐसी अवस्था में उसका प्रतिबिम्ब बिम्बरूप में अवस्थित रहेगा। इस प्रतिबिम्ब का बिम्बरूप में अवस्थित रहना तभी मिटेगा, जब सारे दर्पण टूट जायें। इसी प्रकार व्यक्तिगत मुक्ति में वह व्यक्ति ईश्वररूपी अपने बिम्ब से एकत्व के भाव को प्राप्त करेगा। ब्रह्म से एकत्व का भाव तभी प्राप्त होगा, जब सभी व्यक्ति मुक्त हो जायेंगे।[४३] आचार्य अप्पय दीक्षित दो प्रकार की मुक्ति स्वीकार करते हैं। मुक्ति एवं परममुक्ति, वे ईश्वरभाव को मुक्ति कहते हैं तथा ब्रह्म से एकत्व की अवस्था को परममुक्ति की संज्ञा देते हैं।[४४]

एक अन्य दृष्टिकोण से शंकराचार्य ने मुक्ति दो प्रकार की मानी है-जीवनमुक्ति एवं विदेहमुक्ति। आत्मज्ञान के प्राप्त होने से पूर्व किये हुये कर्म अनारब्ध या आरब्ध दो प्रकार के होते हैं। ज्ञान से ब्रह्मात्मैक्य का बोध होता है और उससे अनारब्ध कर्म नष्ट होकर प्रारब्ध कर्मो से शरीर चलता रहता है। यही जीवन मुक्ति है। ऐसा ज्ञानी पुरुष प्रारब्ध कर्मों के प्रति उपेक्षा रखता हैं वह अपने अकर्त्ता स्वरूप का अनुभव करता हुआ उसी में स्थित रहता है जब प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाते है, तब शरीर समाप्त हो जाता है और जीव एवं ब्रह्म के बीच तादात्म्य स्थापित हो जाता है। यही विदेह मुक्ति है।

भामतीकार आचार्य वाचस्पति मिश्र भी जीवन मुक्ति को मानते हैं। इस सम्बन्ध में वे मंडन मिश्र की अपेक्षा शंकराचार्य के अधिक नजदीक हैं क्योंकि आचार्य मंडन जीवनमुक्ति की अपेक्षा विदेहमुक्ति को अधिक महत्व देते हैं। इसीलिये वैदिक परम्परा में जिन्हें सिद्ध पुरुष माना जाता है, उन्हें मंडन मिश्र केवल साधक मानते हैं।[४५] मंडन कहते हैं कि विद्या से अविद्या का उच्छेद हो जाता है, और उससे कर्म विपाक का व्यवहार उच्छिन्न हो जाता है, इस प्रकार सर्वोच्छेद हो जाने से तत्काल मुक्ति हो जाती है।[४६] किन्तु इसी पृष्ठ पर मंडन फिर कहते हैं कि मैं यह नहीं कहता हूँ कि ब्रह्मज्ञान होते ही अविलम्ब देह वियोग हो जाता है, किन्तु प्रारब्ध से प्रेरित कर्म

के भोग से क्षय होने तक प्रतीक्षा होती है।[४७] मंडन के इस कथन से स्पष्ट है कि वे जीवनमुक्ति में भी विश्वास करते हैं।

भामतीकार वाचस्पति मिश्र मंडन के उपर्युक्त दो कथनों में से पहले का ही विरोध कर सकते हैं, दूसरे का नहीं। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य मंडन दोनों प्रकार की मुक्ति स्वीकार करते हैं, किन्तु उनके लिये विदेह मुक्ति अधिक महत्व पूर्ण है। वाचस्पति मिश्र अनेक विषयों पर मंडन के समर्थक हैं किन्तु वे मंडन के विपरीत जीवनमुक्ति को भी महत्व देते हैं। इसीलिये वे स्थितप्रज्ञा को साधन नहीं सिद्ध मानते है।[४८] कतिपय विचारक यह मानते हैं कि मुक्ति के संबंध में वाचस्पति मिश्र शंकर का समर्थन करते हैं, मंडन का नहीं।[४९] हमारा मानना है कि मंडन का विरोध वाचस्पति मिश्र स्थितप्रज्ञ के संबंध में ही करते हैं, मुक्ति के संबंध में नहीं क्योंकि शंकराचार्य की भांति मंडन भी जीवनमुक्ति एवं विदेहमुक्ति दोनों मे विश्वास करते हैं। वाचस्पति स्थितिप्रज्ञ को सिद्ध स्वीकार करते हैं, जबकि मंडन उसे साधन कहते हैं। हमारे विचार में यह विरोध भी शब्दों तक ही सीमित है, क्योंकि एक श्रेष्ठ प्रकृति का साधक भी सिद्ध ही होता है।

## मुक्ति का साधन

शंकराचार्य ने मुक्ति के साधन के रूप में एक मात्र ज्ञान को ही स्वीकार किया है। वे मुक्ति एवं ज्ञान को अन्तः करण की शुद्धिः के लिये ही उपयोगी मानते हैं। शंकर के अनुसार आत्मा नित्य मुक्त है। वह अज्ञान के कारण ढ़क गयी है। ज्यों ही यह अज्ञान नष्ट होगा,त्यों ही हमें ब्रह्मज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान हो जायेगा। यही मुक्ति है। इस प्रकार शंकर मोक्ष को सिद्ध मानते हैं, साध्य नहीं। वे मुडंक उपनिषद के इस वाक्य में पूर्ण विश्वास करते हैं कि ब्रह्मवेद ब्रह्मभैव भवति।[५०] शंकराचार्य अपने शारीरिक भाष्य में स्वयं कहते हैं कि सभी श्रुतिओं में ब्रह्मज्ञान के पश्चात् ही मोक्ष माना गया है, इसीलिये जब ब्रह्मज्ञान हो जाता है तो मोक्ष मिल जाता है। उसके लिये कुछ करने की आवश्यकता नहीं रहती है।[५१]

मंडन पर विचार करते समय हम देख चुके हैं कि मंडन केवल श्रवण ज्ञान से मुक्ति नहीं मानते, वे ज्ञानकर्म समुच्चय की अनुशंसा करते हैं। वे मानते हैं, अपरोक्षात्मक ज्ञान के लिये श्रवण द्वारा प्राप्त ज्ञान पर ध्यान एवं मनन की आवश्यकता होती है क्योंकि बिना प्रसंख्यान के शुद्ध ब्रह्मज्ञान संभव नहीं है। मुक्ति के साधन के संबंध में भामतीकार वाचस्पति मिश्र भी मंडन के विचार का समर्थन करते प्रतीत होते हैं। वे मानते हैं कि शब्द अपरोक्ष ज्ञान देने में असमर्थ है क्योंकि शब्द तो प्रायः परोक्ष ज्ञान ही देता है। इसीलिये वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि आत्मसाक्षात्कार साक्षात्कार का

फल है, शब्द का नहीं।[५२] यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वाचस्पति आत्मसाक्षात्कार में शब्दज्ञान की भी उपयोगिता को स्वीकार करते हैं, किन्तु वे शब्दज्ञान को ही आत्मसाक्षात्कार का कारण नहीं मानते।

'वेदान्तकल्पतरु परिमल' के लेखक अप्पय दीक्षित भी वाचस्पति के विचारों का समर्थन करते हैं। श्री दीक्षित के अनुसार 'दशमस्वत्वमसि' में भी चक्षु इत्यादि इन्द्रिओं के सहारे ही अपरोक्ष ज्ञान होता है। चक्षु इत्यादि इन्द्रिओं के बिना परोक्ष ज्ञान ही होगा, अपरोक्ष नहीं। शब्द अपरोक्ष ज्ञान का साधन नहीं है।[५३] इसी प्रकार आचार्य अमलानन्द भी शब्द द्वारा अपरोक्ष ज्ञान की संभावना से इनकार करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भामती प्रस्थान में शब्द द्वारा अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं है। ये सभी विचारक यह स्वीकार करते हैं कि शब्द द्वारा संसर्गात्मक एवं परोक्ष ज्ञान ही होता है। इसीलिये भामतीकार की मान्यता है कि शब्द ज्ञान अन्तःकरण को शुद्ध करता है और शुद्ध अन्तःकरण द्वारा ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अतः मुक्ति के साधन पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भामतीकार इस संबंध में शंकराचार्य की अपेक्षा मंडन के अधिक नजदीक हैं सम्पूर्ण भामती का समुचित अध्ययन भी हमारी इस धारणा की पुष्टि करता है, इसीलिये कतिपय आलोचक वाचस्पति मिश्र को 'मंडन पृष्ठसेवी' कहते हैं।

## संदर्भ-सूची


१. छन्दोग्य उपनिषद, ६.२.१

२. तैतरीय उपनिषद, २.१.१

३. न प्रकाशमानतामात्रं सत्त्वं येन देहेन्द्रियादेः

४. नहि सर्पादिभावेन रज्जवाइयों वा स्फटिकादयों वा रक्तादिगुणयोगिनों न प्रतिभासन्ते, प्रतिभासमाना वा भवन्ति तदात्मानस्तद्धर्माणों वा। भामती, पृष्ठ २१-२२

५. भामती, पृष्ठ २१-२२

६. तस्मादकामेनापि आरोपितस्य प्रकाशमानस्यापि न वस्तुसत्वमभ्युपगमतीयम्। देखिये, भामती, पृष्ठ २१-२२

७. नेह नानास्ति किंचन। मृत्योंः स मृत्युमाप्नोति च इह नानेव पश्यति बृहदारण्यक, ४-४.१६।

८. यत् हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति, वहीं, २.४.१४।

९. वाचारम्भणम् विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्, छान्दोग्य उ. ६.१.४।

१०. आबाधिता स्वयं प्रकाशतैवास्य सत्ता-भामती, पृष्ठ २५।

११. आत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः, बृ.उ. २.३.६।

१२. ब्रह्मणस्त्वियम विद्याशक्तिशकितर्मायादिशब्दवाच्या न शक्त्या तत्त्वेनान्यत्वेन वा निर्वक्तृम्। देखिये, ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य, भामती, कल्पतरू एवं कल्पतरू परिमल के साथ, पृष्ठ ३७७, परिमल पब्लीकेशन्स, अहमदाबाद, दिल्ली, १९८२।

१३. यत्तुकस्याविद्येति; जीवानामिति ब्रूमः। ननु च जीवा ब्रह्मणो भिद्यन्ते; एवं ह्मह-अनेन जीवोनात्मनानुप्राविश्य इति। सत्यं परमार्थतः; कल्पनाया तु भिद्यन्ते। कस्य पुनः कल्पना भेदिका? न ताबह्मणः तस्य विद्यात्मन; कल्पनाशून्यत्वात; देखिये, ब्रह्मसिद्धिः मंडन मिश्र, पृष्ठ १० सतगुरू पब्लीकेशन्स दिल्ली, १६८४।

१४. नापि जीवानाम्, कल्पनामाः भाक् तदभावात् इतरेइतराश्रयप्रसंगात्-कल्पनाधीनो हि जीवविभागः, जीवश्रया कल्पनेति, देखिये, वहीं।

१५. देखिये, वहीं।

१६. नाविद्या ब्रह्मश्रया किं तु जीवे, सा त्वनिर्वचनीयेत्युक्तम्। तेननित्यशुद्ध ब्रह्म। देखिये, भामती, १.१.४।

१७. अनाद्यविद्यवच्छेदलब्दजीवभावः पर एवात्मा स्वतो भेदेनाव भासते।
तादृशानाम् न जीवानामृविद्या, न तु निरूपाधि ब्रह्मणः।
देखिये १.२.६ ब्रह्मसूत्र पर शंकर भाष्य एवं उस पर भामती टीका।

१८. जीवाधिकरणाप्यविद्या निमित्तया विषयतया वा ईश्वरमाश्रयत इति ईश्वराश्रयेत्युच्यते; न त्वाधारतया। विद्यास्वभावे ब्रह्मणि तदनुपयत्ते।

१६. देखिये, शंकरभाष्य ब्रह्मसूत्र १.२६ और उस पर भामती टीका और तथा - चैवमन्योन्याश्रयो जीवविभागाश्रयाविद्या अविद्याश्रयश्च जीव विभाग इति बीजाकुरवदनादित्वात, देखिये, ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य १.४.२२, उस पर भामती टीका।

२०. उत्पत्तिज्ञप्ति प्रतिबन्धेन, देखिये, वहीं।

२१. जीवाज्जज्ञे जगत्सर्व सकारणमिति ब्रुवन। क्षिपन् समन्वयं जीवे न लेजे वाक्यपतिः कथम्। देखिये, ब्रह्मसूत्र १.४.१६ पर शंकरभाष्य एवं उस वेदान्तकल्पतरू टीका।

२२. एवं च वाचस्पतिमते जीव एवं समन्वयः पर्यवस्यति; तन्मते जीवश्रिताविद्यापरिणामस्य प्रपंच्वस्य जीवेडध्यारोपेण तत्रेवापदनीयत्वात् अतो जीवे समन्वयं पूर्वपक्षी कृतस्य निरासन् वाचस्पतिथम त लज्जितवान इत्मर्थः, देखिये, वहीं।

२३. अधिष्ठानं हि ब्रह्म न जीवा;, अधिष्ठाने च समन्वय इत्यनवद्यम्। देखिये, वहीं।

२४. अधिष्ठानं विवर्तानामाश्रयो ब्रह्म शक्तिवत्। जीवाविद्यादिकानां स्यादिति सर्वमनाकुलम्, देखिये, वहीं।

२५. स एवात्मा आनन्दरूपोऽविद्यापरिच्छिन्नो विभाव्यते प्राणिभिः, देखिये तैतरीय उपनिषद्, शंकरभाष्य, २.७।

२६. देखिये, ब्रह्मसूत्र के प्रारम्भ में शंकराचार्य के अध्यासभाष्य पर भामती टीका।

२७. यथा घटाकाशों नाम न परमाकाशादन्यः अथ चान्य इव यावद्घटमनुवर्तते। देखिये, ब्रह्मसूत्र ३.२.६ पर शंकरभाष्य पर भामती टीका।

२८. देखिये, भामतीः एक अध्ययन, डॉ. ईश्वर सिंह, पृष्ठ ८४।

२६. शास्त्रयोतित्वात्।

३०. न केवलं जगद्योनित्वादस्य भगवतः सर्वज्ञता, शास्त्रयोनित्वादपि बोद्धव्या। देखिये, ब्रह्मसूत्र, १.१.३ पर भामती टीका।

३१. ते चावधि प्राप्य परमेश्वरेच्छा - प्रचोदिता यथा कूर्मदेहे निलीनान्यंगानि ततो निःसरन्ति... तथा पूर्ववासनावशात् पूर्वसमाननामरूपाण्युत्पद्यन्ते देखिये, ब्रह्मसूत्र, १.३.३० पर भामती।

३२. देखिये, भामतीः एक अध्ययन, लेखक, ईश्वर सिंह, पृष्ठ ११८।

३३. अपि च नेयं परमार्थिकी सृष्टिर्येनानुयुज्यते प्रयोजनम्, अपि त्वानाद्यविद्या निबन्धना। अविद्या च स्वभावात एवं कार्योन्मुखी न प्रयोजनमपक्षते, देखिये ब्रह्मसूत्र, २.१.३३ पर भामती टीका।

३४. देखिये, न्यायकाणिका, पृष्ठ २१५।

३५. तथा सर्वज्ञो देनः सर्वशक्तिर्महामाय आत्मानमेवात्मान्तरत्वेन जगतरूपेण निर्मिमीत। देखिये, एतरेय उपनिषद शंकरभाष्य, १.६।

३६. अहं ब्रह्मस्मीति ब्रह्मात्मतत्वमहाम्य निवृत्ताज्ञानतत्कार्यो बीत शोको भवति। श्वेताश्वतर उपनिषद् संबन्धभाष्य, पृष्ठ १५।

३७. तद्विज्ञानामृतत्वम, देखिये वहीं।

३८. आत्माज्ञानादमृतत्वम्, देखिये वहीं।

३९. आत्मज्ञानस्य तु केवलस्य निःश्रेयसहेतुत्वं भेद प्रत्ययनिर्वर्तकत्वेन केवल्यफलावसानत्वात्। देखिये, भगवद्गीता, शंकरभाष्य, १८.६६।

४०. निर्विशेष ब्रह्मभाव प्राप्तिः परममुक्ति; वेदान्तकल्पतरू परिमल १.४.३।

४१. एवमविद्योपधानविगमे जीव ब्रह्मभावः; देखिये, भामती, २.३.४३।

४२. देखिये, 'भामती प्रस्थान तथा विवरण प्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन', सत्यदेव शास्त्री पृष्ठ १३२।

४३. मुक्तौ यावत्सर्वमुक्तिर्बिम्बभूतेश्वरभावमापद्यते, देखिये, ब्रह्मसूत्र भाष्य, कल्पतरू परिमल, १.३.१९।

४४. बहुष, दर्पणेषु मुख प्रतिबिम्बे सत्येवदर्पणाए तत्प्रतिबिम्ब इव यावतसकलदर्पणायाम् बिम्बमुख भ्झावं तावतणर्यन्तम् दर्पणान्तरगतप्रतियोगित्वरूपबिम्बभावः निवृत्तेः ततश्च मुक्तस्य परमेश्वरभावापत्त्या, देखिये वहीं।

४५. देखिये, 'ब्रह्मसिद्धि' पृष्ठ १३०।

४६. विद्यया स्वविद्योच्छेदे कर्मविपाकव्यवहारोच्छित्तावविशेषात् सर्वोच्छेद इति सपाद्येव मुच्यते। वहीं।

४७. न च ब्रूमः ब्रह्मवेदनान्तर एवं देहवियोगः किन्तु आरब्ध कार्यकर्मक्षयं भोगेन प्रतीक्षत इति, देखिये वहीं, १३०, ३१।

४८. स्थितप्रज्ञ न साधकः . . . स च सिद्ध एवं, भामती पृष्ठ १५६।

४९. देखिये, 'भामतीप्रस्थान तथा विवरण प्रस्थानः एक तुलनात्मक अध्ययन' पृष्ठ, १३०।

५०. मुंडक उपनिषद्, ३.२.६।

५१. अपि च ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति . . . इत्येवमाद्याः श्रुतयो ब्रह्मविद्यान्तरम् मोक्ष दर्शयन्त्यो मध्ये कार्यान्तरम् वारयन्ति, ब्रह्मसूत्र, शंकरभाष्य, १.१.४।

५२. तस्मात् त्वंपदार्थस्य तत्पदार्थत्वेन साक्षात्कार एषितव्यः।
एतावता हि त्वंपद्यर्थस्य दुःखिशोकित्वादिसाक्षात्कारनिवृत्ति, नान्यथा।
नचैष साक्षात्कारो मीमांसास्हितस्यापि शब्दस्य प्रमाणस्य फलं
अपितु प्रत्यक्षस्य तस्यैव तत्फलत्वनियमात्। देखिये, भामती, १.१.१।

५३. एवं च शब्दप्रमाणं स्वाविषय विषयक ज्ञानजन्याम् परोक्षप्रमामेव जनयतीति नापरोक्षप्रमाहेतुरिति भावः, देखिये 'ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य १.१.१ पर भामती एवं वेदान्तकल्पतरूपरिमल।'

# (ब) वाचस्पति एवं अमलानन्द का भामती प्रस्थान

ऐसा माना जाता है कि शंकराचार्य के प्रिय शिष्य पद्‌माचार्य ने शारीरिक भाष्य पर एक विद्वतापूर्ण टीका "पंचपादिका" नाम से लिखी है। इसी पंचपादिका पर प्रकाशात्मयति ने 'पंचपादिका विवरण' नामक टीका की रचना की। 'विवरणप्रस्थान' यह नामकरण इसी पंचपादिका विवरण के आधार पर ही किया गया है। इस ग्रन्थ में प्रयुक्त उपमाओं एवं इसमें अपनाई गई विचार पद्धति का अनुसरण जिन ग्रन्थों में दिया गया, उन्हें विवरण प्रस्थान के ग्रन्थ कहा गया।

'पंचपादिका' पर और भी कोई महत्वपूर्ण टीकायें लिखी गयीं। इन टीकाओं में आत्मरूप की 'प्रबोधपरिशोधनी विज्ञानात्मा की तात्पर्यार्थद्योतिनी, विद्यासागर की पंचपादिकाटीका तथा अमलानन्द की "पंचपादिका दर्पण" इत्यादि महत्वपूर्ण रचनायें मानी जाती हैं। प्रकाशात्मयति की पंचपादिकाविवरण इतनी महत्वपूर्ण है कि इसी ग्रन्थ पर विभिन्न आचार्यों ने टीकायें लिखी हैं। इन टीकाओं में विष्णुमहोपाध्याय की 'भृजुविरण', चित्सुखाचार्य की 'विवरणतात्पर्यदीपिका' तथा नृसिंहाभ्रमाचार्य की "विवरणभावप्रकाशिका' इत्यादि उल्लेखनीय हैं। विद्यारण्य स्वामी ने पंचापादिकाविवरण में प्रतिपादित प्रमेयों को 'विवरणप्रमेयसंग्रह नामक ग्रन्थ में संग्रहित किया है। इसके अतिरिक्त विद्यारण्य स्वामी की 'पंचदशी', श्रीहर्ष का खण्डनखण्डखाद्य तथा धर्मराजा ध्वरीन्द्र की 'वेदान्तपरिभाषा' इत्यादि रचनायें विवरण प्रस्थान की ही स्वीकार की जाती है।

## ब्रह्मविचार

विवरण प्रस्थान एवं भामती प्रस्थान दोनों परमसत् को ब्रह्म अथवा आत्मा पदों से विभूषित कहा गया है। दोनों ही संप्रदायों में आत्मा को स्वयं प्रकाशत्व से विभूषित किया गया है। इन संबंध में "विवरणप्रमेयसंग्रहकार" ने आत्मा के स्वप्रकाशत्व को तर्कों द्वारा सिद्ध भी किया है। विद्यारण्यस्वामी कहते हैं कि आत्मा जड़ है, ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि उसका प्रकाशत्व तो प्रत्यक्ष अनुमान एवं शास्त्र द्वारा सिद्ध है।[1] प्रत्यक्ष द्वारा आत्मा के स्वप्रकाशत्व की सिद्धि सुषुप्ति की अवस्था में होती है[2] क्योंकि जब हम सोकर उठते हैं तो कहते हैं कि हम सुख से सोये। विद्यारण्यस्वामी का कहना है कि आत्मा स्वप्रकाश है क्योंकि जहाँ भी वह है, प्रकाश के अभाव से रहित है।

वह दिया एवं ज्ञान के समान स्वप्रकाश से पूर्ण है। आत्मा तो दिया के समान भी स्वप्रकाश है।[3] विवरणप्रस्थान के सभी विचारक ब्रह्म को बाधरहित भी घोषित करते

है। ब्रह्म के स्वरूप लक्षण बतलाते हुये विद्यारण्यस्वामी का कहना है कि सत्य, ज्ञान एवं अनन्त ही उसके स्वरूप लक्षण हैं। इन तीनों को ब्रह्म के गुण नहीं समझना चाहिये। गुण एवं लक्षण में भेद यह है कि गुण जिस वस्तु के होते हैं, उसकी विशेषता बतलाते हैं जबकि लक्षण जिस वस्तु के होते हैं उसका स्वरूप बनाते हैं। सत्य, ज्ञान एवं अनन्ता केवल ब्रह्म के स्वरूप ही रचना करते हैं, ये तीनों एक ही वस्तु को इंगित करते हैं और वह है ब्रह्म का स्वरूप। ये ब्रह्म के एकत्व के परिचायक हैं।[४] यहाँ पर एक आलोचना यह हो सकती है और वह यह कि यदि सत्य ज्ञान पुष्टि शब्दों का भिन्न-भिन्न अर्थ है, तो अखण्ड एकरस रूप अर्थ में उनकी शक्ति कैसे होगी और यदि इनका भिन्न-भिन्न अर्थ न मान कर एक ही अर्थ माना जाय तो पुनरूक्ति दोष हो जायेगा।[५] इस आलोचना का उत्तर देते हुये विद्यारण्य स्वामी कहते हैं कि उपर्युक्त तीनों पदों का प्रतिपाद्य अर्थ एक ही है।

तथापि असत्य, अज्ञान एवं सान्तभाव का निषेध करने के दृष्टिकोण से तीनों का अलग-अलग कथन किया गया है। अतः इसमें न पुनरूक्ति दोष है और एक ही अर्थ के प्रतिपादक होने में असामञ्जस्य भी नहीं रहता।[६] उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विवरण संप्रदाय के अन्तर्गत त्रिकालाबाधित, स्वयंप्रकाश ब्रह्म या आत्मा ही एकमात्र परम् सत् है। सह सत्य, ज्ञान अनन्तम है। यही सत् समस्त विश्व में व्याप्त है और यही उसके परे भी है। इसके अतिरिक्त यह समस्त नामरूपात्मक विश्व अर्थात् प्रपंच उस ब्रह्म पर ही अध्यस्त होने के कारण मिथ्या है। अब हम अध्यास के स्वरूप एवं यह विश्व किस प्रकार ब्रह्म पर अध्यस्त है, इत्यादि समस्याओं पर संक्षिप्त में विचार करेंगे।

आचार्य शंकर ने अध्यास का लक्षण इस प्रकार किया है-"स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावमासः"[७] अर्थात् अन्य स्थान पर पहले देखी हुई वस्तु का स्मृति जैसा अवभास होना। इसमें परत्र अवभासः" इतना ही अध्यास का लक्षण हैं। "स्मृतिरूप" और "पूर्वदृष्टावभास" ये दोनों अध्याय के साधक हैं। "परम अवभास" का अर्थ है-परत्र (अधिष्ठान में या विद्यमान वस्तु में) अवभास (किसी अन्य वस्तु की प्रतीति होना)। अन्य भासित होने वाली वस्तु स्मृति के आधार पर प्राप्त होती है। स्मृति उसी वस्तु की होती है, जिसे हमने पहले देखा था। शंकर एक बार पुनः अध्यास की परिभाषा देते हुये कहते हैं कि "अध्यासों नाम अतस्मिस्तद बुद्धिः अर्थात् अतद में तद्बुद्धिः ही अध्याय है। यह परिभाषा पूर्व में दी गयी परिभाषा "स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावमातः का संक्षिप्त रूप ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा अथवा ब्रह्म के शुद्ध स्वभाव को अक्षुण रखते हुये, इस विश्व-प्रपंच की व्याख्या अध्याय की मान्यता के बिना संभव नहीं है। इसीलिये शंकर ने सर्वप्रथम अध्यास के स्वरूप एवं महत्व को स्थापित किया।

शंकराचार्य के प्रायः सभी अनुयायी आचार्यों ने अध्यास के महत्व को समझ

कर, उसे चर्चा का विषय बनाया है। भामतीकार आचार्य वाचस्पति मिश्र ने "भामती" के लगभग प्रारम्भ में ही अध्यास पर अपने विचार व्यक्त किये हैं।[८] विवरण संप्रदाय के जनक शंकराचार्य के शिष्य पदमपादाचार्य ने अपनी रचना "पंचपादिका" में अध्यास पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि चाहे पदमपादाचार्य हो या वाचस्पति मिश्र, सभी अध्यास से संबंधित शंकराचार्य के विचारों के आधार पर आगे बढ़ते हैं। शंकराचार्य ने अपने शारीरिक भाष्य के उपोद्घात में आत्मा एवं अनात्मा को प्रकाश एवं अंधकार के समान विरोधी स्वभाव वाला घोषित किया है और यदि ये दोनों विरोधी स्वभाव वाले है तो एक के गुण दूसरे पर कैसे आरोपित किये जा सकते हैं, ऐसी शंका आचार्य शंकर स्वयं उपस्थित करते हैं।[९] इस शंका का उत्तर देते हुये पंचपादिकाकार का कहना है कि अन्धकार एवं प्रकाश का उदाहरण देकर आत्मा एवं अनात्मा का एक स्थान पर रहना प्रसिद्ध नहीं किया जा सकता है क्योंकि प्रकाश में अन्धकार का रहना प्रसिद्ध नहीं है। उदाहरण के लिये मन्द प्रकाश वाले स्थान पर एक वस्तु अस्पष्ट दिखलाई पड़ती है, जबकि तेज प्रकाश वाले स्थान पर वही वस्तु स्पष्ट दिखलाई देती है इसका तात्पर्य यही है कि मन्दप्रकाश वाले स्थान पर अंधकार का कुछ अंश विद्यमान है।[१०] इस दृष्टान्त से यह सिद्ध होता है कि आत्मा एवं अनात्मा विरुद्ध स्वभाव वाले होते हुये भी एक दूसरे पर आरोपित हो सकते हैं। उनमें तादात्म्य चाहें संभव न हो, किन्तु एक स्थान पर तो रह ही सकते हैं। इसके अतिरिक्त इन दोनों में तादात्म्य संभव न होने पर भी दोनों के गुण तो एक दूसरे पर अध्यारोपित हो ही सकते हैं। विवरणप्रमेय संग्रह में विद्यारण्य स्वामी ने अध्यास को प्रत्यक्ष, अनुमान अर्थापत्ति एवं आराम चारों प्रमाणों से सिद्ध किया है। प्रत्यक्ष द्वारा अध्यास को सिद्ध करते हुये वे कहते हैं कि इस संसार में जब हम कहते हैं कि 'मैं पशु हूँ', 'मैं देव हूँ', मैं मनुष्य हूँ, तब हम अपने जातिगत शरीर को चिद्रूप आत्मा पर अध्यारोपित करके ही प्रमेय प्रमाता रूप व्यवहार करते है।[११] जब तक देहइन्द्रियादि में 'अहम्' इत्यादि का भाव नहीं है, तब तक प्रमाण, प्रमेय, प्रभातृत्व इत्यादि कोई भी व्यवहार संभव नहीं है।[१२]

विद्यारण्यस्वामी अनुमान से भी अध्यास को सिद्ध करते हैं। उनके अनुसार विवादग्रस्त देवदत्त की स्वप्न अवस्था एवं जाग्रत अवस्था दोनों "मैं मनुष्य हूँ" इस अध्यास के कारण ही प्रमातृत्व इत्यादि व्यवहार से युक्त होती है और इसके विपरीत काल की, जिसमें प्रभातत्व आदि व्ययहार नहीं रहता, जागृत या स्वप्नकाल नहीं कह सकते। सुषुप्ति अवस्था में देह एवं आत्मा का अध्यास नहीं देखा जाता, इसीलिये प्रमावृत्व की भी संभावना नहीं रहती। आत्मा स्वयं कुटस्थ नित्य, निर्विकार एवं अपरिणामी है। स्वयं उसमें प्रमातृत्व इत्यादि व्यवहार नहीं हो सकते, अतः प्रमातृत्व इत्यादि व्यवहार के लिये अध्यास को मानना ही पड़ेगा।[१४]

आगम को अध्यास में प्रमाण दिखलाने के लिये विद्यारण्य शास्त्र उद्धृत करते हुये कहते हैं कि "ब्राह्मण यज्ञ करे" इत्यादि श्रुति भी अध्यास में प्रमाण है[१५] अन्यथा ब्राह्मण पद जो ब्राह्मणत्वजातिविशिष्ट का याग में अधिकार दिखलाता है, वह निधर्मक आत्मा में अध्यास के बिना उत्पन्न नहीं होगा।

## माया एवं अविद्या

अध्यास के स्वरूप की विवेचना करते समय हमने कहा है कि विरोधी गुणों वाली दो वस्तुओं के गुणों को एक दूसरे पर आरोपित करना ही अध्यास है। उदाहरण के लिये आत्मा पर शरीर के गुणों को आरोपित करना अध्यास है, इसी प्रकार ब्रह्म पर इस विश्व प्रपंच को आरोपित करना भी अध्यास है। यह नामरूपात्मक प्रपंच ब्रह्म पर आरोपित है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि वह नामरूपात्मक विश्व ब्रह्म पर कैसे अध्यारोपित है ? इस संबंध में अद्वैत वेदान्तिओं का यही उत्तर है कि यह प्रपंच माया के द्वारा ब्रह्म पर अध्यारोपित है। केवल ब्रह्म अथवा आत्मा ही सत्य है और समस्त प्रपंच भ्रममात्र अर्थात् मिथ्या है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त में माया को अध्यास का कारण माना गया है। अतः यह पूछना स्वाभाविक है कि माया क्या है ?

माया शब्द का प्रयोग प्रस्थानत्रयी के ग्रन्थों में कई बार हुआ है। शंकर ने माया शब्द प्रस्थानत्रयी से ही लिया है और वे माया अविद्या में स्पष्ट भेद नहीं करते। माया एवं अविद्या के लिये शंकर ने तम, मोह, अव्याकृत अव्यक्त, अप्रतिबोध आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है।[१६] "पंचपादिकाकार" आचार्य पद्मपाद ने भी माया एवं अविद्या के लिये लगभग उन्ही शब्दों का प्रयोग किया है, जिनका शंकराचार्य प्रयोग करते हैं। पद्मपादाचार्य माया अथवा अविद्या के लिये अव्यक्त, कारण, तम, लय, शक्ति, महासुप्ति, निदा, आकाश, अक्षर, प्रकृति अव्याकृत अग्रहण इत्यादि पदों का प्रयोग करते हैं।[१७] सुरेश्वराचार्य ने भी अविद्या और माया में अभेद ही माना है।

सुरेश्वर भी शंकर एवं पद्मपादाचार्य की भांति माया अथवा अविद्या के लिये विभिन्न पदों का प्रयोग करते हैं। "पंचपादिकाविवरणकार" आचार्य प्रकाशात्मयति माया एवं अविद्या में अभेद मानते हैं। ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति को बतलाते हुये विवरणकार माया एवं अविद्या को एक ही मानते हैं।[१८] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि विवरण संप्रदाय के विचारक जैसे सुरेश्वराचार्य, पद्मपादाचार्य, प्रकाशशात्मयति, इत्यादि सभी विचारक माया एवं अविद्या में भेद नहीं करते, किन्तु विद्यारण्य स्वामी अविद्या और माया में भेद करते प्रतीत होते हैं। यह भेद जीव और ईश्वर में भेद करने के लिये मानते हैं, क्योंकि जीव एवं ईश्वर में भेद है अतः उनकी उपाधि में

भेद होना आवश्यक है। ब्रह्म माया की उपाधि सहित ईश्वर है किन्तु ब्रह्म अविद्या की उपाधि सहित जीव है। विद्यारण्य कहेगें कि माया में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ईश्वर है, जबकि अविद्या में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जीव है। यदि यह उपाधि भेदन माना जाय तो प्रतिबिम्बवाद के सहारे ईश्वर एवं जीव की व्याख्या करना कठिन हो जायेगा क्योंकि ईश्वर एवं जीव में भेद होने के कारण एक ही बिम्ब के दो प्रकार के प्रतिबिम्ब मानने पड़ेंगे।

विवरण संप्रदाय की एक अन्य महत्वपूर्ण मान्यता यह है कि "अविद्या" भावरूप है। इस संबंध में विवरणकार कहते हैं कि मैं अज्ञ हूँ और अपने आप एवं दूसरे को नहीं जानता हूँ। इस प्रत्यक्ष प्रतीति से भावरूप अज्ञान की सिद्धि होती है।[१९] हमने देखा है कि मंडन मिश्र एवं उनके अनुयायी अज्ञान को अभावरूप मानते हैं और अपनी इस मान्यता के अनुसार ही वे 'भावद्वैत' का प्रातिपादन करते हैं।

अज्ञान को भावरूप मानने से संबन्धित विवरण प्रमेयसंग्रहकार ने एक शंका प्रस्तुत करके उसका समाधान भी किया है। शंका यह है कि यदि भावरूप अज्ञान का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तो ज्ञान से उसकी निवृति कैसे होगी ? यदि कहो कि निवृत्ति नहीं होती, तो मोक्ष संभव नहीं होगा। और यदि यह माना जाये कि भावरूप अज्ञान का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है, तो ऐसे भावरूप अज्ञान के मानने में प्रमाण ही क्या होगा। इन्हीं कठिनाइयों के कारण अज्ञान को भावरूप नहीं मानना चाहिये। इस कठिनाई के समाधान के लिये यह कहा गया है कि भावरूप अज्ञान का प्रत्यक्ष होता है और वह ज्ञान से नष्ट भी होता है, तब भी कोई व्याघात नहीं है। इसका कारण यह है कि एक काल में भाव और अभाव का रहना विरुद्ध है। उदाहरण के लिये घटाभाव के देश एवं काल में घट का भाव होना विरुद्ध है। परन्तु एक ही काल और देश में दो भावों का रहना विरुद्ध नहीं है। जैसे घड़ा और कपड़ा दोनों एक काल और एक स्थान में रह सकते है और जब अज्ञान को हम भावरूप स्वीकार करते हैं तो भावरूप ज्ञान के साथ उसका रहना विरुद्ध कैसे कहा जा सकता है। इस प्रकार ज्ञान और अज्ञान दोनों एक काल एवं एक देश में साथ रह सकते हैं।[२०]

विवरण प्रस्थान में अज्ञान को भावरूप सिद्ध करने के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रयोग तो किया ही गया है, इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष की विश्वसनीयता सिद्ध करने के लिये पंचपादिकाविवरणकार ने अनुमान[२१] एवं अर्थापत्ति[२२] जैसे प्रमाणों का भी उपयोग किया है। यद्यपि प्रत्यक्ष सभी प्रमाणों में ज्येष्ठ है, फिर भी उससे भ्रम इत्यादि के निवारण हेतु अन्य प्रमाणों का सहारा लेना अनुचित नहीं होता। इस विषय का विस्तृत विवेचन हमारे इस लघु ग्रन्थ के लिये आवश्यक नहीं प्रतीत होता है।

प्रकाशात्मयति के ग्रन्थ पंचपादिकाविवरण को देखने से ज्ञात होता है कि वे अविद्या के एकत्व में विश्वास करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि पंचपादिकाविवरणकार सब जीवों में एक ही अविद्या स्वीकार करते हैं।[२३] यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि अविद्या एक ही है अर्थात् यदि सभी मनुष्यों में अविद्या एक ही है अर्थात् यदि सभी मनुष्यों में अविद्या का एकत्व है तो एक मनुष्य की अविद्या का नाश होने से सभी मनुष्यों की अविद्या नष्ट हो जायेगी और सभी व्यक्तियों की मुक्ति एक साथ संभव होगी। इस समस्या के समाधान के लिये पंचपादिका विवरणकार कहते हैं कि यद्यपि मूल अविद्या एक ही है, किन्तु उस मूल अविद्या में अवस्था भेद विद्यमान है। अर्थात् उसकी अवस्थायें अनेक हैं। इसीलिये जिस व्यक्ति की अविद्या नष्ट हो जाती है। उसकी मुक्ति हो जाती है, अन्य जीव बन्धन में बने रहते हैं।

एक अन्य शंका यह होती है कि यदि मूल अविद्या एक ही है तो जिस प्रकार हमें सीपी में चांदी का भ्रम होने के बाद सीपी का ज्ञान हो जाता है तो हमारे में अज्ञान का नाश हो जाना चाहिये और उस दशा मे मुक्ति होना चाहिये। इस शंका के समाधान के लिये विवरणकार कहते हैं कि सीपी-चाँदी भ्रम में सीपी का ज्ञान चांदीरूपी अध्यास विशेष का ही नाश करता है, मूल अविद्या का नहीं करता है।[२४] यहाँ पर यह कहना अप्रसांगिक न होगा कि भामतीकार वाचस्पति मिश्र मानते हैं कि भिन्न-भिन्न जीवों में रहने वाली अविद्या एक न होकर भिन्न-भिन्न है वाचस्पति भूल अविद्या के नानात्व को स्वीकार करते हैं।[२५]

अविद्या का आश्रय क्या है? इसका विषय क्या है? ये ऐसे प्रश्न हैं, जिनका उत्तर पंचपादिकाविवरण में मिल जाता है। विवरणकार अविद्या के आश्रय एवं विषय में भेद नहीं करते। प्रकाशात्मयति ब्रह्म को ही अविद्या का आश्रय एवं विषय दोनों मानते हैं। प्रकाशात्मयति के अनुसार अविद्या आश्रय एवं विषय का भेद नहीं करती, जिस प्रकार अंधकार अपने आश्रय एवं विषय का भेद नहीं करता। जो प्रदेश अंधकार का आश्रय होता है, उसी प्रदेश का अंधकार आवरण भी करता है। अज्ञान का आश्रय ब्रह्म ही है और उसी पर वह आवरण भी डालता है। इस प्रकार विवरणकार का यह मानना है कि अविद्या अपने विषय एवं आश्रय के लिये दो वस्तुओं की अपेक्षा नहीं करती वरन् जो वस्तु उसका विषय होती है, उसी को वह आवरण करती है।[२६]

इस संबंध में एक समस्या सामने आती है और वह यह है कि जिस प्रकार ज्ञान के लिये आश्रय और विषय के भेद की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अज्ञान में भी होना चाहिये। इस समस्या का समाधान विवरणप्रमेयसंग्रहकार विद्यारण्य स्वामी ने भली प्रकार किया है। वे कहते हैं कि "जैसे स्थिति कर्म निरपेक्ष होने पर भी अगमन

शब्द (गगननिषेध) से कही जाती हुई किसका और किविषयक अगमन है, वैसे ही वह माया अज्ञान (ज्ञाननिषेध) शब्द से प्रतिपादित होती हुई आश्रय और विषय के भेद की अपेक्षा करती हुई सी प्रतीत होती है, वस्तुतः माया विषय एवं आश्रय का भेद करने वाली नहीं है।[२७] विवरणप्रमेय संग्रहकार का मानना है कि आश्रय और विषय की अपेक्षा रखने वाला ज्ञान है, उसका निषेध करने वाले अज्ञान शब्द के बल से ऐसी प्रतीति होती है। माया आदि शब्द से व्यवहार करने पर तो, ऐसी प्रतीति नहीं होती है।

## ब्रह्म एवं जीव का संबंध

ब्रह्म ही एक मात्र परम सत्ता है। शंकर का मानना है कि ब्रह्म एवं जीव सार रूप से एक ही हैं। शंकराचार्य श्रुतिओं में प्रतिपादित जीव एवं ब्रह्म की एकता को अक्षरक्षः स्वीकार करते हैं। वे बृहदारण्यक उपनिषद के वाक्यों जैसे "अयमात्माब्रह्म एवं अहम् ब्रह्मस्मि" और छान्दोग्य उपनिषद के "तत्त्वमसि" जैसे वाक्यांशों को ब्रह्म एवं जीव की एकता का सूचक मानते हैं। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शंकर ब्रह्म एवं जीव में भेद ही नहीं करते। कतिपय स्थानों पर शंकर यह कह कर ब्रह्म एवं जीव में भेद करते हैं कि 'माया उपहित चेतन ईश्वर' एवं 'अविद्या उपहित चेतन जीव'। अपने ब्रह्म सूत्र के भाष्य में वे कहते हैं कि जिस प्रकार घड़े के अन्दर का आकाश उस सार्वभौम आकाश से भिन्न है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म से भिन्न है।[२८]

विवरणसंप्रदाय के विचारक अवच्छेदवाद को नहीं मानते। वे प्रतिबिम्बवाद की स्थापना करते हैं। यहाँ पर यह कहना अनुचित न होगा कि जीव एवं ब्रह्म के संबंध की व्याख्या के लिये भामती संप्रदाय अवच्छेदवाद को स्वीकार करता है।

जबकि विवरण संप्रदाय प्रतिबिम्बवाद की वकालत करता है। प्रतिबिम्बवाद के अनुसार जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। ज्ञातत्व है कि शंकराचार्य ने अवच्छेदवाद एवं प्रतिबिम्बवाद दोनों को स्वीकार किया है। उन्होंने ब्रह्म एवं जीव के अभेद को दिखलाने के लिये जलप्रतिबिम्ब का उदाहरण दिया है।

पंचपादिकाकार आचार्य पद्मपाद ने भी ब्रह्म एवं जीव में बिम्ब-प्रतिबिम्ब का ही संबंध माना है। वे ब्रह्म को बिम्ब स्थानीय तथा जीव को प्रतिबिम्ब स्थानीय कहते हैं। पद्मपादाचार्य तो यह भी कहते हैं कि 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के द्वारा यह बतलाने की चेष्टा की गयी है कि जीव एवं ब्रह्म मे समानता है।[२९] 'पंचपादिकाविवरणकार' प्रकाशत्मयति और 'विवरणप्रमेयसंग्रहकार' विद्यारण्य स्वामी दोनों प्रतिबिम्बवादका ही प्रतिपादन करते हैं। वे दोनों यह भी कहते हैं कि प्रतिबिम्बवाद श्रुति, स्मृति एवं सूत्र

इत्यादि तीनों से समर्थित है।[३०] यही बात, लगभग विद्यारण्यस्वामी भी कहते हैं। उनके अनुसार 'रूपंरूपं प्रतिरूपं वभूव इति श्रुतिः। एबधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत इति स्मृतिः। अतएव चोपमा सूर्यकादिवत् इति सूत्रम्"।[३१] अपनी रचना 'पंचदर्शी' में विद्यारण्य स्वामी कहते हैं कि –

"मायाबिम्बो वशीकृत्वा ता स्यात सर्वज्ञ ईश्वरः।
अविद्यावशगस्त्वन्य स्तद्वैचित्रयादनेकर्धा"।[३२]

अर्थात् माया में पड़ा प्रतिबिम्ब उसे अपने वश में रखता है और सर्वज्ञ ईश्वर बनता है तथा दूसरा जीव अविद्या के परवश होकर उसकी विचित्रता के कारण अनेक हो गया।

श्रुति, स्मृति एवं सूत्र से समर्थित होने के कारण विवरणकार एवं विवरणप्रमेयसंग्रहकार ने प्रतिबिम्बवाद को स्वीकार ही नहीं किया है, वरन् दोनों ने ही युक्तिओं द्वारा अवच्छेदवाद को दोषपूर्ण दिखला कर प्रतिबिम्बवाद को निर्दोष माना है।[३३] यद्यपि प्रतिबिम्बवाद के संबंध में उपयुर्क्त दोनों ही आचार्यों की सभी युक्तिओं का विवेचन आवश्यक नहीं है, फिर भी हम विवरणप्रमेयसंग्रहकार की एक-दो युक्तिओं को देने का प्रयास करेंगे। विद्यारण्य लिखते हैं कि "जीव को अवच्छेद मानने पर जीवोपाधि के मध्य में ब्रह्म के भी रहने से उसमें द्विगुण चैतन्य कैसे बनेगा क्योंकि अवच्छेदवाद में आकाश का घटरूप उपाधि में द्विगुण होना देखा नहीं गया है। यदि ब्रह्म की जीवाच्छेद उपाधि में सत्ता न मानें तो ब्रह्म का सर्वव्यापकत्व तथा सकलनियामकत्व उत्पन्न नहीं हो सकता"।[३४] विद्यारण्य स्वामी मानते हैं कि प्रतिबिम्बपक्ष में द्विगुणित वृत्ति का दृष्टान्त मिलता है, अवच्छेदवाद में नहीं मिलता। इसलिये अहंकाररूप उपाधि द्वारा कृत ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही जीव है।[३५] विद्यारण्य प्रतिबिम्बवाद के खिलाफ एक अन्य शंका का उल्लेख करके उसका उत्तर भी देते हैं। वे कहते हैं कि यदि "यह शंका की जाये कि अमूर्तभूत ब्रह्मपदार्थ का प्रतिबिम्ब कैसे हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में विद्यारण्य कहते हैं कि यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि अमूर्त आकाश भी अपने में आश्रित मेघ, तारा आदि के सहित जल में प्रतिबिम्बित होता हुआ देखा जाता है।"[३६] यद्यपि मेघ और नक्षत्रों के सहित आकाश जल में नहीं है, तथापि जल में वह इन से विशिष्ट दीख पड़ता है। अतः बाहर विद्यमान आकाश का वह प्रतिबिम्ब ही है।

विवरण स्कूल के विचारक ईश्वर को भी ब्रह्म के प्रतिबिम्ब के रूप में निरूपित करते हैं, तब प्रश्न यह होता है कि ईश्वर और जीव में भेद क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर विद्यारण्य स्वामी की पंचदशी एवं तत्वविवेक दोनों में उपलब्ध है। विद्यारण्य के अनुसार माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म को ईश्वर कहते हैं और अविद्या में प्रतितिम्बित

ब्रह्म अथवा चैतन्य को जीव कहते हैं। यहाँ माया एवं अविद्या में भी कुछ अन्तर दिखलाया है। माया में विशुद्धसत्व की प्रधानता है जबकि अविद्या में सत्वगुण रजोगुण एवं तमोगुण के साथ मिश्रित है।[३७] डॉ० सत्यदेव शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'भामती प्रस्थान एवं विवरण प्रस्थान के तुलनात्मक अध्ययन में प्रकटार्थ विवरण को उद्घृत करके जीव एवं ईश्वर में स्षष्ट भेद किया है। डॉ. शास्त्री कहते हैं कि "अनादि, अनिर्वचनीय, सर्वभूतों की प्रकृति और चिन्मात्र में रहने वाली माया में चैतन्य का प्रतिबिम्ब ईश्वर तथा उसी माया के अविद्या नामक आवरण और विक्षय वाले परिच्छिन्न अनन्त प्रदेशों में चैतन्य का प्रतिबिम्ब जीव है"।[३८] उपयुक्त प्रतिबिम्बवाद तो उन्हीं विचारकों को स्वीकार्य होगा जो माया और अविद्या में भेद नहीं करते। वे ईश्वर एवं जीव की कुछ भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं। उदाहरण के लिये सर्वज्ञात्ममुनि कहते हैं कि अविद्या और उसके कार्य में भेद है। अविद्या का कार्य अन्तःकरण है। अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है और अन्तःकारण में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है।[३९] उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विवरण प्रस्थान में जीव एवं ईश्वर दोनों को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही स्वीकार किया गया है। यह इस प्रस्थान की एक मुख्य विशेषता है।

## जगत निरूपण

शंकराचार्य के अनुसार मायोपाधिक ईश्वर ही इस विश्व का कारण है, ब्रह्म नहीं है। त्रिगुणात्मिका एवं अनिर्वचनीय माया की उपाधि से उपहित ब्रह्म ईश्वर है। यही ईश्वर अद्वैतवेदान्त में इस समस्त विश्व की उत्पत्ति का कारण है। यह सुविदित है कि ईश्वर के दो पक्ष हैं, चैतन्य पक्ष और उपाधि-पक्ष। यह उपाधि-पक्ष अनिर्वनीय, त्रिगुणात्मिका एवं जड़रूपी माया है। माया ईश्वर की शक्ति है। अपने उपर्युक्त दो पक्षों के कारण ईश्वर विश्व का निमित्त कारण है और उपाधि पक्ष से जगत का उपादान कारण है। यह सर्वविदित है कि भामती सम्प्रदाय एवं विवरण सम्प्रदाय दोनों ईश्वर को विश्व का निमित्त एवं उपादान कारण स्वीकार करते हैं।

क्योंकि माया विश्व का उपादान कारण है, अतः इसे अनिर्वचनीय कहा जा सकता है, क्योंकि माया न सत् है, न असत् है और न सत्-असत् दोनों है। वह तो अनिर्वचनीय हैं। अद्वैतवेदान्ती विचारक तीन प्रकार की सत्ताओं में विश्वास करते हैं-पारमार्थिक सत्ता, व्यवहारिक सत्ता एवं प्रतिभासिक सत्ता। स्वप्रकाशित एवं अबाधित तत्व अथवा ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्ता है, रज्जू में सर्प की प्रतीति प्रातिभासिक सत्ता तथा इन दोनों से विलक्षण इस जगत की व्यावहारिक सत्ता मानी जाती है। यह

विश्व न तो ब्रह्म की तरह सत् है, न खरगोश के सींग की भांति असत् और सत्-असत् दोनों व्याघाती हैं। यह विश्व माया की उत्पत्ति होने के कारण माया की भांति अनिर्वचनीय है।

अन्त में हम जगत की उत्पत्ति से संबंधित पदमपादाचार्य के विचारों का संक्षेप में उल्लेख करना उचित समझते हैं। ब्रह्म के कारणत्व के संबंध में पदमपाद का विचार है जिस आश्रय अथवा ब्रह्म पर यह विश्व अध्यारोपित है, वही ब्रह्म इसका कारण है। पदमपाद के इस विचार के संबंध में प्रकाशात्मयति तीन विकल्प बतलाते हैं। प्रथम विकल्प यह है कि रस्सी में गुथी दो लड़िओं के समान ब्रह्म और माया दोनों विश्व का कारण हैं दूसरा विकल्प के लिये कहा जा सकता है। माया जिसकी शक्ति है, वही ब्रह्म इस विश्व का कारण है और तीसरे विकल्प के अन्तर्गत कहा जा सकता है कि माया का आश्रय होने के कारण ब्रह्म जगत का कारण है।[४०] प्रकाशात्मयति के अनुसार उपर्युक्त तीनों विकल्पों में ब्रह्म ही मुख्य है। अतः हम कह सकते हैं कि ब्रह्म ही माया के द्वारा इस विश्वरूप में प्रतीत होता है।

## मोक्ष विचार

मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्या है ? शंकर के अनुसार जीव ब्रह्म का एकत्व ही अन्तिम लक्ष्य है। यही बात विवरण सम्प्रदाय एवं भामती संप्रदाय दोनों में स्वीकार की गयी है। किन्तु यह एकत्व ब्रह्म एवं जीव का है अथवा जीव एवं ईश्वर का ? यह सुविदित है कि अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म एवं ईश्वर में भेद माना गया है, इसीलिये यह समस्या सामने आती है।

विवरण संप्रदाय में इस समस्या से संबंधित कुछ मतभेद हैं। सर्वज्ञात्ममुनि का मानना है कि मुक्ति की अवस्था में जीव ब्रह्म से ही एकाकार होता है। सर्वज्ञात्ममुनि जीव एवं ईश्वर दोनों को ही प्रतिबिम्ब मानते हैं। जीव अविद्या के उत्पाद अन्तःकरण में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, जबकि ईश्वर अविद्या में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। अतः मुक्ति की अवस्था में जीव एवं ब्रह्म का ही एकाकार होता है। किन्तु पंचपादिकाविवरण के लेखक प्रकाशात्मयति सर्वज्ञात्ममुनि के विचार से पूर्णतयः सहमत नहीं हैं। वे ईश्वर को प्रतिबिम्ब न मान कर बिम्ब ही मानते हैं इसीलिये मुक्ति की अवस्था में जीव ईश्वर रूप ही होता है, ब्रह्मरूप नहीं। जब तक प्रतिबिम्ब रहते हैं। तभी तक बिम्ब अथवा ईश्वर भी रहता है। प्रतिबिम्बों की समाप्ति पर ईश्वर भी समाप्त हो जाता है और जब ईश्वर समाप्त होता है तब वह सभी प्रतिबिम्बों के साथ ब्रह्म हो जाता है क्योंकि ईश्वर और ब्रह्मतह्मवतः एक ही है। वे सभी प्रतिबिम्ब जो मुक्त होकर बिम्ब रूप प्राप्त

करते हैं, ब्रह्मरूप हो जाते हैं और यह सब तभी संभव है, जब सभी प्रतिबिम्ब मुक्त हो। जब तक एक भी जीव प्रतिबिम्ब रूप में रहता है, तब तक अन्य मुक्त प्रतिबिम्ब बिम्बरूप ही रहते हैं।

सुरेश्वराचार्य एक ऐसे विचारक हैं जो जीव का न वास्तविक बन्धन मानते हैं न मोक्ष। वे जीव एवं ईश्वर दोनों को ब्रह्म का आभास मानते हैं, अर्थात जीव आभास मात्र अथवा मिथ्या है, इसीलिये जब जीव की उपाधि का नाश होता है, तब जीव का भी नाश हो जाता है। जो कुछ है, वह ब्रह्म ही है, जीव तो मिथ्या है। ब्रह्म न बन्धन में बंधता है और न मुक्त होता है। ब्रह्म में सम्पूर्ण संसार कल्पित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी अद्वैतवेदान्ती मानव जीवन के परमलक्ष्य के संबंध में लगभग एक से ही विचार रखते हैं। मोक्ष के साधनों को लेकर कुछ मतभेद अवश्व दिखलाई देता है।

## जीवन मुक्ति एवं विदेह मुक्ति

विवरण संप्रदाय एवं भामती संप्रदाय में जीवन मुक्ति के संबंध में भी अधिक मतभेद नहीं है क्योंकि भामतीकार वाचस्पति के विचारों की विवेचना करते समय हम देख चुके हैं कि आचार्य वाचस्पति भी जीवनमुक्ति स्वीकार करते है। केवल मंडन मिश्र एवं उनके कतिपय अनुयायी जीवन मुक्ति से अधिक विदेह मुक्ति को अधिक महत्व देते हैं। जीवन मुक्ति के संबंध में विवरण संप्रदाय के विचारक शंकराचार्य के विचारों का पूर्णरूप से अनुसरण करते प्रतीत होते हैं। शकराचार्य के अनुसार ब्रह्मानुभव होने पर संचित कर्मों का नाश हो जाता है, किन्तु प्रारब्ध कर्मों का नाश नहीं होता। जब तक प्रारब्ध कर्मों का अवशेष रहता है, तब तक उनके भोग के लिये शरीर चलता रहता है। प्रारब्ध कर्मों के भोग की समाप्ति पर शरीर गिर जाता है और जीव ब्रह्म से एकाकार होता है। यही विदेह मुक्ति है।

विवरण संप्रदाय के विचारकों की मान्यता है कि यदि मुक्ति की अवस्था में तुरन्त संचित एवं प्रारब्ध दोनों प्रकार के कर्मों का नाश मान लिया जाय, तो जीवन कैसे चल सकता है और उस दशा में स्थितिप्रज्ञ जैसे महापुरुषों को स्वीकार करना कठिन हो जायेगा। अपनी रचना विवरणप्रमेयसंग्रह में विद्यारण्य स्वामी ने एक समुचित उदाहरण देकर जीवनमुक्ति की समस्या को हल करने का प्रयास किया है। उनका कहना है कि विद्या द्वारा अविद्या का नाश होने पर भी अविद्या का कुछ लेश बना रहता है, जिस प्रकार फूलों की डलिया से फूलों के निकल जाने पर भी उस डलिया में कुछ समय तक सुगन्ध बनी रहती है।[४१] यह अविद्या का लेश जब तक रहता है, तब तक

जीवन चलता रहता है, यही जीवन मुक्ति है। विद्यारण्य स्वामी का यह निश्चित मत है कि प्रारब्ध कर्मों के भोग तक देह और इन्द्रिओं के बने रहने के लिये अविद्यालेश का मानना अनिवार्य लग रहा है।[४२]

इस संबंध में चित्सुखीकार प्रारब्ध कर्मों को इतना सबल मानते हैं कि ब्रह्मज्ञान द्वारा भी उनका तुरन्त अन्त संभव नहीं है। उस ज्ञानी व्यक्ति को प्रारब्ध कर्मों का भोग तो भोगना ही होगा। अतः ज्ञानी के शरीर को कुछ समय तक चलना ही होगा। यही जीवनमुक्ति है। यदि मुक्ति की अवस्था में भी अविद्यालेश माना जाता है, तो उसे मुक्ति की अवस्था कैसे कह सकते हैं क्योंकि मुक्ति की अवस्था में तो अंविद्यालेश का रहना उचित नहीं है[४३] इस समस्या का समधान अद्वैतसिद्धिःकार मधुसूदनसरस्वती ने भलीभांति किया है। उनका कहना है कि जीवनमुक्ति की अवस्था में जो अविद्यालेश रहता है, उसमें आवरणशक्ति नहीं रहती है, केवल विक्षेप शक्ति रहती है।[४४] आवरणशक्ति का नाश हो जाता है। यही आवरणशक्ति बन्धन का कारण बनती है, विक्षेपशक्ति नहीं। विक्षेपशक्ति का रहना ही अविद्यालेश के रूप में लिया जाता है।

विद्यारण्य स्वामी अपनी रचना पंचदशी में कर्ममुक्ति और जीवन मुक्ति का भेद भी स्वीकार करते हैं। कर्ममुक्ति उपासना से प्राप्त होती है और वह व्यक्ति ब्रह्मलोक ले जाया जाता है।[४५] जो व्यक्ति विचार करने में सक्षम है, वह ब्रह्मविद्या के अभ्यास से इसी जीवन में मुक्त हो जाता है। "जीवन्नेव भवेन्मुक्तो वपुरस्तु यथा तथा"।[४६] अर्थात वह जीवन में ही मुक्त हो जाता है, उसका जीवन जैसे-तैसे रहता है।

वह अपने को शुद्ध आत्मरूप से अनुभव करता है। यद्यपि वह इन्द्रिओं से जगत को देखता है, किन्तु उसे जगत से कोई बाधा नहीं होती है।[४७] पूर्व अभ्यास से जीवन मुक्ति का व्यवहार चलता है और प्रारब्ध कर्म के क्षीण होने पर वह भी निवृत्त हो जाता है। उन्होंने "तस्य तावदेव चिर" वाक्य का यही अर्थ माना है कि ज्ञान से आरब्ध कर्मों को छोड़ कर समस्त संबंधित कर्मों का नाश हो जाता है। आरब्ध कर्मों के क्षय हो जाने पर देहपात हो जाता है।[४८]

## मोक्ष का साधन

शंकराचार्य ने एकमात्र ज्ञान को ही मोक्ष का साधन माना है। उनके अनुसार कर्म एवं मुक्ति चित्त शुद्धि के लिये ही उपयोगी है। वे आत्मज्ञान देने में असमर्थ हैं। शंकर की भांति विवरण संप्रदाय और भामती समप्रदाय दोनों की यही मान्यता है कि आत्मज्ञान ही मोक्ष का कारण है। किन्तु यह आत्मज्ञान किस प्रकार प्राप्त किया जाय,

इस संबंध में दोनों संप्रदायों में मतभेद पाया जाता है। शंकराचार्य के अनुसार हमारी आत्मा नित्य-मुक्त है, अज्ञान के कारण वह बन्धन में पड़ी दिखलाई देती है। अतः ज्यों ही हमें आत्मज्ञान हो जाता है, हम मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार शंकर मोक्ष को सिद्ध मानते हैं, साध्य नहीं। कर्म साध्यवस्तु की प्राप्ति के लिये होता है, सिद्ध वस्तु के लिये नहीं और क्योंकि मोक्ष सिद्ध है और अज्ञान के कारण वह बंधन में प्रतीत होता है, इसीलिये ज्ञान प्राप्त होते ही जीव अपने को आत्मा स्वरूप अनुभव करता है। यही मोक्ष है।

अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में शंकराचार्य ने ज्ञान को पुरूषव्यापारतन्त्र न मान कर वस्तुतन्त्र स्वीकार किया है।[५०] ध्यान एवं चिन्तन पुरुषव्यापारतंत्र होने के कारण उनका करना, न करना अथवा अन्यथा करना संभव है। वस्तुतंत्रज्ञान में ऐसा कुछ करना संभव नहीं है क्योंकि ज्ञान वस्तुतंत्र है, अतः ध्यान एवं मनन इत्यादि से भिन्न है। ये दोनो पुरूषव्यापारतंत्र है। इस संबंध में यह भी कहा जा सकता है कि सुरेश्वराचार्य शंकर से सहमत हैं। सुरेश्वराचार्य भी ज्ञान को ही मोक्ष का एकमात्र साधन मानते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा स्वतः मुक्त है, वह अज्ञान के कारण बन्धन में प्रतीत होती है। सुरेश्वराचार्य भी आत्मा को सिद्ध मानते हैं, साध्य नहीं।

### "श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का मोक्ष प्राप्ति में सापेक्षिक महत्व"

प्रायः सभी अद्वैतवेदान्ती श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन को आत्मसाक्षात्कार के अतंरंग साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। किन्तु वे सभी विद्वान इनके आपसी संबंध के विषय में एकमत नहीं है। इस संबंध में सर्वप्रथम मैं पंचपादिकाकार के विचारों को उदघृत करना चाहूँगा। आचार्य पद्मपादाचार्य कहते हैं कि जब हम आत्मज्ञान के लिये वेदान्त वाक्यों पर विचार करते हैं तथा ब्रह्मसूत्रभाष्य का श्रवण करते है, तो उसे श्रवण की संज्ञा दी जाती है। "वस्तुनिष्ठ वाक्योपक्षित दुन्दुभि आदि दृष्टान्तों तथा जन्मस्थिति लय के वाचारम्मण्ल्बादि का अनुसंधान मनन है।[५१] मनन के बाद वाक्य के अर्थ में स्थिरता लाना निदिध्यासन कहलाता है। सारांश में हम कह सकते हैं कि श्रुति वाक्य को सुनना, उस वाक्य के अर्थ के संबंध में पक्ष-विपक्ष के विचारों पर विचार करना और करके अपने द्वारा प्राप्त निष्कर्ष को स्थिर करना ही क्रमशः श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन है।

वार्तिककार सुरेश्वराचार्य इन तीनों के स्वरूप का निर्धारण कुछ भिन्न प्रकार से करते हैं। वे कहते हैं कि समस्त श्रुति वाक्यों का तात्पर्य निरूपण एक ब्रह्मरूप में

करना श्रवण है। इस तात्पर्य निरूपण की विपरीत भावना का निराकरण करना मनन कहलाता है। श्रुति वाक्यों के श्रवण एवं मनन द्वारा किये गये अर्थ निरूपण को स्थिर करना निदिध्यासन कहलायेगा। सुरेश्वर इस प्रकार से स्थिर किये गये अर्थ निरूपण को विज्ञान रूप मानते हैं क्योंकि विज्ञानरूप तत्व को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती।[५२]

श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के आपसी संबंध को विवरणकार प्रकाशात्मचयति ने अंग एवं अंगी का उदाहरण देकर समझाया है। वे कहते हैं कि आत्मासाक्षात्कार में श्रवण अंगी है, जबकि मनन एवं निदिध्यासन उसके अंग हैं।[५३] सारांश में हम कह सकते हैं कि सुरेश्वराचार्य के अनुसार ब्रह्मसाक्षात्कार में श्रवण मुख्य है, मनन एवं निदिध्यासन का स्थान गौड़ है। सामान्य दृष्टि से देखने पर भी श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन में श्रवण ही प्रमुख है क्यों जब हम किसी का पहले श्रवण करते हैं, उसके बाद ही उस पर मनन एवं निदिध्यासन करते हैं। सुरेश्वराचार्य तो युक्ति देकर भी श्रवण से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति सिद्ध करते हैं।

सुरेश्वराचार्य ध्यान को आत्मज्ञान का साधन नहीं स्वीकार करते हैं। वे तो यह भी स्वीकार नहीं करते कि ध्यान द्वारा हम ज्ञान में पूर्णता लाते हैं। यदि ध्यान के पूर्व ज्ञान अस्पष्ट है तो ध्यान उसको स्पष्ट नहीं बना सकता। ध्यान तो उसकी अस्पष्टता को ही स्पष्ट करेगा। इसी प्रकार सुरेश्वराचार्य मनन को भी आत्मज्ञान का प्रमुख कारण नहीं मानते। उनके अनुसार आत्मज्ञान में मनन का कार्य गौड़ है क्योंकि वह तो श्रवण के बाद आता है। अतः आत्मज्ञान की उपलब्धि में श्रवण ही मुख्य है और मनन श्रवण पर आधारित है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मोक्ष प्राप्ति के साधन के संबंध में विवरण संप्रदाय और भामती संप्रदाय में मुख्य भेद यह है कि विवरण संप्रदाय को आत्मोपलब्धि के लिये श्रवण प्रधान है। श्रवण से अपरोक्ष ज्ञान संभव है जबकि मनन एवं निदिध्यासन गौड़ स्थान रखते हैं। भामती संप्रदाय को पृष्ठभूमि प्रदान करने वाले मंडन मिश्र अपनी रचना ब्रह्मसिद्धिः में आत्मासाक्षात्कार की प्रक्रिया में ध्यान अथवा प्रसंख्यान को महत्वपूर्ण कार्य देते हैं। मंडन का अनुसरण करते हुये भामतीकार आचार्य वाचस्पति मिश्र भी आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया में ध्यान को मुख्य कार्य प्रदान करते हैं। श्रवण को गौड़ स्वीकार करते हैं। सारांश में यह कहा जा सकता है कि विवरण प्रस्थान में शब्द को ही अपरोक्ष ज्ञान देने वाला स्वीकार किया गया है, जबकि भामती प्रस्थान में शब्द को केवल परोक्षत्मक ज्ञान देने वाला मानते हैं। अपरोक्ष ज्ञान मन की प्रक्रिया अर्थात् मनन एवं निदिध्यासन द्वारा ही संभव है।

## (स) विवरण प्रस्थान एवं भामती प्रस्थान में मतभेद

अद्वैतवेदान्त की मुख्य मान्यताओं के संबंध में उपर्युक्त दोनों प्रस्थानों में सहमति है। मतभेद केवल मुख्य मान्यताओं की व्याख्या करने से उत्पन्न हुये हैं। उदाहरण के लिये दोनों प्रस्थान यह स्वीकार करते हैं कि परम सत् अद्वैत है, वह सत्-चित्-आनन्द है। माया अथवा अविद्या उसकी शक्ति है, यह विश्व उस परम सत् पर अध्यारोपित है। मानव जीवन का चरम लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार है। आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति का एकमात्र साधन ज्ञान है इत्यादि। हम देख चुके हैं कि भामती प्रस्थान की स्थापना वाचस्पति मिश्र की रचना भामती के आधार पर हुई है, जबकि विवरण प्रस्थान प्रकाशात्मयति की रचना पंचपादिका विवरण के आधार पर प्रारम्भ हुआ। यह भी कहा जाता है कि विवरण प्रस्थान पर मुख्य प्रभाव सुरेश्वराचार्य का है, जबकि भामती संप्रदाय को मुख्य रूप से मंडन मिश्र के विचारों ने प्रभावित किया।[५४] इसीलिये भामतीकार आचार्य वाचस्पति मिश्र मंडनपृष्ठ सेवी कहे जाते हैं।

उपर्युक्त भेद के अतिरिक्त दोनों प्रस्थानों में अविद्या के आश्रय एवं विषय को लेकर भी मतभेद है। भामती प्रस्थान में ब्रह्म को अविद्या का विषय तथा जीव को उसका आश्रय माना गया है। अविद्या जीव में रहते हुये ब्रह्म को आच्छादित करती है। भामती प्रस्थान का विवरण प्रस्तुत करते समय हम कह चुके हैं कि पहले मंडन मिश्र ने अपनी रचना ब्रह्मसिद्धिः में इस विषय पर चर्चा करते हुये ब्रह्म को अविद्या का विषय सिद्ध किया है। मंडन के अनुसार ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है, अतः वह अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता। अविद्या का आश्रय जीव ही है क्योंकि जीव जब तक जीव है, अविद्या से मुक्त नहीं है। मंडन मिश्र का ही अनुसरण करते हुये भामतीकार भी अविद्या का आश्रय ब्रह्म को न मान कर जीव को ही मानते हैं। विभिन्न युक्तियाँ देकर वाचस्पति मिश्र यह सिद्ध करते हैं कि अविद्या का विषय एवं आश्रय एक नहीं हो सकते। अविद्या का आश्रय जीव है और विषम ब्रह्म है। पिछले पृष्ठों में हमने यह भी दिखलाया है कि आचार्य अमलानन्द भी अपनी रचना 'वेदान्तकल्पतरू' में जीव को ही अविद्या का आश्रय मानते हैं और वे तर्क द्वारा सिद्ध करते हैं कि इसमें अन्योन्याश्रय दोष भी नहीं है। इसके विपरीत विवरण प्रस्थान के विचारक अविद्या के आश्रय एवं विषय में भेद नहीं करते। उदाहरण के लिये विवरण प्रस्थान के अनुयायी सुरेश्वराचार्य और पंचपादिकाकार आचार्य पदमपादाचार्य का कहना है कि जीव अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि जीव तो स्वयं अविद्या के ही कारण है। इस प्रस्थान के अनुसार ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय एवं विषय दोनों है। जिस प्रकार अंधकार जिस देश में रहता है, उसे ही अंधेरे से ढ़कता है। अविद्या ब्रह्म पर आश्रित होकर भी उसी

पर आवरण डालती है। विवरणकार प्रकाशत्मयति कहते हैं कि अविद्या के आश्रय एवं विषय में भेद नहीं है। वह एक ही वस्तु में आश्रयत्व एवं आवरणत्व दोनों कार्यों को करती है।[५५]

अविद्या के आश्रय एवं विषय के संबंध में मतभेद के अतिरिक्त दोनों प्रस्थान ईश्वर एवं जीव की उत्पत्ति के लिये दो भिन्न उपमाओं का प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिये भामती प्रस्थान अवच्छेदवाद को मानता है, जबकि विवरण संप्रदाय प्रतिबिम्बवाद का प्रयोग करता है। यही नहीं, दोनों प्रस्थानों के विचारक एक दूसरे के सिद्धान्त में दोष दिखलाने का भी प्रयास करते हैं। यहाँ पर यह ज्ञातव्य है कि शंकराचार्य ने अपने भाष्यों में अवच्छेदवाद एवं प्रतिबिम्बवाद दोनों का ही प्रयोग किया है।

भामतीकार वाचस्पति मिश्र अवच्छेदवाद का प्रतिपादन करते हुये कहते हैं कि ब्रह्म निराकार है और निराकार का प्रतिबिम्ब संभव नहीं है। प्रतिबिम्ब सदैव रूपवान वस्तु का ही होता है। ब्रह्मसूत्र के अध्यास भाष्य में वे कहते हैं कि ब्रह्म तो रूपरहित विषयी है, अतः वह विषय की छाया को ग्रहण नहीं कर सकता।[५६] वाचस्पति भामती में स्पष्ट शब्दों में अवच्छेदवाद का प्रतिपादन भी करते हैं।[५७] एक स्थान पर भामतीकार कहते हैं कि जैसे घटाकाश सामान्य आकाश से भिन्न नहीं है, केवल जब तक घड़े की दीवारों से घिरा है, तभी तक भिन्न प्रतीत होता है। वैसे ही अविद्या के बिना जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है। उपाधि से घिरा होने के कारण ही जीव ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होता है।[५८] विवरण प्रस्थान के अनुयायी अवच्छेदवाद के दोष दिखला कर प्रतिबिम्बवाद को सही मानते हैं उदाहरण के लिये विवरणप्रमेयसंग्रहकार विद्यारण्यस्वामी अवच्छेदवाद के दोषों को दिखलाते हुये कहते हैं कि अवच्छेदस्वामी इसलिये सही नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर जीवोपाधि के मध्य में ब्रह्म कभी रहने से उसमें द्विगुण चैतन्य कैसे होगा क्योंकि अवच्छेदवाद में आकाश का घट रूप उपाधि में द्विगुण होना देखा नहीं गया। यदि ब्रह्म की जीवावच्छेद उपाधि में सत्ता न मानो तो ब्रह्म का सर्वव्यापकत्व तथा सकल नियामकत्व उत्पन्न नहीं हो सकेगा।[५९] कहने का तात्पर्य यह है कि विचरणप्रमेयसंग्रहकार अवच्छेदवाद से सहमत नहीं है। विवरण प्रस्थान के जनक पंचपादिकाविवरणकार स्वामी प्रकाशत्मयति तो स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बवाद के पक्ष में हैं। उनका कहना है कि प्रतिबिम्बवाद श्रुति, स्मृति तथा सूत्रों द्वारा मान्य सिद्धान्त है। अपनी रचना पंचपादिकाविवरण के पृष्ठ २८६ पर वे युक्तिओं द्वारा भी प्रतिबिम्बवाद का समर्थन करते हैं। इसी प्रकार इस प्रस्थान के अन्य विचारक भी प्रतिबिम्बवाद का ही समर्थन करते हैं।

प्रो० कुप्पूस्वामी भामती प्रस्थान एवं विवरण प्रस्थान के मध्य एक अन्य महत्वपूर्ण भेद को सामने रखते हैं।[६०] ऐसा स्वीकार किया जाता है, विवरण प्रस्थान के द्वारा कि श्रुतिओं में उपलब्ध महावाक्य जैसे 'तत्त्वमसि' ब्रह्म का साक्षात् ज्ञान कराते है। किन्तु मंडन मिश्र यह मानते हैं कि ये महावाक्य ब्रह्म का केवल परोक्ष ज्ञान कराते हैं, अतः मंडन के अनुसार आत्मसाक्षात्कार के लिये श्रवण के बाद ध्यान अथवा प्रसंख्यान की आवश्यकता है। आत्मसाक्षात्कार में ध्यान मुख्य है जबकि श्रवण स्थान गौड़ है दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि ध्यान अंगी है जबकि श्रवण एवं मनन अंगी है। श्रुतिओं के महावाक्यों से जो परोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है, उसे ध्यान परिष्कृत करके अपरोक्ष अनुभव का रूप देता है। भामतीकार वाचस्पति मिश्र मंडन के उपर्युक्त विचार को स्वीकार करते हैं वाचस्पति मंडन द्वारा प्रतिपादित प्रसंख्यान एवं ब्रह्मसाक्षात्कार से संबंध को स्वीकार करते हैं। वे यह भी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि शंकर भी अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में इसी विचार को स्वीकार करते हैं।[६१] परन्तु विवरण प्रस्थान के विचारक वाचस्पति के उपर्युक्त मत से सहमत नहीं है। इसीलिये नैष्कर्मसिद्धिकार सुरेश्वराचार्य वाचस्पति के विचार की आलोचना करते हैं। सुरेश्वराचार्य के अनुसार ध्यान से में आत्मसाक्षात्कार नहीं होगा। वह शब्द के श्रवण से प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ पर एक प्रश्न यह हो सकता है कि शब्द में अपरोक्ष ज्ञान देने की शक्ति ही नहीं होती है, वह तो परोक्ष ज्ञान ही दे सकता है। सुरेश्वराचार्य इस शंका को सही नहीं मानते। वे कहते हैं कि "दशमस्त्वमसि" इत्यादि शब्द जिस प्रकार विषय का अपरोक्ष ज्ञान देते हैं, उसी प्रकार श्रुति वाक्य भी अपरोक्ष ज्ञान देने में समर्थ है। सारांश में हम कह सकते हैं कि मंडन एवं वाचस्पति निदिध्यासन को अंगी मानते हैं जबकि श्रवण एवं मनन को उसके अंग। इसके विपरीत विवरण प्रस्थान के विचारक श्रवण को अंगी मानते हैं, मनन एवं निदिध्यासन उसके अंग अर्थात् भामती प्रस्थान आत्मसाक्षात्कार की प्रक्रिया में ध्यान को सर्वाधिक महत्व देता है, जबकि विवरण प्रस्थान श्रवण को मुख्य मानता है।

उपर्युक्त दोनों संप्रदायों के मनुष्य की मुक्ति संबंधी विचारों में भी कुछ भेद है। भामती प्रस्थान के अनुसार अन्तःकरण की उपाधि से अविच्छिन्न ब्रह्म ही जीव है। जबतक चैतन्य अविच्छिन्न रहता है तभी तक जीव है। ज्यों ही जीव की उपाधि का नाश हो जाता है त्योंही जीव और ब्रह्म में भेद समाप्त हो जाता है। भामती प्रस्थान में इसी अवस्था को मुक्ति कहते हैं। इसके विपरीत विवरण प्रस्थान में जीव को ईश्वर का प्रतिबिम्ब माना गया है। जिस प्रकार एक चन्द्रमा के अनेक प्रतिबिम्ब होते हैं, उसी प्रकार एक ईश्वर के जीवरूप अनेक प्रतिबिम्ब है। अतः यहां यह माना जाता है कि जब तक सभी जीव मुक्त न हो जायें तब तक एक मुक्त जीव ईश्वर से ही एकाकार

हो सकता है, ब्रह्म से नहीं एकमुक्त प्रतिबिम्ब अपने बिम्ब अथवा ईश्वर तक ही सीमित रहेगा। जब सभी प्रतिबिम्ब अर्थात जीव मुक्त हो जाये, तब वे सभी ईश्वर सहित ब्रह्मलीन हो सकते हैं। इस प्रकार भामती प्रस्थान व्यक्ति की अन्तिम मुक्ति स्वीकार करता है, जबकि विवरण प्रस्थान अन्तिम मुक्ति सर्वमुक्ति के रूप में देखता है।

विवरण प्रस्थान एवं भामती प्रस्थान में एक महत्वपूर्ण भेद यह भी है कि दोनों प्रस्थान जीवों की अनेकता में विश्वास रखते हुये उनकी उपाधि स्वरूप मूलविद्या के संबंध में मतभेद रखते हैं। भामती प्रस्थान के जनक वाचस्पति मिश्र जीवों की अनेकता में विश्वास करते हैं। और इस अनेकता का उत्तरदायित्व वे मूलविद्या पर डालते हैं उनके अनुसार अनेक जीवों की उपाधि एक नहीं है। उनकी उपाधिस्वरूप मूलविद्या भिन्न-भिन्न है, इसीलिये एक जीव के मुक्त हो जाने से सभी जीव मुक्त नहीं होते। यदि मूलविद्या एक होती तो एक जीव के मुक्त होने से सभी जीव मुक्त हो जाते। भामती स्पष्ट कहते हैं कि यद्यपि अविद्या नाना हैं किन्तु सामान्य दृष्टि से किया गया एकत्व का प्रयोग औपचारिक है।[६२] सामान्य दृष्टिकोण से यह मत उचित प्रतीत होता है किन्तु विवरण प्रस्थान के विचारक इसको सही नहीं समझते। विवरण प्रस्थान में अविद्या एक मानते हैं, किन्तु इस एक अविद्या की अवस्थायें भिन्न-भिन्न हैं। ये जनक अवस्थायें ही रज्जु में सर्प इत्यादि को उत्पन्न करती हैं तथा रज्जु के सही ज्ञान से सर्पादि ज्ञान से मुक्त हो जाते हैं।[६३] सारांश में यह कहा जा सकता है कि विवरण संप्रदाय के अनुसार विभिन्न जीवों की उपाधि रूप अविद्या में अवस्था भेद के कारण एक जीव दूसरे जीव के बन्धन एवं मुक्ति से प्रभावित नहीं होता।

भामती प्रस्थान एवं विवरण प्रस्थान के मध्य कतिपय उपर्युक्त मतभेद यह सिद्ध नहीं करते कि इन दोनों प्रस्थानों में कुछ भी सहमति नहीं है। इस अध्याय के प्रारम्भ में हम कह चुके हैं कि अद्वैतवेदान्त की मूल मान्यताओं के संबंध में इनमें मतभेद नहीं है। मतभेद केवल व्याख्यापरक है। इन मतभेदों का एक कारण अप्पयदीक्षित ने अपने ग्रन्थ "सिद्धान्तलेशसंग्रह" में प्रारम्भ में ही किया है। अप्पय दीक्षित के अनुसार "हमारे प्राचीन विचारकों के सामने एक मुख्य समस्या आत्मा एंव ब्रह्म की एकता को सिद्ध करना था। इसीलिये वे इस प्रपंच की व्याख्या करने की ओर एवं इसकी समस्याओं के समाधान हेतु समुचित ध्यान न दे सके। अतः इन विषयों से संबन्धित विभिन्न मतभेद सामने आये।"[६४] किन्तु ये सभी मतभेद एक ही उद्देश्य को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि ब्रह्म ही परम सत्ता है और उस दृष्टिकोण से सभी कुछ असत् है।

मेरी दृष्टि से उपर्युक्त दोनों प्रस्थानों में एक महत्वपूर्ण भेद यह भी है कि भामती प्रस्थान की मुख्य मान्यताओं की पृष्ठभूमि पर मंडन मिश्र की "ब्रह्मसिद्धि" है, जबकि विवरण प्रस्थान को सुरेश्वराचार्य के उपनिषद वार्तिक एवं नैष्कर्मसिद्धिः आधारभूमि प्रदान करते हैं।

## संदर्भ-सूची

१. न चाऽयमात्माः जड़ः प्रत्यक्षानुमानागमैः स्वप्रकाशत्वावगमात्।
देखिये विवरणप्रमेय संग्रह, पृष्ठ ६२७

२. तत्र प्रत्यक्षं सौषुप्तमवगन्तव्यम्, देखिये वही।

३. अनुमानान्यापि आत्मा स्वप्रकाशः स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकरहित्वात् प्रदीषवत् संवदेनवच्च। तथा विषयप्रकाशकृर्तृत्वात्, प्रदीपवत् देखिये, वही।

४. एवं सत्यज्ञानादिवाक्येऽप्यखऽर्थता योजनीया। देखिये, वही पृष्ठ ७५७

५. ननुसत्यज्ञानादिशब्दानां भिन्नार्थत्वे कथमंखण्डैक्रते वृत्तिः एकार्थत्वे पुनरूक्तिप्रसंगः, देखिये वही पृष्ठ ७४६

६. तात्पर्येण प्रतिपाद्यस्यैकत्वे ऽपि व्यावर्त्त्यानायसत्यज ऽदीनाम निर्वचनीर्याथानामनेकत्वात्। नचाऽनिवषनीय पदार्थेन तदभावेन परमार्थभावरूपाद्वैतस्य काचित् क्षतिरस्ति। देखिये, विवरणप्रमेयसंग्रह, पृष्ठ ७४६-७५०

७. देखिये ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, प्रस्तावना।

८. देखिये, भामती, पृष्ठ १८-२०

९. युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविशयिणोस्तमः प्रकाशवद् विरूद्धस्वमावयोरितेरतभावानुपपतौ, देखिये ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, उपोद्‌घात

१०. यदि तावत् सहानवस्थानलक्षणो विरोधः ततः प्रकाशभावे तमसोभावानपपतिः दृश्यते हि मन्दप्रदीपे वेश्मनि अस्पष्टम् रूपदर्शनम् इतरत्र च स्पष्टम्।
देखिये, पंचपादिका, पृष्ठ १६

११. सर्वो लोको मनुष्योऽहं, देवोऽम, पक्षुरहम इति जातिविशिष्टशरीरेन्द्रियादिसंघाते
चिद्रूपस्य स्वरूप तादत्म्यमध्यस्यैव व्यवहारं प्रभातृप्रमेयादिरूपं कुरूत इति, प्रत्यक्षमेतत्।
देखिये विवरणप्रमेयसंग्रह, पृष्ठ २६६-२६७

१२. यद्यप्यत्रेन्द्रियापगमे प्रमाणकोटावनन्तर्भावात प्रत्यक्षसाम्यभावे ऽप्यापरोक्ष्यं नित्यं साक्षिप्रत्यक्षं सम्भविश्यति। देखिये वही पृष्ठ २६७

१३. विमतौ देवदत्तस्य जाग्रतस्वप्नकालौ तस्यौवाऽहं मनुष्य इत्याद्यध्यासपुरः सरप्रमातृत्वा दिव्यववहारवन्तौ तस्यैव सुषुप्तियादिकालादन्यकालत्वात्
यन्नैव तत्रैवम् यथा तस्यैव सुषुप्त्यादिकाल इति, वही पृष्ठ २६८

१४. अर्थापत्तिरपि प्रमातृत्वादिव्यवहारो देहादितादात्म्याध्याय बिना नोपपद्यते सुषुप्तादावध्यासामावे व्यवहारानुपलम्भादिति। देखिये वही

१५. आगस्तु "ब्राह्मणो यजेत" इत्यादिरगन्तन्यः, देखिये, वही पृष्ठ २६८

१६. देखिये, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, १.४.३

१७. येयं श्रुतिस्मृति-इतिहासपुराणेषु नामरूपमव्याकृतमविद्यामाया प्रकृतिः अग्रहणम्, अव्यक्तं तमः करणं लयं शक्तिः महासुप्ति, निद्रा, अक्षरम् आकाश इति च तत्र तत्र बहुधा गीयते। देखिये, पंचपादिका, पृष्ठ १८

१८. तस्मात बह्मैव स्वमायता अविद्यया विवर्तते, देखिये पंचपादिकाविवरण

१९. प्रत्यक्षं तावत् अहमज्ञः मामन्यं च न जानामि इत्यपरोक्षावभासदर्शनप्त देखिये, पंचपादिकाविवरण।

२०. देखिये, विवरणप्रमेयसंग्रह, पृष्ठ ५५-५६

२१. देखिये, पंचपादिकाविवरण, पृष्ठ ८५

२२. देखिये, वही पृष्ठ ९०-९१

२३. देखिये, पंचपादिकाविवरण, पृष्ठ ९८-९९

२४. अस्मिन पक्षे शुक्तिकादिज्ञानेन रजताधध्यासानां स्वकारणे प्राविलयमात्रं क्रियये, देखिये, पंचपादिकाविवरण, पृष्ठ ९८

२५. देखिये, भामती, पृष्ठ ४२१

२६. न हि तमो वस्तुद्वयापेक्ष्ज्ञमवभासते, देखिये, पंचपादिकाविवरण, पृष्ठ २१०

२७. मैवम् द्वसापेक्षज्ञानपर्युदासामिधाय्यज्ञानशब्दवशादेव तथा प्रतीतेः मायादिशब्दवयवहारे तदभावात्। यथा स्थितिः कर्मनिरपेक्षाप्यगमनशब्देनामिर्धायमाना कस्य किंविषयमगमनमिति कर्मसापेक्षवम्दा ति तद्वत। देखिये, विवरणप्रमेयसंग्रह, पृष्ठ १६५

२८. देखिये, ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य, १.२.१७

२९. देखिये, पंचपादिका, प्रथमवर्णक, 'तत्वमिति बिम्बस्थानीय ब्रह्मस्वरूपता प्रतिबिम्बस्थानीयस्य जीवस्योपदिश्यते।

३०. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूत चैव दृश्यते जलचन्द्रवत, अतएव चोपमां सूर्याकादिवत इति च श्रुतिस्मृतिसूत्रे प्रतिबिम्बभावस्य दर्शितत्वात्। देखिये, पंचपादिकाविवरण, पृष्ठ २८६

३१. देखिये, विवरणप्रमेयसंग्रह, पृष्ठ २३१

३२. देखिये, पंचदशी १.१६.१७ पृष्ठ १०.११

३३. देखिये, पंचपादिकाविवरण, पृष्ठ २८६ एवं विवरणप्रमेयसंग्रह, पृष्ठ २३१-२३२

३४. देखिये, विवरणप्रमेयसंग्रह, पृष्ठ २३२

३५. तस्मादहड. कारोपाधिकृतो ब्रह्मप्रतिबिम्बो जीव, देखिये, वही २३३

३६. न चअमूर्तस्य ब्रह्मणः प्रतिबिम्बासंभवः। अमूर्तस्याप्याकाशस्य स्वाश्रिताभ्रनक्षत्रादिविशिष्टस्य जले प्रतिबिम्बभावदर्शनात्। देखिये विविरणप्रमेयसंग्रह, पृष्ठ २३१

३७. देखिये, तत्वविवेक, पृष्ठ १२

३८. अनादिरनिर्वाच्या भूतप्रकृतिश्चिन्मात्रसंबन्धिनी माया। तस्या चित्प्रतिबिम्ब ईश्वरः तस्या एव परिच्छिन्नान्तप्रदेशेषु आवरणविक्षेपशक्तिमत्सु अविद्यमिधानेषु चित्प्रतिबिम्बो जीवः। देखिये, भामती तथा विवरण प्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ ६४

३९. कार्योपाधारियम् जीवः कारणोपाधिरीश्वरः। संक्षेपसारिका पृष्ठ ८५

४०. देखिये ए हिस्ट्री ऑफ इन्डियन फिलासफी, डा.एस.एन. दास गुप्त भाग II पृष्ठ १०१ (हिन्दी संस्करण)

४१. न; गन्धादौ संस्कारदर्शनात्। निः सारितपुष्पे पुष्पपात्रे स्थिताः सूक्ष्माः पुष्पावयवा एव गन्धबुद्धिम् उत्पादयन्ति न संस्कार इति चेत् तथापि प्रलयवस्थायां सर्वकार्यसंस्कारोऽक्युपगस्य एव। देखिये, विवरणप्रमेयसंग्रह, पृष्ठ ३६०

४२. तर्हि तत्वसाक्षातकारे जातेऽप्याप्रारब्धक्षयम विद्यालेशानुवृत्या जीवन्मुक्तिरस्तु, देखिये, विवरणप्रमेयसंग्रह, पृष्ठ ३६२

४३. देखिये, तत्वदर्पिका पृष्ठ ६०७

४४. देखिये, भामती प्रस्थान तथा विवरणप्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन पृष्ठ १३५

४५. देखिये, पंचदशी ६.१४४

४६. पंचदशी १३.८२

४७. देखिये, पंचदशी ७.२७६

४८. वही ७.२६३

४९. देखिये, वेदान्त परिभाषा, प्रयोजन परिच्छेद, पृष्ठ ३७०

५०. अतो न पुरुषव्यापारतन्त्रा ब्रह्मविद्या। किं तर्हि प्रत्यक्षादिप्रमाण विषयवस्तु ज्ञानवद्वस्तुतंत्रा। देखिये, ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य १.१.४

५१. देखिये, भामती तथा विवरण प्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन, पृष्ठ १५२

५२. देखिये, ब्रहदारण्यक भाष्य वार्तिक, पृष्ठ २१४

५३. देखिये, पंचपादिकाविवरण, प्रथमवर्णक, पृष्ठ ३०-३३

५४. देखिये, अद्वैतवेदान्त की तार्किक भूमिका, पृष्ठ २८३-८४

५५. न तावदज्ञानमाश्रयविष्ज्ञयभेदसापेक्षम्। किन्त्वेकसिमन्नेव वस्तुन्याश्रयत्वमावरणच्चेति कृत्यदवयं संपादयति। देखिये, पंचपादिका विवरण, पृष्ठ २१०-११

५६. देखिये, ब्रह्मसूत्र अध्यासभाष्य पर भामती टीका।

५७. देखिये, ब्रचसूत्रभाष्य २.१.२१ पर भामती टीका।

५८. ब्रह्मसूत्र ३.२.६ के भाष्य पर भामती टीका।

५६. जीवो घटाकाशवदुपाध्यर्वाच्छन्नो न प्रतिबिम्ब इति चेद, न तथा सति जीवोपाधिमध्ये ब्रह्मणोऽपि सत्वे चैतन्यम् (कथ) तत्र द्विगुणं स्यात्, न चैवमाकाशस्य घटे द्विगुणं दृष्टमं। देखिये, विवरणप्रमेय संग्रह पृष्ठ २३२

६०. देख्यि, ब्रह्मसिद्धिः मंडनमिश्र, इन्ट्रोडक्शन कुप्पूस्वामी, पृष्ठ २६-३०

६१. देखिये, वही पृष्ठ २१

६२. देखिये, अविद्यात्वमात्रेण च एकत्वोपचार अन्यक्तमिति च अव्याकृतमिति च। ब्रह्मसूत्र १.४.३ पर शंकरभाष्यपर भामती टीका।

६३. देखिये, मूलाज्ञानस्यैव अवस्थामेदा रजताश्रुपादनानि शुक्तिकादिज्ञनैः सहाध्यासेन विर्वतन्ते इति फलपयताम। पंचपादिकाविवरण ६८-६६

६४. देखिये, ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य, भामती, कल्पतरु एवं कल्पतरुपरिम व्याख्याओं के साथ पृष्ठ १५

❑❑❑

# अध्याय-१४

# परिशिष्ट

## अद्वैत-वेदान्त की तर्कना-पद्धति

### (१) पृष्ठभूमि

वैदिक-काल के ऋषियों का चिन्तन मुख्य रूप से दार्शनिक नहीं कहा जा सकता, किन्तु एकाधिदेववाद या एकदेववाद की उद्‌भावना के मूल में उनकी दृष्टि दर्शन की कुछ महत्वपूर्ण मान्यताओं से प्रभावित दिखाई देती है। उनकी दार्शनिक-दृष्टि का उल्लेख हम पिछले अध्याय में कर आये हैं। वे नानात्वपूर्ण जगत् के मूल में एक परम सत् का दर्शन करते थे। उस सत् तक पहुँचने में अथवा उसका निर्वचन करने में उन्होंने जिस तर्कना-पद्धति का प्रयोग किया, उसे द्वन्द्वन्याय कह सकते हैं।

द्वन्द्वन्याय हमें अनेकता में एकता की ओर ले जाता है और फिर अनेकता को एकता पर आश्रित करता है या अनेकता का निषेध कर देता है। पुरुष-सूक्त और नासदीय-सूक्त में यही विधि अपनायी गयी है। पुरुष-सूक्त में इसका प्रयोग स्थूल और दृष्टान्त रूप में हुआ है। परम तत्व की कल्पना एक पुरुष में की गयी है और सम्पूर्ण जगत् का नानात्व उस पुरुष के अंग माने गये हैं। यहाँ एकत्व और नानात्व के बीच अंग-अंगी सम्बन्ध है। अंग जैसे अंगी पर आश्रित होते हैं और अंगी में एकत्व का बोध रहता है, वैसे ही पुरुष-सूक्त के रचयिता के मतानुसार जगत् के नानात्व के मूल में एक परम तत्व है। वह तत्व अमृत स्वरूप अर्थात् सत् है। "पादोस्य विश्वा भूतानि मिपापस्यामृतं दिवि"।[१] उसके चतुर्थांश में समस्त विश्व और प्राणियों का नानात्व है और उसके शेष तीन अंश अमृत स्वरूप और दिव्य हैं।

नासदीय-सूक्त में द्वन्द्वन्यास का प्रयोग अधिक विकसित रूप में हुआ है। इसमें परम तत्व की एकता और विशिष्टता का अधिक सफलतापूर्वक निरूपण हुआ है। उसका रचयिता कहता है "नासदासीन्नोसदासीत्तदानी"[२] - तब वहाँ न असत् था और न सत् ही था और वह फिर इस निर्णय पर पहुँचता है - "आनीदवातं स्वधयातदेकं"[३] - तब केवल एक था जो वायु के बिना अपने में स्वयं श्वांस लेता था। "तस्माद्धान्यन्न परः कि चनास"[४] - उससे पृथक् और परे कुछ भी नहीं था।

इस विवेचन में द्वन्द्वन्याय स्पष्ट उपलब्ध है। सत् और असत् पक्ष और विपक्ष है तथा "तदेकं" उन दोनों के परे और उन दोनों में व्याप्त है। ऋषि ने द्वन्द्वन्याय के द्वारा उस एक का प्रतिपादन तो किया किन्तु उसे इसका भी ज्ञान था कि वह किसी देवता आदि के द्वारा ज्ञेय नहीं है। "को अविग्वा वेद क कह"[५] - कौन जानता था कि वह क्या था। देवता आदि तो उसके बाद की उत्पत्ति (अवग्विा) है।[६] सम्भव है वह (चेतन होने के कारण) अपने आपको जानता हो अथवा वह (ज्ञान के उपकरण न होने के कारण) न भी जानता हो।[७] इस ज्ञेय-अज्ञेय की समस्या का समाधान यहाँ अधूरा रहा गया और उपनिषदों के ऋषियों के लिए एक चुनौती बन गया।

वैदिक सूक्तों के ऋषियों की अपेक्षा उपनिषदों के ऋषि अधिक स्पष्ट चिन्तन करने वाले थे और सूक्ष्म रूप से परम तत्व का निरूपण कर सकते थे। उनकी उद्घोषणाओं का आधार उनकी आन्तरिक अनुभूतियाँ थीं। उनके चिन्तन में तर्क का स्थान नीचे उतर कर दूसरे स्तर का था। डॉ. दासगुप्त के अनुसार तर्क का कार्य केवल अनुभूत सत्य को व्यक्त करना था।[८]

फिर भी उपनिषदों की दार्शनिक चिन्तन-विधि का अध्ययन करने पर प्रो० आर० डी० रानाडे ने यह निष्कर्ष निकाला कि उसमें दस प्रकार की विचार-विधियों का प्रयोग किया गया है।[६] संक्षप में वे इस प्रकार हैं - (१) कूट विधि (enigmatic method), जैसे- श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि ने ध्यान योग का अनुवर्णन कर उस परमात्मा को देखा जो नेमि, तीन वृत, सोलह अन्न, पचास अरों, बीस प्रत्यरों, छः अष्टकों, विश्वरूप एकपाश, तीन मार्गों तथा पाप-पुण्य दोनों के निमित्तभूत का मोह वाला कारण है।[१०] (२) सूत्र विधि, जैसे- माण्डूक्य उपनिषद् (३) धात्वर्थ विधि (etymological method), जैसे- स्वपिति का अर्थ 'सता संपन्नो भवति" या "स्वमपीतो भवति" - सत् से सम्पन्न हो जाता है, अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।[११] (४) पौराणिक विधि (mythical method), जैसे- केन उपनिषद् में यक्ष की कहानी के द्वारा बताया गया है कि विनम्रता के बिना कोई ब्रह्म का ज्ञान नहीं पा सकता। (५) दृष्टान्त विधि (analogical method), जैसे- जिस प्रकार समस्त नदियाँ समुद्र में नामरूप त्याग कर एक हो जाती हैं, उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा से मिल कर एक हो जाता है।[१२] (६) द्वन्द्वन्याय विधि (dialectical method) यह प्रश्नोत्तर विधि है जैसे- राजा जनक के दरबार में याज्ञवल्क्य, गार्गी, शाकल्प आदि का सभी में वाद-विवाद।[१३] (७) समन्वय विधि (synthetic method), अश्वयति कैकय ने यही विधि अपना कर सृष्टि-विज्ञान के छः मतों में समन्वय किया। (८) स्तः सम्वाद विधि (mological method), जैसे- अन्तर्यामी ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य के भावों की अभिव्यक्ति। (६) यथावसर विधि (Adhoc method), जैसे- इन्द्र और विरोचन को प्रजापति आत्मज्ञान एक-एक अंश में कई बार देते हैं।[१४] (१०) प्रतिगमन

विधि (Regressive method) - एक प्रश्न के समाधान के साथ अनेक प्रश्नों की उत्पत्ति होती है, जैसे जनक और याज्ञवल्क्य सम्वाद।[१५]

प्रो० रानाडे के अनुसार उपनिषदों में तत्व-विवेचन की विविध विधियाँ अपनायी गयी हैं, किन्तु उन्होंने द्वन्द्वन्याय की विधि को सम्वाद मात्र मान कर न्याय नहीं किया है। हम देखेंगे कि उपनिषदों की तर्कना-पद्धति एक विशेष प्रकार के द्वन्द्वन्याय का प्रयोग करती है। वह भले ही प्लेटो और हीगेल के द्वन्द्वन्याय से साम्य न रखती हो, किन्तु उसमें द्वन्द्वन्यय के तत्व अवश्य विद्यमान हैं।

नासदीय-सूक्त का "तदेकं" उपनिषद् के ऋषियों के सामने एक पक्ष के रूप में विद्यमान था। उसके विपरीत उन्हें विपक्ष के रूप में जगत् का "नाना" प्राप्त हुआ। यह एक और नाना का भाव सापेक्ष है। दोनों में से एक भी निरपेक्ष परम सत् नहीं हो सकता है। अतः इन दोनों के मूल में विद्यमान "अद्वैत"[१६] परम सत् निर्धारित किया गया। यह अद्वितीय एक और अनेक की सापेक्षता से मुक्त और दोनों का आश्रय है।

उपनिषद् वैदिक-सूक्तों के प्रभाव से मुक्त नहीं थे। अतः वे उस अद्वितीय वस्तु को "एकमेवाद्वितीय" भी कहते हैं। श्री संगम लाल पाण्डेय के अनुसार यह द्वन्द्वन्याय अगली सीढ़ियों पर अद्वैत और द्वैत के अनन्त पर, अनन्त और सान्त से भूमा पर, भूमा और अल्प से ब्रह्म पर, ब्रह्म से अहं तत्व पर और तत्व तथा विषय-विषयी भाव से आत्मा पर पहुँचा है। उसी को सम्बोधन पर "एतद्वैतद्", "सोऽहमस्मि", "तत्वमसि", "अयम् आत्माब्रह्म" आदि उद्घोषणाएँ की गयी हैं।[१७]

श्री पाण्डेय उपनिषदों के द्वन्द्वन्याय को हेगेलीय रूप देने के प्रलोभन में उसे कई सोपानों में विकसित होते हुए देखते हैं, किन्तु इस सम्भावना पर ध्यान नहीं देते कि प्रत्येक उपनिषद् का ऋषि एक ही द्वन्द्वन्याय विधि को अपने ढ़ंग से प्रयोग में लाता है और वह अपने सामने वर्तमान किसी दो सापेक्ष पक्षों को लेकर निरपेक्षता के स्तर तक उठना चाहता है और निरपेक्ष सत् को, नामरूप विहीन होते हुए भी अभिव्यक्ति करने के उद्देश्य से एक नाम देता है। उस नाम के प्रति उनका आग्रह नहीं है।

उपनिषदों के द्वन्द्वन्याय की सबसे बड़ी विशेषता परम सत् में विरोधी लक्षणों का आरोप या निषेध करना है। इस प्रकार से द्वन्द्वन्याय का अन्वेषण और विकास नासदीय-सूक्त के "न सत्-न असत्" निर्वचन से हुआ और सफलतापूर्वक विकसित होकर अनिर्वचनीय सत् के निर्वचन में समर्थ हुआ है। उदाहरण के रूप में, ईश उपनिषद् कहता है, "वह (परम सत्) अपने स्वरूप से विचलित न होने वाला, किन्तु मन से तीर्व गति वाला है। इसे इंद्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकतीं, क्योंकि यह उन सबसे पहले (आगे) गया हुआ (विद्यमान) है। वह स्थिर होने पर भी अन्य सब गतिशीलों

को अतिक्रम कर जाता है।[१८] पुनः "वह चलता है और नहीं भी चलता है। वह दूर है और समीप भी है। वह सब के अन्तर्गत है और वही सब के बाहर भी हैं।[१९]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उपनिषदों का द्वन्द्वन्याय परम तत्व के निरूपण में ही नियुक्त रहा है। उसकी प्रवृत्ति खण्डनात्मक नहीं है या बहुत कम है, किन्तु उनके बाद की रचनाओं में इसका खण्डनात्मक रूप उग्रता धारण करता गया। प्राचीन दार्शनिकों में गौडपाद और आधुनिक दार्शनिकों में श्रीहर्ष, चित्सुख आदि इसे खण्डन का तीक्ष्य अस्त्र बना लेते हैं।

वादरायण ब्रह्मसूत्रों में जो तर्कना-पद्धति प्रयोग में लाते हैं, वह उपनिषदों से भिन्न है। इसे "परिश्रांति-निरूपण" विधि[२०] कह सकते हैं। इस विधि में समस्त सम्भावित विपरीत मतों का खण्डन कर प्रतिपाद्य विषय को प्रामाणिक मान लिया जाता है। सांख्य के अचेतन-कारणवाद का खण्डन कर ब्रह्मसूत्र में चेतनकारणवाद की स्थापना इसी विधि से की गयी है। उसके अनुसार अचेतन वस्तु से जगत् की उत्पत्ति इसलिए नहीं हो सकती क्योंकि श्रुतियों के अनुसार जगत् का कारण ईक्षण-कर्ता है (सूत्र १.१.५), उसके लिए आत्मा शब्द का प्रयोग किया गया है (सूत्र १.१.६), उसके ज्ञान से मोक्ष का उपदेश है (सूत्र १.१.७), उसे हेय नहीं कहा गया है (सूत्र १.१.८), वह सत् शब्द वाच्य है (सूत्र १.१.९), सब वेदान्तों का कारण ज्ञान समान है (सूत्र १.१.१०)। इस प्रकार चेतनकारणवाद का यह प्रतिपादन शंकर की दृष्टि में न्यायपूर्वक प्रतिपादन (न्यायपूर्वक प्रतिपादितम्) है।[२१]

ब्रह्मसूत्र में तर्क का प्रयोग वेदान्त से पृथक् सांख्य आदि के मतों का खण्डन करने के लिए भी किया गया है। यह खण्डनात्मक प्रयोग उसके दूसरे अध्याय में देखने में आता है। उदाहरण के लिए, स्मृतियों की प्रामाणिकता का प्रश्न उठता है।[२२] पूर्वपक्ष कहता है कि यदि ब्रह्म को जगत् का कारण माना जाता है, तो कपिल प्रणत सांख्य स्मृति में अनवकाश दोष आ जायगा अर्थात् वह व्यर्थ हो जायगी। कपिल जैसे शिष्ट पुरुष द्वारा प्रणीत होने के कारण यह उचित नहीं है। इसके उत्तर में वादरायण कहते है कि यदि सांख्य स्मृति का आदर किया जाय तो मनुस्मृति आदि अन्य स्मृतियों में अनवकाश दोष आ जायगा, क्योंकि वे ब्रह्म को ही जगत् का कारण मानती हैं। अतः वह स्मृति आदरणीय है, जो श्रुति के अनुकूल है। सांख्य स्मृति श्रुति विरुद्ध है। यदि उसमें अनवकाश दोष आ जाय तो कोई हानि नहीं है।

ब्रह्मसूत्र के इसी अध्याय में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, जैन, बौद्ध आदि मतों का खण्डन किया गया है।

भगवद्गीता में परम तत्व के विषय में सामान्य रूप से उद्घोषणएं मात्र हैं। कई स्थानों में उपनिषद्रों के श्लोक ही उद्धृत कर दिये गये है अथवा उपनिषद् के भाव पुनः श्लोकबद्ध कर लिये गये हैं। तर्क देने की आवश्यकता नहीं समझी गयी है।

परमात्मभाव में स्थित श्रीकृष्ण कहते हैं - "माया ततमिदं सर्व"[२३] यह समस्त जगत् मुझ से ही परिपूर्ण है। यहाँ सब कुछ मैं ही हूँ। "अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन"[२४] - मैं अमृत (अविनाशी) और मृत (विनाशी) तथा सत् और असत् दोनों ही हूँ। तात्पर्य यह हुआ कि परम तत्व वह वस्तु है जो सत् और असत् दोनों रूपों में व्यक्त हो रही है और वह स्वयं न सत् है और न असत्। उसका स्पष्ट उल्लेख करते हुए कहा है - "अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नसदुच्यते"[२५] - अनादि परब्रह्म न सत् कहा जा सकता है और न असत्। सत् और असत् सापेक्ष और विरोधी हैं। निरपेक्ष तत्व इन दोनों से परे और इनका आश्रय-भूत है।

उस निरपेक्ष तत्व के प्रतिपादन के लिए भगवद्गीता में विरोधी लक्षणों का प्रयोग उसी प्रकार किया गया है, जैसे उपनिषदों में मिलता है। प्रायः शब्दों की योजना भी वहीं से ली गयी है। "वह दूर है और अत्यंत निकट भी है"[२६] तथा "वह अविभक्त रहता है किन्तु प्राणियों में विभक्त-सा है"[२७] आदि।

## (२) गोडपादाचार्य की तर्कना-पद्धति

गौडपाद के जीवन-काल तक दर्शन की सभी शाखाओं में पर्याप्त विकास हो चुका था, अतः खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया में तर्क का आश्रय लेना स्वाभाविक था। बौद्ध-दर्शन की माध्यमिक शाखा ने समस्त अन्य दर्शनों में अन्तःव्याघात दिखाने के लिए चतुष्कोटि न्याय का सृजन किया। इस पृष्ठभूमि में गौडपाद ने अद्वैतवेदान्त के क्षेत्र में चिन्तन किया और उसे रहस्य की कोटि से उतार कर दर्शन के आलोक में ला खड़ा किया।

गौडपाद को इस कार्य में द्वन्द्वन्याय से बड़ी सहायता मिली। द्वन्द्वन्याय तर्क की वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा परम तत्व का ज्ञान होता है। डॉ० एडवर्ड केयार्ड के अनुसार "यह विरोधी दर्शन-पद्धतियों के विभाजन के मध्य पूर्वमान्य एकत्व के सिद्धान्त की ओर ले जाता है, जिससे एक ऐसा समुच्चयी प्रत्यय प्राप्त हो सके, जिसमें समस्त विरोध और नानात्व समा सकें।"[२८] इस प्रयोजन को प्राप्त करने के लिए द्वन्द्वन्याय नानात्व को मिथ्या सिद्ध करता है और विभिन्न मतों को बौद्धिक प्रकल्पना मात्र मानता है।

गौडपाद के दर्शन में द्वन्द्वन्याय इस कार्य में पूर्णतः सफल रहा। उसके द्वार जहाँ एक ओर अद्वैत का प्रतिपादन हुआ, वहीं दूसरी ओर जगत् का अजातवाद सिद्ध हो गया। अन्य किसी दर्शन-पद्धति में द्वन्द्वन्याय को यह पूर्णता नहीं मिली। अधिकांश दर्शन द्वैतवादी हैं, वे पदार्थों की सत्ता मानते हैं और एक अन्तिम सत् तक नहीं पहुँच पाते। नागार्जुन ने समस्त पदार्थों का निषेध कर द्वन्द्वन्याय का एकपक्षीय प्रयोग किया,

किन्तु वे सबका समन्वयकारी परम तत्व नहीं खोज पाये। उनका "अद्वय" उनके एकपक्षीय द्वन्द्वन्याय का सूचक है। इसके विपरीत गौडपाद का "अद्वैत" वह परम सत् है, जिसमें सतस्त नारात्व समाहित हो जाते हैं और उसे किसी से विरोध नहीं होता।[२६] अन्य सब मत कल्पित या वैतथ्य हैं। "न पृथक् नापृथक् किंचित्"[३०] - कोई भी वस्तु न तो परम तत्व से पृथक् हैं और न अपृथक् है। वह सब आभास मात्र है।

जगत् के नानात्व को आभास सिद्ध करने के लिए गौडपाद उसकी तुलना स्वप्न से करते हैं। जैसे स्वप्न मनःकल्पित है, इसलिए मिथ्या है, वैसे ही जगत् भी मनःकल्पित है और मिथ्या है।[३१] इसके अतिरिक्त, जो आदि और अन्त में नहीं है वह वर्तमान में भी वैसा ही है। ये पदार्थ-समूह असत् के समान होकर भी सत्-जैसे दिखाई देते हैं।[३२] इतन ही नहीं, "अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, नास्ति-नास्ति, ये क्रमशः चल, स्थिर, उभयरूप और अभावरूप चार कोटियाँ हैं, जिनसे अस्पष्ट परम तत्व अद्वितीय असंत हैं।"[३३]

ब्रह्मसूत्र के अनुसार ब्रह्म जगत् का कारण है, किन्तु गौडपाद का द्वन्द्वन्याय न जगत् की सत्ता मानता है और न ब्रह्म को उसका कारण। अजन्मा ब्रह्म से कुछ उत्पन्न ही नहीं हो सकता। अजन्मा से किसी वस्तु के जन्म होने का कोई दृष्टान्त नहीं है।

## (३) शंकर का द्वन्द्व न्याय

बौद्धों के तर्क-जाल का जितना प्रभाव गौडपाद पर था, उतना शंकर पर नहीं रह गया। "शंकर ने गौडपाद के निर्णय स्वीकार कर लिये, किन्तु उनके द्वन्द्वन्याय को अपने मत-प्रतिपादन में प्रयुक्त नहीं किया। उन्होंने केवल अन्य मतों का खण्डन करने के लिए द्वन्द्वन्याय का प्रयोग किया।"[३४] शंकर के लिए उपनिषदों की शिक्षा स्वतः प्रमाण थी। यदि कहीं उपनिषदों के मुख्य प्रतिपाद्य विषय से भिन्न कोई मत उत्पन्न करता था तो शंकर ने वहाँ तर्क का सहारा लेकर उनके बीच एकवाक्यता लाने का प्रयास किया।

शंकर के अनुसार शब्द प्रमाण सर्वोपरि है। तर्क उससे नीचे दूसरी कोटि का है। यही दृष्टि उपनिषदों के ऋषियों की भी थी। परम सत् का ज्ञान तर्क या द्वन्द्वन्याय से नहीं हो सकता।[३५] शंकर को जहाँ तक निभ्रांत वेदान्त-वचन मिलता है, वे तर्क की आवश्यकता नहीं समझते। यदि उपनिषदों के वचनों में ही विरोध दिखाई देता है तो वे तर्क के द्वारा अद्वैतपरक अर्थ निर्धारित करते हैं।

ब्रह्मसूत्र में "तर्काप्रतिष्ठानात्"[३६] पर भाष्य लिखते हुए शंकर कहते हैं - "निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठ भवन्ति" - श्रुति का आश्रय लिये

बिना केवल पुरुष कल्पनामूलक तर्क प्रतिष्ठित नहीं होते। वे तर्क तो कल्पना मात्र होते हैं और कल्पना निरंकुश होती है। एक व्यक्ति के द्वारा दिये गये तर्कों को दूसरा व्यक्ति आभासमात्र सिद्ध कर सकता है। दूसरे व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत किये गये तर्क तीसरे से निरस्त हो जायेंगे। इसलिए तर्क के द्वारा किसी अंतिम निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता।

शंकर के इस मत पर जो आक्षेप हो सकते हैं, उनके प्रति वे सावधान हैं और उनका खण्डन भी करते हैं। लोक व्यवहार में भले ही तर्क उपयोगी या उसकी प्रतिष्ठा हो, किन्तु परमार्थ वस्तु में तर्क का निर्णय अंतिम नहीं हो सकता। अतः यदि उपनिषद् "सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म" घोषित करते हैं तो शंकर उसी रूप में मान लेने का आग्रह करते हैं। ब्रह्म को सत्य स्वीकार कर लेने पर जगत् जैसा भासित होता है, सत्य नहीं हो सकता है। उसे इन्द्रजाल की रचना या मायिक होना ही चाहिए। शंकर जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए कभी उस प्रकार तर्को का प्रयोग नहीं करते जैसे गोडपाद या माध्यमिक करते हैं। उनकी दृष्टि में इतना ही तर्क पर्याप्त है कि यदि ब्रह्म या परमात्मा सत्य है तो शेष सब नानात्व मिथ्या ही होना चाहिए।

शंकर अपने तर्क सीधे संसार को मिथ्या सिद्ध करने की अपेक्षा संसार को सत्य मानने वालों के मत का खण्डन करने में लगाते हैं। वे उनके मत में स्वतः व्याघात-प्रदर्शन कर उसे अप्रतिष्ठित घोषित कर देते हैं। यहीं शंकर का द्वन्द्वन्याय उपयोगी सिद्ध होता है। उन्होंने मीमांसा, सांख्य आदि दर्शनों में ही नहीं वरन् बौद्धों के विषयिनिष्ठवाद और शून्यवाद में भी, उन्हीं से ग्रहीत द्वन्द्वन्याय के द्वारा, अन्तःव्याघात दिखाया है। तर्क की सबसे सुन्दर और प्रभावशाली पद्धति यही हो सकती है कि प्रतिवादी तर्क के जिस अस्त्र का प्रयोग करे, उसके द्वारा उसी के मत का खण्डन कर दिया जाय।

उदाहरण के लिए, हम परमाणुवाद पर शंकर के द्वन्द्वन्याय का प्रयोग देखेंगे।"[३७] परमाणु प्रवृत्ति स्वभाव वाले, निवृत्ति स्वभाव वाले, उभय स्वभाव वाले अथवा अनुभव स्वभाव वाले माने जा सकते हैं। इन चार के अतिरिक्त अन्य कोई गति नहीं हो सकती। इन चारों में कोई प्रकार उत्पन्न नहीं होता है। प्रथम, प्रवृत्ति स्वभाव होने पर परमाणु नित्य प्रवृत्त रहने से प्रलय का अभाव प्रसंग होगा। दूसरे निवृत्ति स्वभाव के होने पर परमाणुओं से सृष्टि का अभाव प्रसंग होगा। तीसरे, प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों स्वभाव युगपत होने पर परस्पर विरुद्ध होने के कारण असंगत हैं। चौथे, यदि प्रवृत्ति और निवृत्ति उभय स्वभाव न मानें तो किसी अन्य कारणवश प्रवृत्ति और निवृत्ति स्वीकार करने में अदृष्ट आदि निमित्त के नित्य सन्निहित होने पर भी नित्य अप्रवृत्ति प्रसंग होगा। इससे भी परमाणु कारणवाद अनुपपन्न है।

## (४) शंकरोत्तर अद्वैत-वेदान्त

हम देख चुके हैं कि शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य, कुछ उपनिषदों और माण्डूक्यकारिका-भाष्य में द्वन्द्वन्यायात्मक आलोचना पद्धति अपनायी थी, किन्तु उन्हें तर्क में अधिक निष्ठा नहीं थी। शंकर के उपरान्त उनके कुछ शिष्यों तथा अन्य अद्वैतवादी दार्शनिकों में द्वन्द्वन्यायात्मक तर्कना-पद्धति विशेष रूप से देखने में आती हैं। शंकर के शिष्यों में मण्डन मिश्र अद्वितीय हैं। उनसे आनन्दबोध, श्रीहर्ष, आनन्दज्ञान, चित्सुख, नृसिंहाश्रम आदि प्रायः सभी प्रभावित दिखाई देते हैं।

**(१) मण्डन मिश्र** – ब्रह्मसिद्धि मण्डन की प्रमुख रचना है। इसमें उन्होंने अपनी द्वन्द्वन्यायात्मक तर्क-पद्धति का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। ग्रन्थ के दूसरे अध्याय का नाम ही "तर्ककाण्ड" है। इसमें उन्होंने प्रत्यक्ष में दिखाई देने वाले भेद का बलपूर्वक निषेध किया है। तर्ककाण्ड का प्रारम्भ इस आपत्ति से होता है – "भेद प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है और प्रत्यक्ष प्रमाण ही मुख्य हैं, अतः श्रुतियों के अर्थ की कल्पना उसी के अनुसार करनी चाहिए।"[३८]

इसके उत्तर में मण्डन सिद्ध करते हैं कि प्रत्यक्ष के द्वारा भेद सिद्ध नहीं होता। इस लिए उपनिषदों का एकत्व, जैसे- "एक एवायमद्वितीयः" प्रत्यक्ष का विरोधी नहीं है।[३९] अपने मत को सिद्ध करने के लिए मण्डन प्रत्यक्ष का विश्लेषण करते हैं। प्रत्यक्ष के तीन विकल्प सम्भव है – (१) वस्तुस्वरूप विधिः, (२) वस्त्वन्तस्य व्यवच्छेदः, (३) उभयं वा।[४०]

वस्तुस्वरूप विधि का अर्थ है प्रत्यक्ष के द्वारा किसी वस्तु का अस्तित्व ज्ञात होना, जैसे यह घट है।[४१] अन्य वस्तु से व्यवच्छेद का अर्थ है कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भिन्न होना ज्ञात होता है, जैसे यह पट नहीं है। उभय का तात्पर्य है कि प्रत्यक्ष के द्वारा वस्तु का अस्तित्व और अन्य वस्तुओं से भिन्नता ये दोनों ज्ञान होते हैं।[४२]

तीसरे विकल्प "उभयथा" के पुनः तीन विकल्प हो सकते हैं – (१) युगपत्, (२) व्यवच्छेदपूर्वक विधि अथवा (३) विधि पूर्वक व्यवच्छेद। प्रत्यक्ष यदि युगपत् हो तो वस्तु "घट" के होने और "पट" से भिन्न होने का नाम एक साथ होगा। यदि व्यवच्छेपपूवर्क विधि का प्रत्यक्ष होता है तो पहले वस्तु "घट" का ज्ञान होगा, फिर "पट" से उसके भिन्न होने का ज्ञान होगा। यदि विधिपूर्वक व्यवच्छेद का प्रत्यक्ष होता है तो पहले "पट" से भिन्न होने का ज्ञान और फिर "घट" का ज्ञान होगा।[४३]

यह विभाजन मण्डन इसलिए करते हैं कि प्रत्यक्ष में यदि अन्य वस्तु से व्यवच्छेद गोचर होता है अथवा वस्तु और उसका अन्य वस्तु से व्यवच्छेद दिखाई देता है, तब तो भेद प्रत्यक्ष गोचर हुआ और उसका उपनिषद् के एकत्व से विरोध होगा; किन्तु इसके विपरीत यदि यह सिद्ध हो कि प्रत्यक्ष के वस्तुस्वरूपविधि ही गोचर होती है और

वह समस्त व्यवच्छेद से रहित होती है, तो प्रत्यक्ष के द्वारा भेद का ज्ञान होना प्रमाणित नहीं होगा। व्यवच्छेद के बिना भेद सिद्ध नहीं हो सकता। अतः इस स्थिति में एकत्ववादी शास्त्र से प्रत्यक्ष का कोई विरोध न होगा।[४४]

मण्डन इस दूसरे विकल्प को ही सत्य सिद्ध करते हैं। "न तावद्व्यवच्छेद मात्रं प्रत्यक्षं व्यापारः"[४५] - व्यवच्छेद मात्र प्रत्यक्ष का व्यापार नहीं है। ऐसा सम्भव नहीं है कि वस्तु का ज्ञान न हो और केवल भेद ही प्रत्यक्ष गोचर हो। जिस वस्तु से भेद का ज्ञान हो, वह वस्तु विशेष पहले ज्ञात होनी चाहिए। "न युगपदुभयम्"[४६] - व्यवच्छेद और विधि का एक साथ भी ज्ञात नहीं हो सकता है। यह दूसरा विकल्प भी संभव नहीं है। मण्डन इसे भी निरस्त करते हैं। कारण यह है कि प्रत्यक्ष की क्रिया में एक बार में एक ही बोध हो सकता है। "न व्यवच्छेदपूर्वकं विधानम्"[४७] - न विधि के पहले व्यवच्छेद का प्रत्यक्ष हो सकता है। इस स्थिति में प्रथम विकल्प का ही तर्क लागू होता है। पहले क्षण में व्यवच्छेद का बोध हो और दूसरे क्षण में वस्तु का बोध हो, तो यह मानना पड़ेगा कि वस्तु का बोध हुए बिना ही व्यवच्छेद का बोध हो सकता है, जिसका निराकरण ऊपर कर चुके हैं।

इन तीन विकल्पों का निषेध करने के उपरान्त केवल यही दो विकल्प शेष रहे कि प्रत्यक्ष में केवल वस्तु गोचर होती है या वस्तु गोचर होने के बाद भेद गोचर होता है। इन दोनों विकल्पों में प्रत्यक्ष के प्रथम एक क्षण में वस्तु का बोध होता है, यह स्वीकार किया गया है। यही सत्य है। मण्डन यही सिद्ध करना चाहते थे कि प्रत्यक्ष में केवल वस्तु का बोध होता है। वस्तु के बोध के उपरान्त भेद का भी बोध होता है, इसका निराकरण करने के लिए अलग तर्क देंगे।

भेद द्विविध वस्तुओं के बीच का सम्बन्ध है, जैसे गाय और घोड़े में भेद अथवा किसी वस्तु के होने और न होने का भेद; जैसे घट नहीं है। दोनों ही प्रकार के भेद में प्रतिषेध विद्यमान है। "यह गाय है घोड़ा नहीं" अथवा "यहाँ घट नहीं है।" घोड़ा नहीं है, घट नहीं है - इस प्रकार का प्रतिषेध कैसे सम्भव है? मण्डन इस पर विचार करते हुए कहते हैं - "न प्रतिषेध्यात् प्रतिषेधविषयाच्च विना प्रतिषेधोऽकल्पते"[४८] - प्रतिषेध्य और प्रतिषेध-विषय के बिना प्रतिषेध की कल्पना नहीं हो सकती। उदाहरण में गाय और घोड़े दोनों हों, तब कहा जा सकता है कि गाय है घोड़ा नहीं। घोड़ा जैसी कोई वस्तु न हो तो प्रतिषेध नहीं हो सकता है। "सिद्धरूपमेव निषिध्यते" - सिद्ध रूप वस्तु का ही निषेध होता है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि क्या आकाश-कुसुम जैसी अत्यंत असत् वस्तुओं का निषेध नहीं हो सकता है? इसके उत्तर में मण्डन कहते हैं कि आकाश और कुसुम दोनों सिद्ध वस्तुएं हैं। मिथ्या केवल दोनों का सम्बन्ध है। इसलिए आकाश-कुसुम का

निषेध हो सकता है। अत्यंत असत् वस्तु की सिद्धि ही नहीं होती है।[४६] अतः उसके निषेध का प्रश्न भी नहीं उठता है।

कुछ लोग अपनी बुद्धि में किसी वस्तु का रूप प्राप्त कर उसका बाहर निषेध करते हैं।[५०] यहाँ भी वस्तु बुद्धि-लब्ध है। तभी उसका निषेध सम्भव है। यदि वस्तु बिल्कुल असत् है तो वह शून्यता प्राप्त कर लेगी और उसका किसी वस्तु से भेद नहीं हो सकता है। उसका सर्वत्र सब वस्तुओं से भेद एक सामान निषिद्ध रहेगा। (सर्वस्य सर्वत्राविशेषण निषेधात्)। अतः निर्णय यह है कि यदि दो वस्तुओं में एक दूसरे से पृथक होने का भेद है तो जिन वस्तुओं के बीच भेद है, वे पहले ज्ञात होनी चाहिए (स भेद्यवोः सिद्धिमपेक्षते)।[५१]

अब एक विकल्प शेष रह गया - "विधिपूर्वक व्यवच्छेद।" पहले वस्तु का प्रत्यक्ष हो, फिर अन्य वस्तुओं से उसका व्यवच्छेद हो। मण्डन इसका निराकरण करते हुए कहते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान क्रमिक होता है, एक प्रत्यक्ष में दो वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो सकता और एक प्रत्यक्ष ज्ञान में दूसरा ज्ञान संनिहित भी नहीं होता है।[५२] प्रत्यक्ष एक ज्ञान व्यापार है। इसमें दो ज्ञान विधि और व्यवच्छेद एक क्षण में नहीं हो सकते हैं। कारण यह है कि "क्षणिकत्वात्" ज्ञान क्षणिक है। यदि कहा जाय कि क्षणिक होने पर भी एक के उपरान्त दूसरा ज्ञान क्रम से हो सकता है, तो इसके उत्तर में मण्डन कहते हैं कि दूसरी वस्तु का ज्ञान दूसरे ही प्रत्यक्ष से होगा, क्योंकि दोनों में व्यवधान है (व्यवधानात्)। इस विवेचन का निर्णय यह हुआ कि प्रत्यक्ष में एक क्षण में एक ही वस्तु गोचर होगी, व्यवच्छेद का ज्ञान सम्भव नहीं है।

भ्राँति में ऐसा प्रतीत होता है कि मानो दो वस्तुओं का एक साथ बोध हो रहा है। भ्रान्ति निवृत्त होने पर मनुष्य कहता है कि "यह चांदी नहीं, सीप है"। यहाँ भी एक प्रत्यक्ष में दो ज्ञान नहीं है। पहले जिस वस्तु को देख कर रजत माना था, उसका निषेध कर देने पर अर्थात् यह चांदी नहीं ऐसा जान लेने पर सीप का प्रत्यक्ष होता है।[५३] अतः भ्रान्ति की स्थिति में भी एक प्रत्यक्ष में दो बोध नहीं है, वरन् दो पृथक् प्रत्यक्ष बोध हैं।[५४]

मण्डन के द्वन्द्वन्याय का यह एक उदाहरण है। इसी क्रम में उन्होंने भेद-प्रतिपादक अन्य मतों का भी खण्डन किया है। बौद्धमत के अनुसार "एकविधिरेवान्यव्यवच्छेदः"[५५] - एक वस्तु का प्रत्यक्ष होने में दोनों कार्य होते हैं, वस्तु का बोध और अन्य से व्यवच्छेद। मण्डन इस बात का खण्डन करते हैं कि एक प्रत्यक्ष में समस्त सम्भव-असम्भव वस्तुओं का भेद ज्ञात हो जाता है। इसके अतिरिक्त एक मत यह है कि "प्रकृत्यैव भिन्ना भावाः"[५६] - वस्तुएँ स्वभाव से ही एक-दूसरे से भिन्न हैं। इसलिए उनके प्रत्यक्ष होने से उनके भेद का भी ज्ञान होता है। मण्डन कहते हैं

कि यदि ऐसा हो तो सब वस्तुएँ भेद स्वरूप होंगी और एक वस्तु से दूसरी वस्तु में भेद नहीं होगा। दूसरे भेद "अरुण" हैं, इसलिए सब वस्तुएँ भी अरूप होंगी। तीसरे, भेद निषेधात्मक होता है, अतः वस्तुएँ भी निषेधस्वरूप होंगी। चौथे, भेद में द्वैत, त्रैत अवश्य होना चाहिए, अतः कोई वस्तु एक नहीं हो सकती है। कोई वस्तु एक और अनेक एक साथ नहीं होती है।[५७]

इस प्रकार मण्डन ने तर्ककाण्ड के सम्पूर्ण अध्याय में भेद सम्बन्धी विभिन्न मतों का खण्डन द्वन्द्वन्याय से किया है। अद्वैत वेदान्त की परम्परा में सम्भवतः यह प्रथम प्रयास है, जिसमें द्वन्द्वन्याय के द्वारा भेद का निराकरण इतनी गहनता, गंभीरता, विस्तार और सफलता के साथ किया गया है।

कुछ विद्वानों ने समस्त वेदान्त साहित्य को दो भागों में विभाजित किया है – "प्राचीन वेदान्त" और "नव्य वेदान्त"। प्राचीन वेदान्त में उपनिषद, ब्रह्मसूत्र, गीता पर शंकर के भाष्य, मण्डन, सुरेश्वर, पद्मपाद, वाचस्पति मिश्र आदि के वार्तिक और प्रकरण ग्रन्थ आते हैं। इन्हें "प्रमेय" ग्रन्थ भी कहा जाता है, क्योंकि इनमें प्रमेय-अद्वैत ब्रह्म ही प्रधान है। श्री हर्ष से एक नया युग प्रारम्भ होता है। उसे नव्यवेदान्त कहते हैं। इसके अन्तर्गत आने वाले ग्रन्थ अधिकतर "प्रमाण" ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में प्रमाणों पर विशेष रूप से विचार किया गया है और परपक्ष के खण्डन में अधिक रुचि रही है। अतः इनमें तर्क की प्रधानता होना स्वाभाविक है। श्रीहर्ष का "खण्डनखण्डखाद्य", चित्सुखाचार्य की "चित्सुखी" अथवा "तत्वप्रदीपिका", मधुसूदन सरस्वती की "अद्वैतसिद्धि" आदि ग्रन्थों की गणना इसी कोटि में की जाती है।[५८]

(२) **श्रीहर्ष** – इनका समय तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ का माना जाता है।[५९] वे महाराजा विजयचन्द्र (कन्नौज) की पण्डित सभा के अध्यक्ष थे। वे अद्वैतवादी और महाकवि थे। उनके वेदान्त के ग्रन्थ "खण्डनखण्डखाद्य"[६०] और काव्य-रचना "नैषधचरित" ने उन्हें अमर बना दिया।

खण्डनखण्डखाद्य में श्रीहर्ष ने मुख्यरूप से न्यायसूत्रों का ही खण्डन किया है। तैयायिकों के अनुसार १६ पदार्थ माने गये हैं, जिन्हें वे परमार्थ सत् स्वीकार करते हैं। उनमें प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन आदि भी हैं। श्रीहर्ष इनकी सत्ता नहीं मानते। ग्रन्थ का प्रारम्भ इसी विचार से होता है कि यदि नैयायिक प्रमाण मानते हैं और श्रीहर्ष प्रमाण नहीं मानते हैं, तो दोनों के बीच किस आधार पर वाग्व्यवहार होगा? इसके उत्तर में श्रीहर्ष कहते है कि प्रामाणदि की सत्ता न स्वीकार करना विचारणीय विषय के साधन-बाधन की अयोग्यता का हेतु नहीं है, किन्तु सद्वचनाभास लक्षण से युक्तत्व ही उस अयोग्यता का हेतु है।[६१] अतः सद् वचन के आधार पर वाद-विवाद हो सकता है। विचार दृष्टि से देखा जाय तो प्रमाणादि के सत्त्व को मानने वाले को ही प्रमाणादि

के सत्त्वार्थक सब नियम भार की महती पीड़ा उपस्थित होती है।[६२] प्रतिवादी तो किसी निग्रहस्थान का उद्भाव न कर देने मात्र से विजयी हो सकता है। यदि वह कोई निग्रहस्थान नहीं दिखलाता, तो वादी विजयी होता है।

इस प्रकार यद्यपि श्रीहर्ष का मुख्य पूर्वपक्षी न्याय-दर्शन है, किन्तु उनके द्वारा प्रयुक्त द्वन्द्वन्याय का अस्त्र समस्त विरोधी मतों का खण्डन करने में सक्षम है। श्रीहर्ष स्वयं स्वीकार करते हैं कि "ये मेरी खण्डन-युक्तियाँ सब दर्शन-सिद्धान्तों में यथेष्ठ प्रवृत्त होती हैं। ईश्वराधीन विश्व की व्यवस्था को न मान कर खण्डन करना अशक्य है। उन युक्तियों के प्रदर्शन के ही लिए यह वादियों के वाद का कथन किया जाता है। वह इस प्रकार है कि यदि शून्यवाद और अनिर्वचनीयवाद पक्षों का आश्रयण होता है तो इन खण्डन-युक्तियों की सर्वपथगायिमता निर्बाध रहती है।[६३] इन दोनों में पदार्थ को साधने की आवश्यकता नहीं रहती है। अनिर्वचनीयवाद मायिक जगत् के सम्बन्ध में अद्वैतवेदान्त का मत है।

श्रीहर्ष बौद्ध और अद्वैतवेदान्त का भेद स्पष्ट करते हुए कहते हैं - "दोनों में यह विशेषता है कि सौगत सब कुछ अनिवर्चनीय मानते हैं। ब्रह्मवादी कहते हैं कि विज्ञान स्वरूप ब्रह्म से भिन्न यह सब विश्व सदसद् से विलक्षण है।[६४] अनिवर्चनीयता दो प्रकार की हो सकती है - एक तो वक्ता के दोष से अनिर्वचनीयता कही जाती है और दूसरी प्रमेय से स्वभावानुगामिनी। विश्व सदसद् से विलक्षण है, अतः यह स्वयं अनिवर्चनीय है। कोई भी निरुक्ताभिमानी उसका निवर्चन नहीं कर सकता है।[६५] वक्तव्य वस्तु में ही ऐसा दोष है कि उसका निर्वचन किसी से नहीं हो सकता है।

हम देख चुके हैं कि मण्डन मिश्र ने प्रत्यक्षादि में भासित होने वाले द्वैत का खण्डन किया है। श्रीहर्ष भी द्वैत के खण्डन में द्वन्द्वन्याय का प्रयोग करते हैं। उसका एक उदाहरण हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं। प्रत्यक्ष में घट-पट आदि का जो बोध होता है, उसे अद्वैत श्रुतियों का बाधक कहा जाता है। विचार करना चाहिए कि प्रत्यक्ष वस्तुओं का भेद कैसे निश्चय कराता है। भेद- (१) वस्तु के स्वरूप का, (२) अन्यान्याभावरूप, (३) विरोधी धर्म का अथवा (४) पृथकत्व रूप का हो सकता है। श्रीहर्ष इन चार विकल्पों पर विचार करते हैं। प्रथम विकल्प के अनुसार यदि भेद वस्तुस्वरूप ही हो (भेदस्वरूप), तो घट में ही पट भी प्रविष्ठ हुआ दिखाई देना चाहिए। यदि कदाचित ऐसा ही दिखाई देता हो, तो भेद की अपेक्षा घट-पट का अभेद ही हुआ।[६६]

यदि यह कहा जाय कि पट से घट भिन्न है, दोनों एक ही नहीं हैं, तो यह विचार करना होगा कि यह "भिन्नता" क्या है? क्या "पट से भिन्नता" यह घट का धर्म है? यदि ऐसा ही है तो धर्म धर्मी में अभेद से अद्वैत ही सिद्ध होगा। दूसरे, घट में "पट

से भिन्ता" का धर्म या लक्षण अपेक्षित भी नही है, क्योंकि घट देखने से ही घट का बोध हो जाता है, पट आदि की अपेक्षा नही होती है। जो स्वरूप से नील है, वह पीत से निरूपित होता हुआ नील नही होता है।[६७] इससे यह भी सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष गोचर वस्तु से भेद का कोई सम्बन्ध नही है, वह बिल्कुल भिन्न है।[६८] घट और पट से "भेद" पृथक ही है। यदि प्रथक है, तो उसकी सत्ता कहाँ है और उसका क्या स्वरूप है, यह निश्चित नहीं किया जा सकता है।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि पदार्थ का स्वरूपमात्र भेद नहीं है। इसी से अन्योन्यसाभाव स्वरूप भेद का भी प्रत्याख्यान हो गया। जिससे भेद मन्तव्य है, उस प्रतियोगी को विशेष रूप से अपने स्वरूप में अन्योन्याभाव भी अन्तर्भाव करेगा, तो फिर भेद नही रहेगा।[६९] अन्योन्याभाव का अर्थ है एक वस्तु से दूसरी वस्तु के तादात्म्य का निषेध। जब पट से घट को अन्य कहा जाता है, तो इसका अर्थ होता है कि घट और पट में तादात्म्य नही है। यह अन्योन्याभाव प्रत्यक्ष प्रमाण से समझने योग्य नहीं है। शशश्रृंग के समान असत् कोई पदार्थ प्रमाण से जानने योग्य नही होता।[७०]

यह भी नहीं कहा जा सकता है कि घट में पटत्व नहीं है और पट में घटत्व नहीं है। नैयायिकों के अनुसार जाति में कोई विशेष गुण नही होता। अतः घट और घटत्व में तादाम्त्य होगा और उन दोनों के अभेद होने से, घट में पटत्व और पट में घटत्व का निषेध करता हुआ प्रमाण घटत्व-पटत्व से शून्य घट-पट दोनों को सिद्ध करता है। अतः विरोधी धर्म और स्वरूप भेद के असम्भव होने से किसका प्रतियोगी या आलम्बन का विषय बना कर घट-पट का अन्योन्याभाव प्रमाण का विषय होगा?[७१]

तीसरा विकल्प वैधर्म्य का है। इसका अर्थ है भेद में विरोधी धर्म होते हैं। श्रीहर्ष के मत में ऐसा भी होना सम्भव नहीं है। वैधर्म्य में भेद की सिद्धि के लिए घटत्व-पटत्वादि रूप वैधर्म्य में अन्य वैधर्न्य मानना होगा। ऐसा मानने पर वैधर्म्य में वैधर्म्य मानने का अनवस्था दोष होगा।[७२] यदि अन्त में कहीं एकत्व मानें, तो मूल में भी वैधर्म्य मानने की आवश्यकता न रहेगी। वही एकत्व मान कर भेद का निराकरण हो जाएगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाण से भेद सिद्ध नहीं होता है, इसीलिए भेद मिथ्या है। भेद मिथ्या होने के कारण वह अद्वैत श्रुति का बोध नहीं कर सकता। अनुमान आदि प्रमाण प्रत्यक्ष के ही उपजीव्य है, अतः वे अपेक्षाकृत अधिक दुर्बल है और वे भी अद्वैत का बोध नहीं कर सकते।[७३]

इसका यह अर्थ नहीं है कि श्री हर्ष द्वैत किसी रूप में स्वीकार नही करते हैं। वे कहते हैं, "हम भेद का "सर्वथा अभाव नहीं मानते हैं, किन्तु हम उसके पारमार्थिक सत्व को स्वीकार नही करते हैं। [७४] अपारमार्थिक (बुद्धि) पारमार्थिक बुद्धि का बाध

नही कर सकती है, जैसे शुक्ति बुद्धि का रजत बुद्धि से बाध नही होता है।[७५] इस प्रसंग में, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि श्रीहर्ष पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक भेद उसी प्रकार स्वीकार करते है जैसे शंकर। उन्होंने पारमार्थिक और व्यावहारिक भेद का बार-बार उल्लेख किया है।

श्रीहर्ष ने अपनी इस तर्कना पद्धति का प्रयोग लक्षण, प्रमाण, करण, व्यवहार आदि में सर्वत्र किया है। यहाँ हम संक्षेप में उनमें से कुछ का उल्लेख करते हैं। सामान्य रूप से लक्षण के द्वारा लक्ष्य की व्यवस्था की जाती है और लक्षण से लक्ष्य रूप अधिकरण के ज्ञात होने पर अन्य भेद निरूपित किये जाते हैं। पृथ्वीत्व पृथ्वी का लक्षण है। इसलिए जहाँ पृथ्वीत्व देखने मे आये, उसे पृथ्वी मानेंगे। जहाँ पृथ्वीत्व नही है, वहाँ पृथ्वी भी नहीं है। जलत्व जल का लक्षण है और वह जल का ज्ञान कराता है। पृथ्वी में जलत्व न होने के कारण पृथ्वी जल से भिन्न है। इस प्रकार भेद ज्ञान होता है।

श्रीहर्ष इसका खण्डन इस प्रकार करते हैं। लक्षण के ज्ञान से लक्ष्य का ज्ञान होता है। भिन्न-भिन्न लक्ष्यों के पृथक लक्षण है, इसीलिए उनका भेद ज्ञान होता है। किन्तु यह भी सत्य है कि लक्षणों का भेद भी लक्ष्यों की पृथकता से ही होता है। अतः लक्षण से लक्ष्य और लक्ष्य से लक्षण का ज्ञान आत्माश्रय दोष है।[७६] दो में से प्रथम कौन है? प्रथम लक्षण के द्वारा इतरव्यावृत्ति का ज्ञान होता है या लक्षणान्तर के द्वारा। यदि प्रथम लक्षण के द्वारा माने तो स्व में स्व की अपेक्षा से आत्माश्रय दोष होगा। यदि लक्षणान्तर के द्वारा इतरव्यावृत्ति का ज्ञान माने तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। यदि अन्योन्याश्रय दोष की निवृत्ति के लिए तृतीय लक्षण के द्वारा माने तो चक्रक दोष होगा। यदि इसकी निवृत्ति के लिए चतुर्थ लक्षण माने तो अविश्रान्ति दोष होगा। इसलिए लक्षण-लक्षण की व्यवस्था त्रुटिपूर्ण और असम्भव है।[७७]

परमत में "प्रमा" की अनेक परिभाषायें हैं। तत्वानुभूतिः प्रमा[७८], यथार्थनुभवः प्रमा,[७९] सम्यक् परिच्छिति, अव्यभिचारी अनुभव,[८०] आदि कई परिभाषाएँ लेकर श्रीहर्ष ने उनका खण्डन किया है। "प्रमाकरणं प्रमाणम्" इस परिभाषा के अनुसार प्रमा का कारण (व्यापार वाला असाधारण कारण) प्रमाण होता है। यदि प्रमा ही सिद्ध नही होती तो प्रमाण भी सिद्ध नहीं हो सकता।[८१] फिर भी श्रीहर्ष समस्त प्रसिद्ध प्रमाणों का अलग-अलग खण्डन करते हैं।

शब्द प्रमाण पर विचार करते हुए वे कहते हैं - शब्द प्रमाण भी क्या है? यदि कहा जाय कि आत वाक्य शब्द रूप प्रमाण (आतवाका हि शब्द) है, तो यह युक्त नहीं है। किसी संभव विकल्प की उपपत्ति नही हो सकती। आत किसे माना जाय? भ्रान्त पुरुष भी अपने वचन को आत समझता है। प्रमाण से देखा हो तो उसके वचन आत होंगे। ऐसा माने तो पहले प्रमाण सिद्ध करना होगा। यथार्थ ज्ञान भी पूर्णरूप से सत्य

होना सम्भव नहीं है। उसकी कुछ बात सत्य और कुछ असत्य हो सकती है। यदि जितना यथार्थ ज्ञान है, उतना ही प्रमाण माने तो भी यह निश्चय नहीं हो सकता है कि उसका कितना ज्ञान यथार्थ है। इसी प्रकार अन्य अनेक विकल्पों की उद्भावना कर श्रीहर्ष उन सबका खण्डन करते है। यहाँ उन सबका विवरण देना सम्भव नही है।

इस प्रकार श्रीहर्ष ने न्याय वैशेषिक के वस्तुवादी समस्त सिद्धान्तों का खण्डन किया है। इसका निर्णय यह निकाला कि समस्त विश्व अनिर्वचनीय है, इसलिए माया है। यही कारण है कि उनका ग्रन्थ अनिवर्चनीयतार्वस्व भी कहलाता है। ग्रन्थ में सर्वत्र वे कई बार इसका उल्लेख कर ब्रह्म की सत्यता प्रतिपादित करते है। उनकी खण्डन शैली नागार्जुन की प्राचीन खण्डन पद्धति का स्मरण दिलाती है और दोनों में बहुत साम्य दिखाई देता है।[६२]

(३) **चित्सुख** - अद्वैत वेदान्त को समृद्ध बनाने वाले चित्सुखाचार्य का जीवन काल १२२० ई. माना जाता है। उन्होंने कई भाष्य ग्रन्थ लिखे हैं, किन्तु "तत्वप्रदीपिका", जो बाद में चित्सुखी के नाम से प्रसिद्ध हुई, उनकी सब से महत्वपूर्ण रचना है। इसमें उन्होंने वेदान्त के कुछ प्रत्ययों की उपयोगी व्याख्या करके परमत खण्डन में द्वन्द्वन्याय का प्रयोग किया। ग्रन्थ के दूसरे अध्याय में चित्सुख ने न्याय के पदार्थ, भेद, गुण, कर्म, जाति, विशेष, समवाय, प्रत्यक्ष, संशय, भ्रम, स्मृति, अनुमान, व्याप्ति, व्याप्ति-ग्रह, पक्ष धर्मता, हेतु, उपमान, सत्, असत द्वैत, परिमाण, कार्य-कारण, देश, काल आदि समस्त भावों का खण्डन किया है। इसमें सर्वत्र द्वन्द्वव्याय का प्रयोग दिखाई देता है।[८८] इस अध्याय का प्रारम्भ करते ही वे भेद का प्रश्न उठाते हैं और उसके चार विकल्प लगभग उसी प्रकार मानते हैं जैसे श्रीहर्ष ने माने थे, और उनके खण्डन मे लगभग उसी प्रकार की युक्तियाँ भी दी हैं। यहाँ हम उनकी पुनरावृत्ति न कर केवल "कारणत्व" का खण्डन दिखाते हैं।

कारण के विषय मे सात प्रकार की मान्यतायें हो सकती है - (१) पूर्वकाल-भावित्व, (२) नियताप्राक्कालसत्व (३) सहकारि वैकल्पप्रयुक्त कार्याभाववत्व (४) अन्वयव्यतिरेक वज्जातीयत्व (५) सामग्री का एकदेशत्व (६) व्यापारवत्व अथवा (७) जिसको न मानने से कार्य की नित्य सत्ता या नित्य असता प्राप्त हो। विचार करने से इस सभी विकल्पों का खण्डन हो जाता है।

दूसरे पक्ष में, "नियतप्राक्कालसत्व" का अर्थ है कार्य से पूर्व काल में कारण का विद्यमान रहना। इस स्थिति मे काल की अहेतुता की आपत्ति होगी, क्योंकि काल एक ही है। यदि उपाधि के कारण काल का भेद करे तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। काल

स्वयं अपने में नहीं रह सकता। नियतत्व का भी निर्वचन नहीं किया जा सकता है।[८५] यदि नियत का अर्थ कार्य के पूर्व कारण को सदा रहना चाहिए तो गर्दभ को भी धूम-विशेष के प्रति नियत कारण मानना पड़ेगा, क्योंकि गर्दभ के रहने पर ही धूम उत्पन्न होता है, और गर्दभ तथा धोबी के चले जाने पर धूम नही होता है। यदि नियम का अर्थ अनन्यथासिद्धत्व माने, तो भी गर्दभ और आकाश आदि में अतिप्रसंग बना रहता है। यदि कहें कि नियत कारण वह है, जिसके रहने पर कार्य अवश्य हो, तो बीजादि में अकारणता की आपत्ति होगी क्योंकि बीज के रहने पर अंकुर का नियमित रूप से होना नहीं देखा जाता है। यदि कहा जाय कि सहकारी कारणों के मध्य में स्थित बीज के होने पर अंकुर होता ही है, तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सहकारी कारणों के मध्य में गर्दभ आदि की भी स्थिति हो सकती है।

तीसरे पक्ष में, ''सहकारिवैकल्प प्रयुक्तकार्याभावत्व'' का अर्थ है कि कारण वह है जो सहकारी तत्वों के बीच विद्यमान हो और जिसके होने से कार्य उत्पन्न हो। कारण का यह लक्षण भी ठीक नही है। हेतु साकल्यरूप सामग्री मे यह लक्षण नही घटता है। इसके अतिरिक्त कारणत्व का निर्वचन न होने से सहकारी पदार्थ का निरूपण नहीं हो सकता है।[८६] सहकारी साकल्य का नाम ही सामग्री है। उसके रहने पर सहकारी वैकल्य सम्भव नहीं है। सहकारी कारण का अर्थ है दूसरा कारण। जब एक कारण ही निश्चित नही है, तो अन्य कारण कैसे निश्चित होंगे?

चौथे पक्ष में, ''अन्वयव्यतिरेकवज्जातीयत्वम्'' का अर्थ है, कारण के होने पर कार्य का होना और कारण के न रहने पर कार्य का न होना। यह भी कहना युक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का अन्वयव्यतिरेक न होने पर भी तृण, अरणि और मणि में अग्नि की हेतुता मानी जाती है।[८७] तृणादि में से एक न हो, तो भी दूसरे अग्नि की उत्पत्ति देखी जाती है। यदि तृण आदि में भिन्न प्रकार की अग्नि माना जाय तो भी यह दोष दूर नहीं होता। उस भेद का कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण तो है ही नहीं। इन्द्रियसन्निकर्ष से कोई निपुण व्यक्ति भी तृण आदि में अव्यक्त अग्नियों का भेद नहीं जान सकता।

पाँचवे पक्ष में, ''सामप्रयैकदेशत्व'' का अर्थ है सामग्री की एकदेशता का होना ही कारण है। यह भी युक्त नहीं है। वस्तु-साकल्य को सामग्री मानने में अतिव्याप्ति दोष और कारण-साकल्म को सामग्री मानने में आत्माश्रय दोष प्रसक्त होते हैं। साकल्य पदार्थ को कारणों से भिन्न या अभिन्न मानना संभव नही है। कार्य तो अपने कारणों से सिद्ध हो जाता है, तो साकल्य की कल्पना व्यर्थ है। साकल्य-जनक कारणों से ही मुख्य कार्य की उत्पत्ति हो जायेगी, तो मध्य में साकल्य नाम की व्यर्थ वस्तु मानने की क्या आवश्यकता है।[८८]

छठें पक्ष में, "व्यापारवत्व" का अर्थ है जो कारण से जन्य हो एवं कारण से जन्य का जनक हो। चित्सुख व्यापार में अव्याप्ति दोष मानते हैं। अन्तिम व्यापार में व्यापारान्तरवत्ता न होने से कारणत्व की अव्याप्ति होती है। व्यापार का जनकत्व के बिना निरूपण न हो सकने के कारण आत्माश्रय दोष है। फिर, व्यापारत्व का निर्वचन भी नहीं हो सकता है। वह व्यापार-समवायित्व है अथवा व्यापार-जनकत्व? प्रथम पक्ष में यज्ञ आदि से स्वर्ग की कारणता नहीं बनेगी और दूसरा पक्ष मानने से जनकत्व में जनकत्व की अपेक्षा होने से आत्माश्रय दोष होगा।[८६]

सातवें पक्ष में, कारण वह है जिसके न मानने से कार्य की नित्य सत्ता या नित्य असत्ता प्राप्त हो। यह भी युक्तिसंगत नहीं है। कारणानभ्युपगम (कारण का न मानना) की और नित्य सत्व या नित्य असत्व की व्याप्ति सिद्ध नहीं होती है। कारणानभ्युपगम को भावरूप मानने से कोई दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होता। प्राग्भाव में अहेतुकत्व रहने पर भी नित्य सत्व या नित्य असत्व नहीं रहता है। कारण-अनभ्युपगम अर्थात बिना हेतु के शशविषाण हो सकता है, किन्तु उसमें नित्य सत्व नहीं रहता है। यदि कहें कि केवल अहेतुकत्व की व्याप्ति न होने पर भी भावरूप अहेतुकत्व की व्याप्ति नित्य के साथ हो सकती है, जैसे आकाश आदि में, तो इसके उत्तर में चित्सुख कहते हैं कि इस दृष्टान्त को लोकायत स्वीकार नहीं करेंगे, क्योंकि वे आकाश की सत्ता ही नहीं मानते हैं। इसके अतिरिक्त, इसका विपर्यय सम्भव नहीं है। उस दशा में अहेतुकत्व का अहेतुकत्व हो जायेगा और परिभाषा ही घटित न होगी।[९०]

चित्सुख द्वारा परमत का इस प्रकार खण्डन कर देने से समस्त भेद, अभेद या भेदाभेद निरस्त हो जाते हैं। अतः उनके अनुसार निर्णय यह होता है कि यह सकल प्रपंच अनादि अविद्या का विलास-मात्र है। इस प्रकार के प्रपंच के ग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विरोध न रहने से वेदान्त वाक्य अवाधित होकर द्वितीय ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करते है, यह निर्दोष सिद्धान्त है।[९१]

**(४) मधुसूदन सरस्वती** - श्रीहर्ष और चित्सुख की तार्किक परम्परा में मधुसूदन सरस्वती का नाम उल्लेखनीय है। उनका जीवन काल सन् १५४०-१६४७ ई. माना जाता है।[९२] इन्होंने अद्वैत-सिद्धि, वेदान्त कल्प जलिका, अद्वैत-मंजरी, अद्वैत-रत्न-रक्षण, आत्म बोध-टीका, आनन्द मंदाकिनी, कृष्ण कुतुहल नाटिका, सिद्धान्त तत्व बिन्दु आदि अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें उनका सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ "अद्वैत सिद्धि" है, जिसमें उन्होंने व्यावसीर्थ रचित "न्यायामृत" का खण्डन किया है। अद्वैत-सिद्धि सम्भवतः वेदान्त की अन्तिम महान रचना है।

"न्यायामृत" ग्रन्थ न्याय दर्शन के समर्थन में अद्वैत वेदान्त का खण्डन करता है। इसकी रचना मधुसूदन से कुछ काल पूर्व ही हुई थी। अतः उसमें श्रीहर्ष चित्सुख

को भी खण्डन का लक्ष्य बना लिया गया है। मधुसुदन ने इस ग्रन्थ का खण्डन कर पुनः अद्वैत की रक्षा की, अतः इसका नाम "अद्वैत-सिद्धि" रखा। ग्रन्थ में मधुसूदन की तर्कना-पद्धति का प्रचुर प्रयोग हुआ है। उदाहरण के रूप में हम प्रपच्चमिथ्यात्ववाद पर उनका तर्क-वितर्क कर रहे हैं।

व्यासतीर्थ के सामने विचार करने के लिए मिथ्यात्व के पाँच लक्षण हैं, जिनको उन्होंने प्राचीन अद्वैत वेदान्तियों से सुना है। पदमपादाचार्य सत्वासत्वानधिकरणत्व, प्रकाशात्य मुनि त्रैकालिकनिषेप्रतियोगित्व और ज्ञाननिवलर्यत्व, चित्सुख स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ता भाव प्रतियोगिता और आनन्दबोध सिद्धि-विकत्व ही प्रपंच्च के मिथ्यात्व का लक्षण मानते हैं। व्यासतीर्थ इन पाँचों का खण्डन करते है और मधुसूदन उनके खण्डन का खण्डन प्रस्तुत करते हैं।

पदमपाद की पंचपादिका के अनुसार, "मिथ्याशब्दोंऽनिर्वचनीयतवचनः" -मिथ्या शब्द अनिर्वचनीयता का वाचक है। इसे व्यासतीर्थ सत्व असत्व का अनाधिकरणत्व मान कर आलोचना करते हैं। उनके अनुसार इसके तीन अर्थ हो सकते हैं - (१) सत्व-विशिष्ट असत्व का अभाव, (२) सत्व का अत्यन्ताभाव और असत्व का अत्यन्ताभावरूप धर्मद्वय अथवा (३) सत्वात्यन्ताभाव-विशिष्ट असत्वात्यन्ताभावरूप एक धर्म की आधारता।[६८]

प्रथम पक्ष (सत्व विशिष्ट असत्व का अभाव) मानने से सिद्ध-साधनता दोष आता है, क्योंकि प्रपंच को केवल सदरूप माना गया है। असत्व का अभाव होने से और सत्व की विशिष्टता होने से जगत सत्य सिद्ध होता है। यह आलोचना ठीक ही है, मधुसूदन इसका विरोध नहीं करते हैं। अद्वैत वेदान्त में मिथात्व की यह परिभाषा अभिप्रेत नही है।

दूसरे पक्ष में सत्व के अत्यान्ताभाव और असत्व के अन्यन्नाभावरूप दो धर्मों की आधारता से मिथ्यात्व में यह दोष हो सकता है, कि दोनों का एकत्र रहना विरुद्ध पड़ता है। सत्वाभाव का नाम असत्व और असत्वाभाव का नाम सत्व होता है। अतः तात्पर्य हुआ कि सत्व और असत्व दो विरोधी भाव एक साथ रहते हैं। यह सम्भव नहीं है। इसके उत्तर में मधुसूदन कहते हैं सत्व और असत्व दोनों धर्म एक दूसरे के अभाव नहीं हैं। वे दोनों ही स्वतन्त्र भावरूप धर्म हैं।[६४] वे तो दोनों ही स्वतन्त्र भावरूप धर्म हैं। सत्व का स्वरूप है विकालाबध्यत्व अर्थात् जिसका तीनों काल में बाध न हो।[६५] किसी भी आधार में (उपाधि) किसी भी सदरूप से प्रतीत न होने वाले पदार्थो को असत कहते हैं। ब्रह्म सत्व का और गगन-कुसुम असत्व के उदाहरण हैं। प्रपंच्च में सत्व और असत्व दोनों का अभाव है।

तीसरे पक्ष में व्यासतीर्थ को व्याघात दोष वैसे ही दिखाई देता है, जैसे दूसरे पक्ष

में। जब सत्वाभाव और असत्वाभाव एकत्र रह ही नहीं सकते, तो सत्वाभावविशिष्ट असत्वाभाव कैसे सम्भव होगा? इसके उत्तर में मधुसूदन कहते हैं कि आपके मत में त्रिकालाबाध्यत्व रूप सत्व प्रपंच्व में सिद्ध नही हो सकता, अतः वहाँ सत्वाभाव के रहने में क्या आपत्ति है? शुक्ति रजत में असत्वाभाव के रहने पर भी सत्व नहीं माना जाता है। ब्रह्म की सदरूपता प्रंपच्व में प्रतिभासित होती है, इतने से ही "घटःसन् पट : सन" आदि व्यवहार निभ जाता है।[६६]

मिथ्याकत्व की दूसरी परिभाषा "त्रैकालिनिषेधप्रतियोगित्व" है। इस परिभाषा में त्रैकालिक निषेध के तीन विकल्प हो सकते है- (१) ब्रह्म में प्रपंच्व का त्रैकालिक अभाव यदि ब्रह्म के समान तात्विक है, तब अद्वैत हानि होती है। (२) प्रपंच्व का वास्तविक अभाव न मान कर प्रातिभासिक अभाव मानने से सिद्धसाधन दोष है। (३) प्रपंच्व का व्यावहारिक अभाव भी वस्तुतः बाधित ही होता है। अतः बाधित अभाव की प्रतियोगिता प्रपंच्व में मान लेने से वास्तविक सत्ता का उपहार नहीं होता, इसलिए सिद्ध साधनता और अर्थान्तरता दोष रहते हैं।

मधुसूदन इसका विरोध करते हुए कहते है कि द्वैतवादी का यह आक्षेप उचित नही है, क्योंकि प्रपंच्व निषेध अधिकरणीभूत ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण निषेध तात्विक होने पर भी अद्वैत घाती नही है। तात्विक निषेध के प्रतियोगी प्रपंच में तात्विकत्व प्रसक्त न होकर कल्पित ही होता है, जैसे रजतादि में।[६७] यह भी कह सकते हैं कि प्रपंच का निषेध अतात्विक ही है। ऐसा होने पर भी वह प्रतिभासिक नहीं है किन्तु व्यावहारिक ही माना जाता है।

द्वैतवादी का यह कथन उचित नहीं कि व्यावहारिक निषेध बाधित होने के कारण प्रपंच्व की पारमार्थिक सत्ता का विरोधी नहीं, अतः अर्थान्तरता दोष है। कारण यह है कि स्वप्नारोपित गजादि पदार्थों का स्वप्न-निषेध के द्वारा बाध देखा जाता है। प्रपंच्वगत पारमाथिकता का भ्रम दूर करने के लिए ही मिथ्यात्व-साधक अनुमान प्रयोगों की सर्जना हुई है।

मिथ्यात्व की तीसरी विचारणीय परिभाषा "ज्ञाननिवर्त्यत्व" है। विवरणाचार्य ने लिखा है," अपने वर्तमान या प्रविलीन कार्य के सहित श्रज्ञान की जान से निवृत्ति बाध है।"[६८] इसलिए ज्ञान निवर्त्यत्व ही मिथ्यात्व का लक्षण सिद्ध होता है। व्यासतीर्थ के अनुसार मिथ्यात्व का यह लक्षण उस ज्ञान में अतिव्याप्ति है, जिसकी निवृत्ति अपने उत्तरवर्ती ज्ञान के द्वारा होती है। इसके अतिरिक्त मुदगर की चोट से फूटे घटादि में भी उसकी अव्यक्ति द्रोष है। घट मिथ्या होने पर भी ज्ञान से निवृत्त न होकर मुदगर के प्रहार से नष्ट हुआ है।

इसके अतिरिक्त ज्ञानगत निवर्तकता ज्ञानहीन विवक्षित है अथवा ज्ञानत्व-व्याप्त

धर्मेण? यदि प्रथम पक्ष के अनुसार ज्ञानत्वेन माने तो शुक्ति रजकादि में उसकी अव्याप्ति है, क्योंकि उनकी शुक्तिज्ञान में विवर्तकता अधिष्ठान साक्षात्कार के द्वारा होती है, क्योंकि उसकी निर्वतकता स्मृतिरूप ज्ञान में ज्ञानात्व-व्याप्य स्मृतिरूप से होती है।

इन आक्षेपों का निवारण करते हुए मधुसूदन कहते हैं कि ज्ञान निवर्त्यतव का अर्थ है ज्ञान प्रयुक्त अवस्थिति सामान्य के अभाव की प्रतियोगिता।[९९] निवृत्ति का अर्थ अत्यन्ताभाव होता है। उसके प्रतियोगी को निवर्त्य कहते हैं। ज्ञान और अत्यन्ताभाव का व्याप्य-व्यापकभाव विवक्षिप है, इसलिए ज्ञान का निवर्त्यत्व मिथ्यात्व है। इसमें कोई दोष नहीं है। कार्य की अवस्थिति दो प्रकार की होती है- कार्यरूप में और कारणरूप में। उत्पत्ति के पूर्व और नाश के पश्चात भी कार्य की स्थिति कारण में तब तक मानी जाती है, जब तक कारण बना रहता है। अतः मुदगर पात के अनन्तर घट की स्थिति कारण रूप मिट्टी में रहती है। मृतिका की अपने कारण में, उस कारण की अपने कारण में और अन्ततः समस्त प्रपंच्च कारण में स्थित रहता है। कारण रूपेण अवस्थिति का अभाव तो ब्रह्मज्ञान के पश्चात ही होता है।[१००] अतः विनष्ट घट में ज्ञान-निवर्त्यत्व या अधिष्ठानसाक्षात्कार प्रयुक्त अवस्थिति सामान्य विरह-प्रतियोगित्व लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता। अधिष्ठान साक्षात्कार आदि भी ज्ञान की कक्षा में ही आ जाते है। उत्तर ज्ञान के द्वारा पूर्वज्ञान की जो निवृत्ति होती है, वह निवृत्ति सामान्य या अत्यन्त निवृत्ति नहीं, क्योंकि संस्कार आदि रूप से ज्ञान की अवस्थिति बनी रहती है, अतः उनमें भी अतिव्याप्ति नहीं है।

चौथे, अपने आश्रय में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व है।[१०१] तात्पर्य यह कि मिथ्या वस्तु का अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रतीयमानत्व है। व्यासतीर्थ इसे पूर्वोक्त द्वितीय लक्षण के समान ही मानकर इसे भी निरस्त मान लेते है। मधुसूदन कहते है कि द्वितीय और चतुर्थ परिभाषाएँ एक समान नहीं है, फिर भी यदि विपक्ष कोई नये आपेक्ष नहीं करता और पुराने ही दुहराता हैं तो हम भी उन्ही उत्तरों को दुहराते हैं। यदि वह कहें कि अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रतीयमान शश-विषाण आदि भी हैं, उन्हें भी मिथ्यसा कहना चाहिये किन्तु वेदान्त उन्हें असत मानता है, मिथ्या या अनिवर्चनीय नहीं, तो ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में केवल प्रतीयमानता नहीं अपितु सत्वेन प्रतीयमानता विवक्षित है।[१०२]

ध्यात्व का पाँचवाँ लक्षण सद्विविक्तव कहा गया है। प्रमाण सिद्ध वस्तु को सत् कहते है। अतः प्रमाण सिद्ध वस्तु से भिन्न होने के कारण प्रपंच्च मिथ्या सिद्ध हो जाता है। न्यायामृतकार सत्ता के तीन विकल्प मान लेते हैं और उनमें दोष दिखाते हैं। सत्व

का अर्थ सत्ता-जाति की अधिकरणता हो सकता है, अबाध्यत्व हो सकता है और ब्रह्मरूपत्व भी हो सकता है। सत्ता-जाति के आधार को सत मानने से प्रंपच्च में उसकी अव्याप्ति होगी, क्योंकि जिसमें सत्ता-जाति मानी जायेगी वह सत होगा, सद्विविक्त नहीं होगा। सत्ता-जाति न होने पर सद्विविक्त होगा और न्यायामृतकार के अनुसार अद्वैतवादी भी घटादि में आविधक (अविद्या-प्रयुक्त) जाति मानते हैं, इसलिए विरोध उत्पन्न होता है। मधुसूदन कहते हैं कि घटादि में सत्ता जाति का भाव अविद्या के कारण अवश्य है किन्तु वस्तुतः सत्ता में घट है, घट में सत्ता नहीं।

द्वितीय कल्प के अनुसार अवाध्यरूप सत से भिन्न बाध्य को मिथ्या कहना होगा। वह प्रपंच्च में सम्भव नही है और तीसरे विकल्प में ब्रह्म रूप सत वस्तु का भेद प्रपंच्च में सम्मत होने के कारण तृतीय कल्प में भी सिद्धाधनता है। मधुसूदन सत्व के इन तीनों वैकल्पिक अर्थो को न मान कर सत्व की परिभाषा प्रमाण सिद्धत्व मानते हैं और सभी दोषों का निरादर कर देते हैं।[१०३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अद्वैत वेदान्त पर किये गये आक्षेपों का खण्डन कर अपने मत की रक्षा में मधुसूदन ने अपनी तर्कना-शक्ति का प्रयोग किया। यहाँ परमत खण्डन की अपेक्षा स्वमत रक्षण की ओर अधिक ध्यान रहा। यही परम्परा इसके आगे भी चली। अद्वैत सिद्धि का खण्डन श्री रामाचार्य ने न्यायामृततरंगिणी में किया, और उसका खण्डन श्री गौड़ ब्रह्मानन्द ने १७ वीं शताब्दी में अद्वैतसिद्धिचन्द्रिका लिख कर किया। इस चन्द्रिका की आलोचना वनमाली मिश्र ने न्यायामृत सौगन्ध्य में की। उसके खण्डन में विट्ठलेश उपाध्याय और अनन्तकृष्ण शास्त्री ने विट्ठलेशी और सौगन्ध्यविमर्श ग्रन्थ लिखे। इस खण्डन मन्डन की परम्परा में द्वन्द्वन्याय का अस्त्र अत्यधिक तीक्ष्ण हो गया और उसके द्वारा किसी भी मत का खण्डन सरल हो गया।

उपनिषद काल के ऋषियों को सम्भवतः द्वन्द्वन्याय की इस दुधारू मार का ज्ञान था और वे इससे सावधान थे, इसीलिए वे अपरोक्षानुभूति पर भरोसा रख कर उसी का निर्वचन करते रहे। उन्होंने खण्डनात्मक प्रवृत्ति नहीं अपनायी। सूत्रकाल में मतों का विभाजन होने लगा। जैमिनि अपने तर्क के बल पर उपनिषदों की व्याख्या कर्मपरम करने लगे और ज्ञान को कर्म का सहायक तथा उपकारी मान लिया। वेदान्तसूत्र को उपनिषदों का एक प्रकार से उद्धार करना पड़ा और ज्ञान को कर्म से स्वतन्त्र किया तथा सांख्य आदि मतों का खण्डन कर वेदान्त मत की स्थापना की। यहाँ तर्क का प्रयोग आवश्यक हो गया या किन्तु अभी उसके ऊपर अधिक भरोसा नही किया गया था।

जब बौद्ध आदि सम्प्रदायों में तर्क ने द्वन्द्वन्याय का घोर रूप धारण कर लिया तो गौड़पाद उसकी ओर आकृष्ट हुए, किन्तु उन्होंने माण्डूक्य उपनिषद को आधार बना कर अपने ग्रन्थ की रचना की और उसमें अपनी तर्कना शक्ति का प्रयोग, सृष्टि

को मिथ्या सिद्ध कर, परमात्मा-तत्व की स्थापना में ही किया। शंकर ने उनके ग्रन्थ पर भाष्य लिखा और उसकी तर्कना-शक्ति को अधिक सशक्त बनाया। उन्होंने उसका प्रयोग ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखते हुए पुनः किया, किन्तु उसमें उनकी अधिक रुचि नहीं दिखाई देती है। ब्रह्मसूत्र, में परमाणुवाद आदि का खण्डन सूत्रों की माँग के कारण करना पड़ा अन्यथा उन्हें किसी मत से द्वेष नहीं था। शून्यवाद के प्रति उनके मन में विशेष रोष था जो उनकी कटूक्तियों से सूचित होता है। मूल रूप में उन्हें तर्क पर अधिक भरोसा नहीं था। वह उन्हें "अप्रतिष्ठित" और "वाग्वैरवरी" मात्र प्रतीत होता है।

वीणाया रूपसौन्दर्य तन्त्रीवादन सौष्ठवम्।
प्रजारञ्जनमात्रं तन्न साम्राज्याय कल्पते।।[१०४]
वाग्वैरवरी शब्दक्षरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वदभुक्तये न तु मुक्तये।।[१०५]

"जिस प्रकार वीणा का रूप-लावण्य तथा तन्त्री को बजाने का सुंदर ढंग मनुष्यों के मनोरंजन का कारण होता है, उससे किसी साम्राज्य की प्राप्ति नहीं हो जाती; उसी प्रकार विद्वानों की वाणी की कुशलता, शब्दों की धारावाहिकता, शास्त्र-व्याख्यान की कुशलता और विद्वता भोग ही का कारण हो सकती है, मोक्ष का नहीं।"

शंकर के उपरान्त अद्वैत वेदान्तियों की एक धारा उपनिषद् और शंकर के मत के प्रतिपादन और व्याख्या में लग गयी। इसमें पद्मपाद, सुरेश्वर, प्रकाशात्मक मुनि, वाचस्पति मिश्र आदि की गणना होती है। इसमें तर्क खण्डनात्मक की अपेक्षा मण्डनात्मक और विश्लेषणात्मक अधिक है। दूसरी धारा मण्डन से प्रारम्भ होकर श्रीहर्ष, चित्सुख, मधुसूदन आदि की रचनाओं में प्रवाहित हुई। इसमें तर्क के प्रति आस्था दिखाई देती है। यहाँ तर्क द्वन्द्वन्याय का रूप धारण कर अद्वैत-वेदान्त के सैनिकों का घातक अस्त्र बन गया। इसका प्रमुख कार्य न्याय आदि दर्शनों के साम्राज्य पर आक्रमण कर विश्व-विजय प्राप्त करना हो गया। श्रीहर्ष ने अपने ग्रन्थ का नाम "खण्डनखण्डखाद्य" रख कर खण्डन को मिश्री जैसा मधुर बताया और उसका एक प्रयोजन दिग्विजय भी माना –

शब्दार्थनिर्वचनखण्डनय नयन्तः
सर्वत्र निर्वचनभावमरवर्वगर्वान।
धीराः यथोक्तमपि कीरवदेतदुक्त्वा
लोकेषु दिग्विजय कौतुकमातनुध्वम्।[१०६]

"हे धीर! शब्द और अर्थ के सत्य रूप से निर्वचनों (कथन) के खण्डन द्वारा अखण्ड गर्व वालों को सब वादों में निर्वचनभाव (मूकता) को प्राप्त कराते हुए इस

खण्डन को जिस प्रकार में कहता हूँ उस प्रकार कीरवत् कह कर ऊहापोह के बिना भी लोक में दिग्विजय रूप कौतुक फैलाओ।"

दिग्विजय की लालसा बिना द्वन्द्वन्याय का अस्त्र उठाये पूरी नहीं हो सकती थी। अतः इन दार्शनिकों ने अपने अस्त्र को खूब पैना किया और प्रतिद्वन्द्वी को चारों ओर से घेर कर निग्रहस्थान में डालने का अच्छा अभ्यास कर लिया। शंकर और श्रीहर्ष आदि के द्वन्द्वन्याय में यह अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। शंकर के खण्डनात्मक तर्कों को देख कर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शंकर ने न्याय आदि दर्शनों का सम्यक् अध्ययन भी नहीं किया था और उनके तर्कों में अधिक बल भी नहीं है, किन्तु श्रीहर्ष आदि ने इसमें अच्छी निपुणता प्राप्त की थी। वे अन्य दर्शनों को गहराई से समझते थे और उनके दोषों को भी जानते थे। इसीलिए श्रीहर्ष के बाद का अद्वैतवेदान्त नव्यवेदान्त कहलाया और वह प्रमाण-प्रधान हो गया। इसके विपरीत प्राचीन वेदान्त प्रमेय-प्रधान था।

नव्य वेदान्ती अपनी एक विशेष तर्कना पद्धति रखते हैं। ये विपक्षी के दर्शनों से, विशेष रूप से न्याय-दर्शन से एक-एक शब्द लेकर उसके विभिन्न सम्भावित अर्थों की कल्पना करते हैं और उन सबमें कोई न कोई तर्कीय दोष दिखाते हैं। यही विधि वे विपक्षियों के मत में प्रयुक्त लक्षण, परिभाषा आदि के खण्डन में भी अपनाते हैं।

## सन्दर्भ-सूची

१. पुरुष-सूक्त, ३.
२. नासदीय-सूक्त-१.
३. वही, २.
४. वही, २.
५. वही, ६.
६. वही, ६.
७. वही, ७.
८. "Reason had only to unravel it in the light of experience." Dr. S.N. Dasgupta, History of Indian Philosophy, Vol. I. Page 41.
९. Prof. R.D. Ranade , A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy, Page 23.
१०. श्वेताश्वतर उपनिषद्, १.४.
११. छान्दोग्य उपनिषद्, ६.८.१.
१२. वही, ६.१०.१.

१३. वृहदराण्यक उपनिषद्, ३.६.१६.
१४. छान्दोग्य उपनिषद्, ८.८.१.
१५. वृहदारण्यक उपनिषद्, ४.३.१.
१६. माण्डूक्य उपनिषद्, ७ और १२.
१७. Prof. Sangam Lal Pandey, Pre-Shankar Advatia Philosophy, Page 103.
१८. ईश उपनिषद्, ४.
१९. ईश उपनिषद्, ५.
२०. 'Proof by Exhaustion', Prof. Sangam Lal Pandey, Pre-Shankar Advaita Philosophy, p. 157.
२१. ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य, सूत्र १.१.१२ की प्रस्तावना।
२२. ब्रह्मसूत्र, २.१.१.
२३. श्रीमद्भागवद्गीता, ६.४.
२४. वही, ६.१६.
२५. वही, १३.१२.
२६. वही, १३.१५.
२७. वही, १३.१६.
२८. Dr. Edward Caird, The Critical Philosophy of Kant, Vol. I, page 7.
२९. "परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते" गौ० का० ३-१७.
३०. गौड़पाद कारिका, २.३४.
३१. वही, २.१०.
३२. वही, १.६.
३३. वही, ४.८३.
३४. Dr. S.N. Dasgupta, History of Indian Philosophy, Vol. I, page 435.
३५. "न तार्किक परिकल्पितात्मवत्पुरुषबुद्धि प्रमाणगम्यः" गौडपादकारिका शंकर भाष ३.११.
३६. ब्रह्मसूत्र, २.१.११.
३७. ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य, २.२.१४.
३८. मण्डन मिश्र, ब्रह्मसिद्धि, तर्ककाण्ड, पृष्ठ ३६ (मुख्या हि प्रत्यक्षादयः यदनुसारेण वार्थकल्पनामर्हति)
३९. वही (नैकत्व आगमस्तेन प्रत्यक्षेण विरुध्यते)
४०. वही, पृष्ठ ४४.
४१. शंखपाणि की व्याख्या, तर्ककाण्ड, पृष्ठ १२७.
४२. मण्डन मिश्र, ब्रह्मसिद्धि, तर्ककाण्ड, पृष्ठ ४४.
४३. वही, पृष्ठ ४४.

४४. "तत्र तस्त्वन्तरव्यवच्छेदे उभयस्मिन् वा भेदः प्रत्यक्ष गोचर इति भवति विरोधाः। स्वरूपविधिमात्रे तु कस्यचित् व्यवच्छेदेन शून्ये न भेदः प्रमाणार्थः, न हि व्यवच्छेदाइते भेद सिद्धिः। विधि-मात्रव्यापारं च प्रत्यक्षम्; अतो न विरोधः।" वही, पृष्ठ ४४.

४५. मण्डन मिश्र, ब्रह्मसिद्धि, तर्ककाण्ड, पृष्ठ ४४. पंक्ति १६.

४६. वही, पृष्ठ ४४ पंक्ति १६.

४७. वही, पृष्ठ ४४, पंक्ति २०.

४८. मण्डन मिश्र, ब्रह्मसिद्धि, तर्ककाण्ड, पृष्ठ ४४५, पंक्ति २१-२२.

४९. "नापि कुतश्चित् सिद्धिः अत्यन्तासत्वात्" वही, पृष्ठ ४४,

५०. "कुतश्चिन्निमित्ताद् बुद्धौ लब्धरूपाणां बहिर्निषेधः क्रियते", वही, पृष्ठ ४५, पंक्ति १.

५१. मण्डन मिश्र, ब्रह्मसिद्धि, तर्ककाण्ड, पृष्ठ ४५, पंक्ति ५.

५२. "क्रमः संगच्छते युक्त्या नैकविज्ञानकर्मणोः।
न संनिहितजं तच्च तदन्यामर्शि जायंते।।" वही, तर्ककाण्ड, कारिका ३, पृष्ठ ४५

५३. "पूर्वविज्ञानविहिते रजतादौ "इदम्" इति च सन्निहितार्थ सामान्ये निषेधो विधिपूर्व एव"। वही, पृष्ठ ५४.

५४. "न च तर्ककज्ञानस्य क्रमवद्धयापारता, उभयरूपस्योत्पत्तेः" वही, पृष्ठ ४६.

५५. मण्डन मिश्र, ब्रह्मसिद्धि, तर्ककाण्ड, पृष्ठ ४६.

५६. वही, पृष्ठ ४७

५७. "नभेदो वस्तुनो रूपं तदभावप्रसंगतः।
अरूपेण च भिन्नत्वं वस्तुनो नावकल्पते।।" वही, पृष्ठ ४७

५८. डॉ० नविकान्त झा, सम्पादक खण्डनखण्डखाद्य, प्रस्तावना, पृष्ठ २८

५९. डॉ० दासगुप्त ने इनका समय ११५० माना है। भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग २, पृष्ठ १२५.

६०. शाब्दिक अर्थ - "खण्डन की मिश्री जैसा स्वादिष्ट खाद्य"। वैद्यक में "खण्डखाद्य" एक पौष्टिक पाक है। उसी प्रकार यह शंकाओं रूपी दुर्बलताओं को दूर कर स्वस्थ (आत्मज्ञान में स्थिति) करने वाला है।

६१. "प्रमाणाद्यनभ्युपगम्य प्रवर्तितत्वं तदीयसाधनबाधनाक्षमतायां न नियामकं, किन्तु सद्वचनाभास लक्षण योगित्वमित्यवश्याभ्युपेयं भवता।" श्रीहर्ष, खण्डनखण्डखाद्य, १.४, पृष्ठ ८.

६२. "प्रमाणाद्यभ्युपगन्तुरेव यावन्नियमभारयन्त्रण महती स्यात्"
वही, १.६, पृष्ठ १०

६३. "तदेतादृशीषु सर्वास्वपि दर्शनस्थितिषु काममास्माकीनाः खण्डनयुक्तयः प्रगल्भन्ते, यासामीश्वरपरवशां विश्वव्यवस्थाम्अनास्थाय निरसनमशक्यं तासामेवावतारणार्थमयं प्रावादुकप्रवादोपन्यासः। तथाहि-यदि शून्यवादनिर्वचनीयपक्षयोराश्रयणं, तदा तावदमूषां निराबाधैव सार्वपकनीयता।" वही, १.४५, पृष्ठ १२६.

६४. "सौगतब्रह्मवादिनोरयं विशेषो यदादिमः सर्वमेवानिर्वचनीयं वर्णयति,...... विज्ञानत्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्वं सदसद्भ्यां विलक्षणं ब्रह्मवादिनः संगिरन्ते।" श्रीहर्ष, खण्डनखण्डखाद्य, ३ पृष्ठ ६८.

६५. "यदि मेयस्वभावाऽनुगामिनीयमनिर्वचनीयतेति न ब्रयुः वक्तृदोषादिति च वदेयुः।" वही, पृष्ठ ६६.

६६. "यदि तावत् स्वरूपं भेदः स नाम घटपटयोर्हि स्वरूपं यत्परस्परस्माद्भेदः तत्परस्परमनन्तर्भाव्य च वदेयुः।" वही, पृष्ठ १०३.

६७. "नही यत्स्वरूपेर्णव नीलं, तत् पीतेन निरूप्यमाणं नीलं भवति।" वही, पृष्ठ १०५.

६८. "घटादिकमित्येवं भूत प्रतीतेस्तावद् भेद प्रतीतिर्विलक्षणा", वही, पृष्ठ १०८.

६६. "अन्येन्याभावोपि यस्माद्भेद एष्टव्यस्तमात्मन्येवान्तार्भाव-युदेक्तयुक्तिभिः।" वही, पृष्ठ १०६.

७०. "अन्योन्याभावोपि न प्रमाणेन प्रत्येतुं शक्यः। नहि शशविषाण विशिष्टः तदुपलक्षितो वा कश्चित्प्रमाणिको भवितुमर्हति"। वही, पृष्ठ ११०.

७१. "तथा सति घटत्वे पटत्वे च न कश्चित्तद्शो धर्मोभ्युपगम्यते योऽन्योन्यस्मिन्निषेद्धुं योग्य इति तपोस्तादात्म्यपत्तौ सत्यां घटे पटत्वं, पटे घटत्वं च निषेधात् प्रमाणं घटत्वपटत्वशून्यत्वं द्वयमप्यावेदयाति।" वही, पृष्ठ ११२.

७२. "वैधर्म्ये वैधर्म्य विश्रान्त्यनवस्थयोः" वही, पृष्ठ ११२.,

७३. "तदद्वैत श्रुतेस्तावद्वाधः प्रत्यक्षतः क्षतः। नानुमानादि तं कुर्तं तवाति क्षमते मते।।" वही, पृष्ठ ११८.

७४. "न वयं भेदस्य सर्वथैवा सत्त्मभ्युपगच्छामः, किंनाम, पारमार्थिकं सत्त्वम्।" वही, पृष्ठ ११८.

७५. "न च पारमार्थिक मतिपपारमार्थिकधिया शक्यबाधा, माभूत् शुक्तिरजतधिया परमार्थशुक्तिमतिबाधः।" वही, ११६.

७६. "लक्षणव्यावृत्तिर्लक्ष्याधीना, तदाऽन्योन्याश्रय, लक्ष्यपरतन्त्रलक्षणान्तराधीनत्वे चक्रकं...।" वही, शांकरी भाष्य, पृष्ठ १३०.

७७. "लक्षणधीना तावल्लक्ष्यव्ववस्थितिर्लक्षणानि चाऽनुपपन्नानि ज्ञाताधिकारणादि लक्षणनिरूपणद्वारेण चक्रकाद्यापत्तेः।" वही, पृष्ठ १३०.

७८. वही, पृष्ठ १३०.

७६. वही, पृष्ठ २३०.

८०. "एवं प्रमितेरनिरुक्त्या प्रमाकरणं प्रमाणमित्यप्ययुक्तम् करणार्थानिरुक्तेश्च।" पृष्ठ २३६.

८१. "भ्रान्ति प्रतिपन्न वादिवाक्येपि प्रसंगात्, प्रमाण दृष्टेति विशेषणे च यथा- भूतस्यान्यथावादव्यापनात्।" वही, पृष्ठ ३६६

८२. "Sriharsa's method was a continuation of Nagarjuna's and an application of it to actual definitions of the Nyayavaisesika." Dr. S.N. Dasgupta, History of Indian Philosophy, Vol. II, p. 163.

८३. वही, पृष्ठ १४८.

८४. "रासभस्यापि धूमादिकारणत्वप्रसंगात्" चित्सुख, तत्त्वप्रदीपिका, पृष्ठ ४६६.

८५. "कालसयाहेतुतापत्तेर्नाधितो ऽन्योन्यसंश्रयात्। स्वात्मवृत्तेरयुक्तत्वान्नियतत्वनिरुक्तितः।" वही, पृष्ठ ५००

८६. "हेतुसाकल्यरूपायां सामग्रयां तदसंभवात्।
कारणत्वनिरुक्तौ च सहकार्यनिरुपणात्।" वही, पृष्ठ ५०२.

८७. "तदभावेऽपि तृणारणिमणीनां दहनहेतुत्वाङ्गीकारात्", वही, पृष्ठ ५०३

८८. "अतिव्याप्तेः स्ववृत्तित्वाद भेदे भेदेप्यऽसंभवात्।
कार्यस्य हेतुभिः सिद्धेर्वथा साकल्यकल्पना।" वही, पृष्ठ ५०६

८६. "व्यापाराव्यपनादात्माश्रयव्वादनिरुक्तिः।
समवायेस्य हेतुत्वे पूर्वदोषानुषङ्गादावभावतः। वही, पृष्ठ ५०६

६०. "असिद्धः प्रतिबन्धस्य नृश्रृङ्गादावभावतः।
सत्त्वे सतीति चायुक्तं दृष्टान्तादेरसिद्धितः।" वही, पृष्ठ ५०७

६१. "अनाद्यिविद्या तद्विलसितः सकलोऽप्ययं प्रपञ्च इति तद्ग्राहि प्रत्यक्षादि प्रमाण विरोधाभावाद्वेदान्तवाक्यं निरपक्वादमेवाद्वितीये ब्रह्मण्यपरोक्षज्ञानं जनयतीति निरवद्यम्।" वही, पृष्ठ ५२६

६२. न्यायामृताद्वैतसिद्धि (सम्पादकीय) भाग २, पृष्ठ १५

६३. "मिथ्योत्वं हि त्वयैव पक्षान्तरनिषेधेन पंचध्म निरुक्तम्",न्यायध, पृष्ठ १४

६४. "तदनङ्गीकारात्", अद्वैतसिद्धि, पृष्ठ १६

६५. "त्रिकालावध्यत्वरूपं सत्त्व", वही, पृष्ठ १६

६६. "एकेनैव सर्वानुगतेन सर्वत्र सत्प्रतीति", वही, पृष्ठ १७.

६७. "नि च तात्त्विका भावप्रतियोगिनः प्रपञ्चस्य तात्त्विकत्वापत्ति, तात्त्विकाभावप्रतियोगिनि स्वकार्येण शुक्तिरजतादौ कल्पिते।" वही, पृष्ठ २२

६८. "अज्ञानस्य स्वकार्येण वर्तमानेन प्रविलीनेन वा मह ज्ञानेम निवृत्तिवधिः" पं०वि०, पृष्ठ १७८।

६६. "ज्ञान, प्रयुक्तावस्थिति सामान्यविरह प्रतियोगित्वं च, सत्याधिकदावाण, पुरमात्।" वही, पृष्ठ ३८

१००. "अवस्थितिश्चय द्वेधा, स्वरूपेण कारणात्मना च, सत्याधिवाण परमात्।" वही, पृष्ठ ३८।

१०१. वही, पृष्ठ ८१

१०२. वही, पृष्ठ ८२

१०३. "सत्त्वं च प्रमाणसिद्धत्वम्, प्रमाणत्वं च दोषाकहकृतज्ञानधणत्वम्, तेन स्वप्नदिवत्प्रमाणसिद्धभिन्नत्वेन, मिथ्यात्वं सिध्यति।", वही, पृष्ठ ४३

१०४. विवेक नूडामणि, ५६

१०५. वही, ६०

१०६. खण्डनखण्डखाद्य, ३, पृष्ठ ४

□□□

# सहायक संदर्भ ग्रन्थ-सूची

## संस्कृत और हिन्दी :


१. अद्वैत एवं द्वैताद्वैत की तत्त्वमीमांसा : अभेदानन्द, ओरियण्टल पब्लिशर्स, दरियगंज, दिल्ली, १६७७

२. अद्वैतसिद्धि : मधुसूदन सरस्वती, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १६१७

३. अपरोक्षानुभूति : शंकराचार्य, अच्युतग्रन्थमाला, काशी

४. आत्मबोध : शंकराचार्य, अच्युतग्रंथमाला, काशी, सम्वत्, १६६०

५. इष्टसिद्धि : विमुक्तात्मा

६. ईशोपनिषद् : शांकरभाष्य (हिन्दी अनुवाद सहित), गीताप्रेस, गोरखपुर

७. ऐतरेयोपनिषद् : (हिन्दी अनुवाद सहित) शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर

८. कठोपनिषद् : (हिन्दी अनुवाद सहित) शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर

६. केनोपनिषद् : (हिन्दी अनुवाद सहित) शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर

१०. खण्डनखण्डवाद्य : (शांकरी व्याख्या सहित) श्रीहर्ष, चौखम्भा, बनारस

११. छान्दोग्यउपनिषद् : (हिन्दी अनुवाद सहित) शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर

१२. तर्कभाषा : मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १६६८

१३. तत्त्वप्रदीपिका : (चित्सुखी), चित्सुखाचार्य, षट्दर्शन प्रकाशन, वाराणसी, १६७४

१४. तैत्तिरीयउपनिषद् : (हिन्दी अनुवाद सहित) शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर

१५. न्यायकुसुमाञ्जति : चौखम्भा, बनारस, १६६२

१६. न्यायकंदली : (प्रशस्तपाद भाष्य सहित), बनास संस्कृत विश्वविद्यालय, १६६३

१७. न्यायमञ्जरी : जयन्त भट्ट

१८. न्यायामृताद्वैतसिद्धि : प्रथम भाग, षट्दर्शन प्रकाशन स्थानम्, वाराणसी १६७७

१६. वही : भाग २, षट्दर्शन प्रकाशन स्थानम्, वाराणसी, १६७७

२०. न्यायवार्तिकतापर्यटीका : वाचस्पति मिश्र, विजयानगरम्, संस्कृत सीरीज, बनारस, १८१८

२१. पञ्चदशी : विद्यारण्यस्वमी, बुद्धि सेवाश्रम, बिजनौर, सम्वत् २०११

२२. प्रमेयकमलमार्तण्ड : जीवाजी प्रकाशन, बम्बई, १६१२

२३. प्रश्नोपनिषद् : (हिन्दी अनुवाद सहित) शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर

२४. बौद्धदर्शन और वेदान्त : शर्मा, सी०डी०, स्टूडेन्ट्स फ्रेन्ड्स, इलाहाबाद

२५. वृहदारण्यकउपनिषद् : (हिन्दी अनुवाद सहित) शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर

२६. वृहदारण्यकवार्तिकसार : प्रथम भाग, अच्युत् ग्रन्थमाला, काशी, सम्वत्, १६६७
२७. ब्रह्मसूत्र : (हिन्दी अनुवाद, सत्यानन्दजी) शांकरभाष्य, टेढ़ीनीम, वाराणसी, सम्वत् २०२८
२८. वही, (भामती, कल्पतरू एवं कल्पतरुपरिमल के साथ), शांकरभाष्य, निर्णयसागर प्रेस, बाम्बे, १६३८।
२६. भगवद्गीता : रामानुजभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २००८।
३०. वही, शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २११०।
३१. माण्डूक्योपनिषद् : (गौड़पादकारिका) शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत्, २०३०
३२. मुण्डकोपनिषद् : (हिन्दी अनुवाद सहित) शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर
३३. ऋग्वेदसंहिता : पुरुषसूक्त, नासदीयसूक्त
३४. विचारसागरम् : वासुदेव, भारती विषयम् प्रेस, बाम्बे, १६६४
३५. विवरणप्रमेयसंग्रह : विद्यारण्यस्वामी, अच्युत्ग्रन्थमाला, काशी, संवत् १६६६
३६. वही, चौखम्भा, बनारस
३७. विवेक-चूड़ामणि : शंकराचार्य, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २०१४
३८. वेदान्तपरिभाषा : धर्मराजाश्वरीन्द्र, चौखम्भा, विद्या भवन, वाराणसी, १६६३
३६. वेदान्तसार : सदानन्द, पीयूष प्रकाशन, सुभाष नगर, इलाहाबाद १६६८
४०. श्रीशंकराचार्य : बलदेव उपाध्याय, इलाहाबद १६६३
४१. सप्तपदार्थी : विजयानगरम् संस्कृत सीरीज, बनारस, १६६८
४२. सर्वदर्शनसंग्रह : माधवाचार्य, चौखम्भा, बनारस
४३. सांख्यकारिका : ईश्वरकृष्ण,
४४. सिद्धान्तलेश-संग्रह : अप्पय दीक्षित, अच्युत ग्रंथमाला, काशी, सम्वत्, २०११
४५. संक्षेप-सारिका : (तत्त्वबोधिनी टीका के साथ), सर्वज्ञात्म मुनि, रायल प्रिंटिंग वर्क्स, गोडविला, बनारस सिटी, १६३६
४६. नैष्कर्मसिद्धि : सुरेश्वराचार्य।
४७. ब्रह्मसिद्धि : मंडन मिश्र, सतगुरु पब्लिकेशन्स, शक्तिनगर, दिल्ली।
४८. पंचपादिकाविवरण, प्रकाशात्मयति सम्पादक, रामशास्त्री, इं.जे. लेसरप्त, बनारस।
४६. भामती प्रस्थान एवं विवरण प्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन डॉ० सत्यदेव शास्त्री, भारत-भारती प्रकाशन, वाराणसी।
५०. अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका, जे.एस. श्रीवास्तव, किताब महल, इलाहाबाद।

❑❑❑

# *BOOKS IN ENGLISH*


1. Bhattacharya, A Studies in Pos-Shankara Dialectics, University of Calcutta, 1936.
2. Bijawal, C.D. : Indian Theory of Knowledge.
3. Chatterji, S.C. : The Nyaya Theory of Knowledge.
4. Dasgupta, S.N. : A History of Indian Philosophy, Vol. 1, Cambridge University Press, 1961.
5. Dasgupta, S.N. : A History of Indian Philosophy, Vol. 2, Cambridge University Press, 1961.
6. Data, V.H. : Vedanta Explained, Book Seller's Conpany, Bombay, 1945.
7. Datta, D.M. : The Six Ways of Knowing, Ceorgeallen & Unwin, 1932.
8. Devaraj, N.K. :An Introduction to Sankara's Theory of Knowledge, Motilal Banarasi Das, Varanasi, 1962
9. Hiriyanna, M. : Outlines of Indians Philosophy, George alten & Unwin, 1964
10. Kuppuswami, A. (Ed.) : Brahmasiddhi by Mandana Mishra, with commentary, Madras, 1937.
11. Kuppuswami, A. : Sri Bhagvatpada Sankaracharya, Varanasi, 1972.
12. Kuppuswami, S. : A Primar of Indian Logic, Kuppuswami Research instirute, Madras, 1951.
13. Madhu Sudan :Sidhantabindu (with commentary of Purushottama), Baroda Oriental Institute, 1993.
14. Mahadevan, T.M.P. : Gaudagada, University of Madras, 1934.
15. Murty, K.S. : Revelation & Reason in Advaita Vedanta, Andhra University, 1961.
16. Naulakha, R.S. : Shankara's Brahmavada, Kitabghar, Kanpuk.
17. Padamapada : The Pancapadika, Trans. D. Venkataramaiah, Oriental Institute, Baroda, 1948.
18. Pandey. S.L. : Pre-Sankara Advaita Philosophy, Darshan Peeth, Allahabad, 1974.
19. Radhakrishnan, S. : Brahma-Sutra, Allen & Unwin, London.
20. Radhakrishnan, S. : Indian Philosophy, Vol. 1, Geroge Allen & Unwin, 1956.
21. Radhakrishnan, S. : Indian Philosophy, Vol. 2, Geroge Allen & Unwin, 1956.
22. Ranade, R.D. : A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1968.

23. Ranade, R.D. : Vedanta : The Culmunation of Indian Thought, Bhartiya Vidya Bhawan, Bomday, 1970.
24. Roy, S.S. : The Heritage of Shankara, Udayana Publications, Allahabad. 1965.
25. Singh, R.P. : The Vedanta of Sankara, Bharat Pubications House, Jaipur, 1949.
26. Sinha, J.N. ; A History of Indian Phillosophy, Vol. 1, Central Book Agency, Culcutta, 1952.
27. Sinha, J.N. : History of Indian Philosophy, Vol. 2, Central Book Agency, Culcutta, 1952.
28. Sinha, J.N. : Indian Philosophy, Kegam Paul, London, 1934.
29. Sriniwasacharya, P.N. : Studies in Vedanta, Bardachari & Company, Madras.
30. Sureshwaracharya : The Naiskarmya Siddhi, Oriental Research Institutions, Poona, 1925.
31. Upadhyaya, V.P. : Lights on Vedanta, Chaukhambha, Varanasi, 1959.
32. Venkataraman, M.K. : Advaita Vedandta, Asia Publishing House, Bombay, 1956.

❑❑❑

# उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

## दर्शनशास्त्र विषय के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

| | पुस्तक का नाम | लेखक का नाम | मूल्य |
|---|---|---|---|
| ● | पाश्चात्य दर्शन | डॉ० ब्रह्मस्वरूप अग्रवाल | ७०.०० |
| ● | चार्वाक दर्शन | आचार्य आनन्द झा | १५२.०० |
| ● | भारतीय दर्शन | उमेश मिश्र | १००.०० |
| ● | योग दर्शन | डॉ० सम्पूर्णानन्द | ८६.०० |
| ● | प्रतीक शास्त्र | डॉ० परिपूर्णानन्द वर्मा | १५०.०० |
| ● | पतन की परिभाषा | डॉ० परिपूर्णानन्द वर्मा | ८५.०० |
| ● | पश्चिमी दर्शन | डॉ० दीवान चन्द्र | ७५.०० |
| ● | ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य | रमाकान्त त्रिपाठी | ४०.०० |
| ● | सौन्दर्यशास्त्र : एक तत्त्वमीमांसीय अध्यन | डॉ० लक्ष्मी सक्सेना | १००.०० |
| ● | समकालीन भारतीय दर्शन | डॉ० लक्ष्मी सक्सेना | १५०.०० |
| ● | ललित विस्तर | मू० भगवान बुद्ध की वाणी अनु०प्रो० शान्ति भिक्षु शास्त्री | १३५.०० |
| ● | एच०एफ० ब्रेडले का दर्शन | डॉ० लक्ष्मी सक्सेना | २७.०० |
| ● | कांट का दर्शन | प्रो० सभाजीत मिश्र | ६४.०० |
| ● | नीति विज्ञान के मूल सिद्धान्त | डॉ० लक्ष्मी सक्सेना | ६६.०० |
| ● | भारतीय दर्शन | डॉ० देवराज | १२०.०० |
| ● | समकालीन पाश्चात्य दर्शन | डॉ० लक्ष्मी सक्सेना | १३०.०० |

सम्पर्क सूत्र
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन
६, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ - २२६००१

ISBN : 978-81-89989-75-0

मूल्य ₹ ४०५=००